Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ADITI

1974

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

02947

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

Stock Verification-2024

Stock Verification-20

म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

अदिति

अनागसो अदितये स्याम

—वेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

(देवजननी)

079474

सम्पादक

आचार्य अभयदेवजी विद्यालंकार

079474

प्रकाशक

श्रीअरविन्द निकेतन

कनाट सर्कस, नई दिल्ली ।

मूल्य सवा रुपया

वर्ष-भर की चारों पुस्तिकाओं का मूल्य चार रुपया ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२४ एप्रिल १९४३ के
श्रीअरविन्द दर्शन
के उपलक्ष में
भेंट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

मातृ-वचनामृत

१. प्रार्थना व ध्यान ... ५

२ 'मातृवाणी' का एक अध्याय ... ७

श्रीअरविन्द-वाणी

१. श्रीअरविन्द के सूत्र-वचन

(३) मनुष्य अर्थात् 'पुरुष' श्रीअरविन्द १६

(४) अन्त ,, १८

२. स्वप्न ,, १९

३. वर्तमान युद्ध पर श्रीअरविन्द के विचार ,, २८

हमारा आदर्श श्री नलिनीकान्त गुप्त ३०

वह भूख श्री लीलावती ३८

मां श्री हरिदास चौधरी ४१

जगत् मिथ्या ? श्री दीनानाथ 'दिनेश' ५४

मनोविज्ञान और योग श्री डा० इन्द्रसेन ५५

अनागसो अदितये स्याम श्री आचार्य अभयदेव ६५

लेखकों का परिचय ,, ६८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मातृ-वचनामृत—

प्रार्थना व ध्यान

[श्रीमाता जी बहुत वर्षों से अपनी दिनचर्या पुस्तक में प्रार्थनाएं तथा ध्यान विचार लिखती रही हैं। ये बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं, अद्भुत हैं, आत्मा को एकदम ऊँचा उठाने वाले हैं। मूलत: ये फ्रेंच में हैं। इनमें से कुछ का अंग्रेज़ी अनुवाद भी हुवा है। प्रत्येक बार हम उनमें से एक प्रार्थना का श्री चन्द्रदीपजी का किया हुवा मूल से हिन्दी अनुवाद 'प्रार्थना व ध्यान' इस शीर्षक से अदिति के पाठकों को भेंट किया करेंगे। संपादक]

ज्यों ही मैं अपने-आपको सभी सांसारिक दायित्वों से अलग कर लेती हूँ त्योंही इन सब चीजों से संबंध रखने वाले सभी विचार मुझसे कोसों दूर भाग जाते हैं और मैं एकनिष्ठ होकर तेरे अन्दर डूब जाती हूँ, तेरी सेवा में पूर्ण रूप से तल्लीन हो जाती हूँ। और तब पूर्ण शान्ति और निस्तब्धता के अन्दर मैं अपनी इच्छा को तेरी इच्छा के साथ एक कर देती हूँ, और उस सर्वांगपूर्ण निश्चल-नीरवता के भीतर मैं तेरे सत्य को प्रकट करने वाली वाणी को सुनती हूँ।

तेरी दिव्य इच्छा के विषय में सज्ञान होने तथा तेरी इच्छा के साथ अपनी इच्छा को एकाकार कर देने से ही हम सच्ची स्वतंत्रता और सर्वशक्तिमत्ता के रहस्य का पता पा सकते हैं, अपनी शक्तियों को पुन: जागरित करने और अपनी सत्ता को रूपान्तरित करने के रहस्य को जान सकते हैं।

तेरे साथ निरन्तर सर्वांगीण एकता बनाये रखना ही इस विषय में एकदम निश्चित हो जाना है कि हम सारी बाधाओं को पार कर जायेंगे, बाहरी और भीतरी सभी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेंगे।

प्रभु! हे प्रभु! असीम आनन्द मेरे हृदय में भर रहा है, आनन्द-गान की अद्भुत तरंगें मेरे मस्तक में लहरा रही हैं और तेरी ध्रुव विजय में पूर्ण विश्वास होने के कारण मैं चरम शान्ति और अजेय शक्ति प्राप्त कर रही हूँ। तू मेरी सत्ता के अन्दर ओत-प्रोत होकर विराजमान है, तू इसे संजीवित कर रहा है, इसके प्रसुप्त शक्ति-स्रोतों को गतिशील बना रहा है, इसकी बुद्धि को आलोकित कर रहा है, इसके जीवन को तीव्रता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रदान कर रहा है, इसके प्रेम को दस गुना बढ़ा रहा है, और अब मैं यह समझने में असमर्थ हूं कि मैं यह विश्व हूँ या यह विश्व 'मैं' है, तू मेरे अन्दर है या मैं तेरे अन्दर हूँ। एक मात्र तू ही विद्यमान है और सब कुछ 'तू' है; और तेरी अनन्त कृपा की लहरें जगत् में भर रही हैं, जगत् को डुबा रही हैं।

गाओ, गाओ, सब देश, सब समाज, सब मनुष्य, गाओ,
भागवत सामंजस्य विद्यमान है, गाओ।

११ मई १९१३

— मूल फ्रेंच से अनूदित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मातृवाणी' का एक अध्याय

क्या योगी सब प्रश्नों का उत्तर दे सकता है ?—विज्ञानमय अवस्था तक पहुंच—शारीरिक परिवर्त्तन के लिये ध्यान या एकाग्रता—ध्यान द्वारा सफलता पाने की शर्तें

प्र०—"क्या योगी चेतना की किसी ऐसी अवस्था को प्राप्त हो सकता है, जिस अवस्था में पहुँचकर वह सब कुछ जान सके, समस्त प्रश्नों का, यहां तक कि सायंस की कठिन समस्याओं का, जैसे कि 'सापेक्षता-वाद' के विषय में भी, उत्तर दे सके ?"

उ०—विचारात्मक रूप से और सिद्धान्ततः यह ठीक है कि योगी के लिये सब कुछ जान लेना असम्भव नहीं है, पर सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि, वह योगी कौन है।

ज्ञान ज्ञान में भेद होता है। मन जिस तरीके से जानकारी लाभ करता है, योगी का ज्ञान वैसा नहीं होता। योगी यदि सब कुछ जानता है, तो उसका कारण यह नहीं कि वह यह सब इसलिये जान पाता है चूँकि हरेक संभावित खबर के अन्दर उसका प्रवेश होता है, या चूँकि उसके मन के अन्दर विश्व के समस्त तथ्य भरे पड़े होते हैं, या चूंकि उसकी चेतना किसी अद्भुत विश्वकोष के जैसी होती है। वह जान पाता है वस्तुओं, व्यक्तियों और शक्तियों के साथ उसकी जो धारणात्मक रूप से या सक्रिय रूप से तादात्म्य हो जाने की क्षमता होती है, उसके कारण। अथवा वह इसलिये जान पाता है कि वह चेतना की एक ऐसी भूमिका में रहता है या एक ऐसी चेतना के संस्पर्श में होता है, जिसमें सत्य और ज्ञान स्थित है।

यदि तुम सत्य चेतना में होओ, तो तुम्हें मिलनेवाला ज्ञान भी सत्य का ज्ञान ही होगा। इस अवस्था में भी ज्ञेय के साथ अपने को एक करके ही तुम उसके सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकते हो। यदि तुम्हारे सामने कोई समस्या उपस्थित की जाय, यदि तुमसे यह पूछा जाय कि, अमुक अवसर-विशेष पर क्या करना चाहिये, तो तुम उस विषय पर पर्याप्त ध्यान देकर और एकाग्र होकर उस विषय के आवश्यक ज्ञान और सत्य उत्तर को अनायास प्राप्त कर सकते हो। इस ज्ञान को तुम किसी सिद्धान्त का यत्नपूर्वक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपयोग करके अथवा उसे किसी मनोमय प्रक्रियाद्वारा कार्यान्वित करके प्राप्त नहीं करते। इन पद्धतियों की आवश्यकता तो भौतिक विज्ञानवादी (Scientific) मन को ही अपने निर्णयों तक पहुंचने के लिये होती है। परन्तु योगी का ज्ञान तो सीधा और तत्क्षण होता है, वह निगमनात्मक नहीं होता। यदि किसी इंजीनियर को एक मेहराब बनानी हो, तो वह उसके ठीक-ठीक स्थान को, उसकी गोलाई की रेखा और उसके पोले स्थान के कद को नाप-जोखकर ठीक करता है, इस विषय को वह अपनी भौतिक विद्या की सामग्री को मिला-जुलाकर ठीक करता है। परन्तु योगी को इस तरह की किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं होती ; वह तो उस वस्तु की तरफ़ दृष्टि डालता है, अपनी दिव्य दृष्टि से उसके स्वरूप को ग्रहण करता है और वह देख पाता है कि इस चीज़ को इस प्रकार से करना होगा, केवल इसी प्रकार से करना होगा और किसी दूसरे प्रकार से नहीं, और उसका यह देखना ही उसका ज्ञान होता है।

यद्यपि सामान्यतया और किसी अर्थ में यह ठीक है कि, योगी अपनी दृष्टि और चेतना के क्षेत्र में से सभी बातों को जान सकता और सभी प्रश्नों का उत्तर दे सकता है, फिर भी इसका मतलब यह नहीं कि कोई भी प्रश्न ऐसे नहीं होते, जिनका उत्तर देना योगी के लिये कठिन न हो, फिर ऐसे भी प्रश्न हो सकते हैं, जिनका उत्तर देना वह चाहे ही नहीं। जिस योगी को प्रत्यक्ष ज्ञान, वस्तुओं के सच्चे सत्य का ज्ञान प्राप्त है, वह उन प्रश्नों का, जो सर्वांशतः मानव मन की ही रचनाओं की कोटि के होते हैं, उत्तर देने की परवाह नहीं करेगा, शायद उसे ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने में कठिनाई भी हो। यह हो सकता है कि वह वस्तुओं के केवल मिथ्या और बाह्य स्वरूप से सम्बन्ध रखनेवाली तुम्हारी समस्याओं और कठिनाइयों का हल करना न चाहे या न कर सके। उसके ज्ञान की क्रिया मन में नहीं होती और यदि तुम उसके सामने उपर्युक्त प्रकार का कोई फूहड़ मानसिक प्रश्न करो, तो शायद वह उसका उत्तर ही न दे। यह जो आम धारणा है कि जिस प्रकार ऊँचे दर्जे के किसी स्कूल-मास्टर से प्रश्न किया जाता है, उसी प्रकार किसी योगी से भी तुम जो कोई अज्ञानयुक्त प्रश्न कर सकते अथवा भूत, वर्तमान और भविष्य काल के किसी भी समाचार को पूछ सकते हो और वह इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये बाध्य है, यह एक मूर्खतापूर्ण विचार है। यह बात उतनी ही बेढंगी है, जितनी कि किसी आध्यात्मिक पुरुष से यह आशा रखना कि वह कोई ऐसे असाधारण पराक्रम या चमत्कार करके दिखावे, जिनसे साधारण असंस्कृत और बहिर्मुख मन को सन्तुष्टि मिलती और वह आश्चर्यचकित रह जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके अतिरिक्त "योगी" शब्द बहुत ही अस्पष्ट और व्यापक है। योगी बहुत तरह के होते हैं, आध्यात्मिक अथवा गुह्य तत्त्वों की साधना की अनेक धाराएं और दिशाएं हैं, और फिर इन साधनों द्वारा प्राप्त होनेवाली चढ़ती-उतरती अनेक प्रकार की सिद्धियां हैं। कुछ योगी ऐसे हैं, जिनकी शक्तियां मानसिक भूमिका से ऊपर नहीं होतीं, दूसरे ऐसे हैं जो इस भूमिका से ऊपर उठे हैं। सब कुछ उनकी साधना की भूमिका या उसके स्वभाव पर, जिस ऊंचाई तक वे पहुंचे हैं, उस पर तथा जिस चेतना का स्पर्श उन्हें मिला है अथवा जिस चेतना में उन्होंने प्रवेश किया है, उस पर निर्भर करता है।

प्र०—"क्या यह ठीक नहीं है कि जड़वैज्ञानिक (Scientist) भी कभी-कभी मनोमय भूमिका से परे जाते हैं ? ऐसा कहा जाता है कि आइनस्टाइन ने 'सापेक्षता के वाद' का आविष्कार किसी तर्क की प्रक्रिया द्वारा नहीं किया था, बल्कि यह वाद उन्हें एक सद्यः प्रेरणा के रूप में प्राप्त हुआ था। क्या इस प्रेरणा का विज्ञान (Supermind) से कोई सम्बन्ध था ?"

उ०—जड़विज्ञान की खोज करनेवाले जिस किसी व्यक्ति को इस तरह की कोई प्रेरणा होती है, जिसके फलस्वरूप वह किसी नवीन सत्य का दर्शन करता है, तो वह उसको अन्तर्ज्ञान देनेवाले मनकी भूमिका से होती है। इस तरह का ज्ञान तब मिलता है जब कि उसका उस उच्चतर मनोमय भूमिका के साथ जो कि और भी अधिक ऊपर की ज्योति द्वारा प्रकाशमान होती है, सीधा सम्बन्ध हो जाता है और वहां से उसको प्रेरणा मिलने लगती है। परन्तु इस सबसे विज्ञान की क्रिया का कोई सम्बन्ध नहीं है और यह उच्चतर मनोमय भूमिका विज्ञानमय भूमिका से कोसों दूर है। औसत अवस्था से जरा ऊपर उठते ही मनुष्य बड़ी जल्दी यह विश्वास करने लग जाते हैं कि वे पूर्ण भागवत क्षेत्रों में पहुँच गये। साधारण मानव मन और विज्ञान के बीच अनेक अवस्थाएं, अनेक स्तर और अनेक भूमिकाएं हैं। यदि कोई साधारण कोटि का आदमी इन मध्यवर्ती भूमिकाओं में से किसी एक के भी सीधे सम्पर्क में आ जाय, तो वह चौंधिया जायगा और उसकी आँखें वहां के प्रकाश में अन्धी हो जायंगी, वह वहां की विशालता के भान के बोझ के नीचे कुचल-सा जायगा अथवा अपने संतुलन को गंवा देगा, और फिर भी वह अभी तक विज्ञान-लोक से दूर ही होगा।

योगी सभी बातों को जान सकता है और सभी प्रश्नों का उत्तर दे सकता है, इस साधारण धारणा के पीछे जो असली तथ्य है वह यह है कि, मन के अन्दर एक ऐसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तर है जहां समस्त वस्तुओं की स्मृति संगृहीत हुई रहती है और वह सदा विद्यमान रहती है। पार्थिव जीवन में होने वाली समस्त मानसिक क्रियाएं इस स्तर में स्मृतिगत और अंकित की जाती हैं। जिन लोगों में वहाँ तक पहुँचने की क्षमता है और जो वहाँ तक जाने का कष्ट उठाना चाहते हैं, वे वहाँ के बहीखातों में दर्ज किसी भी चीज़ को बाँच और जान सकते हैं। परन्तु इस क्षेत्र को विज्ञानमय भूमिका समझ लेने की भूल नहीं करनी चाहिये। और फिर भी यहाँ तक पहुँचने के लिये भी तुम्हें अपने स्थूल या भौतिक मन को निश्चित और नीरव कर लेना होगा; तुम्हें इस योग्य बन जाना होगा कि तुम अपने समस्त संवेदनों को एक किनारे रख सको और अपनी साधारण मनोमय क्रियाओं को, फिर चाहे वे कैसी भी क्यों न हों, बंद कर सको, तुम्हें अपने प्राण के दायरे से बाहर निकल आना होगा; तुम्हें अपने शरीर की गुलामी से मुक्त हो जाना होगा। ऐसा होने पर ही तुम इस क्षेत्र में प्रवेश पा सकोगे, तथा वहाँ जो कुछ है, उसको देख सकोगे। पर यदि तुम इस प्रयास को करने के लिये पर्याप्त दिलचस्पी रखते हो, तो तुम वहाँ पहुँच सकते हो और पृथ्वी की स्मृति में जो कुछ लिखा हुआ है उसे बांच सकते हो।

इस प्रकार यदि तुम अपने अंदर की गहराई में उतरो और वहाँ की निश्चल-नीरवता में पहुंच जाओ, तो तुम चेतना की एक ऐसी भूमिका को प्राप्त कर ले सकते हो, जहां पर तुम्हारे लिये यह असंभव नहीं है कि तुम अपने सभी प्रश्नों का उत्तर पा लो। और यदि कोई व्यक्ति ऐसा है जो विज्ञानलोक के पूर्ण सत्य के प्रति सचेतन रूप से उद्घाटित हो, उसके साथ उसका सतत संपर्क हो, तो वह निश्चय ही ऐसे किसी भी सवाल का उत्तर दे सकता है, जो विज्ञानलोक के प्रकाश से उत्तर दिये जाने लायक हो। ऐसे व्यक्ति से किया जाने वाला प्रश्न अवश्य ही इस तरह का होना चाहिये कि वह वस्तुओं के पीछे जो सत्य और सद्वस्तु है, उससे सम्बन्ध रखता हो। बहुत से प्रश्न और विवादग्रस्त समस्याएं ऐसी होती हैं, जिनको मन मकड़ी के जाले की तरह बुनकर तैयार करता है और वे वस्तुओं के मिथ्या पार्श्व से ही सम्बन्ध रखती हैं। इनका वास्तविक ज्ञान से संबंध नहीं होता, ये तो ज्ञान की एक विकृति मात्र होती हैं, उनका सब ताना बाना ही अज्ञान का होता है। अवश्य ही मन के अज्ञान द्वारा उपस्थित की हुई समस्याओं का भी उत्तर विज्ञानमय ज्ञान दे सकता है, पर यह उत्तर उसका अपना उत्तर होगा और बहुत संभव है कि, मन की भूमिका से प्रश्न करने वाले व्यक्तियों को यह ज़रा भी संतुष्ट न कर सके अथवा यह भी हो सकता है कि, यह उनकी समझ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में ही न आवे। मन की तरह ही विज्ञान भी काम करे, ऐसी तुम्हें आशा नहीं करनी चाहिये और न तुम्हारी यह मांग ही होनी चाहिये कि सत्य चेतना में रहने वाले ज्ञान को इस योग्य होना चाहिये कि उसे अज्ञान में रहने वाले अर्धज्ञान के साथ टांका जा सके। मन की आयोजना एक बात है, लेकिन विज्ञान बिलकुल दूसरी ही बात है और यदि वह मानसिक आयोजना की मांग के अनुसार अपने-आपको बना ले, तो उसकी विज्ञानमयता ही जाती रहे। ये दोनों इतने भिन्न हैं कि ये एक ही माप से मापे जाने के लायक नहीं हैं और ये दोनों एक साथ नहीं रखे जा सकते।

प्र०—"चेतना जब विज्ञान के आनन्द को प्राप्त हो जाती है, तब क्या वह मन के व्यापारों में दिलचस्पी लेना बंद कर देती है?"

उ०—मानसिक व्यापारों में विज्ञान उसी प्रकार से दिलचस्पी नहीं लेता जैसा कि मन लेता है। विश्व की समस्त गतियों में ही उसके अपने ढंग की दिलचस्पी होती है, किंतु यह एक भिन्न दृष्टिबिंदु से होती है और एक भिन्न चक्षु द्वारा होती है। उसकी दृष्टि के सम्मुख जगत् का रूप बिलकुल दूसरे ही प्रकार का दीखने लगता है। यहाँ पर दृष्टिकोण पलट जाता है और इस भूमिका पर से सभी चीज़ें जैसी कि मन से नज़र आया करती हैं, उससे दूसरे ही प्रकार की, बल्कि बहुधा बिलकुल उससे विपरीत तक नज़र आती हैं। यहाँ पर वस्तुओं का अर्थ ही बदल जाता है; उनका पहलू, उनकी हलचल और प्रक्रिया, उनके विषय का सभी कुछ दूसरी ही आँखों से देखा जाता है। यहाँ के सब कुछ के पीछे विज्ञान रहता है; मन की गतियों में, उसी प्रकार प्राण और स्थूल भौतिक गतियों में भी, इतना ही नहीं बल्कि विश्व की समस्त लीला में ही विज्ञान बहुत गहरी दिलचस्पी रखता है, किंतु उसकी वह दिलचस्पी एक दूसरे ही प्रकार की होती है। मन और विज्ञान की दिलचस्पियों के भेद को कठपुतलियों के खेल के दृष्टांत से स्पष्ट किया जा सकता है। कठपुतली के खेल में एक तो उसकी दिलचस्पी होती है, जो कठपुतलियों की बागडोर अपने हाथ में रखता है और यह जानता होता है कि इन कठपुतलियों को क्या करना है, उस इच्छा को जानता होता है जो उन्हें घुमाती है, और वह यह भी जानता होता है कि केवल उस इच्छा के अनुसार ही वे हिलडुल सकती हैं, और दूसरी उसकी दिलचस्पी होती है, जो इस खेल का दर्शक होता है, पर जो केवल क्षण-क्षण पर बदलते जाने वाली घटनाओं को ही देखता है, अन्य कुछ भी नहीं जानता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो व्यक्ति खेल का दर्शक होता है और उसके रहस्यों से अनजान होता है, उसकी खेल में घटने वाली घटनाओं के प्रति जो दिलचस्पी होती है वह अधिक तीव्र उत्सुकता-पूर्ण और आवेशमय होती है, और वह उसकी अभी तक अज्ञात नाटकीय घटनाओं को उत्तेजना पूर्ण कौतूहल के साथ देखता है, किंतु दूसरा, जिसके हाथ में खेल की बागडोर है और जो तमाशे का संचालक है स्थिर और शांत रहता है। दिलचस्पी की एक ऐसी प्रखरता या प्रगाढ़ता होती है जो अज्ञान से ही आती है और वह भ्रम के साथ जुड़ी हुई होती है और जब तुम अज्ञान से बाहर निकल आते हो, तब यह भी जाती रहती है। वस्तुओं के प्रति मानव-प्राणियों की जो दिलचस्पी होती है, उसकी स्थापना भ्रम पर होती है और यदि भ्रम हटा दिया जाय, तो फिर इस लीला में उनको कोई दिलचस्पी रहेगी ही नहीं, उन्हें यह रूखी और नीरस लगेगी। यही कारण है कि यह सब अज्ञान और भ्रम इतने दिनों तक टिका रह सका है; यह इसलिये है कि मनुष्य इसे पसन्द करते हैं और इससे तथा इसमें जो उन्हें एक विशिष्ट रस मिलता है, उससे वे चिपके रहते हैं।

प्र०—"जो कोई अपनी शारीरिक अवस्था को परिवर्तित करना, किसी रोग का निवारण करना अथवा किसी शारीरिक अपूर्णता को दूर करना चाहता हो, तो उसे क्या करना चाहिये ? क्या उसे अपने प्राप्य लक्ष्य के प्रति तन्मय हो जाना चाहिये और अपने कार्य की पूर्ति के लिये अपनी संकल्पशक्ति का प्रयोग करना चाहिये अथवा उसे केवल इस दृढ़ विश्वास में निवास करना चाहिये कि, यह सब हो ही जायगा या यह भरोसा रखना चाहिये कि, भागवत शक्ति अपने समय पर और अपने तरीके से वांछित परिणाम को ले ही आवेंगी ?"

उ०—ये सभी उस एक ही काम को करने के अनेक उपाय हैं और अवस्था-विशेष के अनुसार प्रत्येक ही फलदायक हो सकता है। तुम किस पद्धति का उपयोग कर अधिक-से-अधिक सफलता प्राप्त कर सकोगे यह बात इस पर निर्भर करती है कि तुमने कौनसी चेतना को विकसित किया है अथवा तुम जिन शक्तियों को कार्यक्षेत्र में उतार सकते हो, वे कौनसी हैं। तुम यह कर सकते हो कि तुम उस चेतना में रहने लगो, जहां रोग दूर हो चुका है या उसका पूर्ण परिवर्तन हो चुका है और इस प्रकार तुम्हारा जो आन्तरिक गठन बन जायगा, उसकी शक्ति द्वारा तुम यह कर सकोगे कि धीरे-धीरे तुम अपने बाह्य परिवर्तन को भी सिद्ध कर लो। अथवा यदि उस शक्ति को तुम जानते हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उसका तुम्हें दर्शन हो चुका है, जो ऐसे कार्यों को सिद्ध कर सकती है, और यदि तुम्हें उस शक्ति का उपयोग करने की कुशलता प्राप्त है तो तुम उसका आवाहन कर सकते हो और जिन अंगों में उसकी क्रिया की आवश्यकता हो, वहां उसका उपयोग कर सकते हो और वह उस परिवर्तन को कार्यान्वित कर देगी। अथवा तुम यह कर सकते हो कि तुम अपनी कठिनाई को भगवान् के सामने, भागवत शक्ति में विश्वासपूर्ण भरोसा रखते हुए, उपस्थित कर दो और उनसे पूछो कि तुम्हारे रोग का इलाज क्या है।

परन्तु तुम जो कुछ भी करो, तुम किसी प्रक्रिया का उपयोग करो, फिर चाहे उस प्रक्रिया का उपयोग करने में तुम्हें बड़ा भारी कौशल या सामर्थ्य ही क्यों न प्राप्त हो गया हो, तो भी उसका जो फल होगा, उसको तो तुम्हें भगवान् के हाथों में ही छोड़ देना चाहिये। सदा प्रयत्न करते रहना तुम्हारा काम है, किन्तु उस प्रयत्न के फल को देना या न देना, यह भगवान् का काम है। अब यहां पर आकर तुम्हारी अपनी ताकत बन्द हो जाती है और यदि कोई परिणाम होता है, तो उसको तुम्हारी अपनी शक्ति नहीं बल्कि भागवत-शक्ति लाती है। तुम्हें क्या इस बात की शंका है कि भगवान् से इन सब चीजों को मांगना उचित है या नहीं। परन्तु यदि किसी नैतिक दोष को दूर करने के लिये भगवान् से प्रार्थना करने में कोई बुराई नहीं है, तो फिर किसी भौतिक अशुद्धि या अपूर्णता को दूर करने के लिये भगवान् की ओर मुंह करना उससे कुछ अधिक बुरा नहीं है। परन्तु तुम जो कुछ भी मांगो, तुम्हारा जो कुछ भी प्रयास हो, उस समय भी जब कि तुम अपनी भरपूर चेष्टा कर रहे होओ, फिर चाहे इस चेष्टा में तुम ज्ञान का प्रयोग करते होओ या शक्ति का, तुम्हें यह सदा अनुभव करना चाहिये कि परिणाम भगवान् की कृपा पर निर्भर करता है। एक बार यदि तुमने इस योगमार्ग को स्वीकार कर लिया है, तो फिर तुम्हारे समस्त कार्य पूर्ण आत्म-समर्पण के भाव से होने चाहियें। तुम्हारा भाव यह होना चाहिये– "मैं अभीप्सा करता हूँ, मैं अपनी अपूर्णताओं को दूर करना चाहता हूँ, मुझ से जो कुछ हो सकता है, वह मैं करता हूँ, किन्तु इसका जो फल होगा, उसके लिये मैं अपने आपको सम्पूर्ण रूप से भगवान् के हाथों में सौंपता हूँ।"

प्र०—"यदि कोई ऐसा कहे कि 'मुझे परिणाम के विषय में निश्चय है, मैं इस बात को जानता हूँ कि जो मैं चाहता हूँ, उसे भगवान् मुझे देंगे' तो क्या इससे कोई सहायता मिलती है?"

उ०—इस बातको तुम इस रूप में ले सकते हो। तुम्हारी श्रद्धा की तीव्रता या अटलता का ही यह अर्थ हो सकता है कि भगवान् ने यह निर्धारित कर रखा है कि

CC-0.-In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम्हारी श्रद्धा जिसका निर्देश करती है वह अवश्य पूर्ण हो। अचल श्रद्धा भागवत संकल्प के विद्यमान होने का चिह्न होती है, जो कुछ होने वाला है, उसकी निदर्शिका होती है।

प्र०—"जिस समय कोई निश्चल-नीरव ध्यानावस्था में होता है, उस समय उसके अन्दर कौन सी शक्तियां काम कर रही होती हैं?"

उ०—यह बात ध्यान करने वाले व्यक्ति पर निर्भर करती है।

प्र०—"परन्तु क्या निश्चल-नीरव ध्यान की अवस्था में साधक अपने-आपको पूर्ण रूप से शून्य नहीं कर देता? तब फिर कोई भी बात उस पर कैसे निर्भर कर सकती है?"

उ०—यदि तुम अपने-आपको सम्पूर्ण रूप से शून्य भी कर डालो, तो भी इससे तुम्हारी अभीप्सा में कोई परिवर्तन नहीं होता, उसका कार्यक्षेत्र नहीं बदलता। किसी की अभीप्सा मानसिक भूमिकाओं पर अथवा प्राण के क्षेत्रों में कार्य करती होती है; किसी की अभीप्सा आध्यात्मिक होती है। जिस जाति की तुम्हारी अभीप्सा होगी, वैसी ही शक्ति उसका उत्तर देगी और उसी तरह का काम वह शक्ति आकर करेगी। ध्यान के समय अपने-आपको शून्य कर लेने से यह होता है कि तुममें एक आंतरिक निश्चल-नीरवता पैदा हो जाती है; इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हारा व्यक्तित्व अस्तित्वविहीन हो गया अथवा तुम कोई निर्जीव या जड़ वस्तु बन गये। तुमने अपने-आपको खाली करके रिक्त पात्र कर लिया, तो इसका यह मतलब हुआ कि तुमने उस वस्तु का आवाहन किया, जो आकर उस रिक्त स्थान को भर देगी; अर्थात् तुमने अपनी आंतरिक चेतना के दबाव को सिद्धि की ओर कर दिया। तो तुम्हारी चेतना के स्वभाव पर और उसका दबाव कितना है, इस पर यह निर्भर करता है कि किन शक्तियों को तुम कार्य-क्षेत्र में उतार कर ला सकोगे और यह कि वे शक्तियां तुम्हारे कार्य में सहायता पहुँचावेंगी और उसको सफल करेंगी या तुम्हारे कार्य को विफल करेंगी अथवा यह कि वे तुम्हारे कार्य में हानि करने वाली और बाधा पहुँचाने वाली तक होंगी।

जिन अवस्थाओं के अन्तर्गत तुम ध्यान करने बैठते हो, वे अनेकविध होती हैं और उन सभी अवस्थाओं का अन्दर की ओर या नीचे की ओर उतार लायी गयी शक्तियों पर तथा उनके कार्य पर प्रभाव पड़ता है। यदि तुम अकेले ध्यान करने बैठो, तो तुम्हारी आन्तर और बाह्य अवस्था ही मुख्य होगी। और यदि तुम दूसरों के साथ मिलकर ध्यान करने बैठो, तो फिर मुख्य बात होगी वहां की सार्वजनिक अवस्था। परन्तु इन दोनों ही दशाओं में अवस्थायें सदा बदलती रहेंगी और जो शक्तियां उनका उत्तर देंगी वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी भी दुबारा वे ही न होंगी। उचित रूप में की गई सम्मिलित एकाग्रता एक महान् शक्ति बन जा सकती है। ऐसी एक प्राचीन कहावत है कि "यदि एक दर्जन सच्चे मनुष्य अपने संकल्प और अभीप्सा को एक करके भगवान् को पुकारें, तो भगवान् प्रकटे बिना न रह सकेंगे।"

परन्तु उनका संकल्प एकनिष्ठ होना चाहिये, उनकी अभीप्सा सच्ची होनी चाहिये। कारण, यह हो सकता है कि इस प्रकार का प्रयास करने वाले किसी प्रकार की जड़ता के वश अथवा किसी भ्रांत या विकृत इच्छा के कारण एक हो गये हों और ऐसी अवस्था में प्राप्त होने वाले परिणाम विनाशकारी हो सकते हैं।

ध्यान के समय जो पहली और अनिवार्य आवश्यकता है, वह यह कि तुम्हारी समस्त चेतना पूर्ण और नितान्त सचाई की अवस्था में हो। यह अपरिहार्य है कि तुम अपने आपको धोखा न दो और न दूसरे के धोखे में आओ। बहुधा लोगों को कोई कामना होती है, कोई मन की पसन्द या प्राण की वासना होती है; वे चाहते हैं कि उनके ध्यान में होने वाली अनुभूति किसी विशिष्ट रूप में हो अथवा वह कुछ ऐसा मार्ग ले, जिससे उनकी भावनाओं, इच्छाओं और पसन्दों को सन्तोष हो; वे रिक्त और निष्पक्ष होकर नहीं रहते और यह नहीं करते कि जो कुछ घटना घटे, उसे केवल सचाई के साथ साक्षी रूप से देखते रहें। ऐसी अवस्था में यदि ध्यान के समय घटनेवाली घटना तुम्हें पसन्द न हो, तो तुम्हारे लिये अपने-आपको धोखा देना सहज हो जायगा। तुम देखोगे तो कोई और चीज़, किंतु उसको थोड़ा-सा तोड़ मरोड़ के कोई दूसरी ही चीज़ बना डालोगे अथवा तुम यह करोगे कि, किसी सहज और स्पष्ट वस्तु को विकृत कर डालो या उसको किसी असाधारण अनुभूति में बढ़ा-चढ़ा डालो। तुम जब ध्यान करने बैठो, तब तुम्हें एक बालक की भांति सरल और निष्कपट रहना चाहिये, अपने बाहरी मन को किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिए, कोई आशा नहीं रखनी चाहिए, किसी तरह का हठ नहीं करना चाहिये। यदि यह अवस्था हो जाय, तो बाकी सब कुछ तुम्हारी अन्दर की अभीप्सा पर निर्भर करेगा। यदि तुम अन्दर से शान्ति मांगोगे, तो वह मिलेगी; यदि बल मांगोगे, शक्ति मांगोगे, ज्ञान मांगोगे, तो वे भी मिलेंगे,— किन्तु ये सब-के-सब प्राप्त होंगे तुम्हारी ग्रहण करने की शक्ति के परिमाण में। और यदि तुम भगवान् का आवाहन करो,—सदा यह मान लेते हुए कि भगवान् तुम्हारे आवाहन को सुनने के लिए तैयार हैं, और इसका यह अर्थ हुआ कि यदि तुम्हारा आवाहन उन तक पहुंचने के लिए पर्याप्त रूप से शुद्ध और पर्याप्त रूप से बलवान् है,—तो तुम्हें भगवान् का उत्तर भी अवश्य मिलेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द-वाणी—

श्रीअरविन्द के सूत्र-वचन

३—मनुष्य अर्थात् 'पुरुष'

परमेश्वर प्रकृति की ओर झुकना नहीं छोड़ सकता है और नाहीं मनुष्य ईश्वरत्व के प्रति अभीप्सा करने से रुक सकता है। यह तो सान्त और अनन्त का नित्य सम्बन्ध है। जब वे एक दूसरे से विमुख होते हुए प्रतीत होते हैं तो यह उनका और भी प्रगाढ़ मेल से मिलने के लिये पीछे हटना होता है।

मनुष्य में आकर जगत् की प्रकृति फिर स्व-चेतन हो उठती है जिससे कि वह (जगत्-प्रकृति) अपने दिव्य **भोक्ता** के प्रति अधिक लम्बी कूद लगा सके। यह वह दिव्य भोक्ता है जिसे वह न जानते हुए अपने में धारण करती है, जिसे प्राण और इन्द्रिय-वृत्तियां अपने में धारण करते हुए भी अस्वीकार करते हैं और अस्वीकार करते हुए भी ढूंड़ते हैं। यह जगत्-प्रकृति **परमेश्वर** को नहीं जानती, केवल इसलिये क्यों कि यह अपने आप को ही नहीं जानती। जब यह अपने आपको जान जाय तो सत्ता के विशुद्ध आनन्द को भी जान जायगी।

एक हो जाने में सब की उपलब्धि रहना और एक हो जाने से किसी का खोया न जाना—यही रहस्य है। **परमेश्वर** और **मनुष्य**, **संसार** और **संसारातीत** एक हो जाते हैं जब वे एक दूसरे को जान जाते हैं। उनका जुदा-जुदा होना अज्ञान का मूल है, जैसे अज्ञान दुःख का मूल है।

पहिले मनुष्य अन्धे की तरह ढूंड़ता है और यह भी नहीं जानता कि वह स्वयं अपने ही दिव्य स्वरूप को ढूंड़ रहा है; क्यों कि वह भौतिक **प्रकृति** के अन्धकार से चलता है और जब वह देखना शुरु भी कर देता है तब भी देर तक उस प्रकाश से चुंधियाया रहता है जो कि उसके अन्दर बढ़ रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमेश्वर भी उसकी खोज का अस्पष्टतया प्रत्युत्तर देता है। वह मनुष्य की अन्धता को खोज़ता और उसमें आनन्द लेता है जो एक नन्हें बच्चे के उन हाथों के समान है जो अपनी माता को टटोल रहे होते हैं।

परमेश्वर और प्रकृति एक बालक और बालिका के समान हैं जो कि एक दूसरे के साथ खेलते हैं और प्रेम करते हैं। दृष्टिगोचर हो जाने पर वे एक दूसरे से छिपते और भागते हैं ताकि उनको फिर खोजा जाय, पीछा किया और पकड़ा जाय।

मनुष्य वह परमेश्वर है जिसने अपने आप को प्रकृति-शक्ति से छिपाया हुआ है ताकि वह उस शक्ति को संघर्ष द्वारा, आग्रह से, ज़बर्दस्ती से और अचानक हमला करके पा सके। परमेश्वर वह विश्वव्यापी और विश्व से भी ऊँचा उठा हुआ परात्पर मनुष्य है जिसने अपने आपको मानवीय रूप में विद्यमान अपने ही व्यक्तित्व से छिपाया हुआ है।

पशु मनुष्य है जो कि बालों वाली खाल के वेष में है और जो चार टांगों पर खड़ा होता है। कृमि मनुष्य है जो अपनी मनुष्यता के विकास की ओर मुड़ता-तुड़ता रेंग रहा है। यहां तक कि भौतिक प्रकृति के अविकसित रूप भी अपने गठन-रहित शरीर में मनुष्य ही हैं। सभी वस्तुयें मनुष्य हैं, 'पुरुष' हैं।

क्योंकि, मनुष्य से हम क्या अभिप्राय लेते हैं? एक अज और अविनाशी आत्मा जो अपने ही तत्त्वों से बने हुए मन और शरीर में वास कर रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४—अन्त

मनुष्य और परमेश्वर के मेल का मतलब सदा यही हो सकता है कि ईश्वरीय दिव्यता का मनुष्यता के अन्दर संचार व प्रवेश हो जाय तथा मनुष्य का ईश्वरीय दिव्यता के अन्दर अन्तर्लय हो जाय।

किन्तु वह अन्तर्लय आत्म-विनाश के रूप का नहीं है। इस सब खोज और आवेश, दुःख और उल्लास का परिणाम उच्छेद नहीं है! यदि यही इसका अन्त होना होता तो यह खेल कभी प्रारम्भ ही न हुआ होता।

आनन्द ही रहस्य है। शुद्ध आनन्द को जानो और तुम परमेश्वर को जान जाओगे।

तो फिर इस सब का प्रारम्भ क्या था? अस्तित्व, जिसने निरे सत्ता के आनन्द के लिये ही अपने आपको बहुगुणित कर दिया और अगणित कोटि-कोटि रूपों में प्रविष्ट हो गया ताकि वह अपने आपको असंख्य प्रकार से पा सके।

और मध्य क्या है? विभक्तता जो कि बहुगुणित एकता की ओर प्रयत्नशील है; अज्ञान जो कि विविध प्रकाश के एक प्रवाह के प्रति परिश्रमपूर्वक अग्रसर हो रहा चलता है; दुःख-क्लेश जो कि अकल्पनीय आनन्द के संस्पर्श को पाने के लिये घोर तपस्या कर रहा है। क्योंकि यह सब वस्तुएँ छायामय आकृतियां और बिगड़े हुए उलटे कम्पन हैं।

और इस सारी बात का अन्त क्या है? मानो मधु अपने आपका और अपने सब बिन्दुओं का इकट्ठा स्वाद लें सके और इसकी सब बूंदे एक दूसरे का स्वाद ले सकें तथा इसकी प्रत्येक बूंद अपने आप के तौर पर सम्पूर्ण मधु-छत्ते का स्वाद ले सके, ऐसे ही परमेश्वर और मानवीय आत्मा और इस विश्व का अन्त होगा।

प्रेम आदि स्वर है, आनन्द संगीत है, शक्ति आलाप है, ज्ञान गायक है, वह अनंत सर्वात्मा उसका रचयिता और श्रोता है। अभी हम केवल प्रारम्भिक बेसुरे स्वरों को जानते हैं जो उतने ही भयंकर हैं जितनी कि उनकी समस्वरता महान् होगी। लेकिन हम एक दिन अवश्य ही दिव्य कल्याण-मय आनंदों के समूह-संगीत तक पहुंच जायंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वप्न

(श्रीअरविन्द)

एक दरिद्र आदमी अंधेरी कोठरी में बैठा हुआ अपनी शोचनीय अवस्था और भगवान् के राज्य में अन्याय और अविचार की बातें सोच रहा था। अभिमान से वशीभूत होकर दरिद्र कहने लगा कि "लोग कर्म की दुहाई देकर भगवान् के सुनाम की रक्षा करना चाहते हैं। यदि गत जन्म के पाप से मेरी यह दुर्दशा हुई होती, यदि मैं इतना ही पापी होता तो निश्चय ही इस जन्म में भी मेरे मन में पाप चिंता का स्रोत अभी भी बहता होता! इतना घोर पातकी मन क्या एक दिन में निर्मल हो सकता है? और उस पाड़े के तीनकौड़ी शील को देखो, उसकी धन-दौलत, सोना-चांदी, दास-दासियों को देखो, यदि कर्मफल सत्य है तो पूर्वजन्म में निश्चय ही वह कोई जगद्विख्यात साधु या महात्मा था। परंतु कहाँ, इस जन्म में तो इसका चिह्नमात्र भी दिखायी नहीं देता। ऐसा निष्ठुर पाजी बदमाश सारे संसार में नहीं है। नहीं, कर्मवाद भगवान् की ठगविद्या है, मन को ढाढ़स देने का एक बहाना मात्र है। श्यामसुंदर बड़े चतुर चूड़ामणि हैं, मेरे पास आकर पकड़ाई नहीं देते, इसी में उनकी कुशल है, नहीं तो अच्छी तरह से शिक्षा देकर उनकी सारी चालाकी दूर कर देता।"

इतना कहते ही दरिद्र ने देखा कि हठात् उसका अंधकार-घर अतिशय उज्ज्वल आलोक-तरंग में प्रवाहित हो गया, फिर तुरत ही वह आलोक-तरंग अंधकार में लीन हो गयी। उसने देखा कि उसके सामने एक सुन्दर कृष्णवर्ण बालक हाथ में दीपक लिये हुए खड़ा है—धीरे-धीरे मुसकरा रहा है पर कुछ बोलता नहीं। उसके सिर पर मोरमुकुट और पांवों में नूपुर देखकर दरिद्र ने समझा कि स्वयं श्यामसुन्दर उसे पकड़ाई देने के लिये आये हैं। दरिद्र अप्रतिभ हो गया, एक बार उसके मन में आया कि प्रणाम करूं, किंतु बालक का हंसता हुआ मुखड़ा देखकर किसी तरह भी प्रणाम करने की प्रवृत्ति नहीं हुई। अंत में उसके मुंह से ये वाक्य निकल पड़े—"अरे कन्हैया, तू क्यों आया है?"

बालक ने हंसकर उत्तर दिया—"क्यों, तुमने मुझे बुलाया है न? अभी-अभी मुझको चाबुक लगाने की प्रबल वासना तुम्हारे मन में थी न, इसीलिये आकर मैंने अपने को पकड़वा दिया है, उठकर चाबुक लगाना शुरू करो न।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दरिद्र और भी अप्रतिभ हुआ, भगवान् को चाबुक लगाने की इच्छा के लिये उसके हृदय में अनुताप नहीं हुआ, किंतु इतने सुंदर बालक को स्नेह करने के बदले उसके शरीर पर हाथ लगाना, यह भी ठीक नहीं मालूम हुआ। बालक ने फिर कहा—"देखो हरिमोहन, जो लोग मुझसे भय नहीं करके मुझे सखा की भांति देखते हैं, स्नेह-भाव से गाली देते हैं, मेरे साथ क्रीड़ा करना चाहते हैं, वे मुझे बहुत ही प्रिय हैं। मैंने क्रीड़ा के लिये ही जगत् की सृष्टि की है, इस क्रीड़ा के उपयुक्त साथी को मैं सदा खोजता रहता हूँ। परंतु भाई, ऐसे साथी मिलते कहाँ हैं? सभी मेरे ऊपर क्रोध करते हैं, दावा करते हैं, दान मान मुक्ति भक्ति, न जाने क्या-क्या चाहते रहते हैं, किंतु कहाँ, मुझे तो कोई नहीं चाहता! जो कुछ ये चाहते हैं वह मैं इन्हें देता हूँ। क्या करूं, इन्हें संतुष्ट तो करना ही पड़ता है, नहीं तो ये मेरी जान के गाहक बन जायं। तुम भी देखता हूँ कुछ चाहते हो। नाराज़ होने पर गुस्सा उतारने के लिये तुम्हें एक आदमी चाहिये। इसी अभिलाषा को पूरी करने के लिये तुमने मुझे बुलाया है। अस्तु, मैं भी तुम्हारे चाबुक की मार खाने के लिये आया हूँ—ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। हां, यदि प्रहार करने के पहले तुम मेरे मुंह से कुछ सुनना चाहते हो तो मैं तुम्हें अपनी प्रणाली बता दूंगा। क्यों! तुम राज़ी हो?"

हरिमोहन ने कहा—"तू ऐसा कर सकेगा तो? देखता हूं तू बहुत बकबक करना जानता है, किंतु तेरे जैसा नन्हासा बालक मुझे कुछ शिक्षा दे सकेगा यह मैं कैसे विश्वास करूं?"

बालक ने फिर हंसकर कहा—"अच्छा, आओ देखो मैं यह कर सकता हूँ या नहीं।"

इतना कहकर श्रीकृष्ण ने हरिमोहन के सिर पर हाथ रखा। हठात् दरिद्र के समस्त शरीर में विद्युत् का स्रोत प्रवाहित होने लगा, मूलाधार में सुप्त कुंडलिनी-शक्ति अग्निमयी सर्पिणी के रूप में गर्जन करती हुई उसके ब्रह्मरंध्र में दौड़ आयी, उसका मस्तिष्क प्राणशक्ति की तरंग से भर गया। इतने में उसे ऐसा दिखायी दिया कि उसके चारों ओर जो उसके घर की दीवार है वह मानो दूर भागी जा रही है, यह नाम-रूपमय जगत् मानो उसे छोड़कर अनंत में छिप गया है। हरिमोहन बाह्य-ज्ञान-शून्य हो गया। जब उसे फिर से चेतना हुई तो उसने देखा कि वह किसी अपरिचित मकान में बालक के संग खड़ा है और उसके सामने गाल पर हाथ रखे गद्दी पर बैठे हुए एक वयोवृद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुष प्रगाढ़ चिंता में निमग्न हैं। घोर चिंता से विकृत, हृदय-विदारक निराशा से मलिन उनके मुंह को देख कर हरिमोहन को यह विश्वास करने की इच्छा नहीं हुई कि यही वृद्ध ग्रामके हर्त्ता-कर्त्ता तीनकौड़ी शील हैं। अंत में अत्यंत भयभीत होकर उसने बालक से कहा—"अरे कन्हैया, यह तैंने क्या किया, चोर की भांति घोर रात्रि में दूसरे के मकान में घुस आया? पुलिस आकर हम लोगों को पकड़ेगी और मारते-मारते हम दोनों का प्राण ले लेगी। तीनकौड़ी शील के प्रताप को क्या तू नहीं जानता?"

बालक ने हंसकर कहा—"अच्छी तरह जानता हूं। परन्तु चोरी मेरा पुराना धन्धा है, पुलिस से मेरी खूब घनिष्ठता है, तुम डरो नहीं। अब तुमको मैं सूक्ष्म दृष्टि देता हूं, वृद्ध के मन के भीतर क्या हो रहा है, यह देखो। तीनकौड़ी के प्रताप को तो तुम जानते ही हो, किन्तु मेरे प्रताप को भी देखो।"

अब हरिमोहन वृद्ध तीनकौड़ी के मन को देखने में समर्थ हुआ। उसने देखा मानो उस वृद्ध की धनाढ्य नगरी नाना प्रकार के आक्रमणों से विध्वंस हो रही है, उसकी तीक्ष्ण और ओजस्विनी बुद्धि में कितनी ही भीषण मूर्त्तियां, पिशाच और राक्षस आदि प्रवेश कर उसके सुख को लूट रहे हैं। वृद्ध ने अपने प्यारे सबसे छोटे पुत्र के साथ कलह किया है, उसे घर से निकाल दिया है; अब वे बुढ़ापे के प्यारे पुत्र को खोकर शोक से मरणातुर हो रहे हैं, फिर भी क्रोध, गर्व और हठ उनके हृदय-द्वार में सांकल लगाकर पहरा दे रहे हैं। क्षमा को उस द्वार से प्रवेश करने की मनाही है। उनकी कन्या के नाम दुश्चरित्रा होने का कलंक लगा है, अतः वृद्ध अपनी प्रिय कन्या को घर से निकालकर अब उसके लिये रो रहे हैं, वृद्ध यह जानते हैं कि उनकी कन्या निर्दोष है, किन्तु समाज का भय, लोक-लज्जा, अहंकार और स्वार्थ स्नेह को दबाकर रखे हुए हैं, उसे उभड़ने का अवसर नहीं देते। हजारों पाप-स्मृतियों से डरकर वृद्ध बार-बार चमक उठते हैं, तथापि पाप-प्रवृत्तियों को रास्ते पर लाने का साहस या बल उनमें नहीं है। बीच-बीच में मृत्यु और परलोक की चिन्ता वृद्ध को अत्यन्त कठोर विभीषिका दिखा देती है। हरिमोहन ने देखा कि मरने की चिन्ता के परदे के पीछे से विकट यमदूत वृद्ध को झांक-झांक कर देख रहे हैं और उनके दरवाजे को खटखटा रहे हैं। जब-जब दरवाजा खटखटाने का शब्द होता है तब-तब वृद्धका अन्तरात्मा भय से व्याकुल होकर चीत्कार कर उठता है। इस भयंकर दृश्य को देखकर हरिमोहन भयभीत हो गया और उसने बालक की ओर देखकर कहा—"अरे कन्हैया! यह क्या, मैं तो सोचता था कि वृद्ध परम सुखी हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बालक ने कहा—"यही मेरा प्रताप है। कहो किसका प्रताप अधिक है, इस महल्ले के तीनकौड़ी शील का या वैकुण्ठवासी श्रीकृष्ण का? हरिमोहन देखो! हमारे यहां भी पुलिस है, पहरा है, गवर्नमेंट है, कानून है, विचार है, मैं भी राजा बनकर खेल कर सकता हूँ। यह खेल क्या तुमको पसन्द है?"

हरिमोहन ने कहा—"नहीं रे बाबा, यह तो बड़ा बुरा खेल है, क्या तुमको यह खेल अच्छा लगता है?"

बालक ने हंसकर उत्तर दिया—"मैं सभी खेल पसन्द करता हूँ, चाबुक लगाना भी पसन्द करता हूँ और चाबुक खाना भी।" इसके बाद उसने कहा—"देखो हरिमोहन, तुम लोग केवल बाहर को ही देखते हो, भीतर को देखने की सूक्ष्म दृष्टि का तुमने अभी तक विकास नहीं किया है। इसीलिये तुम कहते हो कि तुम दुःखी हो और तीनकौड़ी सुखी है। इस आदमी को पार्थिव किसी भी वस्तु का अभाव नहीं है—फिर भी यह लखपति तुम्हारी अपेक्षा कितनी अधिक दुःख-यंत्रणा भोग रहा है। ऐसा क्यों होता है? क्या तुम यह कह सकते हो? बात यह है कि मन की अवस्था में ही सुख है और मन की अवस्था में ही दुःख। सुख और दुःख मन के विकार मात्र हैं। जिसके पास कुछ नहीं है, विपद् ही जिसकी सम्पद् है वह इच्छा करने पर उस विपद् के अन्दर भी परम सुखी हो सकता है। और देखो, जिस तरह तुम नीरस पुण्य में दिन बिताते हुए सुख नहीं पा रहे हो, केवल दुःख की ही चिन्ता करते हो, उसी तरह ये भी नीरस पाप में अपने दिन बिताते हुए केवल दुःख की ही चिन्ता करते हैं। इसीलिये पुण्य से केवल क्षणिक सुख और पापसे केवल क्षणिक दुःख या पुण्य से केवल क्षणिक दुःख और पाप से केवल क्षणिक सुख होता है। इस द्वन्द्व में आनन्द नहीं है। आनन्द के आगार की छवि तो मेरे पास है। जो मेरे पास आता है, मेरे प्रेमपाश में बंधता है, मुझे साधता है, मेरे ऊपर जोर-जुल्म करता है, अत्याचार करता है—वह मेरे आनन्द की छवि को वसूल करता है।"

हरिमोहन बड़ी तत्परता के साथ श्रीकृष्ण की बातें सुनने लगा। बालक ने फिर कहा—"हरिमोहन और देखो, रूखा-सूखा पुण्य तुम्हारे निकट नीरस हो गया है फिर भी इस संस्कार के प्रभाव को छोड़ देना, इस तुच्छ अहंकार को जीत लेना, तुम्हारे लिये कठिन हो रहा है। इसी तरह पाप भी यद्यपि वृद्ध के निकट नीरस हो गया है फिर भी संस्कार के प्रभाव से वे उसे छोड़ नहीं पाते और इस जीवन में नरक की यन्त्रणा भोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहे हैं। इसीको 'पुण्य का बन्धन' और 'पाप का बन्धन' कहते हैं। अज्ञानजनित संस्कार इस बन्धन के लिये रस्सी का काम करता है। परन्तु वृद्ध की यह नरकयन्त्रणा बड़ी ही शुभ अवस्था है। इससे इनका परित्राण और मंगल होगा।"

हरिमोहन अब तक चुपचाप बालक की बातों को सुन रहा था, अब उसने कहा—"प्यारे कन्हैया, तेरी बातें बड़ी मीठी हैं, किन्तु इनसे मेरा समाधान नहीं हो रहा है। सुख और दुःख मन के विकार हो सकते हैं, किन्तु बाह्य अवस्था ही इनका वास्तविक कारण है। विचार देख, क्षुधा की ज्वाला से प्राण जब छटपटा रहा हो, तब क्या कोई परम सुखी हो सकता है ? रोग या यन्त्रणा से शरीर जब कातर हो रहा हो, तब क्या कोई तेरी बात को सोच सकता है ?"

बालक ने कहा—"आओ हरिमोहन, यह भी तुम्हें दिखाऊंगा।"

इतना कहकर बालक ने हरिमोहन के सिर पर पुनः अपना हाथ रखा। हाथ के स्पर्श का बोध होते ही हरिमोहन ने देखा कि तीनकौड़ी शील के मकान का अब कहीं पता भी नहीं है, अब उसके सामने किसी निर्जन सुरम्य पर्वत के वायुसेवित शिखर पर एक संन्यासी आसन लगाये ध्यानमग्न अवस्था में बैठे हैं, उनके चरणों के नीचे एक प्रकाण्ड व्याघ्र प्रहरी की तरह लेटा हुआ है। बाघ को देखकर हरिमोहन के पैर आगे बढ़ने से रुके, किन्तु बालक उसे खींचकर संन्यासी के निकट ले गया। बालक के संग जोर न लगा सकने के कारण हरिमोहन को लाचार होकर चलना पड़ा। बालक ने कहा—"हरिमोहन देखो।"

हरिमोहन ने देखा कि संन्यासी का मन उसकी आंखों के सामने एक खुली हुई बही के समान पड़ा हुआ है, इस बही के हरेक पन्ने पर श्रीकृष्णनाम हजार बार लिखा हुआ है। संन्यासी निर्विकल्प समाधि के सिंह-द्वार का अतिक्रमण कर सूर्य के आलोक में श्रीकृष्ण के संग क्रीड़ा कर रहे हैं। उसने और भी देखा कि संन्यासी कई दिनों से अन्न और जल के बिना जीवन बिता रहे हैं तथा गत दो दिनों में भूख और प्यास से उनके शरीर को बहुत कष्ट हुआ है। हरिमोहन ने कहा—"अरे कन्हैया ! यह क्या ? महात्मा तुझसे इतना प्रेम करते हैं फिर भी ये क्षुधा और पिपासा की पीड़ा भोग करते हैं। तुझे क्या साधारण-सी बुद्धि भी नहीं है। इस निर्जन व्याघ्रसंकुल अरण्य में कौन इन्हें आहार देगा !" बालक ने कहा—"मैं दूंगा, किंतु एक और मजा देखो।" हरिमोहन ने देखा कि बाघ ने खड़े होकर अपने पंजे के आघातसे निकटवर्ती वल्मीक को तोड़ दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब क्या था, उस मिट्टी के ढेर में से हज़ारों दीमक निकल कर मारे क्रोध के संन्यासी के बदन पर चढ़कर उन्हें काटने लगे। संन्यासी उसी अवस्था में बैठे हैं, ध्यानमग्न, निश्चल, अटल। अब बालक ने संन्यासी के कान में अति मधुर स्वर से आवाज़ लगायी—"सखे!" संन्यासी ने आँखें खोलीं, आरंभ में उन्होंने इस मोह-ज्वालामय दंशन का अनुभव नहीं किया, अभी भी उनके कानों में वही विश्व-वांछित चित्त को हर लेने वाली वंशी बज रही थी—ठीक उसी तरह जिस तरह वह वृन्दावन में श्री राधा के कानों में बजी थी। इसके बाद उन हज़ारों दीमकों के काटने से उनकी बुद्धि शरीर की ओर आकृष्ट हुई। संन्यासी अपने आसन से हिले नहीं—विस्मयपूर्वक मन-ही-मन कहने लगे—"यह क्या? ऐसा तो कभी नहीं हुआ। ओहो! यह तो श्रीकृष्ण मेरे संग क्रीड़ा कर रहे हैं, क्षुद्र दीमक-समूह के वेश में मुझे काट रहे हैं।" हरिमोहन ने देखा कि दीमकों के काटने की पीड़ा अब संन्यासी की बुद्धि तक नहीं पहुंच पाती, प्रत्येक दंशन में तीव्र शारीरिक आनंद का अनुभव कर, श्रीकृष्ण नाम लेते हुए तथा अत्यंत आनंद पूर्वक तालियाँ बजाते हुए, वे नाचने लगे। दीमक मिट्टी में गिर कर भाग गये। हरिमोहन ने आश्चर्य पूर्वक पूछा—"अरे कन्हैया, यह क्या माया है!"

बालक ताली बजाकर एक पैर के बल दो बार घूमकर नाचा, ठठाकर हंसा और बोला—"मैं ही हूँ जगत् का एकमात्र जादूगर! इस माया को तुम नहीं समझ सकोगे, यह मेरा परम रहस्य है। देखा! यंत्रणा में भी संन्यासी मुझे स्मरण कर सके तो! और देखो।"

संन्यासी अब पुनः प्रकृतिस्थ होकर बैठे, उनका शरीर अब भूख प्यास अनुभव करने लगा, किंतु हरिमोहन ने देखा कि संन्यासी की बुद्धि उस शारीरिक विकार का अनुभवमात्र करती है, लेकिन न तो वह इससे विकृत ही हो रही है न लिप्त ही। इसी समय पहाड़ पर से किसी ने वंशी-विनिन्दित स्वर से पुकारा, "सखे!" हरिमोहन चौंक पड़ा। यह तो श्यामसुन्दर का ही मधुर वंशीविनिन्दित स्वर है। इसके बाद उसने देखा कि पहाड़ी चट्टान के पीछे से एक सुंदर कृष्णवर्ण बालक थाली में उत्तम आहार और फल लिये हुए आ रहा है। हरिमोहन हतबुद्धि होकर श्रीकृष्ण की ओर देखने लगा। बालक उसके पास खड़ा है, फिर भी जो बालक आ रहा है वह भी अविकल श्रीकृष्ण ही है। दूसरा बालक वहाँ आकर और संन्यासी को रोशनी दिखाकर बोला—"देखो, क्या लाया हूं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
०२९५१४

संन्यासी ने हंसकर कहा--"आ गया? इतने दिनों तक भूखा ही रखा? खैर, जब आया है तो बैठ मेरे संग खा।"

संन्यासी और बालक उस थाली की सामग्रियों को खाने लगे, आपस में छीना-झपटी होने लगी। आहार समाप्त होने पर बालक थाली लेकर अंधकार में विलीन हो गया।

हरिमोहन कुछ पूछने जा रहा था, हठात् उसने देखा कि श्रीकृष्ण अब वहाँ नहीं हैं, अब न वहाँ संन्यासी हैं, न बाघ, न पर्वत ही। अब तो वह एक भले आदमियों के महल्ले में वास कर रहा है। अगाढ़ धन-दौलत है, स्त्री है, परिवार है, नित्य ब्राह्मणों और भिक्षुकों को दान देता है, त्रिकाल संध्या करता है, शास्त्रोक्त आचार-विचार की यत्नपूर्वक रक्षा करता हुआ रघुनंदनप्रदर्शित पथ पर चल रहा है। आदर्श पिता, आदर्श स्वामी और आदर्श पुत्र होकर जीवन यापन कर रहा है। परंतु दूसरे ही क्षण उसने भयभीत होकर देखा कि जो लोग इस भद्र महल्ले में वास रहे हैं उनके अंदर लेशमात्र भी सद्भाव या आनंद नहीं है, ये लोग यंत्र की तरह बाह्य आचार-रक्षा को ही पुण्य समझ रहे हैं। इस जीवन से हरिमोहन को आरंभ में जितना आनंद हुआ था, उतनी ही अब उसे यंत्रणा होने लगी। उसे बोध हुआ मानो उसको भयानक प्यास लगी है, किंतु उसको जल नहीं मिल रहा है, वह धूल फाँक रहा है। वहाँ से भागकर वह एक दूसरे गाँव में गया, वहाँ एक प्रकांड अट्टालिका के सामने अपूर्व जनता का और उसके द्वारा दिये गये आशीर्वाद का कोलाहल मचा हुआ था। हरिमोहन उस जन-समूह के कुछ पास गया, उसने देखा कि तीनकौड़ी शील दालान में बैठे हुए उस जनता को दोनों हाथों से धन दे रहे हैं, कोई भी वहाँ से निराश होकर नहीं लौट रहा है। हरिमोहन ठठाकर हंस पड़ा, उसने सोचा—"यह कैसा स्वप्न! तीनकौड़ी शील और दाता? आश्चर्य!" इसके बाद उसने तीनकौड़ी के मन को देखा। उसे ज्ञात हुआ कि तीनकौड़ी शील के मन में लोभ, ईर्ष्या, काम, स्वार्थ आदि हजारों प्रकार की अतृप्तियां और कुप्रवृत्तियां 'दो, दो' कहती हुई चिल्ला रही हैं। पुण्य के लिये, यश के लिये, गर्व के वश तीनकौड़ी उन भावों को अतृप्त अवस्था में ही किसी तरह ढाँक कर रखे हुए हैं, लेकिन ये भाव उनके चित्त से दूर नहीं हो गये हैं। इसी समय हरिमोहन को पकड़ कर कोई जल्दी-जल्दी परलोक में घुमा लाया। हिंदू का नरक, क्रिस्तान का नरक, मुसलमान का नरक, यूनानियों का नरक, हिंदू का स्वर्ग, क्रिस्तान का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वर्ग, मुसलमान का स्वर्ग, यूनानियों का स्वर्ग—न मालूम कितने नरकों और कितने स्वर्गों को हरिमोहन देख आया। इसके बाद उसने देखा कि वह अपने ही मकान में, अपनी पूर्व परिचित फटी हुई चटाई और अपने उसी मैले-कुचैले तोशक पर बैठा हुआ है, और उसके सामने ही श्याम सुन्दर खड़े हैं। बालक ने कहा—"रात बहुत बीत गयी है, यदि मैं घर न लौटूंगा तो मेरे घर वाले मुझे डांटेंगे, पीटेंगे। इसलिये अधिक बातें करने का अवकाश नहीं है, संक्षेप में इतना ही कहता हूँ कि जिन स्वर्गों और नरकों को तुमने देखा है, ये सब स्वप्न-जगत् की कल्पना से सृष्ट हुए हैं। मनुष्य मरणांतर स्वर्ग और नरक में जाता है, अपने गत जन्म के भाव को वहाँ भोगता है। तुम पूर्वजन्म में पुण्यवान् थे, किंतु उस जन्म में प्रेम को तुम्हारे हृदय में स्थान नहीं मिला। न तुमने ईश्वर से प्रेम किया न मनुष्य से। इसलिये प्राण त्याग करने पर स्वप्न-जगत् में भले आदमियों के उस महल्ले में वास करके पूर्व जीवन के भावों का तुम भोग करने लगे, भोग करते-करते उस भाव से तुम ऊब गये, तुम्हारे प्राण व्याकुल होने लगे और तुम वहाँ से निकल कर धूलिमय नरक में वास करने लगे; अंत में जीवन के पुण्य फलों को भोग कर पुनः तुम्हारा जन्म हुआ। उस जीवन में छोटे-छोटे नैमित्तिक दानों को छोड़कर, नीरस बाह्य व्यवहार को छोड़ कर किसी के अभाव को दूर करने के लिये, तुमने कुछ नहीं किया। इसीलिये इस जन्म में तुम्हें इतना अभाव है। अभी भी तुम जो नीरस पुण्य करते हो इसका कारण यह है कि केवल स्वप्न-जगत् के भोग से पाप और पुण्य का संपूर्ण क्षय नहीं होता, इनका संपूर्ण क्षय तो कर्म फल को पृथ्वी पर भोगने से ही होता है। तीनकौड़ी गत जन्म में दाता कर्ण थे, हजारों व्यक्तियों के आशीर्वाद से इस जन्म में लखपति हुए हैं, उन्हें किसी वस्तु का अभाव नहीं है। परंतु उनका चित्त शुद्ध नहीं होने के कारण अतृप्त कुप्रवृत्तियों को, पाप कर्मों के द्वारा, उन्हें इस समय तृप्त करना पड़ रहा है। कर्मवाद समझे क्या? न तो यह पुरस्कार है न दंड—यह है अमंगल के द्वारा अमंगल की और मंगल के द्वारा मंगल की सृष्टि, प्रकृति का कानून। पाप अशुभ है अतः उसके द्वारा दुःख की सृष्टि होती है; पुण्य शुभ है इसलिये उसके द्वारा सुख की सृष्टि होती है। यह व्यवस्था चित्त की शुद्धि के लिये, अशुभ के विनाश के लिये की गयी है। देखो हरिमोहन, पृथ्वी हमारे वैचित्र्यमय जगत् का एक छोटा सा अंशमात्र है, और कर्म के द्वारा अशुभ का नाश करने के लिये तुम लोग वहाँ जन्म ग्रहण करते हो। और फिर जब पाप और पुण्य के हाथों से परित्राण पाकर प्रेम-राज्य में पदार्पण करते हो तब इस कार्य से छुटकारा मिलता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। अगले जन्म में तुम भी छुटकारा पाओगे। मैं अपनी प्रिय भगिनी शक्ति और उसकी सहचरी विद्या को तुम्हारे निकट भेजूंगा, परंतु देखो एक शर्त्त है कि तुम मेरे इस खेल के सांथी बनोगे, मुक्ति नहीं माँग सकोगे। क्यों, राज़ी हो?" हरिमोहन ने कहा—"अरे कन्हैया! तैंने मेरा बड़ा उपकार किया। तुझे गोद में लेकर प्यार करने की बड़ी इच्छा होती है, ऐसा मालूम होता है मानो इस जीवन में मुझे अब कोई वासना नहीं रह गयी है।"

बालक ने हँसकर कहा—"हरिमोहन, कुछ समझे क्या?" हरिमोहन ने उत्तर दिया—"समझा क्यों नहीं।" इसके बाद उसने कुछ सोचकर कहा—"अरे कन्हैया, तैंने मुझे फिर ठगा। अशुभ का सृजन तैंने क्यों किया इसकी तो कोई कैफियत दी ही नहीं।" इतना कहकर उसने बालक का हाथ पकड़ लिया। उसके हाथ से अपना हाथ छुड़ाकर और उसको धमकाते हुए बालक ने कहा—"दूर हटो! वाह, एक घण्टे में ही मेरी समस्त गुप्त बातें कहला लेना चाहते हो?" इतना कहकर बालक ने दीपक को हठात् बुझा दिया और हरिमोहन से कुछ दूर हटकर हँसते हुए कहा—"देखो हरिमोहन, चाबुक मारना तो तुम एकदम ही भूल गये। इसी से तो मैं तुम्हारी गोद में नहीं बैठा कि कहीं तुम बाह्य दुःख से क्रुद्ध होकर मुझे अच्छी तरह पीटने न लगो! तुम पर मेरा लेशमात्र भी विश्वास नहीं है।"

हरिमोहन ने अन्धकार में अपना हाथ बढ़ाया, बालक और अधिक दूर हट गया और बोला—"नहीं, इस सुख को मैं तुम्हारे दूसरे जन्म के लिये बाकी रख छोड़ता हूँ। अच्छा अब चलता हूँ।"

इतना कहकर उस अन्धकारमय रात्रि में बालक न जाने कहां अदृश्य हो गया। हरिमोहन उसकी नूपुरध्वनि को सुनते-सुनते जाग उठा। जागकर उसने सोचा कि "यह कैसा स्वप्न देखा! नरक देखा, स्वर्ग देखा, और भगवान् को तू कहा, छोटा-सा बालक समझकर डांटा, डपटा! यह बड़ा भारी पाप किया! परन्तु जो कुछ भी क्यों न हो प्राण में एक अभूतपूर्व शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ।" हरिमोहन अब उस कृष्णवर्ण बालक की मोहिनी मूर्त्ति का ध्यान करने लगा और बीच-बीच में कहने लगा "कितनी सुन्दर, कितनी सुन्दर!"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान युद्ध पर श्रीअरविन्द के विचार

(केवल श्रीअरविन्द के साधकों व शिष्यों के लिये)

हम अनुभव करते हैं कि यह केवल एक ऐसी लड़ाई ही नहीं है जो न्याय्य आत्म-संरक्षण के लिये या जर्मनी के संसार-व्यापी प्रभुत्व की पिपासा से तथा नाज़ी-जीवन-पद्धति से संत्रस्त राष्ट्रों के परित्राण के लिये छेड़ी गयी है, बल्कि यह कि इस युद्ध का अर्थ है सभ्यता और उसकी उच्चतम प्राप्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक संपत्तियों की तथा मानव-जाति के सारे भविष्य की ही रक्षा। इस कार्य के लिये हमारी सहायता और सहानुभूति अटल बनी रहेगी, कुछ भी क्यों न हो; हम ब्रिटेन की विजय की आशा और प्रतीक्षा करते हैं और इस बात की कि इस विजय के परिणाम स्वरूप एक ऐसा युग आवे जहाँ शान्ति हो, विभिन्न राष्ट्रों में एकता हो और एक अच्छी तथा अधिक सुरक्षित जग-व्यवस्था हो।

१९. ९. १९४०

श्रीअरविन्द
माँ

ज़ोर दे कर और स्पष्ट रूप से यह जता देना आवश्यक हो गया है कि वे सब जो अपने विचारों और इच्छाओं के द्वारा नाज़ी दल का समर्थन कर रहे हैं और उसकी विजय मना रहे हैं, वे इसी बात के द्वारा भगवान् के विरुद्ध असुर के साथ सहयोग कर रहे हैं और असुर की विजय कराने में सहायक हो रहे हैं।

हिटलर को अपना यंत्र बना कर जो आसुरी शक्ति कार्य कर रही है और उसके द्वारा संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहती है वह वही शक्ति है जो श्रीअरविन्द के कार्य का विरोध करती रही है और उसे नष्ट कर देने की तथा भगवान् के कार्य की पूर्ति में विघ्न डालने की चेष्टा करती रही है।

अतएव वे जो नाज़ियों और उनके सहगामियों की विजय चाहते हैं अब समझ लें कि इस तरह की इच्छा करना हमारे कार्य को नष्ट करने की इच्छा करना तथा श्रीअरविन्द के प्रति विश्वासघात करना है।

९. ५. १९४१

माँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम्हारा कहना है कि तुम सन्देह करने लगे हो कि क्या यह माता का युद्ध है और यह चाहते हो कि मैं तुम्हें फिर से अनुभव करा दूं कि हां यह माता का युद्ध ही है। तो सुनो, मैं तुम्हें पूरे बल के साथ यह दुबारा कहता हूँ कि हां यह माता का युद्ध है। तुम्हें यह नहीं सोचना चाहिये कि यह लड़ाई दूसरों के विरुद्ध कतिपय राष्ट्रों के लिये है या यह भी कि यह युद्ध भारत के लिये है। यह संघर्ष है एक आदर्श के लिये जिसे मानव-जाति के जीवन में पृथिवी पर स्थापित होना है, उस सत्य की प्रतिष्ठा के लिये जिसे अभी पूर्ण रूप से यहां सिद्ध होना है और यह उस अन्धकार और मिथ्यात्व के विरुद्ध है जो निकट भविष्य में पृथिवी और मानवता को अभिभूत कर देने की चेष्टा कर रहे हैं। देखना है उन शक्तियों को जो इस संग्राम के पीछे कार्य कर रही हैं, इस या उस किसी बाह्य अवस्था को नहीं। राष्ट्रों के दोषों और भूलों पर दृष्टि केन्द्रित करने से कोई लाभ नहीं, सभी राष्ट्र दोषों से भरे पड़े हैं और गहरी भूलें करते हैं; जो बात महत्त्व रखती है वह यह कि इस संग्राम में कौन राष्ट्र किस पक्ष का होकर खड़ा हुआ है। यह संघर्ष है इसलिये कि मनुष्य समाज को अपना विकास करने की स्वाधीनता रहे, ऐसी अवस्थाएं रहें जिसमें मनुष्य को अपने अन्दर के प्रकाश के अनुकूल चिंतन और कर्म करने की स्वतन्त्रता तथा उपयुक्त क्षेत्र मिले, वह सत्य में, आत्मा में संवर्द्धित हो सके। इसमें ज़रा भी सन्देह की गुंजायश नहीं कि यदि एक पक्ष की जीत हो तो इस तरह की स्वतन्त्रता का तथा प्रकाश और सत्य की आशा का अन्त हो जायगा और जिस कार्य को करना है वह ऐसी अवस्थाओं के अधीन हो जायगा कि उसे कम-से-कम मानुषिक शक्ति से पूरा करना असम्भव हो जायगा; असत्य और अन्धकार का राज्य छा जायगा, अधिकांश मानवजाति का इतना क्रूर पददलन होगा, इतनी अधोगति होगी जिसकी कि इस देश के लोग कल्पना भी नहीं कर रहे, जिसे कि वे अभी ज़रा भी अनुभव नहीं कर सकते। यदि दूसरे पक्ष की जीत हुई, उस पक्ष की जीत हुई जिसने यह घोषणा की है कि वह मानवजाति के स्वतन्त्र भविष्य का हिमायती है तो यह भयानक खतरा टल जायगा और ऐसी अवस्थाओं की सृष्टि हो जायगी जिसमें मानव-जाति के स्वतन्त्र विकास के सिद्धान्त को पनपने की, भगवान् के कार्य को करने की, जिस आध्यात्मिक सत्य के लिये हम हैं उसकी इस पृथिवी पर स्थापना होने की आशा रहेगी। जो लोग इस ध्येय के लिये लड़ रहे हैं वे भगवान् के लिये लड़ रहे हैं और असुर का राज्य हो जाने की प्रबल विभीषिका का अन्त करने के लिये लड़ रहे हैं।

२९. ७. ४२

—श्रीअरविन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा आदर्श

(लेखक—श्रीयुत नलिनीकान्तजी)

हमारा अर्थात् श्रीअरविन्द का आदर्श क्या है? सीधे-सादे तौर पर थोड़े में हम कह सकते हैं कि यह आदर्श है मनुष्य को देवता बनाना, मर को अमर बनाना, जड़ को चेतन बनाना अर्थात् जड़ के अन्दर आत्मा को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करना। तो क्या यह आदर्श संभव है? व्यवहार्य है? हम इस लेख में क्रमशः यही दिखाने की चेष्टा करेंगे कि यह संभव है, और व्यवहार्य है, बल्कि साथ ही यह अनिवार्य भी है।

सबसे पहले हम यह देखें कि यह संभव है। साधारणतया लोग यह समझते हैं कि यह आदर्श असंभव है, एक मिथ्या कल्पना है, क्योंकि उन्हें इसके अन्दर स्पष्ट ही स्वतोविरोध दिखायी देता है। उनका कहना है कि क्या देवत्व ठीक मनुष्यत्व के विरुद्ध नहीं है, अमरत्व मृत्यु के, आत्मा जड़ के एकदम विपरीत नहीं है? ये तीनों जोड़े तो ऐसी दो दो स्वतंत्र वस्तुओं से बने हुए हैं जिन दोनों में परस्पर कोई मेल ही नहीं। मायावाद की ठीक ऐसी ही मान्यता है। परन्तु फिर भी क्या यह आवश्यक और अनिवार्य है कि यह बात ऐसी ही हो? आख़िरकार मायावाद ने इस विरोध को एक स्वतःसिद्ध सिद्धान्त ही तो मान लिया है और इसी तरह दूसरे भी किसी अन्य स्वतःसिद्ध सिद्धान्त को मानकर चल सकते हैं। सच बात तो यह है कि जीवन और जगत् संबंधी जितने भी विचार और मत हैं वे सभी मूलतः किसी-न-किसी आध्यात्मिक अनुभूति के ऊपर अवलंबित हैं और प्रत्येक ऐसी अनुभूति का एक-न-एक अपना स्वतःसिद्ध सिद्धान्त होता है।

तो हम आरंभ में ही यह बात अस्वीकार करते हैं कि जड़ और आत्मा, देह और देही या मनुष्य और देवता के बीच कोई विभेद या विरोध है या होना अनिवार्य है। हम एक ऐसी अनुभूति, एक ऐसे साक्षात्कार को आधार में रखकर चलते हैं जो इस द्वैत के बीच मूलतः एकत्व और तादात्म्य का होना घोषित करता है। इसी बात को हमें सबसे पहले स्पष्ट और निश्चित रूप में स्थापना के तौर पर मान लेना होगा। इसके बाद फिर यह प्रश्न उठता है कि किस प्रकार ये दोनों तत्त्व एक और अभिन्न हैं और इस प्रश्न पर अवश्य यहाँ कुछ विचार करने की आवश्यकता है क्योंकि यहाँ पर यह संदेह किया जा सकता है कि क्या ये दोनों ठीक उसी अर्थ में एक और अभिन्न हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस अर्थ में 'सूर्य' और 'आफ़ताब' या 'जल' और 'H_2O' (अर्थात् २ भाग हाइड्रोजन + १ भाग आक्सिजन जिनके मिलने से पानी बनता है) एक और अभिन्न हैं ? क्या मत-मतान्तर के निरर्थक झगड़े को अलग रख हम यह नहीं कह सकते कि यह एक सार्वदेशिक, सनातन और अटल अनुभव है कि देवता (भगवान्) को प्राप्त करने के लिये हमें मनुष्य को अवश्य पीछे छोड़ना चाहिये, अमर बनने के लिये हमें पहले मर्त्य अवस्था से अवश्य ऊपर उठना चाहिये और आत्मा में निवास करने के लिये हमें जड़ को अवश्य अस्वीकार करना चाहिये ? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर है, बात ऐसी ही है और ऐसी नहीं भी है। क्योंकि वास्तव में इस पहेली को जितना जटिल बना दिया गया है उतनी जटिल यह है नहीं।

एक प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति के अनुसार जड़ केवल अपने बाह्य और प्रत्यक्ष रूप में ही आत्मा से भिन्न मालूम होता है और उसकी यह भिन्नता भी केवल दीखने में है और आपेक्षिक ही है। यहीं इस पहेली की प्रधान ग्रंथि है। इस दृष्टि के अनुसार आत्मा ही जड़ का रूप धारण करता है, वही जड़ भी है— अन्नं ब्रह्म एव। आत्मा चेतना (चित्) है और जड़, कहते हैं, अचेतना (अचित्) है। परन्तु हमारे विचार में यह कोई जरूरी नहीं है, और न ऐसा है ही, कि अचेतना पूर्ण रूप से चेतना के अभाव या एकदम लोप की अवस्था हो; अचेतना चेतना की आत्म-समाहित या आच्छादित एक अवस्थामात्र है। अगर हम चेतना को जागरूकता की अवस्था कहें तो अचेतना को विस्मृति के सिवाय और कुछ नहीं कह सकते। अचेतना वह अवस्था है जिसमें चेतना मानो प्रतीक्षा कर रही हो या किसी बाधा के कारण अभिव्यक्त न हो पाती हो; केवल सुप्त हो, नष्ट न हो गयी हो।

इस तरह जड़ का चेतन (आत्मा) बन जाना, चैतन्यमय हो जाना केवल इसी एक कारण से संभवनीय हो जाता है कि जड़ और चेतन (आत्मा) पूर्ण रूप से परस्पर भिन्न, विरोधी या असमान तत्त्व नहीं हैं, बल्कि वे दोनों एक ही सद्वस्तु हैं; एक ही सद्वस्तु केवल दो अलग-अलग रूपों में विद्यमान है, जैसे एक ही पानी भाप और बर्फ दो विभिन्न रूप ग्रहण करता है। आत्मा जड़ बना है और जड़ अपने मूल रूप में आत्मा ही है। जहाँ आत्मा जड़ के अन्दर अपने-आपको छिपाये हुए है वहाँ जड़ स्वयं एक ऐसा रूप है जो आत्मा के अन्दर गुप्त रूप से विद्यमान है। जड़ आत्मा से ही उत्पन्न हुआ है। आत्मा स्वयं अपने आप को दबाकर, धीरे-धीरे जमकर, अन्त में ठोस जड़ात्मिका सद्वस्तु के रूप में परिवर्तित हो गया है। दाना बन्धने (Crystallisation),

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने आपको सीमित करने तथा अपने ही अन्दर पूर्णरूपेण एकाग्र होने की प्रक्रिया के द्वारा आत्मा जड़ बन गया है। यह प्रक्रिया आत्मविकृति की एक विशेष धारा का अनुसरण करती है और क्रमशः नीचे की ओर कई स्तरों को पार करती हुई अन्तिम अवस्था को प्राप्त होती है। यह आत्मा की आत्मविकृति की अनन्त प्रकार की प्रक्रियाओं में से एक प्रक्रिया है जो एक विशेष उद्देश्य और निश्चित परिपूर्णता को सामने रख कर चुनी गयी है और स्वतन्त्र रूप से विकसित की गयी है।

निवर्तन (Involution) की एक क्रिया क्रमशः चेतना के अनेक स्तरों से होती हुई, धीरे-धीरे बाहरी मूल्यों को घटाती हुई नीचे की ओर उतरी और अन्त में उसने आत्मा को जड़ के अन्दर पर्यवसित कर दिया। अब अगर यह बात ऐसी ही हो तो फिर यह बात भी सहज ही समझ में आ जाती है कि विवर्तन (Evolution) की, प्रत्यागमन की एक क्रिया के द्वारा फिर से जड़ आत्मा के अन्दर उन्नीत हो सकता है। इस तरह आत्मा का जड़ बनना ही, जड़ का आत्मा का एक विशेष रूप होना ही तुरत इस सम्भावना को उत्पन्न कर देता है कि जड़ आत्मा में रूपान्तरित हो सकता है। तब इस संभावना को स्वीकार कर लेने पर भी यहां यह तर्क किया जा सकता है कि उस समय इस रूपान्तर का फल होगा आत्मा के अन्दर जड़ का विलीन हो जाना; इसका अर्थ होगा उस विशेष रूप और संगति का विनाश जिसे हम जड़ के नाम से पुकारते हैं। आधुनिक विज्ञान के प्रताप से आज हम सभी यह अच्छी तरह जानते हैं कि जड़ को शुद्ध शक्ति के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है, परन्तु उस समय जड़ जड़ नहीं रहता, वह अपने जड़ स्वरूप को एक दम खो देता है।

यही कुछ पुराने आध्यात्मिक साधन-मार्गों की शिक्षा है। उनका कहना है कि यद्यपि आत्मा और जड़ के बीच कोई ऐसी खाई नहीं है जिसे पाटा न जा सके, यद्यपि ये दोनों एक दूसरे से एकदम भिन्न नहीं हैं बल्कि एक ही सद्वस्तु हैं, फिर भी आत्मा मूलगत सद्वस्तु है और जड़ उसीका एक निकृष्टतर रूप। जड़ अनन्त आत्मा से ही बाहर निकला है और यह फिर अन्त में केवल आत्मा के ही अन्दर समा सकता है और इसे समा जाना ही होगा।

यहीं पर हमें दूसरे प्रधान सिद्धान्त को जानने की आवश्यकता है जिसे श्रीअरविन्द की आध्यात्मिक दृष्टि प्रस्थापित करती है और वह यह है कि आत्मा का एक 'निकृष्टतर' रूप, 'निम्न' स्तर में उसकी प्रसुप्तावस्था, अपने बाह्य और क्रियाशील स्वभाव और व्यवहार में भी, वास्तव में या मूलतः केवल क्षणिक नहीं है; अप्रधान सद्वस्तु नहीं है; इसका एकमात्र कार्य केवल वास्तविक सद्वस्तु को बाधा देना, घटा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देना और छिपा देना नहीं है जिसके कारण मूलस्रोत की ओर वापस आने के समय रास्ते में धीरे-धीरे उसे त्याग दिया जाय और नष्ट कर दिया जाय। वास्तव में इस 'निकृष्टतर' रूप का कार्य द्विविध होता है: अवरोहण के (नीचे उतरने के) मार्ग में यह उच्चतर सद्वस्तु को सीमित करता है, आच्छादित करता है, पथभ्रष्ट करता है और अन्त में उसे एकदम मिथ्या बना देता है, और इसके साथ ही साथ वह जिसे कि यह आवृत करता है उसे स्थूल रूप भी प्रदान करता है, क्रियाशील बनाता है और सशरीर करता है। किन्तु आरोहण के मार्ग में अर्थात् हीनतर से उच्चतर अवस्था की ओर प्रत्यागमन करने की अवस्था में यह कोई आवश्यक नहीं है कि यह क्रिया सदा अन्तर्धान होने और विलुप्त हो जाने की ही हो; बल्कि यह क्रिया शुद्ध करने, आलोकित करने और परिपूर्ण करने की भी हो सकती है। उस अवस्था में हमारा दृष्टान्त यह नहीं होगा कि जड़ अपना जड़त्व खोकर शुद्ध शक्ति के रूप में परिवर्तित हो सकता है, बल्कि यह होगा कि जड़ रूपान्तरित होकर एक ज्योतिर्मय वस्तु बन सकता है जिस ज्योतिर्मय होने की प्रक्रिया में वह अपने आपको नष्ट नहीं कर देगा बल्कि वह एक अमर प्रकाशमय उपादान द्वारा नये सिरे से गठित हो जायगा।

रूपान्तर करने वाले क्रमविवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया का होना केवल संभव या व्यवहार्य ही नहीं है बल्कि यही है जो स्वयं प्रकृति के अन्दर हो रहा है। प्राकृतिक क्रमविवर्तन का यही अर्थ है, इससे कम कुछ भी नहीं। सर्वप्रथम क्रमविवर्तन का अर्थ है प्रकृति की विलोम गति, क्योंकि यह निवर्तन की प्रक्रिया के प्रत्यागमन की एक क्रिया है। हम कह चुके हैं कि परम सत्य और सद्वस्तु ने—जिसे सच्चिदानन्द भी कहते हैं—आत्म-प्रकाश की शक्ति को कम करने वाले या आत्मगोपन के परिमाण को बढ़ाने वाले अनेक स्तरों और अवस्थाओं से होकर—जिनमें प्रधान हैं, अतिमानस, अधिमानस, उच्चतर मन, मन, प्राण और शरीर या जड़—धीरे धीरे अपने आपको घनीभूत किया और अनेक रूपों को ग्रहण किया। परन्तु जड़ की अवस्था तक, जो इस निवर्तन की गति की अन्तिम अवस्था है और जो अपनी मूल अवस्था से अत्यन्त दूर दिखायी देती है, पहुँचने के बाद यह गति पीछे की ओर लौट पड़ती है और फिर उन्हीं स्तरों से हो कर जिन्हें वह पार कर आयी है, ऊपर जाने की चेष्टा करती है। परन्तु यह प्रत्यागमन की गति लुप्त या नष्ट हो जाने की प्रक्रिया नहीं है बल्कि महत्तर परिपूर्णता की ओर समन्वय साधित करने की प्रक्रिया है, उन्नयन की ओर साथ ही साथ सर्वांगपूर्ण बनाने की प्रक्रिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जड़ से ही क्रम-विवर्तन की क्रिया आरम्भ होती है। इस अवस्था में जड़ एक भौतिक-रासायनिक पदार्थमात्र होता है। परन्तु सब से पहिले यह उस समय परिवर्तित और रूपान्तरित होता है जब प्राणतत्त्व इसे ग्रहण करता है, जब यह प्राण-क्रिया को स्वीकार कर सजीव प्राणियों की सृष्टि का आधार बनता है। इस समय यह प्राणमयीभूत जड़ अपने मूल रूप भौतिक-रासायनिक पदार्थ से एकदम भिन्न प्रकार की क्रिया करता है। उसके बाद जड़ में इससे भी महान् परिवर्तन उस समय दिखायी देता है जब यह और भी ऊपर उठता है और इसे मन-तत्त्व ग्रहण करता है, जब यह मनोमय सृष्टि की तरंगों को स्वीकार करता है और अपने अन्दर रूप ग्रहण करने देता है। इस मनोमयीभूत जड़ में एक तीसरे ही प्रकार का आचरण दिखायी देता है। इस तरह जब हम प्राकृतिक क्रमविवर्तन की धारा को ध्यानपूर्वक देखते हैं तो हमें मालूम होता है कि जड़ धीमी गति से रूपान्तरित होता हुआ अधिकाधिक नमनीय और स्वतः-स्फुरणायुक्त होता जा रहा है, उत्तरोत्तर संज्ञापूर्ण और प्रकाशयुक्त होता जा रहा है।

यह क्रम-विकास प्रकृति के अन्दर सतत और स्थायी रूप से चल रहा है और प्रकृति निरन्तर जड़ के अन्दर अधिकाधिक उच्चतर रूपान्तर साधित करने का कठिन प्रयास कर रही है। वर्त्तमान स्थिति में भले ही यह कल्पना करना कठिन हो कि जड़ भविष्य में कैसा रूप ग्रहण करेगा या किन किन अवस्थाओं में से होकर गुज़रेगा जैसा कि अवश्य ही एकदम आरम्भ में मनोमयीभूत जड़ या प्राणमयीभूत जड़ के विषय में कल्पना करना असम्भव था, परन्तु इसी कारण इस बात के अनिवार्य होने में कोई कमी नहीं आ जाती।

प्रकृति के अन्दर इस विकासोन्मुखी प्रवृत्ति के होने के कारण ही यह अनिवार्य हो जाता है कि एक अवस्था ऐसी आयेगी जब जड़ के अन्दर एक दूसरा परिवर्तन दिखायी देगा, और भी गम्भीर और पूर्ण रूपान्तर साधित होगा, मन से भी एक उच्चतर सद्वस्तु इसे अधिकृत करेगी और उस सद्वस्तु की ज्योति और शक्ति इसके अन्दर ओत-प्रोत हो जायगी, आध्यात्मिक चेतना प्रकट होगी और इसके साथ ही साथ अध्यात्ममयीभूत जड़, आत्मचैतन्यमय जड़ उद्भूत होगा, जैसे कि इसके पूर्व मनोमय चेतना और मनोमयीभूत जड़ उत्पन्न हुआ था और उससे भी पहले प्राणमय चेतना और प्राणमयीभूत जड़। अवश्य ही इस आत्मचैतन्यमय अवस्था के भी अनन्त स्तर हो सकते हैं; क्योंकि प्रकृति आत्मा को उतने ही अंश में पार्थिव शरीर में अभिव्यक्त कर सकेगी जितने अंश में स्वयं शरीर आत्ममयीभूत हो सकेगा। एकमात्र पूर्ण क्रियात्मिका आध्यात्मिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना में ही वह शक्ति होगी कि वह शरीर, प्राण और मन को पूर्ण रूप से आत्मचैतन्यमय बना सके। परम आत्मा की इसी शक्ति और स्तर को श्रीअरविन्द 'अतिमानस' के नाम से पुकारते हैं।

अब हम जरा यह समझने की भी चेष्टा करें कि इस उन्नयन और रूपान्तर का स्वरूप क्या होगा। उदाहरण के तौर पर हम मन को लें। हम यह जानते हैं कि मन एक यन्त्र है जो स्वयं आत्मा के ज्ञान या सत्य चेतना को प्राप्त करने में असमर्थ है। अपने वर्त्तमान स्वरूप में यह केवल उस ज्ञान और चेतना के अनुपयुक्त ही नहीं है बल्कि उनकी प्राप्ति में बाधक भी है। इसकी तरंगों और रचनाओं से उच्चतर छन्द विकृत और नष्ट हो जाता है; यही कारण है कि उपनिषदों में यह बार बार कहा गया है कि—

नैषा तर्केण मतिरापनेया (कठ)
या तान् मनसा न मनुते (केन)
अथवा न मनसा प्राप्तुं शक्यः (कठ) इत्यादि

—फिर भी वही मन जब स्वतंत्र नहीं रहता, स्वयं अपने आप अपना स्वामी नहीं रहता, बल्कि उच्चतर ज्योति के अधीन हो जाता है, उसके अनुकूल बन जाता है, तब वह उस ज्योति के मूर्तिमान् होने का एक यंत्र बन जाता है, पार्थिव जीवन में उसके प्रवाहित होने और अभिव्यक्त होने में एक प्रणाली का कार्य करता है। इसी कारण उपनिषद् में यह भी वचन आता है कि "मनसैवेदमवाप्तव्यम्" (कठ) अर्थात् मन से भी इसे जानना चाहिये। जो मन तर्क-वितर्क की क्रिया द्वारा कठोरतापूर्वक सीमित नहीं है बल्कि दिव्य स्फुरणा, अन्तर्ज्ञान और सत्यदृष्टि तथा और भी परे के उच्चतर स्रोतों के प्रकाश और छन्द के अन्दर पुनः गठित हुआ है वह तुरत एक रूपान्तरित पात्र, एक सुयोग्य यंत्र बन जाता है जो साधारणतः बहुत दूर और ऊपर रहने वाले सत्यों और सद्वस्तुओं को भौतिक और जड़ात्मक क्षेत्र में अभिव्यक्त करता और क्रियाशील बनाता है। उदाहरण के तौर पर कवि या कलाकार के अन्दर प्रायः कुछ इसी तरह की बात देखी जाती है यद्यपि वह होती है अत्यन्त कम मात्रा में। एक कवि जो सूक्ष्म दृष्टि और दिव्य स्फुरणा के वश होकर कार्य करता है वह मन से रहित नहीं होता, न उसे ऐसा होने की कोई आवश्यकता ही है। उसका मन नष्ट नहीं हो जाता और न निष्क्रिय ही बन जाता है, बल्कि वह उन्नत हो जाता है, एक नये सांचे में ढल जाता है, और भी ऊँची अवस्था को प्राप्त हो जाता है। अगर उसके अन्दर विचार-वितर्क की क्रिया बंद भी हो जाय तो भी इसका मतलब यह नहीं है कि उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानसिक शक्ति ही नष्ट हो गयी, बल्कि उसका मतलब है कि उसकी मानसिक शक्ति एक नयी कोटि में और भी बढ़ गयी। ठीक यही बात मनुष्य की चेतना और सत्ता के अन्य भागों और स्तरों के विषय में भी लागू हो सकती है।

अवश्य ही, अगर कोई चाहे तो आत्मा और जड़ के बीच विद्यमान चेतना के इन मध्यवर्ती स्तरों को एक किनारे छोड़कर सीधे, दोनों के बीच एक प्रत्यंचा की भांति ऊपर की ओर जा सकता है। परन्तु यह कोई ज़रूरी भी नहीं है कि संन्यासियों के इस सूने, सीधे रास्ते से ही ऊपर जाया जाय; हम और भी विस्तृत, वृत्ताकार या सर्वतोमुखी गति का अनुसरण कर सकते हैं जो केवल पहुँचाती ही नहीं प्रत्युत परिपूर्णता भी प्रदान करती है। स्वयं प्रकृति की यही क्रियापद्धति है; क्योंकि प्रकृति संपूर्ण सद्वस्तु है। पहली ऐकान्तिक गति केवल व्यष्टि के लिये है और सर्वतोमुखी समष्टि दृष्टि में इसका भी मूल्य और अर्थ है, क्योंकि समष्टि की अग्रगति और परिणति में यह भी सहायता करती है।

हमने यह देख लिया कि जड़ का आत्ममय होना ही उसकी अनिवार्य परिणति है जिसे पूरा करने का प्रयास विवर्त्तनशीला प्रकृति कर रही है। अब हम थोड़ा और आगे बढ़कर यह कह सकते हैं कि यह दूर भविष्य में एक-न-एक दिन पूरी होनेवाली कोई अनिवार्य बात नहीं है, बल्कि लगभग निकट भविष्य में पूरी होने वाली एक निश्चित बात है। क्योंकि केवल प्रकृति की विवर्तनकारिणी शक्ति ही इस कार्य में अकेली नहीं लगी हुई है, वही इस महान् उद्देश्य के पूरा होने का एकमात्र आश्वासन नहीं है। इस कार्य की सिद्धि के लिये स्वयं भगवान् समय-समय पर अवतरित होते हैं, सहयोग देते हैं और विवर्तनकारिणी शक्ति को अपने हाथ में लेते हैं। इस पार्थिव लीला के अन्दर जब जिस सत्य को स्थापित करना होता है तब उस सत्य को लेकर वह एक क्रियात्मिका चेतन शक्ति के रूप में अवतरित होते हैं, क्रिया करते हैं और सर्व प्रथम ऊपर से, फिर अन्दर से और वस्तु की समता में होकर विकासात्मिका शक्ति को आगे बढ़ाते हैं और इस तरह अकेली प्रकृति को जिस कार्य के करने में शायद कई युग—ब्रह्मा के कई युग—लग जाते उसे वह शीघ्रता से थोड़े समय में ही पूरा कर डालते हैं। वास्तव में प्रकृति के क्रमविवर्तन के प्रायः सभी संधिक्षणों में, जब उसने सृष्टि के एक स्तर से दूसरे स्तर में जाने की चेष्टा की, इसी प्रकार के अवतरण के द्वारा कार्य बड़ी शीघ्रता के साथ पूरा हुआ है। यह अवतरण उस पार्थिव वस्तु पर जो और किसी प्रकार भी न तो शीघ्र आगे बढ़ती और न परिवर्तित होती,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानो एक अदम्य स्थूल दबाव डालता है और इस तरह परिवर्तन का कार्य बड़ी शीघ्रता से पूरा हो जाता है।

अवश्य ही भागवत चेतना के इस अवतरण के भी विभिन्न स्तर हैं; जब जो कार्य पूरा करना होता है तब उसी कार्य के अनुसार अवतरण भी होता है। विकसनशीला प्रकृति के निम्नतर क्षेत्रों में, जिन्हें मन, प्राण और जड़ का निम्नतर गोलार्द्ध भी कहते हैं, अवतरण आंशिक, अप्रत्यक्ष और आपेक्षिक होता है, क्योंकि वहां जड़ में थोड़ा-बहुत परिवर्तन भर करना होता है, उसका पूर्ण रूपान्तर करना नहीं; रूपान्तर का कार्य तब सम्भव होता है जब प्रकृति मन के अन्दर पहुंचती है और वहां उससे भी आगे, उच्चतर गोलार्द्ध में, क्रियात्मक आध्यात्मिक सत्य के क्षेत्र में पदार्पण करने के लिये अपने आपको प्रस्तुत करती है।

जब प्रकृति मन को अतिक्रमण करने का प्रयास करती है तब उसके अन्दर भागवत चेतना के अधिकाधिक प्रत्यक्ष और पूर्ण अवतरण के लिये द्वार खुल जाता है और जब यह चेतना अपने उच्चतम स्तर से अर्थात् अतिमानस लोक से अवतरित होती है तब पार्थिव जीवन के सभी साधारण मूल्य बदल जाते हैं, सारा जीवन शीघ्र और पूर्णतर रूप से रूपान्तरित होने लगता और ऊर्ध्वस्थित आध्यात्मिक सद्वस्तुओं की प्रतिमूर्त्ति बनने लगता है। फिर अन्त में भागवत चेतना का परिपूर्ण मात्रा में अवतरण, अपनी परम पवित्रता और परिपूर्णता के साथ उसका परिप्लावन अनिवार्य हो जाता है; क्योंकि केवल वही उस पूर्णता को सिद्ध कर सकता है जो प्रकृति का चरम लक्ष्य है। केवल तभी जड़ और प्राण भी स्वयं भगवान् के प्रत्यक्ष स्पर्श और आलिंगन के सामने पूर्ण रूप से हार मान सकते हैं अर्थात् पूर्ण मात्रा में रूपान्तरित हो सकते हैं।

इस युग में हम भी प्रकृति के क्रमविवर्तन के इतिहास के एक ऐसे ही संधि-क्षण में पहुंचे हुवे हैं। इस बार के अवतरण का पूरा पूरा अर्थ क्या होगा, तत्काल कितनी मात्रा में क्या कार्य सिद्ध होगा, अवतरण का आकार और प्रकार क्या होगा—ये सब बातें ऐसी हैं जो कि पर्दे की ओट ही रहेंगी जब तक यह कार्य सिद्ध नहीं हो जाता। तो भी आध्यात्मिक दृष्टि तथा श्रद्धालु हृदय के सामने इसका थोड़ा-सा रहस्य अवश्य खुल सकता है अथवा उन्हें थोड़ा-बहुत मालूम हो सकता है जिन्हें स्वयं भगवान् कृपा करके बताना चाहें—यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह भूख !

(लेखिका—श्री लीलावतीजी)

याद पड़ता है, तब बच्ची थी। माता पिता अपनी लाड़ली को देख देख कर खिल उठते थे। दादा, दादी शैशव की किलकारियां सुन कर अपना जीवन सार्थक समझते थे। खाना, चहकना और रात को दादी के बिस्तरे पर पड़ कर राजा और उसकी सात रानियों की कहानी सुनना—इन तीन कामों के अतिरिक्त और भी कोई काम हो सकता है इसका ज्ञान शायद तब नहीं था। स्कूल और घर दोनों तक ही सारा संसार सीमित था। पर वह तृप्ति, वह पूर्णता क्या पूर्ण थी इसमें, न जाने क्यों, अब सन्देह हो रहा है। आज जान पड़ता है तब भी वह तृप्ति कहीं कोई अभाव लिये हुए थी। एक भूख शायद तब भी थी।

× × × ×

धीरे धीरे बड़ी हुई। शैशव ने चुपचाप बड़ी उदारता के साथ अपना समस्त अधिकार कौमार्य को सौंप दिया। दादी की कहानियों में अब वह रस नहीं आता था। उस रस का स्थान अब एक उपेक्षामय हँसी ने ले लिया था। माता पिता की संगति से जी खिंचने लगा। पहले की सरलता और सन्तोष धीरे धीरे लोप हो रहे थे और मन नई नई उमंगों और आकांक्षाओं से ओत-प्रोत हो उठा। स्कूल कालिज की सखी सहेलियों की बातों में, उनके सहवास में जो आनन्द-प्राप्ति होती थी वह एक नई वस्तु प्रतीत हुई। दिन प्रति दिन वह आकर्षण बढ़ने लगा। पर वह पहले की भूख तो जैसी की तैसी ही बनी रही। कहीं कोई कमी है, कहीं कोई कमी है—की पुकार तो उस अन्तरतम प्रदेश से सदा ही निकलती रही। पर तब इसका ज्ञान शायद उतना नहीं था। और फिर उस समय अन्तर की ओर देखने और समझने का अवकाश और बुद्धि भी किसे थी? हाँ, इतना याद पड़ता है कि जितना ही मन उस समय नित नये नये विविध उपायों से उस कमी को दूर करने का विफल प्रयास करता था उतनी ही तो यह भूख बढ़ती थी।

× × × ×

समय के साथ साथ सहेलियां और उनका प्रेम समुद्र में उठती हुई तरंगों के समान पीछे हटने लगा और उनका स्थान एक नये संसार ने ले लिया। एक नये जीवन का पदार्पण हुआ। अपना घर है, पति है, सुन्दर सुन्दर वस्त्राभूषण हैं, सजा सजाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मकान है। वाह ! इससे अधिक सुख और कहाँ मिल सकता है। लोगों को ऐसे भाग्य पर ईर्ष्या होती थी। मन को भी यह विश्वास हो गया था कि यह सब कुछ 'अपना' पाकर इस भूख के शान्त होने में अब अधिक विलम्ब नहीं है। इतने दिन की प्रतीक्षा के बाद हृदय को अब शायद वह वस्तु मिल जायगी जिसके अभाव में वह रह रह कर मचल उठता था। और कुछ समय तक ऐसा प्रतीत भी हुआ कि मानों सब कुछ मिल गया है। एक अनोखी तृप्ति सी जान पड़ी थी। पर यह क्या ? उन मनोरंजन के साधनों का पहला ज्वारभाटा शान्त होते ही फिर वही अतृप्ति, वही अभाव ! हृदय निराश हो गया, ठगा सा खड़ा रह गया। फिर एकबारगी ही चिल्ला उठा—हा ! मैंने धोखा खाया है। इनसे मेरी भूख शान्त नहीं होगी। मेरी तृप्ति का साधन कहीं और है, कहीं और है, और तब वह भूख अपने पूरे वेग से छटपटा उठी। मन से न रहा गया, उसके काम में बाधा पड़ने लगी। वह झुंझला उठा—यह हृदय आखिर चाहता क्या है ? किस वस्तु का अभाव है इसे ? पर बताने में वह सदा की भांति तब भी असमर्थ ही रहा। उसकी भूख, उसकी अतृप्ति वैसी की वैसी ही बनी रही।

एक दिन, हां, एक दिन उसे ज़रा सा—बहुत ही ज़रा सा इस भूख के स्रोत का आभास मिला था। कहीं से एक छोटी सी पंक्ति कान में पड़ गई थी। 'हमारे जन्म मरण के साथी।' अरे यह साथी कौन ? किस साथी के लिये यह व्यथापूर्ण स्वर फूट निकला है ? अब भी अच्छी तरह याद है उस समय हृदय एकबारगी चौंक पड़ा था ? हैं ! कहीं यही भूख ही मेरी भी तो नहीं है ? मन, अपनी विद्वत्ता का कायल मन एक दम ठहाका मार कर हंस पड़ा—भूख ! अरे भूख कैसी ? इस भावुकता से कहीं किसी की भूख मिटती है ? हृदय, दुर्बल हृदय तब भी सहम गया। आगे बोलने की उसकी हिम्मत ही नहीं पड़ी। फिर वही अतृप्ति, वही असफल साधना !

फिर एक दिन, एक दिन जैसे वह सोते से जग पड़ा। उसका भीतर एक अपूर्व ज्योति से जगमगा उठा। उसकी खोज का जैसे आज अन्त हो गया। एक शान्तिप्रद प्रसन्नता से वह व्याप्त हो उठा—इतने दिन बाद, इतने दिन बाद आज यह तृप्ति कैसी ? इस शीतलता का अनुभव तो पहले कभी नहीं हुआ था। जिसको वह अब तक कुछ चेतन पर अधिकतर अचेतन मन से ढूंढता फिरता था उसी अपने प्रेमपात्र को अपने भीतर ही पाकर वह आनन्द के आवेग में रो दिया। आज जैसे उसकी समस्त शक्तियां एकत्रित होकर पूरे प्रवाह से अपने प्रेमपात्र के चरणों की ओर जा रही थीं। जिसकी उसे भूख थी, जिसको वह पाने के लिये इतने दिनों से छटपटा रहा था, उसको सामने पाकर वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक आश्चर्यमयी प्रसन्नता से खिल उठा। फिर एकबारगी ही अपने को उसके चरणों में डालकर वह शान्त स्थिर पड़ रहा। तब उसने मन-ही-मन प्रार्थना की थी, "यदि इतने दिन बाद बुलाया है तो अब छोड़ना मत, हाँ, कभी न छोड़ना। यह मेरा बड़ा मंहगा सौदा है।" आश्वासन पा वह तृप्त हो गया।

× × × ×

अब उसमें वह अतृप्ति नहीं है। उस अभाव, उस भूख का स्थान अब एक ऐसी तृप्ति ने ले लिया है जिसमें मधुरता है, प्रेम है, मीठी-मीठी वेदना है और क्या-क्या है, यह वही जानता है। मन अब भी उसे बहकाने की चेष्टा करता है—'सब भूल है, सब धोखा है।' पर हृदय के कान अब बहरे हो चुके हैं। वह सुनकर भी नहीं सुन पाता। वह अब अपना नहीं है किसी और का है। उसी में अपने को लीन कर देने में ही उसकी वह 'भूख' अब शान्त होगी, ऐसा उसका विश्वास है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मां

(शेष भाग)

(लेखक—श्रीहरिदास चौधरी)

ऐश्वर्य और आध्यात्मिकता

धन-संपत्ति, ऐश्वर्य, प्रभाव-प्रतिष्ठा इत्यादि के विषय में प्रचलित मत यह है कि ये सब आध्यात्मिक जीवन के एकदम विरोधी हैं—ये केवल साधना के विघ्न, रास्ते के कांटे हैं। इसी कारण हमारे देश के बहुत से सच्चे योगी और साधक ऐश्वर्य का मार्ग एक किनारे छोड़कर आगे चले गये। उन्होंने बहुमूल्य मणि-मुक्ता को 'लोष्टवत्' समझा; सोना और मिट्टी, मिट्टी और सोना इन दोनों को एक और अभिन्न माना। हमने यह सीखा है कि संन्यास-मूलक निवृत्ति-मार्ग ही भगवान् को प्राप्त करने का अत्यन्त प्रशस्त पथ है, दरिद्रता और रिक्तता ही इस पृथ्वी पर आध्यात्मिकता की श्रेष्ठ अवस्था है। धन-ऐश्वर्य-विषयक ऐसा मनोभाव मन के एक अत्यन्त सुन्दर निर्लिप्त भाव को सूचित करता है, ऐकान्तिक और विशुद्ध भगवत्प्रेम का परिचय देता है। किंतु जो लोग केवल भगवान् के प्रेमी-पुजारी न हो उनके कर्मी साधक होना चाहें, जो लोग मां के शक्ति-प्रवाह के केंद्र बनना चाहें, जो लोग दिव्य जीवन के शिल्पी बनना चाहें, उन्हें यह याद रखना चाहिये कि इससे भी कोई बड़ी बात है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संन्यास-मूलक निवृत्ति के मूल में एक बहुत बड़ा सत्य वर्तमान है तो भी वह सत्य अर्धसत्य है, विकलांग और अपूर्ण है। भोगैश्वर्य का त्याग कर दारिद्रय-व्रत को ग्रहण करना एक बड़ी बात है, परन्तु उससे भी बड़ी बात है चित्त की समता। हम यहां पहले इसी विषय में दो-एक बातें कहेंगे।

अर्थ और ऐश्वर्य के विषय में श्रीअरविन्द का मत बड़ा ही अपूर्व और नवीन है। श्रीअरविन्द की दृष्टि कितनी गंभीर, व्यापक और समन्वय-मूलक है इसका ज्वलंत दृष्टान्त हम यहीं पाते हैं। उनका कहना है कि अर्थ या धनबल एक विश्वजनीन शक्ति की ही स्थूल अभिव्यक्ति है। वह शक्ति मां की ही शक्ति है; प्राण और जड़ के स्तर में वह शक्ति धन-सम्पत्ति के रूप में प्रकट हुई है; इसी कारण हमारे पार्थिव जीवन के परिपूर्ण विकास के लिये उसकी अत्यन्त आवश्यकता है। अतएव धन स्वयं किसी अनर्थ का कारण नहीं हो सकता। अनर्थ का कारण है अनधिकारी के हाथों अर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का दुर्व्यवहार। पृथ्वी की सारी धन-संपदा वास्तव में मां भगवती की है। मनुष्य तो केवल उस मातृ-संपदा का भंडारी और रक्षक है, उसका असली मालिक नहीं। इसलिये कमाये हुए सब धन को मां की पूजा में और पृथ्वी पर मां का उद्देश्य पूरा करने में लगा देना ही मनुष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य है। इस कर्तव्य को ठीक-ठीक पूरा करने की जिसे योग्यता है, बस, वही धन प्राप्त करने का सच्चा अधिकारी है। आज अधिकांश धनी मनुष्य धन प्राप्त करने के सच्चे अधिकारी नहीं हैं, धनपर उनका अपना अधिकार है भी नहीं, बल्कि धन ही उनके ऊपर अपना अधिकार जमाये हुए है। अपने धन के दास होने के कारण वे अपने धन को अपने आत्म-कल्याण में, आत्मोन्नति में नहीं खर्च करते, मां भगवती का उद्देश्य पूरा करने में नहीं लगाते, बल्कि उन सब दानवीय शक्तियों की तृप्ति के लिये व्यय करते हैं जिन्होंने अपनी चरितार्थता के लिये उन धनवानों को अधिकृत कर रखा है। हम लोग साधारण तौरपर अपने धन का व्यवहार करते हैं अपने क्षुद्र 'अहं' की पूजा के लिये— भोग की लालसा और मान-प्रतिष्ठा की आकांक्षा को तृप्त करने के लिये। फलस्वरूप हमारा धन हमारे आत्मा की अभिव्यक्ति का मार्ग रोककर खड़ा हो जाता है। परन्तु यह दोष अर्थ का नहीं है, यह दोष तो हमारी अज्ञानता का, हमारी आसक्ति और मोहांधता का है। अगर हम उचित रूप में व्यवहार करना सीख जायं तो यह धन ही हमारे पार्थिव जीवन को सर्वांगसुन्दर बनाने वाली एक अनिवार्य शक्ति बन जायगा। पूर्ण दिव्य जीवन को प्रतिष्ठित करने के लिये ऐश्वर्य और सौंदर्य की अधिष्ठात्री देवी की आवश्यकता को क्या हम कभी अस्वीकार कर सकते हैं ?

भय या उपेक्षा का भाव होने से जो योगी धन-संपत्ति का त्याग करते हैं वे अपने पक्ष में दो बातें कह सकते हैं। पहली बात यह है कि अर्थ और काम मानो एक दूसरे से गुथे हुए हैं। कांचन का स्पर्श बड़े ही विचित्र ढंग से हमारे अन्दर कामना की आग जला देता है, योगी के अन्तःकरण की लुप्तप्राय भोगतृष्णा को नाना प्रकार से उद्दीप्त कर देता है। इसलिये साधना के पथ में सोने की थैली को सावधानी के साथ दूर रखना ही सबसे अधिक निरापद है। दूसरी बात यह है कि जो साधक धूलि-धूसरित इस ऐहिक जीवन का कोई निगूढ़ रहस्य स्वीकार नहीं करते, जिनका चरम लक्ष्य है जगत् के साथ सब प्रकार के संबंध को नष्ट कर भगवान् की चिद्घन और आनंदघन सत्ता के अन्दर निरंतर डूबे रहना, उनके लिये कांचन या अन्य किसी शक्ति के प्रयोग की वैसी कोई आवश्यकता नहीं हो सकती। वे चाहते हैं विश्वातीत शान्ति,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिये विश्वगत शक्तियां उनकी दृष्टि में तुच्छ हैं; वे चाहते हैं निश्चल भूमा चेतना में शाश्वत स्थिति, इसलिये कर्म-जीवन का सहायक अर्थ उनके लिये केवल प्रलोभन है। परन्तु हम जानते हैं कि पूर्णयोग का उद्देश्य हमारे इस ऐहिक जीवन को, इस नश्वर मर्त्य भूमि को भी लिए हुए है। पूर्णयोगी चाहता है विश्वातीत के अन्दर निहित आनन्द को विश्व के प्रत्येक स्तर में विचित्र छन्दों में अभिव्यक्त करना, अर्थात् उस लीला के खेले जाने में सहायक होना। पूर्णयोगी का लक्ष्य है सच्चिदानन्द की तुरीय शक्ति को मर्त्य के अन्दर उतार कर अपने इहजीवन को दिव्य रूप प्रदान करना। इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए कर्म अपरिहार्य है, और कर्म के लिए अर्थ, शक्ति आदि सब की आवश्यकता है। कांचन का त्याग कर जीवन के परे एक भूमानन्द को प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु उस भूमानन्द को जीवन के प्रत्येक भाग में स्थापित करने के लिए, पार्थिव जीवन का सर्वांगीण विकास करने और पूर्णता प्राप्त करने के लिए कांचन की भी आवश्यकता है। तब यह बात यहां याद रखनी होगी कि पृथ्वी का सब मणि-कांचन मां भगवती का है, उन्हीं की इच्छा से उन्हीं का उद्देश्य पूरा करने के लिए पूर्णयोगी अपने अधिकार में आये हुए धन का उपयोग करेगा। इसलिए इस विषय में श्रीअरविंद की शिक्षा यह है कि पूर्णयोगी को दोनों भिन्नमुखी चरम मार्गों का त्याग करना होगा। एक ओर उसे अपने मन से सब प्रकार से भोगासक्ति और अर्थलोलुपता को समूल नष्ट कर देना होगा और दूसरी ओर अर्थविषयक सब प्रकार के संकोच और भय को निकाल बाहर करना होगा। पूर्णयोगी की प्रधान चेष्टा होगी चित्त की समता को बनाये रखना;—संपद् और विपद् में, ऐश्वर्य और दरिद्रता में, जीवन की भली बुरी सभी अवस्थाओं में मांकी इच्छा को हृदयंगम करना। अगर दुःख-दैन्य आवे तो उसे हंसते हुए स्वीकार करना चाहिए; दारुण दरिद्रता के भीतर भी योगी का मन अचल, प्रशान्त रहना चाहिए, आत्मानुभूति के आनन्द से भरा हुआ होना चाहिए। परन्तु इसी कारण भला दरिद्रता के प्रति आसक्ति भी क्यों उत्पन्न होगी? रिक्तता ही आध्यात्मिकता की श्रेष्ठ अवस्था क्यों मानी जायगी? जब ऐश्वर्य का प्राचुर्य होगा तब उसका सद्व्यवहार भी करने के लिए तैयार रहना चाहिए; विपुल ऐश्वर्य के अन्दर भी योगी का मन निर्लिप्त, अनासक्त, नित्ययोगयुक्त रहना चाहिए। योगी को अपनी किसी लालसा को चरितार्थ करने के लिए धन-ऐश्वर्य का उपयोग नहीं करना चाहिए, बल्कि पृथ्वी पर भागवत जीवन स्थापित करने में सहायता पहुँचाने के लिए करना चाहिए। इसीलिए हमने पहले कहा कि भोगैश्वर्य का त्याग कर दरिद्रता के व्रत को ग्रहण करना एक बहुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ी बात है, परन्तु उससे भी बड़ी बात है चित्त की समता—जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से होकर निष्कामभाव से पर साथ ही सक्रिय भाव से एक ही ध्रुव लक्ष्य की ओर अग्रसर होना।

आजकल पृथ्वी की धन-संपदा ऐसे लोगों के हाथ में पड़ गयी है जो उसका सद्व्यवहार करना बिलकुल ही नहीं जानते। इस कारण मनुष्य का धनबल आज असुर की पूजा में व्यय हो रहा है या तो अर्थ के उच्छृङ्खल अपव्यय के द्वारा दानवीय प्रवृत्ति चरितार्थ हो रही है अथवा देशाचार या लोकाचार के अनुसार धन का व्यवहार होने के कारण हमारा शुद्ध "अहं" परितृप्त हो रहा है। इस विषय में पूर्णयोगी का एक बड़ा कर्त्तव्य यह है कि वह अनधिकारी के हाथ से धन-बल को निकाल कर मां के सामने अर्पण करे जिसमें दिव्य जीवन के सौन्दर्य और सुषमा को बढ़ाने के काम में धन ऐश्वर्य अपना यथायोग्य स्थान प्राप्त कर सके। इस कर्त्तव्य का पालन सब से उत्तम रूप में वे ही लोग कर सकते हैं जिनके अन्तःकरण से अहंकार और अन्धकामना का विनाश हो गया है और जो कोई दावा पेश न कर अपनी सारी उपार्जन-शक्ति को निःशेषतया मां के हाथों में सौंप देने में समर्थ हैं।

पूर्णयोगी की दृष्टि में जिस तरह पृथ्वी का अर्थबल मां की ही एक विश्वजनीन शक्ति की स्थूल अभिव्यक्ति है और योगी का कर्तव्य है समस्त धन मां के चरणों में उत्सर्ग कर उन्हीं के निर्देशानुसार व्यय करना, उसी तरह पृथ्वी की समस्त कर्मशक्ति का चरम स्रोत भी है मां भगवती की इच्छा और योगी का कर्त्तव्य है,

कर्म और योग

जीवन के समस्त कर्मों को मां के चरणों में उत्सर्ग कर उन्हीं की इच्छा के अनुसार नियंत्रित करना। अवश्य ही इस विषय में प्रचलित मत एकदम उल्टा ही है। हमारे देश के दार्शनिक लोगों का विश्वास है कि पृथ्वी की समस्त कर्मधारा के मूल में, तथा समग्र सृष्टि-प्रवाह के मूल में जो शक्ति क्रिया कर रही है वह है अविद्याशक्ति, माया या प्रकृति। अतएव अध्यात्म-साधना का उच्चतम लक्ष्य है पृथ्वी के कर्म प्रवाह से बहुत ऊपर उठ जाना—सृष्टिपरायणा शक्ति को पूर्ण रूप से अतिक्रम कर जाना। अवश्य ही साधनपथ में कर्म की आवश्यकता को दूर नहीं किया जा सकता तथा कर्म-बन्धन से मुक्ति पाने के लिए जीवन के सभी कर्मों को भगवन्मुखी बनाने की भी आवश्यकता है, फिर भी जब योगी अज्ञान के क्षीणतम बन्धन तक को छिन्न कर विशुद्ध आत्म ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है तब कर्म निरर्थक हो जाता है। अब भला कौन कर्म करेगा? किस लिए करेगा? स्वयंसंपूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को क्या कोई अभाव है? उसे किस बात की आवश्यकता हो सकती है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है, क्यों? अन्यान्य बद्ध जीवों के मंगल और मुक्ति के लिए आत्म-ज्ञान करने के बाद भी तो योगी के लिए कर्म करना संभव है। परन्तु शुद्ध ज्ञान-वादी के सामने इस युक्ति की भी सीमा है। सिद्ध योगी के अन्दर लोक-संग्रह के लिए कर्म करने का संकल्प भी तभी तक रह सकता है जब तक वह अपने आपको अविद्या के एक अत्यन्त झीने आवरण से ढके हुए है, अर्थात् जब तक वह परिनिर्वाण या पूर्ण-ब्रह्म को नहीं प्राप्त करता और अज्ञान को अपने अन्दर कार्य करने देता है। हमने पहले ही कहा है कि शुद्ध ज्ञानवादी के मतानुसार समस्त कर्मशक्ति का मूल है अविद्या। निरवच्छिन्न रूप से पूर्ण ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाने पर अविद्या के सारे सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं। उस समय सारा जगत्-प्रपंच मिथ्या माया में परिणत हो जाता है और कर्म-मात्र ही अर्थहीन प्रतीत होता है, चाहे वह कर्म स्वार्थ के लिए हो या परार्थ के लिए।

परन्तु पूर्णयोग के अन्दर ज्ञान और कर्म के बीच के सभी विरोध एक अपूर्व समन्वय में जाकर परिसमाप्त हो जाते हैं। श्रीअरविन्द कहते हैं कि पृथ्वी के समस्त कर्म-प्रवाह का चरम मूल-स्रोत अज्ञान या अविद्या नहीं है, बल्कि चिरजागृत सच्चिदा-नन्दमयी शक्ति है। ज्ञानमयी शक्ति के इशारे से ही अर्थात् मां भगवती की इच्छा से ही सृष्टि की अनन्तकोटि क्रियायें-प्रक्रियायें एक अपूर्व शृंखला में नियंत्रित हो रही हैं। हमारे जीवन में आपाततः जो अविद्या मालूम होती है वह विद्या की ही एक विशेष अभिव्यक्ति है। हम जिसे निश्चेतन बाह्य प्रकृति कहते हैं वह चिन्मयी शक्ति का ही एक स्थूलतम रूप है। ज्ञानमयी शक्ति पूर्ण ज्ञान का अवलम्बन करके ही अनन्त सृष्टि के अन्दर अनन्त लीला का विस्तार करती हैं—किसी अभाव को दूर करने के लिए नहीं, किसी मनमानी बात को पूरा करने के लिए नहीं, बल्कि उसी विराट् आनन्दघन सत्ता की विचित्र अभिव्यक्ति के लिए। अतएव हमारा यह कर्ममय जीवन उस ज्ञानमयी शक्ति की ही बहुविध लीला-प्रचेष्टा है, और विशुद्ध ज्ञानस्वरूप की छन्दोमयी अभिव्यक्ति है। पूर्णयोग का लक्ष्य है सर्वांगीण आत्मसमर्पण के द्वारा दिव्य चेतना में जागृत होकर लीलामयी मां का एक अंग बन जाना जिसमें मां की इच्छा और साधक की इच्छा में कोई भेद न रहे, जिसमें मां के कर्म और साधक के कर्म में, मां की प्रेरणा और साधक के संकल्प में तनिक भी भेद न रहे।

साधना के आरंभ में ही मां के साथ पूर्ण सक्रिय एकत्व (complete dynamic identification) स्थापित करना संभव नहीं। इसलिये साधक को एक-एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर कई स्तरों से होकर आगे बढ़ना पड़ता है। पहले स्तर में सेवक-भाव से साधना करनी होती है, दूसरे स्तर में यंत्र-भाव की उपलब्धि होती है, और तीसरे या सबसे अंत के स्तर में साधक यह अनुभव करता है कि वह मां का एक अंश है या मां के साथ उसका पूर्ण एकत्व स्थापित हो गया है। इन विविध स्तरों के विषय में यहां कुछ और विस्तार के साथ कहने की आवश्यकता है।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'—गीता के इस प्रसिद्ध वचन का मर्मार्थ ग्रहण कर कर्म-साधना आरंभ होती है। साधक पहले-पहल अपने को मां भगवती का दास या सेवक समझता है। मां के सेवक के रूप में केवल मां द्वारा निर्दिष्ट कर्म के ऊपर ही उसका अधिकार होता है, कर्म का फलाफल मां के ऊपर ही छोड़ देना होता है। साधक किसी पुरस्कार की आशा रखे बिना ही, कर्मफल के ऊपर किसी प्रकार की आसक्ति न रख, पूर्ण निष्काम भाव से कर्म करता है। मां का सेवक केवल यही चेष्टा करता है कि उसके कार्य के द्वारा मां सन्तुष्ट हों, मां के सभी कार्य सुन्दर रीति से संपन्न हों। इस निष्काम कर्म के द्वारा दिन-दिन साधक दिव्य चेतना, दिव्य आनंद और दिव्य शक्ति से अपने अन्तर को समृद्ध बनाता है। साधक के लिये यही तो सबसे बड़ा पुरस्कार है।

निष्काम कर्मसाधना धीरे-धीरे साधक को एक गंभीरतर उपलब्धि के स्तर में ले जाती है और वह है दूसरे स्तर की यंत्र-भाव की उपलब्धि। पहले स्तर में साधक मां के सेवक के रूप में कर्म में अपना अधिकार समझता है, उसका दावा करता है, परन्तु दूसरे स्तर में उसे यह अनुभव होता है कि कर्म में भी उसका अपना कोई वास्तविक अधिकार नहीं, क्योंकि सभी कर्मों का मूल स्रोत मां स्वयं हैं। साधक के द्वारा स्वयं मां ही सभी कार्यों को संपन्न करती हैं, साधक के शरीर, प्राण और मन मां के हाथ के केवल यंत्र हैं, स्थूल जगत् में उनकी अभिव्यक्ति के आधार हैं। पहले स्तर में साधक को कर्मफल मां के प्रति उत्सर्ग करना होता है, दूसरे स्तर में साधक कर्म को भी मां के हाथों में सौंप देता है। पहले स्तर में साधक कर्मफल की स्पृहा या आसक्ति का त्याग करता है, दूसरे स्तर में कर्तृत्वाभिमान तक उसके अन्तर से विलुप्त हो जाता है। पहले स्तर में साधक का स्वातंत्र्य-बोध प्रबल होता है, वह अलग एक कर्मी होता है, मां का सेवक या पुजारी होता है; दूसरे स्तर में भेद-ज्ञान बहुत कुछ दूर हो जाता है, साधक अब मां की लीला का उपकरण, उनके हाथ का यंत्र बन जाता है। जिस समय अपने भीतर यह रूपान्तर चल रहा हो उस समय साधक को सदा सतर्क

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहने की जरूरत है जिसमें किसी प्रकार अहंकार आकर चेतना को आच्छन्न न कर ले। आधार के अन्दर कार्य करने वाली मां की शक्ति को अगर साधक अपनी कोई व्यक्तिगत इच्छा पूरी करने में लगाना चाहता है तो उसकी उन्नति का मार्ग ही बंद हो जाता है। यहां तक कि अगर मां का यंत्र होने का भी गर्व या दर्प मन में स्थान पा जाता है तो उससे साधना में बड़ा विघ्न आ उपस्थित होता है।

तीसरे या अंतिम स्तर में साधक को बड़ी अपूर्व अनुभूति होती है। सिद्धि की इस अंतिम अवस्था में साधक का पूर्ण स्वातंत्र्य-बोध दूर हो जाता है और वह मां भगवती के साथ पूर्ण एकत्व प्राप्त कर लेता है। अब साधक की अपनी कोई अलग सत्ता नहीं रह जाती ; साधक अब मां का सेवक या पुजारी मात्र नहीं होता, अथवा मां के हाथ का यंत्रमात्र भी नहीं होता, अब वह मां की वास्तविक सन्तान, उनका सनातन अंश बन जाता है। इस अवस्था में साधक सहज और स्वाभाविक रूप में यह अनुभव करता है कि वह सदा मां की गोदी में ही निवास कर रहा है, और मां भी सर्वदा उसके भीतर विराज रही हैं,—मां की सत्ता से ही उसकी सत्ता है, मां की चेतना से ही उसकी चेतना है, मां की शक्ति की ही वह शक्ति है और मां के आनन्द का ही वह आनन्द है। मां के साथ इस प्रकार सक्रिय एकत्व स्थापित होने पर साधक को दिव्य कर्म की सर्वांगसुन्दर सिद्धि प्राप्त होती है ; उसे केन्द्र बनाकर मां भगवती अबाध रूप से दिव्य जीवन गठित करने का सुयोग पाती हैं।

मां की त्रिविध सत्ता

मां भगवती की सत्ता त्रिविध है, अर्थात् अखंड और अविभाज्य होने पर भी मां एक साथ ही तीन अवस्थाओं में विराजमान रहती हैं, और इन विभिन्न अवस्थाओं में रहकर विभिन्न रूपों में कार्य करती हैं। और फिर मां के अद्वितीय होने पर भी उनकी असंख्य शक्तियां और मूर्त्तियाँ हैं, असंख्य विग्रह और विभूतियाँ हैं; वह एक होने पर भी अनन्त रूपों के अन्दर अपने-आपको प्रकट करती हैं। मां की इन असंख्य शक्तियों और विग्रहों में चार प्रधान हैं—महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। हम पहले संक्षेप में मां की त्रिविध सत्ता का पर्य्यालोचन करेंगे।

भगवान् के विषय में हम यह जानते हैं कि वह एक संग तीन अवस्थाओं में अवस्थान करते हैं विश्वातीत रूप में (Transcendental), विश्वव्यापी रूप से (Universal) और व्यष्टि रूप से (Individual)। मां भगवती के विषय में भी यही बात है। वह एक साथ ही विश्वातीता आद्या पराशक्ति, विश्वव्यापिनी विश्वरूपिणी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाशक्ति और व्यष्टिरूपिणी स्नेहमयी जननी हैं। आद्या पराशक्ति सृष्टि-प्रवाह से बहुत ही ऊपर अवस्थान करती हैं और अव्यक्त परब्रह्म के साथ वैचित्र्यमय इस व्यक्त जगत् को जोड़े रखती हैं। आद्या शक्ति का कार्य है अनिर्वचनीय परम पुरुष के अन्दर निहित अनन्त सत्यों में से कुछ को उनकी रहस्यावृत अवस्था से नीचे उतार कर अपनी चेतना के अन्दर स्पष्ट रूप प्रदान करना, जिसमें वे विश्वलीला के अन्दर मूर्त्तिमान् हो सकें। स्वयं पुरुषोत्तम आद्या शक्ति की ही सहायता से अपने को प्रकट करते हैं; मां की विश्वातीत चेतना के अन्दर वे सच्चिदानंद रूप में नित्य प्रकट रहते हैं, मां की ही सहायता से वे 'ईश्वर और शक्ति' की द्वैताद्वैत चेतना के अन्दर और 'पुरुष तथा प्रकृति' के द्वैततत्त्व के अन्दर उतर आते हैं, और मां के ही द्वारा वे विभिन्न जगतों और लोकों, विभिन्न देवताओं और देव-शक्तियों के विचित्र रूप और आकार परिग्रहण करते हैं। दृश्यमान जो कुछ भी है वह सब पुरुषोत्तम के साथ आद्याशक्ति की लीला है। व्यक्त जगत् के अन्दर ऐसी कोई चीज नहीं रह सकती या घट नहीं सकती जिसे चिद्रूपिणी भागवती शक्ति ने परम पुरुष की अनुमति लेकर अपने सृष्टि के आनंद के अन्दर सर्वप्रथम बीज रूप में न ढाला हो।

विश्वव्यापिनी महाशक्ति-रूप से मां अनंत जगतों और जीवों की सृष्टि करती हैं, अपनी चेतना के अन्दर उन्हें धारण कर फिर उन सबके अन्दर प्रवेश करती हैं तथा विश्व की अनंतकोटि क्रिया-प्रक्रियाओं को परिचालित करती हैं। व्यष्टि रूप में मां हमारे अत्यन्त निकट हैं; वह हमारे अन्तर में उतर आकर मानो हमारा हाथ पकड़ कर धीरे-धीरे हमें सत्यानुभूति के मार्ग पर ले चलती हैं, हमें अपनी (मां की) बृहत्तर सत्ता के अन्दर प्रवेश करने के उपयुक्त बनाती हैं।

आद्याशक्ति पुरुषोत्तम के अन्दर निहित अव्यक्त सत्य को नीचे उतार कर उसे अपनी चेतना के अन्दर एक प्रकट रूप प्रदान करती हैं; महाशक्ति फिर उसी प्रकट सत्य को विश्व-लीला में मूर्त्तिमान् करती हैं। हम जिसे निश्चेतन जड़ प्रकृति कहते हैं वह चिद्रूपिणी महाशक्ति की ही अत्यन्त बाहरी अभिव्यक्ति है। प्रकृति की सभी शक्तियां विश्वेश्वरी मां के इशारे से परिचालित और नियंत्रित होती हैं तथा प्रकृति की परिणाम-धारा मां द्वारा निर्धारित लक्ष्य की ओर ही प्रवाहित हो रही है।

परन्तु हमारा यह स्थूल जगत् ही मां की सारी सृष्टि नहीं है; विचित्र-विचित्र लोकों और भुवनों में उनकी लीला हो रही है। विश्व-लीला के सर्वोच्च शिखर पर है अनंत लोक—अनंत सत्ता, अनंत चेतना, अनंत शक्ति और अनंत आनंद का लोक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस अनंत लोक के ऊपर मां अनावृत शाश्वत शक्ति के रूप में विराजमान हैं। अनंत लोक के नीचे है अतिमानस विज्ञान-जगत्। मां अतिमानस महाशक्ति के रूप में वहां की अधिष्ठात्री देवी हैं। अतिमानस जगत् में मिथ्या की तनिक भी छाया नहीं, भूल-भ्रान्ति या दुर्बलता का कोई चिह्न तक नहीं, दुःख-यंत्रणा के आर्त्तनाद का लेश तक नहीं। वहां पर सब कुछ अखंड सत्य की ज्योति से उद्भासित हो रहा है; वहां पर समस्त अनुभूति अनंत आनंद की बाढ़ में सराबोर हो रही है। अतिमानस जगत् के नीचे है हमारा यह अविद्या का जगत्—देह, प्राण और मन का जगत्—अंधकार, अपूर्णता और अतृप्ति का जगत्। यहां की भी वही चिन्मयी महाशक्ति अधिष्ठात्री देवी हैं; यहां का भी सब कुछ उन्हीं के निर्देशानुसार नियन्त्रित हो रहा है।

परार्द्ध और अपरार्द्ध के मध्यवर्ती लोक में खड़ी होकर मां हमारे इस अज्ञान के जगत् को आश्चर्यपूर्ण शृंखला के साथ परिचालित कर रही हैं। उनके इस कार्य में उन्हीं की विभिन्न मूर्त्तियां और देवशक्तियां, विभिन्न सम्भूतियां (Emanations) और विभूतियां सहायता करती हैं, इन सब मूर्त्तियों और शक्तियों को वह सामने रख एक प्रच्छन्न अभिनेता के रूप में कार्य किया करती हैं। परन्तु यहां पर यह समझना भूल है कि मां केवल ऊपर रहकर ही हमारे इस जगत् का शासन करती हैं। वह केवल विश्व की अधिष्ठात्री देवी ही नहीं हैं, वह विश्वव्यापिनी और विश्वरूपिणी भी हैं। वह हमारे इस अनृत के जगत् में नीचे उतरकर आसुरिक और दानवीय शक्तियों के आघात-अत्याचार के अन्दर से होकर अपना व्रत पूरा करने को अग्रसर होती हैं। मां के अकुंठ आत्म-बलिदान के कारण ही, प्रकृति-यज्ञ के प्रभाव से ही हमारा यह जगत् और जीवन है। चिन्मयी मां अज्ञान-अन्धकार के अन्दर स्वयं उतर आती हैं जिसमें उस अन्धकार को फिर से ज्ञान की पूर्ण ज्योति में परिणत कर सकें; वह हमारे जीवन की नश्वरता के अन्दर उतर आती हैं जिसमें इस नश्वर जीवन को अमर, अमृतमय बना सकें; वह विश्व के शोक-ताप, दुःख-यंत्रणा के अन्दर उतर आती हैं जिसमें सम्पूर्ण वेदना को अपूर्व दिव्य आनन्द में रूपान्तरित कर सकें।

मां की विश्वातीत, विश्वव्यापी और व्यष्टि इस त्रिविध सत्ता के विषय में एक धारणा बनाने की चेष्टा हमने की है। अब हम संक्षेप में विश्वव्यापिनी मां के शक्ति-चतुष्टय का पर्यालोचन करेंगे। पार्थिव लीला को सर्वांगसुन्दर बनाने के लिए विश्वेश्वरी मां की चार प्रधान शक्तियां उनके अग्रभाग में आकर खड़ी होती हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि महाशक्ति के ये चार महारूप हैं—महेश्वरी,

मां की चार शक्तियां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। Wisdom, Strength, Harmony and Perfection—प्रज्ञान, प्रताप, सुसंगति और संसिद्धि ये शक्तिचतुष्टय के विभिन्न गुण हैं। इन्हीं दिव्य गुणों को लेकर ये चारों शक्तियां विश्व की जीवनधारा के अन्दर उतर आती हैं; मां की जो विभूतियां हैं वे एक-एक गुण का स्फुलिंग धारण कर शक्तिमान् होती हैं; माँ के प्रति जिन लोगों की प्रकृति खुली हुई होती है वे लोग इन सब ऐश्वर्यों के स्पर्श से नवजीवन प्राप्त करते हैं।

महेश्वरी अनन्त ज्ञानमयी हैं; इसी कारण वह मानसभूमि से ऊपर सीमाहीन विशालता के अन्दर, विक्षोभहीन महान् शांति के अन्दर निवास करती हैं। कोई भी चीज उन्हें डिगा नहीं सकती, क्योंकि सृष्टि का विधान वह जानती हैं और सारा भविष्य उनकी आंखों के सामने खुला हुआ है। विभिन्न वस्तुओं और घटनाओं को तथा विभिन्न जीवों को वह उनके अन्दर निहित सत्य के अनुसार परिचालित करती हैं। ज्ञानी को वह गभीरतर ज्ञान का पता बताती हैं; असुर को वह दुःख के रास्ते से मंगल की ओर ले जाती हैं; मूढ़ को वह अन्धकार के भीतर से होकर आलोक की ओर ले जाती हैं। विरुद्ध शक्ति के प्रति खूब निष्ठुर दिखायी देने पर भी महेश्वरी अपार अनन्त करुणा की मूर्ति हैं। अवश्य ही करुणा उनकी ज्ञान-दृष्टि को आच्छन्न नहीं कर सकती, अथवा उनके कर्म को सत्य के पथ से हटा नहीं सकती। राक्षस या असुर के लिए जब वह अपने कठोर हाथों से दण्ड देने की व्यवस्था करती हैं तब वह दण्ड-विधान उनकी ज्ञानगर्भ करुणा की ही अभिव्यक्ति होता है, क्योंकि उस दण्ड को भोगने के कारण ही असुर के लिए यह संभव होता है कि वह अहंकार का त्याग कर सत्य के पथ में, आत्म-कल्याण के मार्ग में; विश्व-कल्याण के मार्ग में लौट आ सके।

महाकाली प्रलयंकर प्रताप को अपने अन्दर धारण करती हैं। वह अप्रतिहत रुद्रतेज और सर्वजयी शक्ति की खान हैं। हमारे जीवन में जो कुछ क्षुद्र और संकीर्ण है, जो कुछ मिथ्या और तमोग्रस्त है, जो कुछ आसुरिक और भगवद्विरोधी है सब को क्षण भर में संचूर्णित कर के हमारी प्रकृति को एक समुन्नत भागवत महिमा के अन्दर उठा ले जाने का प्रयास महाकाली करती हैं। इसी कारण जो लोग भीरु, दुर्बल या आसुरिक प्रकृति वाले हैं उनके मन में महाकाली का नाम भय का संचार करता है; परन्तु जो लोग शक्तिमान् और वीर साधक हैं वे लोग उनका अत्यधिक आदर करते हैं, सब से आगे उन्हीं को पूजा का आसन प्रदान करते हैं। महाकाली के एक हाथ में जैसे भयावह शासन-दण्ड है, वैसे ही उनके दूसरे हाथ में स्नेह का कोमल स्पर्श है। मिथ्याचार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरुद्ध जैसे उनका क्रोध तीव्र होता है वैसे ही अभयदान के लिए उनका एक हाथ सदा खुला होता है, क्योंकि एक ही साथ वह प्रलयंकरी और स्नेहमयी व करुणामयी हैं। महाकाली की कृपा से अनेक शताब्दियों की तपस्या का फल एक दिन में पाया जा सकता है; उनकी दिव्य प्रचण्डता और क्षिप्रता हमारी कल्पना के बाहर की चीज़ है। वह कर्म को आशुफलप्रद, आनन्द को तीव्रतम, ज्ञान को विश्वविजयी, सिद्धि को सर्वांगसुन्दर बनाती हैं तथा सौंदर्य को एक समुन्नत ऊर्ध्वगति प्रदान करती हैं।

महालक्ष्मी की विशेषता है अनुपम सुषमा और सुसंगति। उनके विश्वविमोहन सौंदर्य को यदि अलग कर दिया जाय तो प्रज्ञान और प्रताप अपूर्ण ही रह जायेंगे। उनकी दुर्निवार आकर्षण-शक्ति ही जगत् की सब वस्तुओं को, सब शक्तियों को, सब जीवों को एक साथ पकड़े रखती है, उन सब को परस्पर मिलित होने के लिए बाध्य करती है, जिसमें मां का प्रच्छन्न आनन्द विचित्र रूपों और छन्दों में लीलायित हो सके। मां के विभिन्न महारूपों में महालक्ष्मी का आकर्षण ही जीव के लिए सब से अधिक प्रबल होता है। महेश्वरी इतनी महत् और दुरधिगम्य हैं कि पृथ्वी का क्षुद्र जीव उनके समीप जाते हुए संकोच करता है अथवा उन्हें धारण करने में असमर्थ होता है; महाकाली इतनी प्रचण्ड और तीव्र हैं कि दुर्बल मनुष्य उनका स्पर्श सहन नहीं कर पाता; किन्तु महालक्ष्मी की ओर सभी एक दुर्निवार मोहिनी शक्ति के द्वारा आकृष्ट होते हैं। उन की दृष्टि से जीवन माधुर्य से भर जाता है, उनके स्पर्श से साधक के भीतर आनन्द का झरना खुल जाता है। परन्तु इन श्रीमयी महालक्ष्मी को सन्तुष्ट करना अथवा उन्हें अपने अन्दर धारण करना आसान काम नहीं है। उनकी पूजा करनी होती है अन्तर के सौंदर्य के द्वारा, मन और आत्मा के अन्दर सुसंगति स्थापित करके, विभिन्न विचारों और भावनाओं में, विभिन्न कार्यों तथा बातों में, जीवन के भीतर और बाहर सामंजस्य की प्रतिष्ठा करके। जहां पर सुसंगति और प्रेम का अभाव होता है, जहां पर विरोध और संघर्ष होता है, वहां से देवी दूर चली जाती हैं। जो कुछ कुत्सित और बीभत्स है, जो कुछ रूक्ष और मलिन है वह सब देवी के मन में एक प्रकार की दिव्य घृणा को उत्पन्न करता है; उनके सामने वह अपने आपको एक पर्दे के अन्दर छिपा रखती हैं। महालक्ष्मी का कार्य है प्रेम और सौन्दर्य के द्वारा मनुष्य को भगवान् के साथ युक्त कर देना। अतएव एक ओर जैसे वह भोगविलासी की उच्छृङ्खलता से घृणा के साथ किनारा काट कर चली जाती हैं वैसे ही दूसरी ओर तपस्वी की अनावश्यक रूक्षता और कठोरता का भी समर्थन नहीं करतीं। उन्हें प्रसन्न करने का उपाय यह है कि मन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सौंदर्यानुभूति और हृदय के गभीरतर आवेगों का कठोरतापूर्वक दमन या निष्पेषण न करके इन्हें भगवन्मुखी कर दिव्य महिमा में रूपान्तरित किया जाय।

महासरस्वती की विशेषता है संसिद्धि (Perfection of work)। सभी कार्यों को सर्वांगसुन्दर बनाना, प्रत्येक वस्तु को ब्योरेवार समग्र के अन्दर यथास्थान सन्निविष्ट करना, सब प्रकार से सारे दोषों और त्रुटियों को दूर करना उनका प्रधान व्रत है। मां की वह कर्मशक्ति हैं, इस कारण एक ओर जैसे वह मां की चारों शक्तियों में सब से छोटी हैं, वैसे ही दूसरी ओर स्थूल बाह्य प्रकृति तथा मनुष्य के कर्मजीवन के अत्यन्त निकट हैं। मां की अन्यान्य शक्तियों के सभी कर्म अपनी पूर्णता के लिए महासरस्वती के ऊपर निर्भर करते हैं। महेश्वरी विभिन्न जागतिक शक्तियों की बृहत् धाराओं को निश्चित कर देती हैं, महाकाली उन्हें गति और वेग प्रदान करती हैं, महालक्ष्मी उनके छन्द और परिमाण की रक्षा करती हैं और महासरस्वती सर्वदा यह ध्यान रखती हैं कि उन सब जागतिक शक्तियों का यथायथ समावेश और प्रयोग करके मां की इच्छा को अत्यन्त सुन्दर रूप में वास्तविकता में परिणत किया जा सके। सृष्टि को सर्वांगसुन्दर बनाने के लिए वह अनन्त काल तक परिश्रम करने के लिए तैयार हैं। महासरस्वती के प्रसाद से मनुष्य सभी कर्मों में अपूर्व दक्षता प्राप्त करता है, तथा सभी विषयों में आश्चर्यजनक सूक्ष्म बोध और पुंखानुपुंख ज्ञान प्राप्त करता है। अवश्य ही उनका प्रसाद प्राप्त करने के लिए हमारा संकल्प होना चाहिए अव्यभिचारी तथा हमारी इच्छा होनी चाहिए एकनिष्ठ, द्विधाहीन और आन्तरिक। वह मनुष्य के अत्यन्त निकट उतर आती हैं और असीम धैर्य के साथ उसकी प्रकृति के दिव्य रूपान्तर के काम में सहायता करती हैं। हमारे हज़ारों दोषों-त्रुटियों, हज़ारों असफलताओं के होने पर भी वह निराश या विमुख नहीं होतीं, हाथ पकड़ कर, सदा उत्साह देते हुए हमें जीवन की पूर्णता की ओर ले जाना ही उनका प्रधान लक्ष्य है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि मां की असंख्य शक्तियां, रूप और विग्रह हैं। अवश्य ही विश्व का परिचालन करने में प्रकट रूप से जो शक्तियां मां की सहायता किया करती हैं उनमें महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती ही सब से प्रधान हैं।

अतिमानस महाशक्ति

परन्तु इस शक्तिचतुष्टय के अतिरिक्त भी मां के अन्यान्य महारूप हैं। उनका अवतरण कराना अधिक कठिन है और अब तक पार्थिव जीवन के क्रमविकास में उन्होंने प्रकट रूप में कोई सहायता नहीं की है। किन्तु तो भी पूर्णयोग के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अर्थात् अतिमानस विज्ञान को पार्थिव चेतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रतिष्ठित कर भागवत जीवन की रचना करने के लिये मां की उन सब विरल शक्तियों में से कुछ का आविर्भाव अत्यन्त आवश्यक है। उनमें से भी एक शक्ति की बात यहां विशेष रूप से कहने की ज़रूरत है; वह हैं मां के दुर्ज्ञेय और दुर्वार आनन्द की मूर्त्ति। वह आनन्द एक अपूर्व भागवत प्रेम से उत्पन्न हुआ है; विश्व की अन्यान्य शक्तियों का प्रच्छन्न आश्रयस्थल वही आनन्द है; और केवल वही आनन्द ज्योतिर्मय अतिमानस चेतना और निश्चेतन जड़ के मध्यवर्त्ती विपुल व्यवधान को दूर कर अतिमानस सिद्धि या अनुपम दिव्य जीवन की प्रतिष्ठा को संभव कर सकता है। वर्तमान समय में मनुष्य की प्रकृति इतनी क्षुद्र और तमसावृत हो रही है कि मां की बृहत्तम शक्ति को धारण करने में वह असमर्थ है। हमारा शरीर, प्राण और मन ये जब यथेष्ट रूपान्तरित होकर मां की चारों शक्तियों की स्वच्छन्द लीला के क्षेत्र बन जायेंगे तभी मां की बृहत्तर शक्तियां पृथ्वी पर उतरकर अतिमानस सिद्धि का मार्ग खोल देंगी। उस समय मां स्वयं अपने सभी विग्रहों को अपने अन्दर अपूर्व सामंजस्य के साथ एकत्रित कर अतिमानस महाशक्ति के रूप में आत्म-प्रकाश करेंगी तथा मानवीय प्रकृति के सभी स्तरों को अतिमानस ज्योति-प्रवाह से उद्भासित कर हमारे पार्थिव जीवन को अमृतमय बना देंगी। निःशेष आत्म-समर्पण के द्वारा इन अतिमानस महाशक्ति का आवाहन करना तथा उनके साथ सचेतन सहयोग करना ही अतिमानस-योग का प्राण है, यही उसका मूलमंत्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत् मिथ्या ?

[कविवर पं० दीनानाथ जी भार्गव 'दिनेश']

मानव ने मिथ्या माना जग जहां शांति के झरने झरते।
और जहां की पुण्य पंक से सरस सुमन अरविन्द उभरते ।।

जहां कर्म की सफल बेल में,
चितचाहा प्रतिफल फलता है।
जहां देवता होने के हित,
मानव नित प्रतिपल चलता है ।।

सत्य खोजने प्राण पखेरू जिसमें डेरा डाल ठहरते।
मानव ने मिथ्या माना जग जहां शांति के झरने झरते ।।

प्रभु की दिव्य विभूति जहां पर,
खुल कर खेल खेलती रहती।
गंगाजल सी निर्मल निष्कल,
मां की मृदुल भावना बहती ।।

प्रेम सलिल में ओत प्रोत हो जिसमें पामर प्राणी तरते।
मानव ने मिथ्या माना जग जहां शांति के झरने झरते ।।

जहां सांत्वना का कोमल कर,
अभय दान देता रहता है।
प्रमुदित जहां 'दिनेश' उदित हो,
जाग जाग ! उठ ! चल ! कहता है ।।

कर्म भूमि में नर नारायण बनता है कुछ करते करते।
मानव ने मिथ्या माना जग जहां शांति के झरने झरते ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोविज्ञान और योग

(शेष भाग)

(लेखक—डा० इन्द्रसेनजी)

ईश्वर की सत्ता

हमारी विवेचना लम्बी हो गई है और शायद अभी और लम्बी खिंच जाय। अतः हम क्षणभर के लिये अपने अबतक के विचार का सिंहावलोकन कर लें। हमने इस प्रश्न से प्रारम्भ किया था कि योग की समस्या कैसे पैदा होती है। हमने बताया था कि वर्तमान जीवन की अपूर्णता, इसके संघर्ष, कलह और कठिनाइयां एक अखण्ड और सु-समञ्जस जीवन की खोज को उत्तेजित करते हैं। इस प्रकार ही यौगिक अभीप्सा का उदय होता है। हमने विश्लेषणपूर्वक देखा था कि योग की यथार्थ प्रक्रिया सारतः पूर्व आसक्तियों के परित्याग तथा प्राप्तव्य उद्देश्य की अभीप्सा के दो पहलुओं से बनी है। तब हमने पुष्ट मनोवैज्ञानिक प्रमाण और साक्षी के द्वारा विशेष-यत्न-पूर्वक यह दिखाया था कि कैसे ध्यान का नियमन और एकाग्रता (जिसे पातंजल योग में 'संयम' नाम से पुकारा गया है) स्वतः ही योग के सब चमत्कार करने में समर्थ होते हैं।

अब हम योग के स्वरूप-निरूपण में अगला आवश्यक कदम ले सकते हैं। अबतक हमारा विवेचन अनुभव-मूलक और मनोवैज्ञानिक रहा है। हमने आत्मा और परमात्मा के विचारों को जानबूझकर छोड़ दिया था। हमने कहा था कि आधुनिक मन इनकी सत्ता को मानने में कठिनाई अनुभव करता है। और मुझे इस मनोवृत्ति से सहानुभूति है क्योंकि संस्था-रूप धर्म अतीत दीर्घकाल तक परमात्मा के नाम के साथ खिलवाड़ करते रहे हैं और उसके नाम पर उन्होंने मनुष्य के प्रति गम्भीर अपराध तक किये हैं। परन्तु धर्म प्रबुद्ध आत्मा के जीवित-जागृत अनुभव के रूप में ही असली धर्म है और यह खेद-जनक है कि हम धर्म के पूंजीपतियों या संघटित धर्मों के अधिकारियों के इस दावे को स्वीकार कर लें कि वे ही ईश्वर के एकाधिकारी हैं। धर्म और ईश्वर के विरुद्ध वर्तमान घृणा वस्तुतः धार्मिक संस्थाओं के प्रति हमारा विद्रोह है। आन्तरिक अनुभवात्मक धर्म का सारभूत स्वरूप यह है कि उस परम पुरुष में जो कि हमारी अभीप्सा का प्रत्युत्तर देता है, विश्राम, शान्ति, आश्वासन और सुरक्षा को खोजना। अपने इस रूप में धर्म मनुष्य के लिये आवश्यक है और चाहे समय-समय पर मनुष्य की जिज्ञासा प्राकृतिक विज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रणालिकाओं या सामाजिक पुनर्निर्माण की समस्याओं की ओर फिर जाय, परन्तु क्योंकि यह मानव-आत्मा के लिये आधारभूत वस्तु है अतः चरम सत्ता के विधान में सुरक्षा पाने की आवश्यकता बीच-बीच में लुप्तप्राय होकर भी अपने आप को अवश्य, पूर्वापेक्षया अधिक जोश के साथ, पुनः-पुनः प्रतिष्ठापित करती है। मानव-जाति के इतिहास में ऐसा अनेक बार हुआ है।

१६ वीं सदी विज्ञान और अज्ञेयतावाद की सदी थी। हेकल और अन्य विद्वानों ने 'जगत् की पहेली' को केवल प्रकृति के द्वारा हल कर डालने की विश्वासपूर्वक आशा की थी। परन्तु इसकी प्रतिक्रिया पहले से ही शुरू हो चुकी है और अब ब्रह्मांड की सत्ता के अन्तिम तत्त्व के तौर पर प्रकृति को निश्चित रूप से अपर्याप्त माना जाता है। निःसन्देह वर्तमान भौतिक-विज्ञान और जीवन-विज्ञान को, आदर्शवादी दर्शन का तो कहना ही क्या, सत्ता के मूल के तौर पर विश्वव्यापी चेतना स्पष्टतया अभिमत है या उनका इस ओर स्पष्ट झुकाव है। इस सम्बन्ध में प्रामाणिक व्यक्तियों के अपने कुछ शब्द विशेष रोचक होंगे। प्रोफेस्सर ऐडिंगटन (Eddington) कहते हैं, 'हमारे अनुभव में मन सर्वप्रथम और प्रत्यक्षतम वस्तु है। अन्य सब कुछ दूरवर्ती अनुमान है।' भौतिक विज्ञान की तथाकथित प्रकृति केवलमात्र एक संकेतों का संस्थान है। एक दूसरे अति प्रामाणिक विद्वान् प्लैंक (Planck) ने और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है, 'मैं चेतना को आधारभूत मानता हूँ। प्रकृति को चेतना से निर्गत मानता हूँ। हम चेतना से परे नहीं जा सकते। प्रत्येक वस्तु जिसके बारे में हम बात करते हैं या जिसे हम सत् के तौर पर स्वीकार करते हैं चेतना की अपेक्षा रखती है।' श्री जेम्स जीन्स (Sir James Jeans) के अनुसार, 'यह विश्व एक गणितशास्त्रीय विचारक के मन का एक विचार है' और जो ये पदार्थ हमें विषयीभूत होते दृष्टिगोचर होते हैं उसका कारण है उनका 'किसी शाश्वत आत्मा के मन में रहना'। और सल्लिवान (Sullivan) अपनी पुस्तक 'प्रख्यात वैज्ञानिकों के साथ भेंट' (Interviews with Eminent Scientists) में आयंस्टीन (Einstein) के सम्बन्ध में विवरण देता हुआ कहता है: "ऐसा प्रतीत होता है कि नवे विश्व में हमारी धार्मिक अन्तर्दृष्टि (insight) को उतना ही प्रामाणिक स्थान प्राप्त है जितना कि वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि को। निःसंदेह उनमें से सबसे बड़े निर्माता की राय में हमारी धार्मिक अन्तर्दृष्टि वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का स्रोत और पथप्रदर्शक है।" १६ वीं सदी में विज्ञान और धर्म में बड़ा तीक्ष्ण संघर्ष था। तब मन और चेतना विज्ञान की दृष्टि में निन्दा और द्वेष के पात्र थे। और आज ऊपर उद्धृत किये वचन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कितनी बदली हुई अवस्था को प्रकट करते हैं। प्रकृति एक संकेत और प्रतीति मात्र बन गई है; चेतना और मन वास्तविक सत्ताएं हैं। सचमुच, ज्ञान पाने की वैज्ञानिक प्रणाली को धार्मिक अन्तर्दृष्टि पर आश्रित समझा जाता है।

यहां हमारा इससे कोई संबन्ध नहीं कि आधुनिक भौतिक विज्ञान की दृष्टि में दार्शनिक सत्ता का पूरा चित्र क्या है, आया कि वह निरपेक्षवाद है या बहुत्ववाद या कोई और वाद। युक्ति का सार यह है कि आज विज्ञान भी उस विश्व-मानस की वास्तविकता को स्वीकार करता है जिसे कि धर्म ईश्वर कह कर पुकारता है।

आधुनिक जीवन-विज्ञान सृष्टि को सप्रयोजन मानता है क्योंकि डार्विन की ये धारणायें कि जीवन यन्त्रवत् व अबुद्धिपूर्व है, अधकचरी पाई गई हैं। अब यदि जीवन की वृद्धि और विकास को कोई 'प्रयोजन' शासित और नियन्त्रित करता है तो जिस चेतना का यह 'प्रयोजन' है उसकी सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक विज्ञान के आधार पर चरम मानस की सत्ता स्थापित होती है।

स्वयं विज्ञान की साक्षी और परिणाम एक समकालीन विचारशील व्यक्ति को इन वैज्ञानिक प्रगतियों के गवाह के तौर पर निश्चयपूर्वक ईश्वर-विश्वास की तरफ़ प्रेरित करेंगे। इन प्रगतियों के साथ साथ धार्मिक आवेग भी जिसकी कि परिभाषा हमने ऊपर की है अधिक प्रबल होता गया है। जोड (Joad) के अनुसार इस बात का प्रमाण यह है कि पिछले २५ वर्षों में गत संपूर्ण शताब्दी की अपेक्षा धार्मिक विषयों पर अधिक पुस्तकें लिखी गई हैं। तो भी इसका यह आशय नहीं है कि हम क्रियात्मकतया अधिक धार्मिक हो गये हैं। हां, इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि धार्मिक जिज्ञासा बढ़ रही और उत्कट हो रही है।

योग में ईश्वर की आवश्यकता

हमने योग-विषयक वर्णन शुद्ध रूप से अनुभव-मूलक और मनोवैज्ञानिक तरीके से शुरू किया था। परन्तु अब ईश्वर की सत्ता-विषयक उपर्युक्त समीक्षा के बाद, यौगिक प्रयत्न के साथ परमात्मा के संबन्ध पर विचार करना संभव है। पतञ्जलि की योग-पद्धति 'ईश्वर' को अपरिहार्य समझती है। वह 'ईश्वर' 'सनातन गुरु' है। उसकी सत्ता एक ऐसी अतिमानस शक्ति है जिसे कर्म-फल और क्लेश स्पर्श भी नहीं कर सकते। वह सर्वज्ञ और अनुपम है। उसके प्रति समर्पण से ही साधक समाधि का लाभ करता है। (देखो पतञ्जलि का योगदर्शन पा० १ सू० २३,२४,२५,२६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द के योग में वर्णित परमात्मा या देव (भगवान्) का स्वरूप योगाभ्यास के साथ अधिक पूर्णता से संबद्ध है। निःसंदेह व्यक्तित्व का रूपान्तर व्यक्ति के निज प्रयत्न से ही प्रारंभ होता और चलाया जाता है; परन्तु यह सदा परमात्मा के संकल्प के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना में ही आगे बढ़ता है। और ईश्वर या परम चैतन्य, जो अपनी परिपूर्णता में पूर्णता के अभीप्सु के लिये करुणामय होता है, उसके कार्य की पूर्ति के लिये तथा उसे पूर्ण पुरुष बनाने के लिये सहायक बनकर आता है। कृपा का सुप्रसिद्ध सिद्धान्त ठीक यही है। इस प्रकार अपूर्ण मानव-प्रयत्न के लिये भागवत-कृपा अनिवार्य है; और यह सर्वथा ठीक नहीं है कि साधक का अपना प्रयत्न कारण-कार्य के नियम से यौगिक परिणामों को पैदा कर देता है। बल्कि यह कहना अधिक ठीक हो सकता है कि जैसे एक माता अपने उस बच्चे के प्रयत्नों की सराहना में जो किसी काम को करने के लिये जी-तोड़ मेहनत करता है, उसकी सहायता करना चाहती और उसके प्रयत्न को सफल करना चाहती है, एवं परमेश्वर अपनी कृपा के प्रयोग से मनुष्य के पूर्णता की प्राप्ति के प्रयत्नों को कृतकृत्य करता है।

व्यक्तित्व के निर्माण में मनोवैज्ञानिक सहायता

इस निबन्ध का प्रयोजन योग के विषय की सामान्य मनोवैज्ञानिक भूमिका प्रस्तुत करना है। ऐसा करते हुए हमने यहां तक मुख्यतया यौगिक रूपान्तर के कार्य में काम आ सकनेवाली मनोवैज्ञानिक क्रिया की व्याख्या की है; तथा मनोवैज्ञानिक भाषा में आवेग और तर्कणा के उस मानसिक आधार की व्याख्या की है जो सामान्य मानव-जीवन के संघर्ष और विशृङ्खलता को तथा फिर योग के लक्ष्यभूत समस्वर जीवन के स्वरूप को जन्म देता है। हमने यह भी कहा है कि आधुनिक मनोविज्ञान में कुछ निश्चित प्रवृत्तियां हैं जिनका अध्ययन योग के जिज्ञासु के लिये सहायक उपक्रम का काम कर सकता है। अब हम इन्हीं प्रवृत्तियों को ओर आते हैं।

मनोविज्ञान की लोकप्रिय परिभाषा यह हो सकती है कि यह मन और उसकी क्रियाओं का अध्ययन है। स्वतः मानसिक क्रिया को उन्नत करना या मानव-प्रकृति का सुधार इसका साक्षात् लक्ष्य नहीं है। यह वास्तविकता का अध्ययन मात्र है, यह स्वाभाविक क्रिया के गुण-दोष का विवेचन करता है। परन्तु ऐसा करने में इसे कर्म के उन आधार-भूत स्रोतों को खोज निकालना होता है जिनका ज्ञान क्रियात्मक उपयोग में लाया जा सकता है। मैकडूगल ने अपने ग्रन्थ 'चरित्र और आचरण' (Character and the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Conduct of life) में जिसका उपनाम 'क्रियात्मक मनोविज्ञान' है, मनोविज्ञान के वर्णनात्मक विज्ञान को जीवन के क्रियात्मक पथ-प्रदर्शन के लिये विवेचन में यथार्थतः बदल डाला है। मनोविज्ञान का सावधानतापूर्ण अध्ययन मनुष्य को अपने मन की गतियों का निरीक्षक बना देगा और यह चीज़ स्वयं योगाभ्यास की प्रगति में सहायक है। इसके अतिरिक्त इस अध्ययन से उसे अपने मन की तथा सामान्य मन की क्रियाओं का कुछ वास्तविकतापूर्ण ज्ञान हो जायगा। इससे वह मनुष्य के साधारण प्रेरक भावों से परिचित हो सकता है। हमने कहा था कि योग से नये मूल्यांकनों की प्राप्ति करनी होती है जिसका वास्तविक अर्थ है नये प्रेरक भावों की प्राप्ति। और इसके लिये विद्यमान साधारण प्रेरक भावों की समझ अवश्य उपयोगी होगी; और इसमें सन्देह नहीं कि नये प्रेरक भावों के निर्माण के लिये तो यह आवश्यक होगी। इतने सामान्य मनोविज्ञान के साथ, व्यक्तित्व की सुधारणा जो इस विषय में नयी प्रबल प्रगति है योग के विद्यार्थी के लिये विशेष उपयोगी होनी संभव है। अन्तःस्रावी रसों (Endocrine secretions) का सिद्धान्त जो यह प्रतिपादित करता है कि ग्रैवेयक (Thyroid) उपग्रैवेयक (Parathyroid) ऐड्रीनल (Adrenal) और गोनड (Gonads) जैसी प्रणाली-रहित ग्रन्थियों के रस व्यक्तित्व के चरित्र पर पोषक प्रभाव डालते हैं, उस शारीरिक नियन्त्रण की उपयोगिता को स्पष्टतया पुष्ट करता है जिस पर पतञ्जलि बल देते हैं। सम्भव है कि आसन इन ग्रंथियों के रसों को उत्तेजित करने में कुछ प्रभाव रखते हों। ग्रन्थि-रसों के विषय में एक मनोवैज्ञानिक वुडवर्थ (Woodworth) कहता है कि, 'मुख्य लैंगिक अंग, स्त्री का डिम्बकोष (Female ovary) और पुरुष का अण्डकोष (Male testes), जीवाणु-कोष्ठों (Germ cells) को तथा रज और वीर्य को पैदा करने के अतिरिक्त मनुष्य की वृद्धि और व्यवहार पर महत्त्वपूर्ण असर डालनेवाले हार्मोन्स (Hormones) को भी बनाते हैं। तथापि इन हार्मोन्स (Hormones) का ठीक-ठीक प्रभाव अभी तक पूर्णतः ज्ञात नहीं है।'

मनोविश्लेषण

किन्तु योग का उद्देश्यभूत रूपान्तर सर्वांगीण और पूर्ण है। सामान्य मनोविज्ञान व्यक्तित्व के यौगिक परिवर्तन के लिये पर्याप्त गहराई तक नहीं जाता। यहां मनोविज्ञान की सर्वप्रसिद्ध शाखा मनोविश्लेषण अधिक उपयुक्त है। हमने पहले भी इसकी ओर कुछ निर्देश किये हैं, पर अब हम वैयक्तिक उन्नति की विद्या और कला की दृष्टि से इसका अधिक पूर्ण निरूपण करने का यत्न करेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) अवचेतना का खोलना

मनोविश्लेषण की सबसे बड़ी खोज है अवचेतन और उसकी क्रियाओं के नियम। अवचेतन का विचार पहले भी विदित था किन्तु मनोविश्लेषण यह सही दावा भर सकता है कि उसने मानव के साधारण तथा असाधारण व्यवहार में अवचेतन के प्रकट होने की कुटिल गतियों का सर्वप्रथम अनुभव-मूलक अध्ययन किया है। मनोविज्ञान की इस शाखा के आविष्कारक फ्रायड (Freud) का यह आग्रहपूर्वक कहना है कि अवचेतन सम्पूर्ण मानसिक जीवन का $\frac{9}{10}$ भाग है। स्वयं यह विचार भी व्यक्तित्व के गम्भीर आलोडन के लिये एक बहुमूल्य सहायता है।

इसके बाद निग्रह का विचार एक और बड़ी देन है। यह विचार भी कि 'बचाव-प्रतिक्रिया' (Defence reaction) अवचेतन के कार्य का विचित्र ढंग है एक अमूल्य विचार है। इसके यथार्थ स्वरूप की हम थोड़ी-सी व्याख्या करते हैं। जिन कष्ट-प्रद कार्यों को हम अपने आन्तरिक जीवन में झेल चुके हैं उनसे विपरीत कार्यों की हमारे सचेतन व्यवहार में अधिकता 'बचाव-प्रतिक्रिया' कहलाती है। इसीके कारण सबको घृणा से देखनेवाला शुष्क तार्किक (cynic) अपने हृदय में अतिभावुक होता है और बहुत बल दिखलानेवाला लड़का (Bully) अन्दर से भीरु होता है। जो व्यक्ति आत्म-तुच्छता (inferiority) से ग्रस्त होते हैं वे प्रायः दर्प और अभिमान को बढ़-चढ़कर प्रकट करते हैं। बहिःक्षेपण (Projection) भी बचाव-प्रतिक्रिया का एक रूप है और इसमें मानसिक पदार्थ को मन के बाहर किसी स्थान पर स्थापित किया जाता है। एक मनुष्य जो स्वयं घमण्डी है सर्वत्र घमण्ड देखता है और उसकी निन्दा करता है। एक अन्य अवचेतन यन्त्रवत् क्रिया है तर्कोपपादन (Rationalisation), यह आचार और विश्वास की व्याख्या के लिये मन द्वारा ऐसी युक्तियों की रचना का नाम है जिनका प्रकृत आचार व विश्वास के मानसिक कारणों से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता।

(ख) दमन या रमण

इन सब यान्त्रिक क्रियाओं में किसी इच्छा या कामना का निग्रह अन्तर्निहित होता है और इनका विश्लेषण तथा इनके आधार में काम कर रहे निग्रहों की अन्वेषणा मनोविश्लेषकों का प्रधान विषय रहा है। मनोविश्लेषण का साहित्य पढ़ने से निग्रह और इसके हानिकर परिणामों के बारे में इतना व्यापक असर पड़ता है कि पाठक को मनोविश्लेषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से सदा यही शिक्षा मिलती है कि जीवन में एकमात्र वर्जनीय वस्तु निग्रह है। परन्तु हम पूछेंगे, तो क्या 'स्वच्छन्द रहना' जीवन के लिये रामबाण है? यहां फ्रायड के अपने कुछ शब्द बहुत लोगों की आँखें खोलने वाले सिद्ध होंगे। अपनी मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित अपनी नयी प्रावेशिक व्याख्यानमाला में शिक्षा के मामले का स्पष्टीकरण करते हुए वह कहता है, "बच्चे को अपनी अन्धप्रेरणा को संयत करना सीखना चाहिये। अपने आवेगों का बे-रोकटोक अनुसरण करने के लिये उसे खुली छूट दे देना असम्भव है। अतः शिक्षा का प्रयोजन निषेध करना, टोकना, दबाना है...। किन्तु हमने विश्लेषण द्वारा यह मालूम किया है कि अन्धप्रेरणाओं का दमन स्नायु-रोगों के खतरे से भरा है...। अतः अन्धप्रेरणा को खुली क्रीड़ा करने देने और उसे निराश करने के कुएं और खाई के बीच का मार्ग शिक्षा को बनाना है।" और इस प्रकार 'हम किन समयों पर तथा किन विधियों से कितना रोक सकते हैं' यह मालूम करने से ही समस्या का हल निकलेगा। इसके अतिरिक्त बच्चों की शरीर-रचनात्मक प्रकृतियों के भेद का भी खयाल रखना होगा।

साधक को भी योगाभ्यास में अपने आपको नयी मनोवृत्तियों और नये मूल्यांकनों में शिक्षित करना होता है। अतएव उपर्युक्त निर्देश उसके लिये पूरे के पूरे लागू होते हैं। धीमे-धीमे उसे भी अति रमण (over-indulgence) और अति निग्रह के बीच सावधानता पूर्वक मार्ग बनाते हुए अपने को उन्नत करना है।

(ग) ईमानदारी

मनोविश्लेषण मानसिक-विकार-विज्ञान के नये ढंग से सत्यहृदयता और ईमानदारी के नैतिक गुणों में हमारे विश्वास को पुनः दृढ़ करता है और ये योग की प्रगति के लिये अतीव आवश्यक हैं। सब मानसिक गड़बड़ों में निग्रह अर्थात् दबी हुई अतृप्त वासना छिपी रहती है। यह असन्तुष्ट वासना आत्म-वंचना की अनेक यान्त्रिक क्रियाओं के द्वारा व्याधि के लक्षण पैदा करती है। अब मनोविश्लेषणात्मक उपचार का स्वरूप यह है कि रोगी को स्वतन्त्र संसर्ग (Free Association) और स्वप्न-विश्लेषण (Dream Interpretation) की पारिभाषिक प्रक्रियाओं में से गुजारते हैं और मानसिक गड़बड़ के पीछे विद्यमान असली प्रेरक भावों को उससे स्पष्ट स्वीकार कराते हैं। यह चीज स्वयं इलाज कर देती है। क्या यह अपने प्रति सत्यहृदयता और ईमानदारी के महत्त्व का क्रियात्मक उदाहरण नहीं है? फ्रायड कहता है, 'मनोविश्लेषण का लक्ष्य है जीवन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अचेतन भाग की खोज और इससे अधिक किसी चीज़ को वह प्राप्त भी नहीं कर सकता।' और उपचार का उद्देश्य यह होता है कि पारिभाषिक प्रक्रिया के द्वारा रोगी को अपनी आत्म-वंचनाओं की ओट में अपनी इच्छाओं को देखने और चेतना के स्तर पर उनके साथ मुकाबला करने में तथा अपने प्रति पूर्णतया सच्चा और ईमानदार रहने में समर्थ बनाया जाय। योगाभ्यास के लिये भी ठीक ये गुण —सच्चाई और ईमानदारी— अनिवार्य हैं और साधक को अवश्य ही इनमें पूर्ण हार्दिक विश्वास होता है। मनोविश्लेषण द्वारा संगृहीत दृष्टान्त-रूप साक्षी इस विश्वास को और भी अधिक पुष्ट करती है।

फ्रायड

मनोविश्लेषण के हमारे इस विवेचन से बहुत से लोग श्रान्त हो गये होंगे और अधीरता के साथ पूछेंगे, 'पर लैङ्गिक मतवादों के बारे में आपका क्या वक्तव्य है? क्या लिङ्ग ही सब कुछ है? क्या आपको यह स्वीकार है कि सर्वोत्तम नैतिक या धार्मिक प्रेरक भाव भी अवश्यमेव केवल आच्छादित लैङ्गिक प्रेरक भाव (Sexual motive) ही होता है?' मुझे कहना होगा कि मानसिक रोगियों के थोड़े से वैयक्तिक अनुभव ने फ्रायड के सर्वलिङ्गवाद (Pan-sexualism) के विरुद्ध मेरे प्रतिरोध को बहुत हद तक ढहा दिया है, क्योंकि मैंने देखा कि प्रत्येक उदाहरण में गड़बड़ के अन्दर लिङ्ग का कुछ हाथ था। किन्तु कुछ मानसिक रोगियों को लेकर मैं व्याप्ति नहीं बना सकता और अतः मेरा विश्वास है कि फ्रायड अपने मतवाद के अन्य अनेक अंशों की भांति इस आधारभूत अंश में भी अतिव्याप्ति के दोष का भागी है। मेरा विश्वास है कि फ्रायड ने मानव-प्रकृति के संबन्ध में व्यापक मतवाद को अपना सीधा लक्ष्य नहीं बनाया था। उसका दृष्टिबिन्दु मानसिक रोग तथा उसके उपचार तक ही सीमित था। अतएव उसे अवचेतन और तद्गत पदार्थ या उसके अन्तर्गत निग्रहों में ही स्वभावतः व्यस्त रहना था। इस प्रकार उसने मन के जिन अद्भुत तथ्यों को ढूंढ निकाला उनका उस पर स्वभावतः ही बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने उनको मन के न्यूनाधिक पूर्ण चित्र का विशाल आकार दे दिया। परन्तु उसमें आदर्शवादी प्रवृत्ति थी ऐसे निर्देश भी मिलते हैं। हमने देखा है कि 'स्वच्छन्द जीवन' को वह उचित नहीं मानता। निग्रह को आवश्यक मानता है। अपने नये व्याख्यानों में 'व्यक्तित्व-रचना-विज्ञान' (Anatomy of Personality) पर लिखे एक अध्याय में वह वर्णन करता है कि व्यक्तित्व के तीन घटक हैं :—(१) अति-अहं (super-ego) (जो नैतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबन्धों का बोधक है) (२) अहं (संघटित अपना-पन) और (३) ईद (उच्छृङ्खल वासनाएं)। अब अहं के विस्तार द्वारा अति-अहं और ईद के बीच वर्धमान समस्वरता को सिद्ध करने की प्रक्रिया का नाम व्यक्तित्व की उन्नति है। रोग-निवारक प्रयत्नों का उद्देश्य है "अहं को पुष्ट करना, अति-अहं से इसको और भी अधिक स्वाधीन कर देना, इसकी दृष्टि के क्षेत्र को बढ़ाना और इसके संघटन का इस प्रकार विस्तार करना कि यह ईद के नये भागों को अपने में ले सके। जहाँ ईद था वहाँ अहं होगा।" मानव की उन्नति की संभावनाओं का और भी अधिक स्पष्ट निर्देश तब मिलता है जब कि वह कहता है कि, "भविष्य के लिये हमारी सर्वश्रेष्ठ आशा यह है कि बुद्धि—वैज्ञानिक तर्कणा—को यथासमय मानव पर सर्वाधिकार कायम करना चाहिये। और तर्कणा का स्वरूप ही हमें गारंटी देता है कि यह मानव भावों (Human emotions) और उनसे निर्धारित अन्य सब चीज़ों को अपना-अपना उचित स्थान देने में चूकेगा नहीं।" परन्तु ये केवल संकेत हैं और मनोविश्लेषण का भावात्मक वाद, जैसा कि यह आज है, निःसंदेह मानव-प्रकृति का आंशिक वर्णन है। उदात्तीकरण (Sublimation) की प्रक्रिया जो योग के विद्यार्थियों के लिये इतनी आवश्यक है उसका फ्रायड ने बहुत ही कम जिक्र किया है।

इस विषय में श्रीअरविन्द की देन

फ्रायड ने मुख्यतया मनुष्य की पशु-प्राप्त दाय (Animal heritage) का ही अध्ययन किया है,—उसका, जो कि मनुष्य अपने विकास के अतीत काल में रहा है। परन्तु वह जो कुछ बन सकता है उसका अर्थात् उसके स्वभाव की संभावनाओं का फ्रायड ने संकेत मात्र किया है, यह उपरिवर्णित निर्देशों से पता चलता है। पर ठीक इसी पहलू में श्रीअरविन्द ने दिलचस्पी ली है और इसलिये यह कहना गलत न होगा कि वे फ्रायड के विचारों में आवश्यक पूरक को जोड़ते हैं। अतिचेतन अपनी उच्चतर संभाव्यशक्तियों (Potentialities) की सामग्री के साथ अवचेतन का परिपूरक बन कर मानव-प्रकृति का पूर्ण चित्र पेश करता है। अतिचेतन (superconscious) का व्यक्तीकरण और रूपान्तर की क्रियात्मक विधि के स्वरूप का निरूपण ये श्रीअरविन्द की दो महान् देने हैं, जिनका मनोवैज्ञानिक मूल्य जानने में अभी हमें कुछ समय लगेगा। यह तथ्य है कि योग, अपने समग्र रूप में, पाश्चात्य मनोविश्लेषण को महत्त्वपूर्ण पाठ पढ़ा सकता है। कास्टर का यह कहना ठीक है कि, 'यद्यपि योग मूलतया पूर्वीय पद्धति है तो भी इसमें वह सूत्र है जिसकी पश्चिम को आवश्यकता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि विश्लेषणात्मक पद्धति और सिद्धान्त को आधुनिक जीवन के पुनरुज्जीवक और पुनर्घटक साधन के तौर पर अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचना है (कास्टर, योग और पश्चिमीय मनोविज्ञान, Coster, 'Yoga and western Psychology' पृ० १०)।

चेतावनी

हमने ऊपर मनोविज्ञान का यथार्थतः पक्ष-पोषण किया है और नीचे मनोविज्ञान-विषयक कुछ ग्रन्थों की सूची भी दी है जिन्हें केवल उत्सुक यौगिक विद्यार्थी ही नहीं अपितु कोई भी शौक और लाभ के साथ पढ़ सकता है। अतः हम अन्त में सावधानता की एक टिप्पणी देना अपना कर्तव्य समझते हैं। संपूर्ण विज्ञान ही ज्ञान की एक वर्धमान राशि है। हमारे तथाकथित नियम भी बहुधा काम-चलाऊ स्थापनायें होती हैं और जहां वे आज आधारभूत माने जाते हैं वहां कल उन्हें हम बिना किसी संताप-अनुताप के तिलाञ्जलि दे सकते हैं। मनोविज्ञान एक बाल-विज्ञान है और अपनी वर्तमान दशा में भयानक वाद-विवादों का शिकार बना हुआ है। अतः पाठक को यह परामर्श देना उत्तम होगा कि वह किन्हीं भी सम्मतियों को अन्तिम न समझ ले और उन पर अनुचित तौर से उत्साह और जोश में न भर जाय।

स्वाध्याय के योग्य पुस्तकों की सूची :—

१. McDougall, Character and the Conduct of Life, A Practical Psychology for Every man. (Methuen & Co. London.)
२. K. M. Bowman, Towards Peace of Mind. (George Allen & Unwin.)
३. Thoulless, The control of Mind.
४. Coster, Yoga and Western Psychology. (Oxford University Press.)
५. Coster, Psycho-analysis for Normal People.
६. श्रीअरविन्दाश्रम पांडिचेरी से प्रकाशित ग्रंथों की सूची कवर के चौथे पृष्ठ पर दी है।
७. Aveling, Directing mental energy.
८. Gordon, The Neurotic Personality. (Kegan Paul.)
९. Gordon, Wholesome Personality.
१०. C. G. Jung, Modern Man in Search of a Soul.
११. C. G. Jung, Psychology and Religion.
१२. Wolfe, How to be Happy though Human. (Routledge.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनागसो अदितये स्याम

यह वेद-वचन वेद के एक प्रसिद्ध मंत्र का अन्तिम चरण है। यह वेदमंत्र चारों वेदों में, ऋक् में, यजुः में, साम में और अथर्व में आया है; अथर्ववेद में तो दो बार आया है। इन चारों मूल वेदों के अतिरिक्त यह मंत्र तैत्तिरीय संहिता में दो बार आया है तथा निरुक्त में भी व्याख्यात है। इससे यह स्पष्ट है कि यह मंत्र वैदिक वाङ्मय में कितना महत्त्वपूर्ण है। इस लेख में हम इस मंत्र के उपर्युक्त अन्तिम चरण के, जो हमारी इस पत्रिका का ध्येय मंत्र हो गया है, विचार तक ही अपने आपको सीमित रखेंगे। पहिले तीन चरणों पर या संपूर्ण मंत्र पर हम अगली बार ही विचार कर सकेंगे।

इस वेद-वचन का शब्दार्थ है—(अदितये) अदिति के लिये हम (अनागसः) निष्पाप (स्याम) होवें। अदिति के लिये, अदीना दिव्यमाता के लिये, देवजननी शक्ति के लिये हम निष्पाप, निरपराध, निर्मल, त्रुटिरहित, अपूर्णतारहित, छिद्रहीन बनें, होवें, रहें। अदिति के सामने हम निष्कलंक रहें। अदिति को—अदीनता, उपक्षय-हीनता, अखण्डता को—पाने के लिये हम सब प्रकार की कमिओं से रहित बनें। उस अदिति अवस्था को प्राप्त करने के लिये या उस अदिति माता का बन जाने के लिये हमें निष्पापं, शुद्ध, विमल, दोषरहित, ज़रा सी भी विकलता से रहित होना चाहिये। ये सब भाव हैं जो कि इस वेदवचन का अर्थ समझ जाने पर इस वचन द्वारा पाठकों के अन्दर उठने चाहियें और उठते होंगे। पर ज़रा हम इस वेद-वचन के एक एक शब्द पर जुदा जुदा भी कुछ थोड़ा और अधिक विचार करें।

अदितये

'अदिति' इस प्राचीन वैदिक शब्द की व्याख्या हम कई प्रकार से कर सकते हैं। संस्कृत व्याकरण की धातुओं की दृष्टि से देखें तो 'दो अवखण्डने' या 'दीङ् उपक्षये' से दिति बना है। खण्ड खण्ड वाली या उपक्षययुक्त जो है वह दिति है, उससे दैत्य उत्पन्न हुवे हैं। खण्डितावस्था से रहित एवं उपक्षय तथा विनाश से रहित है अदिति। इसलिये निरुक्तकार यास्क मुनि ने 'अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्षमदिति माता......' इत्यादि अदिति की महिमा प्रकट करने वाले वेदमंत्र को प्रस्तुत करते हुवे अदिति का अर्थ 'अदीना देवमाता' ऐसा किया है अर्थात् वह देवमाता जिसमें उपक्षय या अवखण्डन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीनता नहीं है। वह अमर, अखण्ड, असीम की देवता है। सब पाप, बुराई खराबी, नीचे दर्जे के भाव, असुर वृत्तियां और असुरत्व दिति से उत्पन्न होते हैं; सीमितता, खण्डितावस्था, विनश्वरता, दीनता की उपज हैं। और सब पुण्य, अच्छाई, उत्तमता, ऊँची कोटि के भाव अर्थात् सब दैवी वृत्तियाँ और देवत्व अदिति से जन्मते हैं; असीमता, अखण्डता, सनातनता और अदीनता के गर्भ से उत्पन्न होते हैं। अथवा अदिति की व्युत्पत्ति दिति के निषेध में न करके स्वतंत्र 'अद्' धातु से मानी जा सकती है। व्याकरण की दृष्टि से व्युत्पत्ति किसी तरह की जाय 'अदिति' शब्द की व्याख्या में भेद नहीं पड़ता। अपने सर्वोच्च रूप में अदिति अनन्त, असीम आद्या सत्ता है जिस रूप में वह सब देवों की जननी है। पर साथ ही वह असीम अनन्त चेतना भी है जिस रूप में वह सब ज्ञान प्रकाशों को दुहने वाली "गौ" कहाती है। वैदिक निघण्टु में गोवाचक नामों में भी अदिति पढ़ा है, तथा वेद में 'गौ' रूप में अनेक जगह अदिति का सुन्दर वर्णन है। कई जगह चित्रा गौ, नाना प्रकार का प्रकाश देने वाली गौ कही गयी है। सो सब कुछ देने वाली 'गौ' रूप से भी हम अदिति की उपासना कर सकते हैं। फिर अदिति 'वाक्' है। 'वाक्' नामों में तथा 'पृथ्वी' के नामों में भी वैदिक निघण्टु में अदिति शब्द पढ़ा गया है। वाक् अर्थात् अभिव्यक्त करने वाली शक्ति अदिति है। ऋग्वेद के दशम मंडल में जो प्रख्यात आम्भृणी वाक् का सूक्त है जिसमें वह कहती है कि 'मैं ही रुद्र वसु आदित्यों के साथ चलती हूँ, मैं ही सब देवों को धारण करती हूँ इत्यादि......' वह सब जगत्संचालिका और जगत्प्रकाशिका अदिति माता ही कह रही है। और फिर अदिति के पृथ्वी होने का मतलब यह कि सब स्थूल अभिव्यक्ति तक की शक्ति भी वही दिव्य शक्ति है। इसलिये उपरिनिर्दिष्ट १-८९-१० ऋचा में ठीक ही कहा है कि 'द्यौ अदिति है, अन्तरिक्ष अदिति है, माता अदिति है, पिता पुत्र भी वही है, सब देव अदिति हैं, पंचजन अदिति है जो कुछ हुआ है और जो कुछ होगा वह सब अदिति है।' सो इस महामहिमामयी अदिति जगदम्बा के प्रति हम क्या करें, कैसे बर्त्तें ?

अनागसः

हम 'अनागस्' होवें। 'आगस्' शब्द का सामान्य संस्कृत में अर्थ है 'अपराध', 'दोष', या 'त्रुटि'। तो 'अन्-आगस्' का अर्थ हुआ अपराध न करने वाला, निर्दोष, त्रुटिरहित। यदि हम अनागस् होंगे तभी दिव्यमाता हमारे अन्दर अपना काम कर सकेगी। उनका कार्य हमारे अन्दर ठीक तरह से होने में रुकावट ये हमारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविध प्रकार के आगस् ही होते हैं। इन्हें हमें अवश्य दूर करना होगा। वेद में 'आगस्' आदि पापवाचक शब्द उस अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं किये जाते जिसमें हम नैतिक 'पाप' को समझते हैं। वैदिक ज्ञान के अनुसार मिथ्यात्व या मिथ्यागति के सिवाय पाप या 'आगस्' और कुछ चीज़ नहीं है। इसीलिये वैदिक परिपाटी में प्रत्येक पापवाचक शब्द (जैसे अघ, रपस्, अंहस्, कण्व आदि) स्वयमेव रोगवाचक भी माना जाता है। क्योंकि रोग भी शरीर में हुवा मिथ्यात्व या मिथ्यागति ही तो है। एवं हमारे मन में या प्राण में या शरीर में जो कुछ भी मिथ्यागति होती है वह उस-उस जगह का हमारा 'आगस्' है। हम जानते हैं कि अश्रद्धा, भ्रम, संशय, अज्ञान, निराशा ये सब मन की मिथ्या गतियाँ हैं; मन के 'आगस्' हैं। इनके होते हुए माता हमारे मन में अपना दिव्य कार्य कदापि नहीं कर सकती। इसी तरह राग द्वेष, काम क्रोध लोभ आदि प्राण की ज़बरदस्त मिथ्या गतियाँ हैं। जब तक हमारे प्राण इनसे शुद्ध नहीं हों, अनागस् नहीं हो जाँय तब तक माता कैसे हमारे प्राणों द्वारा अपना दिव्य कार्य कर सकती है। फिर इसी तरह शरीर को अनागस् बनाने के लिये हमें रोग, व्याधि, आलस्य, कुचेष्टा आदि को शरीर से बिलकुल निकाल देना होगा तभी हमारा शरीर माता के योग्य बनेगा। दूसरे शब्दों में सब बेसुरापन ही आगस् है। माता के दिव्य छन्द स्वर से जब हम ज़रा भी अपने मन में, प्राण से या शरीर से विपरीत स्वर निकालते हैं या अपने अदिव्य स्वर को ही चलते देना चाहते हैं, वहीं 'आगस्' हो जाता है। हम अशुद्ध, विकृत, बेसुरे हो जाते हैं। यदि हम सचमुच अदितिके उपासक हों, सचमुच माताके होना चाहते हों तब तो हमें यह अनुभव होना चाहिये कि सभी जगह और सभी कालों में माता हमारे सामने हैं और हम जहां ज़रा भी मनकी क्रियामें या प्राणों के व्यापारमें या शरीर की चेष्टामें कुछ भी विकृत स्वर निकालने लगें, मिथ्यागति करने लगें तो माता की स्मृति हमें सावधान कर दे, बचा ले। जो हो, यदि हम माताके सच्चे पुत्र बनना चाहते हैं तो यह जरूरी है कि हम अपने सब अंगों में सर्वथा शुद्ध, निर्दोष, निर्मल, त्रुटिहीन, विकलतारहित होवें, हो जांय।

स्याम

हो जांय। हम ऐसे हो जांय। ऐसे हो जाना, यही हमारा काम है। यदि हम अनागस् हो जांय—बल्कि ऐसे होनेका सच्चे भाव से यत्न ही करें—तो बाकी सब तो माता कर देगी। तो बस, सचमुच ऐसे होजाना, होजाने का सचमुच यत्न करना यही मनुष्यका भाग है, माताके पुत्रका काम है, उसका उद्योग है, पुरुषार्थ है। यह पुरुषार्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम करें। इसके लिये हम, इस सत्य को जानने वाले हम, आज से ज्ञानपूर्वक यह संकल्प करें,—हम अदितिके लिये अवश्य 'अनागस्' होंगे, सर्वथा शुद्ध और निर्दोष बनेंगे, और आज से अटलरूप से इसी विश्वासमें रहें भी। क्या देखते नहीं कि, गहराई के अन्दर, इस पृथ्वी के सभी मानव प्राणी, चाहे वे इसे जानते हों या न जानते हों, अपनी गुहानिहित अन्तरात्माओं में अटल विश्वास के साथ, ऊर्ध्वमुखी पवित्र यज्ञाग्नि की तरह यही एक पवित्र अभीप्सा उठा रहे हैं, अदिति के लिये अनागस होजाने की निरंतर प्रार्थना कर रहे हैं, मानों वैदिक पावन वाणीमें वे सतत जाप ही कर रहे हैं—अनागसो अदितये स्याम। तो हम ज्ञानपूर्वक ऐसा क्यों न करें ?

लेखकों का परिचय

श्री लीलावतीजी—

एक संभ्रान्त कुल की विदुषी देवी हैं। अभी तक नई देहली के एक कन्या-विद्यालय की प्रिंसिपल थीं। बी० ए० बी० टी० हैं। अब श्री अरविन्दाश्रम में अधिक रहने पर वह प्रिंसिपल-पद छोड़ा है। यह भी सूचित कर देना चाहिये कि आप श्री डा० इन्द्रसेनजी की धर्मपत्नी हैं। श्री अरविन्दाश्रम की आप लगभग स्थिर सदस्या हो चुकी हैं।

पं० दीनानाथजी भार्गव 'दिनेश'—

आप हिन्दी के उत्कृष्ट कवि और लेखक हैं। दिल्ली के प्रसिद्ध मासिक-पत्र 'मानवधर्म' के सम्पादक हैं। अखिल भारतीय रेडियो से गीता के सुप्रसिद्ध व्याख्याता हैं। आपने गीता का सरल, सुबोध और सरस हिन्दी-पद्य में प्रतिश्लोकी अनुवाद किया है जो 'श्रीहरिगीता' के नाम से प्रसिद्ध है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मातृवाणी

यह पुस्तक छप रही है। शीघ्र प्रकाशित होगी। इसका एक अध्याय नमूने के तौर पर इस पत्रिका में ७ वें पृष्ठ पर दिया गया है। इसके लेख 'माताजी से वार्तालाप' नाम से 'वैदिक धर्म' में छपते रहे हैं। अब यह पुस्तकाकार छप रही है। मूल्य २)

जगन्नाथ का रथ

यह पुस्तक लगभग छपकर तैयार है। इसमें से 'स्वप्न' नामक लेख नमूने के तौर पर इस पत्रिका में दिया गया है। यह श्रीअरविंद के कुछ बंगला लेखों का अनुवाद है। मूल्य ।।)

उत्तरपाडा अभिभाषण

यह छप कर बिलकुल तैयार है। यह श्रीअरविंद का एक बहुत महत्त्व-पूर्ण भाषण है। मूल्य ।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द की हिन्दी पुस्तकों की सूची

श्रीअरविन्द और उनका योग	...	मूल्य ।।)
योगप्रदीप	...	,, ।।)
इस जगत् की पहेली	...	,, ।।=)
माता	...	,, ।।)
योग के आधार	...	,, २)
हमारा योग और उसके उद्देश्य	...	,, ।।)
गीता-प्रबन्ध (प्रथम भाग)	...	,, ४)

इसके अतिरिक्त श्रीअरविन्द की अंग्रेज़ी, बंगला आदि भाषाओं की सब पुस्तकें भी यहाँ से मिल सकती हैं ।

मिलने का पता:—

श्रीअरविन्द-निकेतन

एस० एन० संडरसन के साथ

डाकपेटी ८५

कनाट सर्कस

नयी देहली।

प्रकाशक और मुद्रक श्री डा० इन्द्रसेनजी मंत्री श्रीअरविन्द-निकेतन, द्वारा

जमना प्रिंटिंग वर्क्स देहली में मुद्रित ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

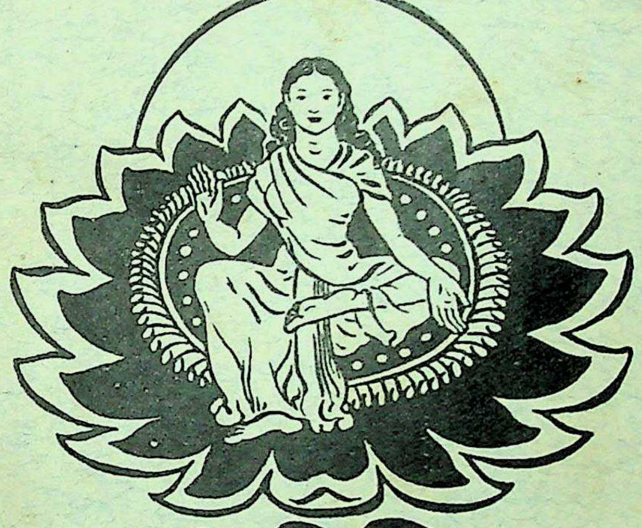

अदिति

अनागसो अदितये स्याम
—वेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

सम्पादक
आचार्य अभयदेव जी विद्यालंकार

प्रकाशक
श्रीअरविन्द निकेतन
कनाट सर्कस, नई दिल्ली।

मूल्य सवा रुपया

वर्ष-भर की चारों पुस्तिकाओं का मूल्य चार रुपया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

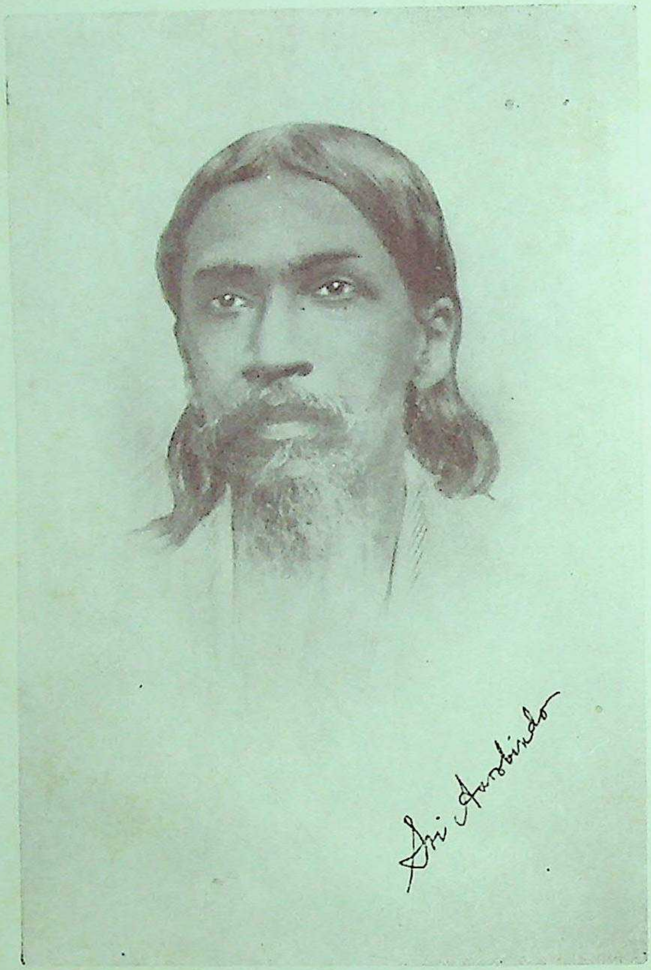

श्रीअरविन्द

इस १५ अगस्त को इनका ७१वाँ जन्म-दिवस है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मातृवचनामृत—

प्रार्थना व ध्यान

शान्ति, समस्त पृथ्वी पर शान्ति......।

हे भगवान् ! ऐसी कृपा कर कि सब लोग साधारण चेतना से बाहर निकलकर, सांसारिक वस्तुओं की आसक्ति से मुक्त होकर तेरी दिव्य उपस्थिति के ज्ञान में जागृत हों, तेरी परम चेतना के साथ अपनी चेतना को युक्त करें और इससे प्राप्त होनेवाली शान्ति के प्राचुर्य का आस्वादन करें।

हे प्रभु ! तू ही हमारी सत्ता का परम पति है, तेरा ही विधान हमारा विधान है ; हम अपनी सारी शक्ति के साथ यह अभीप्सा करते हैं कि हमारी चेतना तेरी शाश्वत चेतना के साथ तादात्म्य प्राप्त करे जिससे प्रत्येक वस्तु में और प्रत्येक क्षण हम तेरा ही महान् कार्य सम्पन्न कर सकें।

हे नाथ ! हमें आकस्मिक घटनाओं की चिन्ता से मुक्त कर, साधारण स्थूल दृष्टि से मुक्त कर, ऐसी कृपा कर कि अब हम केवल तेरी ही आंखों से देखें और केवल तेरी ही इच्छा से कार्य करें ; हमें अपने दिव्य प्रेम की सजीव ज्योति-शिखाओं में परिणत कर।

आदर के साथ, भक्ति के साथ, अपनी समस्त सत्ता का आनन्दपूर्ण आत्मोत्सर्ग करते हुए, हे प्रभु, मैं अपने-आपको न्योछावर कर रही हूं जिसमें तेरा विधान सिद्ध हो।

शान्ति, समस्त पृथ्वी पर शान्ति......।

१४ फरवरी १९१४

—मूल फ्रेंच से अनूदित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आध्यात्मिक जीवन में धर्म का स्थान

प्रश्न—धर्म का यथार्थ स्वरूप क्या है? क्या धर्म आध्यात्मिक जीवन के मार्ग में बाधक है?

उत्तर—धर्म मानवजाति के उच्चतर मन की चीज़ है। मनुष्य के उच्चतर मन की जो चेष्टा है, जिसके द्वारा वह अपनी शक्तिभर अपने से परेकी किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहता है, उस वस्तु को जिसे मानवजाति ईश्वर, परमात्मा, सत्य, श्रद्धा, ज्ञान या अनन्त, किसी प्रकार की निरपेक्ष सत्ता के नाम से पुकारती है, जहां तक मानव मन की पहुँच नहीं होने पर भी वह जहां पहुँचने की चेष्टा करता रहता है,—इस चेष्टा का नाम ही धर्म है। धर्म का जो मूल स्रोत है, उसमें वह भले ही दिव्य हो, किन्तु इसका जो प्रकट स्वरूप है, वह दिव्य नहीं है, बल्कि मानव ही है। वास्तव में हमें धर्म की जगह धर्मों की बात कहनी चाहिए, कारण मनुष्य के बनाये हुए धर्म अनेक हैं। इन विभिन्न धर्मों की रचना, जब कि ये एक ही मूल से उद्भूत न हुए हों तो भी, प्रायः एक ही प्रकार से हुई है। ईसाई धर्म की स्थापना किस प्रकार हुई, यह हमें ज्ञात है।

जो धर्म ईसाइयत के नाम से विख्यात है, निःसन्देह उसकी रचना ईसामसीह ने नहीं की थी, बल्कि कतिपय विद्वान् और अत्यन्त चतुर मनुष्यों ने मिलकर इस धर्म को इस रूप में, जिस रूप में आज यह हमारे सामने है, रच डाला है। जिस प्रकार इसकी रचना की गयी, उसमें कहीं भी दिव्यता का लेशमात्र तक नहीं था और जिस रूप में यह कार्य कर रहा है, उसमें भी दिव्यता का कोई नाम-निशान नहीं है। और फिर भी जिस बहाने या जिसे निमित्त बनाकर इस धर्म की स्थापना की गयी, वह असंदिग्ध रूप से कोई प्रकाश था, जो एक ऐसे पुरुष द्वारा आया था, जिसे दिव्य पुरुष कहा जा सकता है, ऐसा पुरुष जो किसी दूसरे लोक से यहाँ आया, तथा किसी उच्चतर भूमिका के ज्ञान और सत्य को इस पृथ्वी के लिये अपने साथ उतार लाया। वह आया और उसने अपने सत्य की प्रतिष्ठा के लिए कष्ट झेले, किन्तु ऐसे लोग विरले ही होंगे, जिन्होंने उसकी वाणी को ठीक-ठीक समझा हो और ऐसे लोग भी इने गिने ही हुए जिन्होंने उस सत्य को, जिसके लिये इस दिव्य पुरुष ने कष्ट झेले थे, पाने और उसपर आरूढ़ रहने की परवाह की।

गौतमबुद्ध संसार से अलग होकर एकान्त में चले गए, ध्यान लगाकर बैठे और संसार के कष्ट और दुःखों से, यह जो रोग और मृत्यु और इच्छा और पाप और क्षुधा है, उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब से छुटकारा पाने का एक मार्ग ढूँढ निकाला। उनको एक सत्य का दर्शन हुआ और उन्होंने इस बात की चेष्टा की कि वे इस सत्य को अपने इर्दगिर्द जमा हुए हुए अनुयायियों और शिष्यों को बता दें और दे दें। परन्तु उनके देह-त्याग करने से पहले उनके जीवन-काल में ही उनकी शिक्षा का तोड़मरोड़ किया जाना और विकृत किया जाना प्रारंभ हो गया था। और यह बाद में, बुद्ध भगवान् के प्रयाण के बाद ही हुआ कि बौद्धमत एक सुव्यवस्थित धर्म के रूप में जगत् के सामने आया, जिसकी स्थापना बुद्ध के कल्पित कथनों के आधार पर तथा उनके कथनों का जो स्वरूप दन्तकथाओं के रूप में प्रचारित हुआ था, उसके कल्पित अर्थ के आधार पर हुई। परन्तु शीघ्र ही, चूँकि उनके शिष्य तथा उनके शिष्यों के शिष्य, उनके गुरु की शिक्षा क्या थी, अथवा उनके उपदेशों का यथार्थ अर्थ क्या था, उसके सम्बन्ध में एकमत न हो सके, इसलिए मूल बौद्धधर्म की अनेक शाखा-प्रशाखाएं हो गयीं—हीनयान, महायान तथा सुदूरपूर्व एशिया के बौद्धपंथ आदि कई मत हो गए, जिनमें से प्रत्येक का यह दावा है कि, उनके मत में ही बुद्ध की मूल और निर्मल शिक्षा विद्यमान है।

ईसामसीह की शिक्षा की भी यही दशा हुई, इसको भी उपर्युक्त प्रकार से ही एक नियमबद्ध और संगठित धर्म का रूप दिया गया। बहुधा लोग यह कहा करते हैं कि, यदि ईसामसीह इस पृथ्वी पर फिर से लौटकर आवें और अपनी शिक्षा को उसके वर्तमान रूप में, लोगों ने जो रूप उसपर लाद दिया है उसमें, देखें, तो वे उसको पहचान भी न सकेंगे और यदि बुद्ध भगवान् फिर से यहां आवें और उनकी शिक्षा की जो दशा कर दी गई है, उसको देखें तो वे निरुत्साहित हो तुरन्त निर्वाण की ओर लौट जायंगे। सभी धर्मों की कथा इसी प्रकार की है। सभी धर्मों का जन्म किसी महान् जगद्गुरु के आविर्भाव को लेकर होता है। ये जगद्गुरु इस पृथ्वी पर आते हैं, सत्य को प्रकाशित करते हैं और स्वयं किसी भागवत सत्य के मूर्तिमान् अवतार होते हैं। परन्तु मनुष्य इस सत्य पर अपना ही कब्जा जमा लेते हैं, इस पर से वे एक रोजगार खड़ा कर लेते हैं और इसके द्वारा वे एक राजनीतिक संगठन-सा बना लेते हैं। ये लोग धर्म के साथ किसी शासनतंत्र को, किसी नीति को तथा कुछ कायदे-कानूनों को जोड़ देते हैं, जिनके अपने सिद्धांत और नियम, विधि और व्यवस्था, शास्त्रोक्त कर्म और उत्सव होते हैं, जिनका अनुसरण और पालन करना उस धर्म के अनुयायी के लिये फर्ज होता है। इनमें कोई हेर-फेर नहीं हो सकता और ये अनुल्लंघनीय होते हैं। रियासत की तरह इस में भी सच्चे भक्तों को पुरस्कार दिया जाता है और विद्रोह करनेवालों तथा उन्मार्गगामियों को, धर्मविरोधियों और धर्मत्यागियों को सजा।

इन नियमित रूप से स्थापित हुए हुए सभी धर्मों की ओर से जो पहली और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुख्य बात सदा कही जाती है, वह यह है कि, 'यही धर्म सर्वोत्तम है, सत्य केवल इसी धर्म में है, बाकी के सभी धर्म या तो भ्रम में हैं या निम्न कोटि के हैं।' कारण इस प्रकार के सिद्धान्त को आधार बनाये बिना, ये व्यवस्थित विश्वासपरक धर्म खड़े ही नहीं हो सकते। यदि तुम्हारा इस बात में विश्वास न हो, यदि तुम इस बात की घोषणा न करो कि, वह अद्वितीय या उच्चतम सत्य तुम्हारे ही पास है, तो तुम दूसरों पर प्रभाव नहीं डाल सकोगे और अपने इर्द-गिर्द उनकी एक मंडली नहीं बना सकोगे।

इस प्रकार का भाव धार्मिक मन के लिये स्वाभाविक हैं, किन्तु इस तरह के भाव के कारण ही धर्म आध्यात्मिक जीवन के लिये बाधक हो जाता है। धर्म के सिद्धान्त और नियम मानवमन के बनाये हुए हैं और यदि तुम इनसे चिपके रहो तथा मनुष्य की जीवनचर्या के लिये इनमें जो व्यवस्था है उसके अन्दर अपने आपको बन्द कर रखो, तो तुम उस आत्मा के सत्य को, जो समस्त नियमों और सिद्धान्तों से परे है, जो विशाल है और महत् है, स्वतंत्र है, नहीं जानोगे, नहीं जान सकोगे। जब तुम किसी धार्मिक मतवाद में, केवल उसी को संसार का एकमात्र सत्य मानते हुए, रुक जाते हो और उसके साथ अपने आपको बांध लेते हो, तो तुम अपने अन्तरात्मा की उन्नति और विस्तार को रोक देते हो।

परन्तु धर्म को यदि तुम दूसरे ही दृष्टिकोण से देखो, तो यह जरूरी नहीं है कि, सभी मनुष्यों के लिये यह सदा बाधकरूप ही हो। यदि तुम धर्म को ऐसा समझो कि, यह मानव जाति की उच्चतर प्रवृत्तियों में से है, यदि उसके अन्दर तुम मनुष्य की अभीप्साओं को देख सको, पर साथ ही इस बात को भूल न जाओ कि, मनुष्य की बनायी हुई सभी चीजें आखिर अपूर्ण ही हैं, तो यह तुम्हें आध्यात्मिक जीवन तक पहुँचने में सहायकरूप ही सिद्ध होगा।

धर्म को गम्भीर और सच्ची लगन के साथ स्वीकार कर तुम उसके अन्दर यह खोजने का प्रयास कर सकते हो कि, उसमें सत्य क्या है, उसके अन्दर कौनसी अभीप्सा छिपी पड़ी है, मनुष्य के मन और मनुष्य के संगठन द्वारा भगवान् की कौनसी दिव्य प्रेरणा को वहां परिवर्तित और विकृत होना पड़ा है, और फिर यदि तुम उपयुक्त बौद्धिक दृष्टिकोण को बनाये रखकर आगे बढ़ो, तो अपने वर्तमान विकृत रूप में भी धर्म तुम्हारे मार्ग में कुछ प्रकाश ही डालेगा और तुम्हारे आध्यात्मिक प्रयास में कुछ-न-कुछ सहायता ही करेगा।

सभी धर्मों में ऐसे लोग हमें सदा मिलते हैं, जिनमें भावपूर्ण होने की बड़ी भारी क्षमता होती है और जो सच्ची और ज्वलंत अभीप्सा से ओत-प्रोत होते हैं। परन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी बुद्धि बहुत ही सरल होती है और वे ज्ञान द्वारा भगवान् तक पहुँचने की आवश्यकता को अनुभव नहीं करते। जिनकी प्रकृति इस प्रकार की है, उनके लिये धर्म का एक उपयोग है, इतना ही नहीं बल्कि उनके लिये यह एक आवश्यक वस्तु है, कारण मन्दिरों के उत्सवों आदि जैसी बाह्य प्रथाओं के द्वारा यह उनकी आन्तरिक आध्यात्मिक अभीप्सा को एक प्रकार का सहारा और मदद पहुँचाता है।

सभी धर्मों में कुछ लोग ऐसे हैं, जिन्होंने अपने उच्च आध्यात्मिक जीवन का विकास किया है। परन्तु उनकी इस आध्यात्मिकता के विकास का कारण उनका धर्म नहीं है, बल्कि उन्होंने ही अपने धर्म में अपनी आध्यात्मिकता का समावेश किया है। ये लोग कहीं भी रहते, किसी भी सम्प्रदाय में पैदा हुए होते, वहां ही उनको उसी आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति हुई होती। वे जो कुछ भी हैं, उसको बनाया है, उनके अपने सामर्थ्य ने, उनकी अपनी अन्तःसत्ता की किसी शक्ति ने, न कि जिस धर्म को उन्होंने स्वीकार किया उस धर्म ने। अन्तरात्मा की यह शक्ति उनमें इतनी बलवान् है कि धर्म उनके लिये गुलामी या बंधन का कारण नहीं होता।

परन्तु चूंकि उनका मन बलवान, स्पष्ट और क्रियाशील नहीं होता, इसलिये उन्हें इस बात की आवश्यकता होती है कि वे ऐसा विश्वास करें कि, इस या उस संप्रदाय में ही निरपेक्ष सत्य है और बिना किसी विचलित कर देने वाली शंका या संदेह के वे अपने आपको उस पर न्यौछावर कर दें। सभी धर्मों में मैंने इस तरह के लोगों को पाया है, और इन लोगों की श्रद्धा को विचलित करना तो अपराध ही होगा। इस तरह के लोगों के लिये धर्म बाधक नहीं है। धर्म तो उनके लिये बाधक है, जिनमें आगे बढ़ने की क्षमता है, किन्तु वे लोग, जो और आगे नहीं बढ़ सकते, पर फिर भी आत्मा के मार्ग पर कुछ दूर तक चल सकते हैं, उनके लिये तो धर्म बहुधा सहायक ही होता है।

धर्म के कारण निकृष्टतम और उत्कृष्टतम, दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को ही प्रोत्साहन मिला है। एक ओर यदि इसके नाम पर अत्यन्त खूंखार युद्ध लड़े गये हैं और अत्यन्त भयंकर सितम ढाये गये हैं, तो दूसरी ओर इसने धर्म-कार्य के निमित्त परम शौर्य और आत्म-बलिदान के भावों का भी पोषण किया है। मनुष्य के मन ने अपनी उच्चतम कर्मण्यताओं द्वारा जो कुछ प्राप्त किया है, दर्शनशास्त्र के समान ही धर्म भी उसकी सीमा बांधता है। यदि तुम धर्म के बाह्य रूप के गुलाम हो जाओ, तो वह एक अंतराय है, एक बंधन है, किन्तु इसके अन्दर जो सार है, उसका उपयोग करना यदि तुम सीख जाओ तो आध्यात्मिक भूमिका में ऊपर जा पहुंचने को यह तुम्हारे लिये कूदने-के-तख़्ते का काम दे सकेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो कोई किसी विशेष मत में विश्वास रखता है अथवा जिस किसी ने सत्य के कुछ अंश को प्राप्त किया है, वह ऐसा सोचने लगता है कि सत्य को, समग्र और पूर्ण सत्य को, केवल उसी ने पाया है। मानव स्वभाव ही ऐसा है। मानव प्राणियों को अपने पैर पर खड़े होने के लिये और अपने मार्ग पर चलने के लिये मिथ्यात्व की मिलावट आवश्यक-सी प्रतीत होती है, और यदि सत्य का दर्शन करने के लिये उन्हें एकाएक चक्षु दे दिया जाय, तो वे उस बोझ के नीचे कुचल जायेंगे।

प्रत्येक बार जब-जब भागवत सत्य एवं भागवत शक्ति का कुछ अंश पृथ्वी पर आविर्भूत होने के लिये अवतरित होता है, तब-तब पार्थिव वातावरण में कुछ परिवर्तन होता है। वे सभी जो ग्रहणशील हैं, इस अवतरण के फल-स्वरूप किसी दिव्य प्रेरणा की ओर उन्मुख हो जाते हैं, किसी स्पर्श को प्राप्त करते हैं, उनकी दिव्य दृष्टि के खुल जाने का एक हलका सा प्रारम्भ हो जाता है। यदि उनमें इस बात की क्षमता हो कि जो कुछ वे प्राप्त करते हैं उसको यथार्थ रूप में धारण और अभिव्यक्त कर सकें, तो वे कहेंगे कि, "एक महान् शक्ति का अवतरण हुआ है, मैं उसके संस्पर्श में हूँ और उसके बारे में मैंने जो कुछ समझा है वह मैं तुमसे कहूँगा।" परन्तु अधिकांश लोग, उनके मन की अवस्था संकुचित होने के कारण ऐसा नहीं कर पाते। उन्हें एक प्रकाश मिलता है और वे उससे अभिभूत हो जाते हैं और सहसा चिल्ला उठते हैं कि, 'भागवत सत्य मेरे पास है, मैंने उसको समग्र और संपूर्ण रूप में पाया है।' आज इस पृथ्वी पर कम से कम दो दर्जन ईसामसीह हैं और शायद इतने ही बुद्ध भी हों। अकेले भारत में ही तुम जितने चाहो उतने अवतारों को पा सकते हो, छोटी छोटी विभूतियों का तो कहना ही क्या है? परन्तु इस प्रकार देखने से तो यह सब कुछ बेढंगा सा दिखाई पड़ेगा, लेकिन यदि तुम इसके पीछे जो सत्य है, उसको देखो तो आरम्भ में यह जितना मूर्खतापूर्ण दिखाई देता है, वैसा नहीं रहेगा, इसके अन्दर जो सत्य है वह यह है कि इस प्रकार मानव व्यक्तित्व को किसी दिव्य सत्ता, किसी दिव्य शक्ति का संस्पर्श मिलता है और वह अपनी शिक्षा और परम्परा के प्रभाव के कारण उसको बुद्ध, ईसामसीह या और किसी परिचित नाम से पुकारता है।

अब यह कहना बड़ा ही कठिन है कि, उस व्यक्ति के संस्पर्श में आने वाली सत्ता या शक्ति स्वयं बुद्ध या ईसामसीह ही थे, किन्तु यह भी कोई नहीं कह सकता कि इस सत्ता या शक्ति से प्राप्त होने वाली प्रेरणा का मूल वहां ही नहीं है जहां से ईसामसीह या बुद्ध को प्रेरणा मिलती थी। इन मानव-पात्रों में ऐसे ही किसी उद्गम से प्रेरणा आई हो, यह सर्वथा शक्य है। परन्तु यदि वे विनीत और सरल होते तो अपनी प्रेरणा के विषय में इतना ही कह कर संतोष मानते और इससे आगे नहीं बढ़ते, उन्होंने कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता कि, 'अमुक महान् आत्मा से मुझे यह प्रेरणा मिली है,' किन्तु इसकी जगह वे यह घोषणा कर बैठते हैं कि, 'मैं ही वह महान् आत्मा हूं।'

मैं एक ऐसे व्यक्ति को जानती थी, जो इस बात का दावा करता था कि वह खुद ईसामसीह और बुद्ध दोनों है। उसने कुछ प्राप्त किया था, किसी सत्य का अनुभव किया था, अपने में और दूसरों में भगवान् की उपस्थिति का दर्शन किया था। परन्तु उसके लिये यह अनुभव बहुत ही कड़ा था, उसमें इस सत्य को पचा सकने की ताकत नहीं थी। वह पागल-सा होगया और दूसरे ही दिन गलियों में यह कहता हुआ फिरने लगा कि उसके अन्दर ईसामसीह और बुद्ध दोनों एक हो गए हैं।......

सभी देशों का और सभी धर्मों का जन्म अनेकविध परम्पराओं और रूढ़ियों के समूह में से हुआ है। इन सभी में तुम्हें सन्त, शूरवीर, महान् और शक्तिशाली पुरुष मिलेंगे, साथ-ही-साथ क्षुद्र और दुष्ट पुरुष भी। तब तुम अनुभव करोगे कि, यह कहना हास्यास्पद है कि, "चूँकि मैं इस धर्म में पला हूं, इसलिये यही धर्म सच्चा है।"

......परन्तु जब कोई किसी धर्म की स्थापना करता है तो उसे बहुत से अनुयायियों की आवश्यकता होती है। किसी विशिष्ट धर्म की ताकत और महानता का नाप लोग उसके अनुयायियों की संख्या को देखकर ही लगाते हैं, यद्यपि असली महानता का चिह्न संख्या नहीं है। आध्यात्मिक सत्य की महानता का तो संख्या से कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

मेरा एक नवीन धर्म के अधिपति से, जो उस धर्म के संस्थापक का पुत्र था, परिचय था। मैंने उसको एक बार यह कहते हुए सुना कि, उस अमुक धर्म की स्थापना में तो इतने सौ वर्ष लगे हैं और उस अमुक धर्म की स्थापना में इतने सौ, किंतु अभी पचास वर्ष के अन्दर ही उसके धर्म के अनुयायी चालीस लाख से भी अधिक हो गये हैं। सो 'आप देखती हैं,' उसने कहा 'हमारा धर्म कितना महान् है।'

धर्मों की महानता भले ही उनके अनुयायियों की संख्या के परिमाण में समझी जाय, किंतु सत्य का यदि एक भी अनुयायी न हो तो भी वह सत्य ही रहेगा।

......तुम्हारा धर्म, तुम्हारा देश, तुम्हारा परिवार तो एक ही है—स्वयं भगवान्।

—'मातृवाणी' से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द-वाणी—

श्रीअरविन्द के सूत्र-वचन

५—बन्धन

सारा संसार स्वतन्त्रता के लिये तरसता है, फिर भी प्रत्येक प्राणी को अपने बन्धन प्रिय होते हैं। यह हमारे स्वभाव का पहला अयुक्ताभास और एक न सुलझाई जा सकने वाली गुत्थी है।

मनुष्य जन्म के बन्धनों से प्रेम करता है इसलिये वह उसके साथ आने वाले मृत्यु के बन्धनों में पकड़ा जाता है। इन सब बन्धनों में रहता हुआ वह अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता के लिये और अपनी पूर्णत्व-प्राप्ति की सिद्धि के लिये अभीप्सा करता है।

मनुष्य शक्ति से प्रेम करता है, इसलिये वह दुर्बलताओं के वशवर्ती होता है। क्योंकि संसार शक्ति की लहरों का समुद्र है जो लहरें आपस में टकराती हैं और लगातार एक दूसरी पर उमड़ उमड़ कर आती हैं। जो एक लहर के शिखर की सवारी करना चाहता है उसे दूसरी सैंकड़ों लहरों की थपेड़ों की मार से बेसुध होना ही होगा।

मनुष्य सुख से प्रेम करता है इसलिये उसे दुख-दर्द के जुए के नीचे आना पड़ता है। क्योंकि शुद्ध आनन्द जिसमें दुःख का मिश्रण नहीं केवल स्वतन्त्र और रागरहित आत्मा के लिये है। पर मनुष्य के अन्दर की जो वस्तु सुखों के पीछे भागती है वह दुःख उठाने वाली और आयास उत्पन्न करने वाली एक प्राणशक्ति है।

मनुष्य शांति का भूखा होता है पर साथ ही उसे व्याकुल मन और व्यथित हृदय के अनुभवों को लेने की तृष्णा भी लगी होती है। भोग उसके मन के लिये एक ज्वर है, शांति एक जड़ता और नीरसता है।

मनुष्य अपनी भौतिक सत्ता की सीमाओं से प्रेम करता है, पर साथ ही वह अपने अनन्त मन और अमर आत्मा की स्वतन्त्रता को भी लेना चाहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य के अन्दर कोई वस्तु ऐसी है जो इन विरोधों में एक अद्भुत आकर्षण पाती है। ये सब विरोध उसकी मानसिक सत्ता के लिये जीवन की कलामयता को बनाते हैं। वह वस्तु केवल अमृत ही नहीं है, किन्तु विष भी है जो उसकी रुचि और उत्सुकता को अपनी ओर आकृष्ट करती है।

× × ×

इन सब बातों में एक अभिप्राय है और इन सब विरोधों से निकलने का एक रास्ता है। प्रकृति के बनाये संयोग चाहे कितने ही पागलपन के लगते हों पर उसके प्रत्येक पागलपन में कोई नियम है और उसकी जटिल से जटिल उलझनों का भी कुछ न कुछ हल है।

मृत्यु एक प्रश्न है जिसे कि प्रकृति निरन्तर जीवन के सम्मुख रखती है और यह प्रकृति की जीवन को याददिहानी है कि उसने अभी तक अपने आप को पाया नहीं है।

यदि मृत्यु का घेरा न हो तो प्राणी सदा के लिये एक अपूर्ण जीवन की पद्धति में बंध जाय। मृत्यु के उसके पीछे लगे रहने से उसमें पूर्ण जीवन का भाव जागृत होता है और वह इसके साधनों और संभावनाओं को खोजता है।

निर्बलता भी वही परख और वही प्रश्न उन शक्तियों, सामर्थ्यों, वीर्यों और बड़प्पनों के आगे रखती है जिन पर कि हम गर्व करते हैं। शक्ति जीवन का खेल यह जीवन की मात्रा को प्रकट करती है और इसके आत्म-प्रकाशन के मूल्य का पता लगाती है। निर्बलता मृत्यु का खेल है जो जीवन का उसकी प्रत्येक गति में पीछा करती है और उसकी प्राप्त हुई शक्ति की सीमा के बांधने पर बल देती है।

पीड़ा और दुःख प्रकृति की ओर से आत्मा को इस बात की याद दिलाने के लिये आते हैं कि वह सुख जिसे वह भोगता है जीवन के असली आनन्द का एक हल्का सा संकेत-मात्र है। जीवन की प्रत्येक पीड़ा और यातना में उस आनन्दोल्लास की ज्वाला का रहस्य छिपा हुआ है जिसकी तुलना में हमारे बड़े से बड़े सुख धुँधली सी टिमटिमाहट मात्र हैं। यही रहस्य है जिसके कि कारण आत्मा का आकर्षण उन कठिन अग्नि-परीक्षाओं, यन्त्रणाओं और जीवन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दारुण अनुभवों के प्रति भी होता है जिनसे कि हमारा स्नायविक मन बचना चाहता है और घृणा करता है।

हमारी क्रियाशील सत्ता में और इसके उपकरणों में जो एक बेचैनी सी है और शीघ्र ही थक जाने की प्रवृत्ति है वह प्रकृति की ओर से इस बात की सूचना है कि शान्ति ही हमारा वास्तविक आधार है और उत्तेजना आत्मा की एक बीमारी है। निरी शान्ति में जो अफलोत्पादकता है और एकरसता है वह इस बात का संकेत है कि उस स्थिर आधार पर क्रियाओं के खेल को ही वह हम से चाहती है। परमात्मा सदैव खेलता है पर कभी परेशान नहीं होता।

शरीर की सीमायें एक सांचा है, इनमें आत्मा और मन को अपने आप को भरना होता है और फिर तोड़ कर अपेक्षाकृत अधिकाधिक विस्तृत सीमाओं में इन्हें फिर फिर ढालते जाना होता है जब तक कि इस सान्त और उनकी अपनी अनन्तता के बीच में समन्वय का कोई सूत्र नहीं मिल जाता।

स्वतन्त्रता जीवन का, सीमित न किये जा सकने वाली अपनी एकता में विद्यमान जीवन का नियम है और सब प्रकृति का गुप्त स्वामी है; अधीनता जीवन में उस प्रेम का नियम है जो अनेकता में विद्यमान अपने ही अन्य रूपों के खेल में सेवा करने के लिये अपने आपको स्वेच्छया अर्पित कर देता है।

जब स्वतन्त्रता बन्धनों में काम करती है और अधीनता प्रेम का नहीं किन्तु शक्ति का नियम बन जाती है तब यह होता है कि वस्तुओं का सत्य स्वभाव विकृत और विरूप हो जाता है और जीवन के साथ आत्मा के व्यवहारों में अनृत का आधिपत्य हो जाता है।

प्रकृति इस विकृतता व विरूपता से प्रारम्भ करती है और इससे हो सकने वाले सभी संयोगों के साथ क्रीड़ा करती रहती है जब तक कि इसे ठीक अवस्था में ले आने का समय नहीं हो जाता। इसके पश्चात् वह इन सब संयोगों के आन्तरिक तत्त्व को प्रेम और स्वतन्त्रता के एक नये और समृद्ध सामंजस्य में एकत्रित कर देती है।

स्वतन्त्रता सीमा-बन्धन-रहित एकता द्वारा आती है, क्योंकि यही हमारा वास्तविक स्वरूप है। इस एकता के तत्त्व को हम अपने अन्दर प्राप्त कर सकते हैं तथा इसकी लीला को भी अन्य सबके साथ एकता स्थापित करके अनुभव कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 7632-1

सकते हैं। यह द्विविध अनुभूति प्राप्त करना ही प्रकृति में आत्मा का समग्र प्रयोजन है।

उस असीम एकता को अपने अन्दर अनुभव करके फिर अपने आपको संसार के लिये समर्पण कर देना यही नितान्त स्वतन्त्रता और अखंड साम्राज्य है।

असीम होकर, हम मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं क्योंकि जीवन तब हमारी अमर सत्ता की एक लीला बन जाता है। हम दुर्बलताओं के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं क्योंकि हम वह समग्र समुद्र बन जाते हैं जो अपनी लहरों की असंख्य टक्करों में आनन्द लेता है। हम दुःख और दर्द के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं क्योंकि हम सीख जाते हैं कि हम अपनी सत्ता को जिससे भी हमारा वास्ता पड़ता है उस सब के साथ किस तरह समस्वर रक्खें और सब वस्तुओं में सत्ता के आनंद की क्रिया और प्रतिक्रिया को देखें। हम सीमाओं से मुक्त हो जाते हैं क्योंकि शरीर अनन्त मन का एक खिलौना बन जाता है और अमर आत्मा के संकल्प के अनुसार आचरण करना सीख जाता है। हम स्नायविक मन के और हृदय के ज्वर से मुक्त हो जाते हैं फिर भी हम जड़ता में बंधे नहीं होते।

अमरता, एकता और स्वतन्त्रता हमारे अन्दर हैं और वहां वे इस प्रतीक्षा हैं कि हम उन्हें खोज निकालें। लेकिन प्रेम के आनन्द के लिये **परमेश्वर** हमारे अन्दर फिर भी **अनेक** हो कर रहेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मों का आनन्द

(लेखक—श्रीअरविन्द)

तेरे कर्मों में सदा ये तीन तत्त्व विद्यमान हैं—स्वामी, कार्य-कर्ता और यन्त्र। इन्हें अपने अन्दर ठीक प्रकार से लक्षित कर लेना और ठीक प्रकार से अपने में धारण करना ही कर्मों का तथा कर्मों के आनन्द का रहस्य है।

(१) यन्त्र-भाव

पहले तू **परमेश्वर** का यन्त्र होना और उसे **स्वामी** स्वीकार करना सीख। यन्त्र वह बाह्य वस्तु है जिसे तू 'अपना आप' समझता है। यह है एक मनोमय ढांचा, एक प्राणमय सञ्चालक-शक्ति, एक स्थूल आकार का यन्त्र, एक वस्तु जो नानाविध कमानियों, चक्रदन्तों, शिकञ्जों तथा अन्य कल-पुर्जों से भरपूर है। क्या इस बाह्य स्वरूप को तू कार्य-कर्ता या स्वामी समझता है? यह कदापि कार्य-कर्ता या स्वामी नहीं हो सकता। तू तो पहले इस अपने आप को यन्त्र स्वीकार कर—नम्रता के साथ, फिर भी अभिमान के साथ, भक्तिरत भाव से, शरणागत भाव से और आनन्द-पूर्ण होकर अपने को उसका एक यन्त्र स्वीकार कर।

इससे बढ़ कर अभिमान और गौरव की बात और दूसरी क्या हो सकती है कि कोई अपने **स्वामी** का एक परिपूर्ण यन्त्र हो।

यन्त्र बन कर तू सब से पहले सर्वथा, बिल्कुल पूरी तरह से आज्ञा पालन करना सीख। उसने कहां वार करना है यह तलवार तो कभी निश्चय नहीं करती, तीर यह नहीं कहता कि उसे किस लक्ष्य पर छोड़ा जाय, यन्त्र की कमानियां यह आग्रह नहीं करतीं कि उनके कार्य द्वारा अमुक वस्तु निर्माण की जाय। ये बातें तो **प्रकृति-देवी** (जो कार्य-कर्ता है) के अभिप्राय और उसकी कार्य-प्रणाली के द्वारा निश्चित होती हैं। सचेतन यन्त्र-रूप हुआ हुआ मनुष्य अपनी प्रकृति के शुद्ध और सच्चे **स्वधर्म** को जितना जितना जान लेगा और उसका ही पालन करना सीख लेगा उतनी ही जल्दी उससे निर्मित होने वाला कार्य पूर्ण और निर्दोष होकर तैयार होगा। प्राणमय प्रेरक बल यदि अपनी पसन्दगी से काम करेगा, भौतिक और मानसिक उपकरण यदि विद्रोह करेंगे तो इससे केवल काम बिगड़ेगा ही।

तू अपने आपको **परमेश्वर** के निश्वसित में बहने दे और अन्धेरी में उड़ने वाले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूखे पत्ते की तरह हो जा। अपने आपको उसके हाथों में रख दे और योद्धा के हाथ की खड़कती हुई तलवार और धनुष से निकल निशाने की तरफ़ उड़ते हुए तीर की तरह हो जा। तेरा मन यन्त्र की कमानी की तरह और तेरी प्राणशक्ति ऐंजिन के डट्टे की तरह हरकत करें। तेरा कार्य ऐसा चले जैसे कूटता पीसता हुआ और जो अभीष्ट है वह आकार बनाता हुआ फौलादी यन्त्र ऊपर से पड़ता है। और तेरी वाणी ? मानो एरण के ऊपर बजते हथौड़े की धड़ाधड़, मानो कारखाने में काम करते ऐंजिन का आर्तक्रन्दन, मानो परमेश्वर की शक्ति को दिग्दिगन्तों में घोषित करते हुए नरसिंहे का निनाद। जिस किसी प्रकार का भी कार्य कर, पर एक यन्त्र के तौर पर कर और वह कार्य कर जो तेरे प्रकृति-धर्म के अनुसार स्वाभाविक हो और तेरे लिये नियत हो।

समरांगण की लीला में तलवार आनन्द पाती है, तीर अपनी उड़ान और सनसनाहट में मज़ा लेता है, पृथ्वी इस आकाश में अपना अन्धाधुन्ध चक्कर लगाते जाने में आनन्द-विभोर है, सूर्यनारायण अपने जगमगाते वैभव में तथा अपनी सनातन गति में सदा सम्राट् सदृश आनन्द का भोग कर रहा है। तो फिर, ओ परमेश्वर के आत्म-सचेतन यन्त्र ! तू भी अपने नियत कर्म करते जाने में मज़ा लूट।

तलवार अपने बनाए जाने की मांग नहीं करती, बन जाने पर वह उपयोगकर्ता को अपने किसी तरह उपयुक्त किये जाने में रुकावट नहीं पैदा करती, और जब वह टूट जाती है तो कोई विलाप नहीं करती। बनाए जाने में एक प्रकार का आनन्द है और उपयुक्त किये जाने में भी एक अन्य प्रकार का आनन्द है तथा म्यान में बन्द कर रख दिये जाने में और अन्त में तोड़कर फेंक दिये जाने में भी एक आनन्द है। उस सर्वत्र सम आनन्द को तू ढूँढ निकाल।

क्योंकि तूने यन्त्र को कार्यकर्ता और स्वामी समझने की भूल की है और क्योंकि तू अपनी इच्छा के अज्ञान के कारण अपनी निजी अवस्था की, अपने निजी लाभ की और अपनी निजी उपयोगिता की पसन्दगी करना चाहता है, इसीलिये तुझे दुःख और यातनाएं झेलनी होती हैं, तुझे बार बार लाल दहकती हुई भट्टी के नरक में तपना पड़ता है और बार बार ही नया जन्म लेना, नया आकार और स्वभाव धारण करना पड़ता है और यह तब तक चलता रहेगा जब तक कि तू अपना मनुष्योचित पाठ पूरा न कर लेगा।

और ये सब अपूर्णताएं हैं, क्योंकि ये तेरी अधूरी अपक्व प्रकृति में विद्यमान हैं। जब तू यन्त्र हो जाएगा तो देखेगा कि प्रकृतिदेवी कार्यकर्ता है, कार्य करने वाली है। और तू जानता है कि वह क्या कार्य कर रही है ? वह अपने इस अपक्व कच्चे मन, प्राण और स्थूल द्रव्य (अन्न) में से एक पूर्णतया सचेतन सत्ता को विकसित कर रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) कार्यकर्तृ-भाव

इसके बाद फिर दूसरा कदम उठा, अपने आपको कार्यकर्ता रूप से जान। तेरी प्रकृति कार्य करने वाली है यह समझ और तेरी निजी प्रकृति तथा विश्व-प्रकृति ये तू ही है, तेरा ही स्वरूप है यह समझ।

तेरा यह प्रकृतिस्थ स्वरूप न तो विशेषतया तेरा स्वकीय है और न तेरी निजी प्रकृति से परिमित है। तेरी प्रकृति ने ही यह सूर्य और सब सौर मण्डल, यह पृथ्वी और उसके सब प्राणी; तू तेरा और जो कुछ भी तू है और जो कुछ तू देखता है इस सबको रचा है। यह तेरा मित्र है और यही तेरा शत्रु है, तेरी माता है और तेरा भक्षण करने वाली है, तुझ से प्रेम करने वाली और तुझे पीड़ा पहुँचाने वाली है, तेरी आत्मा की बहिन है और बिलकुल अपरिचित पर-जन है, तेरा आनन्द है और यही तेरा शोक है, तेरा पाप है और यही तेरा पुण्य है, यह तेरा बल है और यही तेरी निर्बलता है, यह तेरा ज्ञान है और यही तेरा अज्ञान भी है। और फिर वह इनमें से कुछ भी नहीं है किन्तु कुछ ऐसी चीज़ है जिसे वर्णन करने का प्रयत्नमात्र या अधूरी छायामात्र उपर्युक्त बातें हैं। क्योंकि वह इन सबसे परे अपने दिव्य स्वरूप में मूलभूत आत्मज्ञान-रूप, अनन्त शक्ति-रूप और असंख्य गुण-रूप है।

परन्तु तुझ में प्रकृति की एक विशेष क्रिया, तेरी स्वकीय प्रकृति, तेरी एक वैयक्तिक शक्ति काम कर रही है। तू उसका अनुसरण कर और जैसे एक नदी बढ़ती जाती हुई समुद्र को जा पहुँचती है वैसे तू इसका अनुसरण करता हुआ इसके असीम आदिस्रोत और मूल स्थान को पहुँच जा।

इसलिये तू अपने शरीर को **स्थूल द्रव्य (अन्न-तत्त्व)** की एक गांठ समझ, अपने मन को विश्व-व्यापी **मन** में उठा एक बबूला तथा अपने जीवन को शाश्वत **प्राण**-सागर में पड़ी एक भंवर समझ। अपनी शक्ति को तू प्रत्येक अन्य प्राणी की शक्ति समझ, अपने ज्ञान को उस महाप्रकाश से आई हुई एक चमक समझ जो कि किसी मनुष्य का अपना नहीं है, अपने कर्मों को अपने लिये किये गए समझ। इस तरह तू अपने को पृथक् व्यक्ति समझने की ग़लती से छुटकारा पा जा।

जब यह हो जायगा तो तू अपनी व्यक्तिगत सत्ता के सत्य में, अपने वास्तविक व्यक्ति-स्वरूप में अपना मुक्त आनन्द प्राप्त करेगा; तब तुझे अपनी शक्ति में, अपने यश में, अपने सौन्दर्य में और अपने ज्ञान में आनन्द मिलेगा और इन सबके निषेध में भी तुझे आनन्द मिलेगा। क्योंकि यह सब कुछ उस **पुरुष** का नाटकीय वेष-धारण ही तो है, उस **आत्म-शिल्पी** की आत्ममूर्ति ही तो है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुझे अपने आपको परिमित क्यों रखना चाहिये ? तू घायल करने वाली तलवार में भी अपने आपको अनुभव कर, और आलिंगन करने वाले हाथ में भी, सूर्य की जाज्वल्यमान दीप्ति में और पृथ्वी के सतत नृत्य में, गरुड़ की लम्बी उड़ान में और कोयल के कोमल कूजित में, और उस सब में जो कुछ हो चुका है, उस सब में जो भी कुछ विद्यमान है और उस सब में जो कुछ आगे होना चाह रहा है तू अपने आपको अनुभव कर। क्योंकि तू अनन्त है और तेरे लिये यह सभी आनन्द सम्भव है।

कार्यकर्तृ-प्रकृति देवी जहाँ अपने कर्मों का आनन्द पाती है वहां वह अपने **प्रियतम** जिसके लिये वह काम करती है, का भी आनन्द पाती है। वह अपने आपको उसकी चेतना और उसकी शक्ति करके जानती है, उसका ज्ञान और उसका ज्ञान-निरोध, उसकी एकता और उसका आत्म-विभेद, उसकी अनन्तता और उसकी सत्ता का सान्त रूप करके जानती है। तू भी अपने आपको यह सब कुछ कर के जान और तू भी अपने **प्रियतम** का आनन्द पा।

ऐसे लोग हैं जो अपने को एक कारखाना या एक यंत्र या एक तैयार की हुई वस्तु कर के जानते हैं। पर वे **कार्य-कर्ता** को ही **स्वामी** समझ लेते हैं, यह भी भारी भूल है। जो लोग इस भूल में पड़ते हैं उनका प्रकृति की ऊंची, पवित्र और पूर्ण कार्यप्रणालियों तक पहुँचना असम्भव सा होता है।

यन्त्र एक पुरुष-विध आकृति में आयी हुई सीमित वस्तु है, कार्य-कर्ता एक पुरुष-जैसी प्रकृति से युक्त व्यापक वस्तु है। पर इन दोनों में से कोई भी **स्वामी** नहीं है क्योंकि इन दोनों में से कोई भी वास्तविक **पुरुष** नहीं है।

(३) स्वामि-भाव

अन्त में तू **स्वामी** को अपना आप कर के जान। किन्तु अपने उस दिव्य आत्मा को तू कोई आकार प्रदान मत कर, इसे किन्हीं गुणों द्वारा लक्षित करने का यत्न मत कर। अपनी सत्ता में **उसके** साथ एक हो जा, अपनी चेतना में **उसके** साथ संपर्क-युक्त हो, अपनी शक्ति में **उसका** आज्ञापालक रह, अपने आनन्द में **उसका** विषयी-भूत बन और **उस** से आश्लिष्ट हो, अपने प्राण, शरीर और मन में **उसे** सार्थक कर। तब तेरे अन्दर की उद्घाटित हुई एक चक्षु के सामने वह वास्तविक और एकमात्र **पुरुष** प्रकट हो जायगा जो तेरा अपना आप है तथा इसका निषेध-रूप है, जो और सब है तथा और सबसे अतिरिक्त है, तेरे कर्मों का **प्रेरयिता** और **भोक्ता** है, यन्त्र का और कार्य-कर्ता का **स्वामी** है। इस विश्व-नृत्य में धूमधाम के साथ रंगरलियां करने वाला **विलासी** तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने नाचते हुए पैरों से सब जगत् को रौंद डालने वाला काल है, पर साथ ही तेरे आत्मा की शान्त और भीतरी कोठरी में चुप, मौन होकर अकेला तेरे साथ बैठने वाला भी वही है।

स्वामी का आनन्द प्राप्त हो गया तो फिर तेरे लिये कोई और वस्तु विजय करने की नहीं रही। क्योंकि **वह तुझे अपने आपको** ही दे देगा तथा सब वस्तुएँ देगा और सब प्राणी जो कुछ भी प्राप्त करते हैं, रखते हैं, करते हैं, भोगते हैं उस सबके तेरे निजी उचित हिस्से को देगा; और वह तुझे वह वस्तु भी देगा जिसके कि हिस्से नहीं किये जा सकते।

तू अपनी सत्ता में अपने आप को तथा अन्य सब को समा लेगा और तू वह हो जायगा जो न तो तू है और न अन्य सब। कर्मों की यह है पूर्णता-प्राप्ति और पराकाष्ठा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवर्तन की युग-संधियां

(ले०—श्री नलिनीकान्तजी)

आजकल प्रायः सब लोग इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि प्रकृति के अन्दर विवर्तन अर्थात् क्रम-विकास हो रहा है। यह विवर्तन या क्रम-विकास है क्या चीज? थोड़े में और मोटे तौर पर इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि आजकल सृष्टि का जो रूप हम देख रहे हैं यह सदा से ही ऐसा नहीं है; अगर हम केवल पृथ्वी को ही देखें तो हम जितने ही अतीत की ओर जायेंगे उतना ही हम देखेंगे कि पृथ्वी का रूप, उसके निवासियों का आकार-प्रकार, क्रमशः बदलता जा रहा है; आज अवश्य ही हम पृथ्वी को मनुष्यों से भरा हुआ देख रहे हैं—अर्थात् कोटि-कोटि मनुष्य पृथ्वी पर आज वर्तमान हैं—परन्तु एक दिन ऐसा भी था—संभवतः कुछ लाख वर्ष पहले—जब मनुष्य-नामधारी किसी जीव का अस्तित्व ही नहीं था—थे अधिक से अधिक बनमानुस और नाना प्रकार के जंगली जीव-जंतु। और भी अतीत की ओर जायं तो देखेंगे कि जीव-जंतु के अन्दर भी हाथी, घोड़ा, सिंह, बाघ आदि कोई नहीं थे, आकाश में पांख वाले जीव तो कुछ-कुछ दिखाई देते थे, किन्तु माटी के ऊपर बड़े-बड़े विशाल-काय सरीसृप (पेट या छोटे-छोटे पैरों के बल चलने वाले जीव) मात्र थे। उससे भी पूर्व स्थल-भाग ही कम दिखाई देता था, स्थल के जीव बहुत ही कम थे – उस समय दिखाई देते थे सभी जलज जीव, मत्स्य, कूर्म या उनके भी पूर्वपुरुष। और भी अधिक अतीत की ओर जाने पर जीवों का कोई चिह्न भी नहीं मिलता, उस समय पृथ्वी केवल पेड़-पौदों, लता-गुल्मों से भरी दिखाई देती थी। उससे भी पूर्व पेड़-पौदे अर्थात् हरी सजीव चीजें बिलकुल ही नहीं थीं; था केवल जड़ पदार्थ; स्थूल भौतिक वस्तुओं का समारोह, क्रिया-प्रतिक्रिया।

इस काल-प्रवाह में एक स्तर के बाद दूसरे स्तर का, एक श्रेणी के बाद दूसरी श्रेणी का जो एक क्रमिक आविर्भाव हुआ है उसमें तीन सीमाएँ या संधि-स्थल बहुत ही स्पष्ट दिखाई देते हैं—एक मनुष्य और पशु के बीच, दूसरा पशु या जीव और उद्भिद् के बीच और तीसरा उद्भिद् और जड़ पदार्थ के बीच। विवर्तनवाद सबसे पहिले यह कहता है कि जड़ के बाद उद्भिद् उत्पन्न हुआ है, उद्भिद् के बाद जीव का जन्म हुआ है, नीचे के स्तर के जीवों या प्राणियों के बाद मनुष्य आविर्भूत हुआ है। इस सिद्धान्त के विषय में शायद अब कोई संदेह नहीं उठ सकता। परन्तु इसके अलावा विवर्तनवाद यह भी कहता है कि केवल जड़ के 'बाद' ही नहीं बल्कि जड़ 'से' ही प्राण या उद्भिद् उत्पन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है, उद्‌भिद् के बाद नहीं, उद्‌भिज्ज-सत्ता से ही जीव प्रकट हुआ है और इतर जीवों या जानवरों के केवल बाद नहीं बल्कि उन्हीं के एक पूर्वपुरुष के पेट से सर्व-प्रथम मनुष्य भूमिष्ठ हुआ है। इस दूसरे सिद्धान्त के विषय में सब लोग सब समय पूरी-पूरी सम्मति नहीं दे सकते और इसके लिये कारण भी है। विवर्तन-धारा को साधारण तौर पर पूरा-पूरा ग्रहण करने पर यह बात हमारे सामनें उपस्थित होती है कि जड़ परिवर्तित होते-होते एक समय प्राण में परिणत हुआ—आक्सिजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कार्बन इत्यादि जड़ उपकरणों और उपादानों के अन्दर से उस समय शैवालजातीय आदि-उद्‌भिद् उत्पन्न हुआ; उद्‌भिद् (अवश्य ही आजकल का पूर्ण परिणत वट, अश्वत्थ आदि नहीं, उद्‌भिद् का कोई आदि-पुरुष, उसका कई-युग-व्यापी भ्रूणरूप) परिवर्तित होते-होते प्राणी में परिणत हुआ, इसी तरह फिर प्राणी या पशु भी परिवर्तित होते-होते मनुष्य में परिणत हुआ। अतएव अब प्रश्न यह है कि परिवर्तन की कोई ऐसी निरवच्छिन्न धारावाहिता वास्तव में दिखाई देती है या नहीं। मोटे तौर पर, संभव है, दिखाई देती हो, परन्तु खूब बारीकी से देखने पर नहीं दिखाई देती। वैज्ञानिक लोग ही यह कहते हैं कि परिवर्तन की धारा में, स्तर-स्तर पर, सचमुच में व्यवधान रह गया है। आरंभ में लोग कहा करते थे कि जिन संधियों या संयोगों का निदर्शन नहीं मिलता वे काल के प्रकोप से नष्ट हो गये हैं अथवा हो सकता है कि काफ़ी खोज करने के बाद भविष्य में वे मिल भी जायं, परन्तु यह अंतिम आशा तो आज तक पूरी न हो सकी और पहले मत के विषय में भी यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि ठीक-ठीक संधिस्थल ही आख़िर किस नियम से नष्ट हो गये? अवश्य ही बहुत-बहुत अन्वेषण-विश्लेषण-परीक्षण के बाद 'विलुप्त श्रृंखला' (missing link) के आस पास तक कुछ आविष्कार हुआ है परन्तु ठीक-ठीक चीज़ अभी तक नहीं मिल सकी है।

प्रश्न यह है कि क्या जड़ और उद्‌भिद् के बीच कोई ऐसी चीज़ है जो न पूर्णरूप से जड़ ही हो न उद्‌भिद् ही, जो कुछ तो जड़ हो और कुछ उद्‌भिद्? ऐसी कोई चीज़ दिखाई तो नहीं देती। जड़ में जब प्राण आविर्भूत हुआ तब दोनों के बीच एक व्यवधान उपस्थित हो गया। दोनों के बीच कोई क्रमिक सोपान नहीं दिखाई देता। उसी तरह जब उद्‌भिद् भी क्रमशः प्राणी के स्तर में उठा तब क्या कोई ऐसी वस्तु उत्पन्न हुई जिसमें उद्‌भिद् और प्राणी के धर्म एक साथ दिखाई देते हों, यहां भी वही एक उत्तर हमें मिलता है। प्राणी और मनुष्य के मध्यवर्ती जीव के विषय में भी हमारी समझ में दूसरा कोई उत्तर नहीं।

मनुष्य का जो सबसे पुराना नमूना अब तक मिला है और सबसे अन्त का जो बनमानुस मिला है उन दोनों के बीच कुछ सादृश्य ज़रूर है—शारीरिक गठन की दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ; परन्तु तो भी मनुष्य मनुष्य है और बनमानुस बनमानुस, भेद तो रह ही गया है। जिस वा-नरसे नर उत्पन्न हुआ है उसमें बुद्धि-शक्ति का अभाव तो है ही नहीं बल्कि बुद्धि-चातुरी में वह मनुष्य को दो-एक क्षेत्रों में हरा भी सकता है, फिर भी उसमें एक चीज़ नहीं है जिसके कारण वह पशु है और वही चीज़ होने के कारण मनुष्य मनुष्य है (उस चीज़ का यहां पर उल्लेख किया जा सकता है, वह है आत्मसंवित्—स्वयं अपने-आपको देखना)। इसी कारण वैज्ञानिकों ने बाध्य होकर मनुष्य को मूलतः एक पृथक् श्रेणी के अन्तर्गत रखा है (homosapiens, सज्ञान मनुष्य)—उसके समीप की जो श्रेणी है उसका नमूना है 'नेयाडारटल' मनुष्य ; उसकी भी गिनती बनमानुस में ही है।

यहां पर एक और कौतूहलजनक बात है। वैज्ञानिकों को यह पता नहीं लग सका है कि किस विशेष बनमानुस से मनुष्य की उत्पत्ति हुई है। उनका कहना है कि एक ही वंश की धारा में, पिता-पुत्रानुक्रम की तरह, एक सीधी रेखा में, विवर्तन नहीं चलता। एक नये प्राणी का जन्म होना मानो एक निर्वाचन-प्रक्रिया है ; मूल एक श्रेणी के बीज से अनेक रूपभेद दिखायी देते हैं, फिर उनके भीतर से कोई एक नये का जन्मदाता होता है। परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जो रूपभेद सबसे अधिक दूर होता है, जिसके साथ सादृश्य सबसे कम होता है ठीक उसीसे नये का जन्म होता है। बहुत से वैज्ञानिकों का यह कहना है कि मनुष्य के विषय में ठीक यही बात घटी है। अतएव यहां पशु और मनुष्य के संधि-स्थल में अन्तर बहुत अधिक पड़ गया है ; प्रकृति वास्तव में यहां पर छलांग मारकर आगे निकल गयी है।

इसके बाद अब इससे पूर्व के पशु या जीव और उद्भिद् के सन्धिस्थल को देखा जाय। पशु-स्तर का सबसे नीचे का प्राणी, जीव का सर्वप्रथम प्रकाश है जीवाणु या रोग-बीजाणु की जाति की एक चीज—उद्भिज्जाणु के साथ उसका पार्थक्य है ही। एक आदि-जीव या उद्भिद् के अत्यन्त समीप की चीज़ है 'स्पंज'। बहुत दिनों तक 'स्पंज' को लोग उद्भिद् ही समझा करते थे। परन्तु और भी ध्यानपूर्वक परीक्षा करने के बाद मालूम हुआ है कि 'स्पंज' प्राणी ही है, उद्भिद् नहीं, उसका अंडा होता है, बच्चा भी होता है (larva), और यह सब प्राणी की ही विशेषता है।❀ हमारे देश का सांप का छाता (जिसे कालिदास ने 'शिलीन्ध्र' कहा है) 'स्पंज' की तरह ही मालूम होता है, शायद वह उसी जाति का हो, परन्तु वह उद्भिद् है। उद्भिद् के अन्त और प्राणी के आरम्भ—इन दो के बीच बहुत कुछ सादृश्य, ऐक्य होने पर भी एक व्यवधान रह ही गया है।

❀ इस विषय में यहां पर विशद विवरण देना संभव नहीं और इस विषय में मत भी अनेक हैं। तब हमारा प्रमाण है जे० ए० थामसन का 'बायोलाजी फार एवरी मैन' (Biology for every man)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब हम यदि और भी नीचे जाकर जड़ और प्राण के संयोग-स्थल को देखें तो यहां हमें वह वैषम्य और अनैक्य और भी अधिक स्पष्ट दिखायी देगा। प्राण का प्रथम रूप है जैवसार (protoplasm); और जड़, स्थूलभूत उस ओर बदलते-बदलते अन्त में जिस रूप को प्राप्त हुआ है वह है लेह (colloid) और श्वेतसार (albumenoid)। परन्तु लेह या श्वेतसार कब और कैसे जैवसार में रूपांतरित हो गया, इसका इतिहास बिलकुल ही नहीं पाया जाता।

इसीलिये आजकल का सिद्धान्त यह है कि साधारणतः प्रकृति एक-एक पग बढ़ाती हुई ही चलती सी मालूम होती है, परन्तु बीच-बीच में छलांगें भी मारती है। छोटी मोटी छलांगें तो प्रायः ही लिया करती है और इसी के फल से एक श्रेणी या जाति के अन्दर नये प्रकार की विशेष-विशेष विचित्रताएं उत्पन्न होती हैं। यहाँ तक कि इस प्रकार का भी मतवाद प्रचलित हुआ है कि प्रकृति की गति एक सीधी रेखा में बिलकुल ही नहीं चलती, पग-पग पर छलांग मारना या कूद-कूद कर चलना ही प्रकृति का स्वाभाविक स्वधर्म है। तब इन सब में तीन (या चार) छलांगें ख़ूब बड़ी-बड़ी हुई हैं ऐसा मानना होगा जिनके फलस्वरूप केवल जाति का परिवर्तन नहीं हुआ है बल्कि एक-एक जगत् का रूपान्तर हुआ है, विवर्तन-धारा एक स्तर से दूसरे स्तर में ऊपर उठ गयी है। इस प्रकार जड़ के मूल गठन और गति के विषय में आजकल जो कण-समाहार-सिद्धान्त (atom theory) की प्रतिष्ठा हुई है उसी को प्राणशक्ति के मूल गठन और गति के विषय में भी लागू किया जाता है। खैर, जो हो, विवर्तन का आकस्मिक परिवर्तन और विपर्यय सर्वप्रथम उस समय दिखायी दिया जब जड़ प्राणवस्तु में परिणत हुआ, उसके बाद दूसरा विपर्यय उस समय घटित हुआ जब प्राणवस्तु मानसवस्तु में परिवर्तित हो गयी और तीसरा विपर्यय उस समय घटा जब मन बुद्धि में बदल गया—इस तरह पहले था धातु-पत्थर, उसके बाद हुआ पेड़-पौदा, उसके बाद जीव-जन्तु और सब से अन्त में उत्पन्न हुआ मनुष्य।

प्रकृति के अन्दर जो यह परिवर्तन हुआ है इसे शायद आज कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। तब यह समस्या रह ही जाती है कि आखिर किस उपाय से, किस पद्धति से यह परिवर्तन साधित हुआ है। विवर्तन के, कम से कम जैव विवर्तन के कारण या प्रेरणा के विषय में एक सिद्धान्त विशेषरूप से प्रस्थापित किया गया है और उसे नाम दिया गया है 'योग्यतम का उद्वर्तन'। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि के अन्दर एक लड़ाई चल रही है—प्रत्येक सत्ता को प्रत्येक सत्ता के साथ; विशेष कर अपनी स्वजातीय सत्ता के साथ लड़ाई करनी पड़ती है। अपने से सम्बन्ध रखने वाले—जैसे सर्दी-गर्मी, जलवायु, आहार-विहार आदि—प्रयोजनों और मांगों को पूरी करने के उपयुक्त देहगत और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवस्थागत व्यवस्था जिस पात्र में जितनी सुन्दर होती है और इन सब विषयों में अपने लिये यथायोग्य और यथेष्ट अधिकार प्राप्त करने के लिये दूसरों के साथ अवश्यंभावी प्रतियोगिता में जो जितना उत्तम अस्त्र-शस्त्र (नख, दांत, डंक, छलचातुरी इत्यादि) प्रयोग कर सकता है, वह और उसके वंशज जो इस अनुकूलता की रक्षा कर पाते हैं या उसे बढ़ा पाते हैं, वे ही इस जीवन-संग्राम में विजयी होकर बचे रहते हैं। परन्तु इस बात में संदेह है कि विवर्तन-पद्धति का यह सिद्धान्त विवर्तन के सारे रहस्य को, उसके अन्दर निहित सत्य को व्यक्त करता है या नहीं। सर्वप्रथम, जीवन में संग्राम तो है पर क्या इसी कारण संग्राम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है? सम्मिलन, साहचर्य भी तो समान मात्रा में ही दिखाई देता है। निम्नतर जीव-सृष्टि के स्तर में भी आजकल वैज्ञानिकों ने इस सत्य के अद्भुत-अद्भुत उदाहरण दिखलाये हैं। इसके अतिरिक्त क्या केवल 'योग्यतम' का ही 'उद्वर्तन' होता है, क्या सबसे बलिष्ठ, योग्य प्राणी ही बचा रहता है? साधारण दृष्टि से क्या हम कितने ही अयोग्यों को बचा हुआ नहीं देखते? वैज्ञानिक विवर्तनवाद की 'योग्यता' का अर्थ तो शारीरिक योग्यता, जीवन धारण करने की योग्यता ही न है? कहा जाता है कि विवर्तन का अन्तिम स्तर है मनुष्य। तो क्या मनुष्य अपने आपको 'योग्यतम' सिद्ध कर सका है? क्या वह केवल इसी कारण 'योग्यतम' हो सका है कि वह लड़ाई करने में सबसे अधिक बली और चतुर है? क्या वह सभी नख-दंत-डंक वाले जीवों को छल-बल-कौशल से हराकर, भगाकर अपना एकछत्र राज्य स्थापित कर सका है?

इसी कारण अनेक विचारकों का मत यह है कि मनुष्य की तथाकथित योग्यता उसकी आत्मसंतुष्टि के लिये एक धारणा या कल्पना मात्र है। बहुत से इतर प्राणियों में पारिपार्श्विक अवस्था के साथ सामंजस्य बनाये रखने की दृष्टि से, अन्य प्रतियोगियों के साथ संग्राम करने की दृष्टि से जितनी योग्यता है उतनी मनुष्य में है या नहीं इसमें सन्देह है। बहुतेरे कीड़े, बहुत से उद्भिद्—पृथ्वी पर सजीव सत्ता के आविर्भूत होने के साथ-साथ सुदूर अतीत में जो उत्पन्न हुए थे वे (अर्थात् उनके वंशधर)—आजतक प्रायः अपरिणत, अपरिवर्तित आदि-रूप में ही विद्यमान हैं, तो क्या मनुष्य के साथ-साथ वे भी 'योग्यतम' कहे जायंगे? वास्तव में बात ठीक ऐसी नहीं है। विवर्तन का स्वरूप देखकर अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि सृष्टि के अन्दर एक क्रमिक ऊर्ध्वगामी गति चल रही है—वह योग्यता के हिसाब से नहीं चल रही है, बल्कि वह नवीनतर, उच्चतर, महत्तर तत्त्वों का आश्रय करके पार्थिव क्षेत्र में नवीनतर, उच्चतर, महत्तर संगठन करती हुई अग्रसर हो रही है। यह ठीक ऐसा ही है मानो एक सोपानावलि या सीढ़ी धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठी जा रही हो, परन्तु वह नीचे की सीढ़ी पर खड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होकर, उसी पर अवलम्बित होकर आगे बढ़ रही हो। इस तरह ऊपर उठने में एक नवीनतर, उच्चतर क्रम या पदवी तो दिखायी दी, प्रतिष्ठित हुई, किन्तु साथ ही उसने अपने अन्दर नीचे के क्रमों या पदवियों को भी ग्रहण किया, उन्हें एक परिवर्तित रूप प्रदान किया, उनका त्याग नहीं किया। जड़ से प्राण निकला, इस प्राणतत्त्व के सहारे प्राणी नामक एक नया संगठन हुआ, किन्तु वहां जड़ आधाररूप से विद्यमान है। जड़ के अन्दर प्राण अनुस्यूत है, जड़ ने वहां आकर एक नया धर्म, एक नई क्रिया पाई है। उसी तरह जब मन (या मन-बुद्धि) प्रस्फुटित हुआ तब उसके अन्दर प्राण और जड़ उन्नीत हुए, उन्होंने और भी एक नया ही धर्म, नई क्रिया प्राप्त की। इसी उदयक्रम ने मनुष्य नामक जीव को गठित किया।

इस तरह हमने देख लिया कि विवर्तन का यथार्थ उद्देश्य योग्यतम का उद्वर्तन नहीं है—बल्कि उसका उद्देश्य है चेतना का विकास, चेतना का उच्च से उच्चतर संगठन। जड़ से लेकर मनुष्य तक जो एक क्रम परम्परा चली आई है उसके भीतर का सूत्र है यही चेतना। जड़ के अन्दर चेतना सुप्त है, प्राण की प्रथम अवस्था में—उद्भिद् में वह स्वप्नस्थ है, प्राण की दूसरी अवस्था में, जहां प्राण ने मन का स्पर्श पाया है अर्थात् प्राणी के अन्दर वह अर्द्धजागृत है, और मन-बुद्धि वाले मनुष्य की चेतना पूर्णजागृत है। बुद्धि, मन, प्राण और जड़ ये चारों चेतना की चतुर्विध अवस्थाएँ हैं, जैसे कठिन, तरल और धूमिल (और अंत में वैद्युतिक) इत्यादि जल की विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

हमने ऊपर जो विवर्तन के विभिन्न संधिस्थलों में एक व्यवधान या संयोग का अभाव होने की बात कही है उसका अर्थ या व्याख्या भी अब हमें मिल-सकेगी। बर्फ जब पानी में परिणत होती है तब दोनों के बीच कोई पुल नहीं होता, बर्फ नर्म होते-होते क्रमशः जल में नहीं परिणत होती; जो चीज कठिन होती है वह हठात् तरल बन जाती है। उसी तरह जब जल भाप बनता है तब भी हम एक आकस्मिक परिवर्तन देखते हैं, जल गर्म होते-होते एक ऐसी जगह या अवस्था में पहुंच जाता है (उस समय भी वह जल ही होता है) जहां वह हठात् भाप का रूप धारण कर लेता है, दोनों अवस्थाओं के बीच की कोई उभयनिष्ठ अवस्था नहीं होती। ठीक उसी तरह जड़ और उद्भिद् के बीच, उद्भिद् और प्राणी के बीच, प्राणी और मनुष्य के बीच एक-एक छेद, अन्तर रह गया है, प्रत्येक समय आकस्मिक परिवर्तन ही हुआ है।

आरम्भ में केवल जड़ था। जड़ के भीतर एक प्रकार की तापन या पाचन-क्रिया चल रही थी, और धीरे-धीरे उसकी तीव्रता और तीक्ष्णता एक समय एक ऐसी विशेष मात्रा में जा पहुँची जहां उसके भीतर से प्राण-स्पन्दन निकल पड़ा। प्राण-शक्ति या जीवनी-शक्ति जड़ के अन्दर ही प्रच्छन्न, लीन, सुप्त थी। एक प्रकार के मंथन, ऊर्ध्वगमन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के फल-स्वरूप वह प्रकट हो गई। तल-भाग से, नीचे से सुप्त चेतना के दबाव से जड़ का कोष फट पड़ा और प्राण मुक्त हो गया। चेतना ने अपने जड़मय रूप से निष्कृति पाकर सर्वप्रथम प्राणमय रूप धारण किया। जड़ के अन्दर निहित चेतना के दबाव से प्राण-शक्ति चारों ओर फैलने, बहने लगी और सैकड़ों, हजारों रूप ग्रहण करने लगी और स्थूल में उसका फल हुआ उद्भिद्-जगत्। उद्भिद् के अन्दर प्राणमय जड़ सक्रिय हुआ है; अपने आपको उसने नये-नये आकारों, नई-नई धाराओं में सृष्ट, गठित किया है। पीछे में जो अन्तःस्थ चेतना का दबाव है वह जैसे फैलने की प्रवृत्ति देता है वैसे ही ऊपर उठने के लिये भी प्रेरणा करता है। उसी ऊर्ध्वमुखी दबाव के फल से प्राणमय जड़ से एक दूसरी ही चेतना की मूर्ति उत्पन्न हुई; प्राणकोष के फट जाने से बाहर निकल पड़ी संज्ञा, संवेदना—अब हुआ प्राणी का आविर्भाव। इसी संज्ञा, संवेदना या आदि-मन का सहारा लेकर प्राण और जड़ ने एक नया रूप प्राप्त किया। इस आदि-मन में भी फिर परिमार्जन और परिवृद्धि की क्रिया चलने लगी—पीछे वर्तमान चेतना का दबाव निरंतर क्रिया करता रहता है; वह कभी स्थिर नहीं होता, स्थिर होने भी नहीं देता—; आदि-मन से फिर उत्पन्न हुई बुद्धि, आत्म-संवित्, उसके संस्पर्श से मन, प्राण और शरीर को जो स्वरूप प्राप्त हुआ उसी का नाम हुआ मनुष्य।

और भी प्रश्न अभी है, और भी रहस्य अभी बाकी है। यह कहा गया है कि चेतना सत्ता के सबसे नीचे के तल में सुप्त, गुप्त, लुप्तप्राय अवस्था में है, वहां से वह धीरे-धीरे, क्रमशः जागती हुई ऊपर उठती है और फिर आत्मोन्मीलन, आत्मप्रकाश प्रत्येक स्तर में अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है। अब प्रश्न यह है कि यह चेतना आयी कहां से ? जगकर ऊपर उठने की प्रेरणा ही उसने कैसे पायी ? रहस्य इसका यह है कि चेतना सर्वदा ही एक ऊपर की चीज़ है, उसका स्वरूप एक परमपद में वर्तमान है; उसी परमपद से, उसी ऊपर के स्तर से वह क्रमशः नीचे उतरी है, अपने को ढकती हुई आयी है, और अन्त में पूर्णरूप से अपने को ढक दिया है जहां उसी का नाम पड़ा है जड़। तब यह बात स्पष्ट हो गयी कि विवर्तन जिस क्रम से ऊपर की ओर उठ रहा है ठीक उसी क्रम से उससे पहले एक निवर्तन या अवतरण हो चुका है। चेतना की स्वाभाविक अवस्था या उसका निजी स्वरूप है पूर्णतम चेतना, जिसे हम अति-चेतना कह सकते हैं (क्योंकि वह मनुष्य की साधारण चेतना से परे है)। वह चेतना निम्नाभिमुखी हुई है—एक विचित्र बहुमुखी सृष्टि के लिये—जिसे ऋग्वेद ने 'नीचीनाः स्युः' या गीता और उपनिषद् ने 'अवाक्शाखं' कहा है। इसी निम्नगामी पथ से चेतना अपने-आपको खंडित, स्वल्प, आच्छन्न करती हुई नीचे आई है—अति-चेतना एक समय में मानस-तत्त्व में परिणत हुई और तब मनोमय जगत् की सृष्टि हुई; फिर चेतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोमय तत्त्व से और भी अधिक आत्म-विस्मृत रजो-तामस हो गई और तब वह प्राणतत्त्व में परिणत हुई और उसने प्राणमय जगत् की सृष्टि की; उसके बाद चेतना ने जहां अपने-आपको एकदम खो दिया, वह पूर्ण तामस बन गई वहां जड़ का—जड़तत्त्व का और जड़ जगत् का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार चेतना के 'निवर्तन' की, क्रम-संकोचन की धारा नीचे उतरी है; इसके बाद विवर्तन की, क्रम-विकास की धारा आरम्भ हुई है। चूंकि चेतना इस प्रकार ऊपर से नीचे उतर आई है इसी कारण उसे फिर नीचे से ऊपर उठना पड़ रहा है।

ऊपर से जो चेतना नीचे उतर आयी है उसकी धारा प्रच्छन्न है, वह मानो पीछे की ओर है, एक अन्तर्लोक में है। जड़ जगत् जब प्रकट हुआ और जब वह विवर्तित होने लगा तब उसका लक्ष्य और प्रयास यह हुआ कि वह पीछे जो तत्त्व प्रच्छन्न है उसे क्रमशः बाहर जागृत करे, प्रकट करे—पहले जड़ के अन्दर, जड़ को प्रतिष्ठित करे, फिर उसके बाद उसी ज़ड़ को मूल बुनियाद बनाकर एक के बाद एक तत्त्व को बाहर प्रकट करे, उसी जड़ के ऊपर प्रतिष्ठित और सज्जित करे। दूसरे शब्दों में निवर्तन के द्वारा पृथक्-पृथक् तत्त्वों का अवरोहण हुआ था, और विवर्तन की पद्धति है उन्हीं-उन्हीं तत्त्वों में, विपरीत दिशा से, पुनः आरोहण करना, अथवा उससे भी अधिक अच्छा यह कहना होगा कि जिन-जिन तत्त्वों में आरोहण किया गया हो उन सबमें एक साथ अधिष्ठित रहना और ऊर्ध्वतम के धर्म में सभी निम्नतर तत्त्वों को नियंत्रित और रूपान्तरित करना।

निवर्तन की धारा में जिन सब स्तरों या तत्त्वों की सृष्टि हुई थी उन सब की क्रिया को विवर्तन की धारा में अब हम समझ सकते हैं। नीचे की चेतना के दबाव से जड़ ऊर्ध्वमुखी हुआ प्राण की ओर (अन्य किसी ओर नहीं), क्योंकि प्राण-तत्त्व पहले से ही जड़ से ऊपर विद्यमान है और जड़ के अन्दर उतर कर प्रकट होने की चेष्टा कर रहा है। उसी तरह जब प्राण बाहर आकर उतर आया, जड़ को उसने अधिकृत किया तब उसकी गति हुई मन की ओर जाने की, क्योंकि प्राण के ऊपर मन पहले से ही विद्यमान है और मन भी नीचे उतरना और प्रकट होना चाहता है। अतएव विवर्तनगत रूपान्तर की प्रणाली यह हुई कि एक ओर नीचे के दबाव से, ऊर्ध्वगति के फल-स्वरूप चीज़ बदलती जा रही है और दूसरी ओर उस उस समय एक पूर्ण रूपान्तर, एक विपर्यय घटित होता जा रहा है जिस जिस समय ऊपर से एक तत्त्व उतरकर उस ऊर्ध्वोन्मुख वस्तु को आश्रय बनाता है। यहां पर यह ध्यान रखने की बात है कि नीचे के दबाव से वस्तु के अन्दर जो परिवर्तन आता है वह धीरे-धीरे होता है, धारावाहिक रूप से होता है; किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस क्षण ऊपर से कुछ उतर आता है उस क्षण धारावाहिकता भंग हो जाती है, उस समय जो कुछ होता है उसी को वैज्ञानिक लोग कहते हैं 'प्रकृति की छलांग'।

विवर्तन की युग-संधियों में जो एक व्यवधान दिखायी देता है वह अनिवार्य और स्वाभाविक है। क्योंकि विवर्तन के क्रम-परिवर्तन के अन्दर एक अवतरण भी हुआ करता है, इसी कारण तब परिवर्त्तन हठात् होता है। प्रकृति के अर्जित रूप-धर्म में जो नाना प्रकार से हेर-फेर होता रहता है वह होता है अन्तर की प्रेरणा से; किन्तु प्रकृति नये प्रकार का रूप, नयी श्रेणी का धर्म तभी प्राप्त करती है जब उसके अन्दर अवतीर्ण होता है ऊर्ध्वतर—नवीन रूप और नवीन धर्म का एक लोक।

अवश्य ही आध्यात्मिक सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा यह दिखाई देता है कि नीचे की ओर से जिस प्रकार अविरल एक चेष्टा चल रही है ऊर्ध्वमुखी परिवर्त्तन के लिये, उसी प्रकार ऊपर की ओर से भी निरंतर उतर रहा है एक दबाव—एक प्रभाव। ऋग्वेदीय ऋषि ने इसी गुह्य सत्य की ओर लक्ष्य करके संभवतः यह कहा है कि निम्न पकड़े हुए है ऊर्ध्व को और ऊर्ध्व पकड़े हुए है निम्न को—'अवः परेण पर एनावरेण' (१-१६४-१७)। इस तरह जब ऊपर से एक वस्तु-तत्त्व स्वरूप में उतर आता है, अवतीर्ण होता है तभी विवर्तन में एक प्रकार का युगान्तर और क्रमान्तर उपस्थित होता है।

अध्यात्म-दृष्टि वाले लोगों का कहना है कि वर्तमान समय में जगत, पृथ्वी फिर एक संधिक्षण में उपस्थित हुई है। मनोमय पुरुष ने मनुष्य में पूर्णता प्राप्त की है, मन के शिखर पर मनुष्य चढ़ गया है, उसका आग्रह, उसकी अभीप्सा किसी ऊर्ध्वतर, बृहत्तर सत्य की ओर है। इसी कारण अब वह समय आ गया है जब मन से ऊपर विद्यमान अतिमानस तत्त्व—विज्ञान-तत्त्व—अवतरित होगा, इस बार मनुष्य के ही रूपान्तर के द्वारा—अथवा अन्य किसी उपाय से; और पृथ्वी पर उत्पन्न होगा मनुष्य से भी अधिक पूर्ण एक जीव—अतिमानस या चिन्मय जीव।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभीप्सा

(लेखक—श्री अनिलवरण जी)

अभीप्सा ही हमारी एकमात्र तपस्या है, वही एकमात्र अग्नि है जिसे हमें सब समय और सब परिस्थितियों में अपने हृदय में प्रज्वलित बनाये रखना होगा। हमें अन्य कोई अग्नि जलाने की ज़रूरत नहीं, दूसरी कोई तपस्या या कृच्छ्र साधना करने की आवश्यकता नहीं।

अगर हमारे मार्ग में अनुल्लंघनीय कठिनाइयां बाधा दें, अगर अज्ञान-अंधकार की शक्तियां हमें चारों ओर से घेर लें और हमें अपनी भयानक माया के द्वारा विमोहित करें तो उस समय हमें केवल अपने हृदय की इस आग को तत्परता के साथ सुरक्षित रखना चाहिये, और बस, फिर सारी बाधाएं विलीन हो जायेंगी, सारी विरोधी शक्तियां, चाहे जितनी भी प्रचंड क्यों न हों, परास्त हो जायेंगी।

अगर हम अत्यंत नीचे भी गिर जायें और सारी आशा निर्मूल हुई सी मालूम हो, अगर हमें कोई सहायता देने वाला न हो, हमें प्रसन्न करने वाला न हो, हमें राह दिखाने वाला न हो, अगर हम सब कुछ खो चुके हों और सब के द्वारा परित्यक्त हो गये हों, फिर भी यदि हम निरंतर, सचाई के साथ अपनी अभीप्सा को बनाये रखें तो अवश्य ही हमें ऊपर से (अर्थात् भगवान् से) सहायता प्राप्त होगी और हम अत्यंत नीची अवस्था से भी ऊपर उठ जायंगे।

अगर अवसाद और तमस् हमें अभिभूत कर लें, और हम कुछ भी उन्नति न कर सकें, अगर अंधकार हमारे ऊपर चारों ओर से आक्रमण करे और हम अपना रास्ता न देख सकें, फिर भी अगर हम अपनी अभीप्सा को जीती-जागती बनाये रखें और सच्चे हृदय से ऊपर, भागवती शक्ति की ओर ताकें तो तुरंत हमारे अन्दर ताज़ी शक्ति, नया उत्साह भर जायगा और हम अपने सामने अपने मार्ग को साफ़-साफ़ देखने लगेंगे।

हमारे अन्दर जो कुछ सब से उत्तम है उसे अभीप्सा जागृत करेगी, हमारी सब शक्तियों को वह एकत्र कर उन्हें ऊर्ध्वमुखी बनावेगी, हमारी प्रकृति के अन्दर विद्यमान सभी भेद और विरोध केवल एक उद्देश्य और एक भक्ति के अन्दर विलीन हो जायेंगे और ऊपर से भगवत्-कृपा और दिव्य प्रेम नीचे उतर आयेंगे। अभीप्सा हमारे अन्दर दिव्य प्रेम को लायेगी और वह प्रेम हमें विजय प्रदान करेगा।

× × × ×

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे मां! मुझे एक ऐसी ज्योति-शिखा बना दे जो सदा तेरी ओर जलती रहे, मेरे अन्तरात्मा को अपने प्रेम के अन्दर घुलमिल जाने दे; यही एकमात्र उपाय है जिससे मैं तेरे दिव्य जीवन के अन्दर नया जन्म ग्रहण कर सकूंगा।

नाना प्रकार के विचार और भाव बाहर से आकर सदा मेरे मन में घुसने की चेष्टा करते हैं और मेरी अभीप्सा की ज्योति को स्थिर नहीं रहने देते; हे मां! ऐसा आशीर्वाद दे कि मैं दृढ़तापूर्वक ऐसे सभी बाधक विचारों को बाहर निकाल फेंकूं और अपने मन को पूर्णरूप से शुद्ध और स्वच्छ बनाये रखूँ।

प्राणमय-लोक से आने वाली कामनाएँ और आसक्तियाँ सदा मेरी ज्योति को तमसाच्छन्न करने और बुझा देने की चेष्टा करती हैं; मां! ऐसा आशीर्वाद दे कि मैं ऐसी सभी नीच कामनाओं और आसक्तियों को पूरी दृढ़ता के साथ त्याग दूं और अपने हृदय को पूर्ण स्वच्छ और शुद्ध बनाये रखूँ।

मेरी अभीप्सा की ज्योति को दुर्बल बनाने के लिये मेरे शरीर पर सब प्रकार के आक्रमण किये जाते हैं; हे मां! ऐसा आशीर्वाद दे कि मैं ऐसे सभी प्रयासों को विफल बना दूं और अपने शरीर को तेरी पूजा के लिये स्वस्थ और बलिष्ठ बनाये रखूँ।

हे मां! ऐसी कृपा कर कि मेरी ज्योति असीम श्रद्धा-विश्वास के द्वारा पुष्ट हो और अक्षय शान्ति और स्थिरता मेरी सारी सत्ता में छा जाय। तेरे आशीर्वाद से, हे भगवती माता! मैं नित्य-निरंतर दिव्य जीवन में उन्नत होता रहूँगा।

× × × ×

मेरी आन्तर सत्ता ने पुराने जगत् को पीछे छोड़ दिया है और जीवन के पुराने तरीकों का त्याग कर दिया है; किन्तु मेरी बाह्य प्रकृति में अभी तक पुराने जीवन के प्रति आकर्षण बना ही हुआ है और इस कारण मेरे अन्दर पुराने विचार और पुरानी कामनाएं बार-बार उठा करती हैं। हे मां! यदि तू मेरी सत्ता को पूर्णरूप से अधिकृत न कर ले और मेरी सत्ता के अन्दर ओत-प्रोत न हो जा तो भला मैं कैसे इन सब से एकदम मुक्त हो सकता हूँ?

ज्योंही पुराने विचार और भाव मेरे मन में घुसेंगे त्योंही, हे मां! मैं तुझे पुकारूंगा और तुझे मेरे मन में अपने सत्य का प्रकाश भर देना होगा।

ज्योंही मेरे अन्दर कामनाएं-वासनाएं, कुप्रवृत्तियां जागृत होंगी त्योंही, मां, मैं तेरा आवाहन करूंगा, और तुझे मेरे हृदय को अजेय माधुर्य और आनन्द से भर देना होगा।

ज्योंही मेरे अन्दर अज्ञानमयी और विकृत क्रियाएं दिखाई देंगी, त्योंही, हे माता, मैं तेरी ओर उन्मुख हूँगा और तुझे मेरे प्राणों को अपने सामंजस्य और कृपा से भर देना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे मां! मैं अपनी सारी अपूर्णताओं और अज्ञान-अंधकार में सदा-सर्वदा एकमात्र तेरी ओर दृष्टि लगाये रहूंगा और यह आशा बनाये रखूंगा, यह अभीप्सा प्रज्वलित रखूँगा कि वह दिन बहुत शीघ्र आयेगा जब तू पूर्णरूप से मेरी सत्ता पर अपना अधिकार जमा लेगी और मुझे दिव्यत्व प्रदान करेगी।

कलापूर्ण वस्तु ?

(ले०—श्री जिनराजदास)

जब कोई यहां-नीचे की-वस्तु अर्पित की जा सकती है वहां-ऊपर की-वस्तु की स्तुति में

तो वह कलापूर्ण होती है।

जब कोई पृथ्वी की भौतिक वस्तु ऊपर एक मूलरूप आदर्श की ओर अदृश्य पङ्खों पर तैरने के लिये तैयार सी दिखाई देती है

तो वह कलापूर्ण होती है।

जब ज्ञानेन्द्रियों में से किसी एक के भी सामने आई हुई कोई वस्तु हमें न केवल परमेश्वर की किन्तु मनुष्य की भी बात कहती है

तो वह कलापूर्ण होती है।

जब किसी वस्तु में या घटना में उसका पुण्य प्रारम्भ उसके अन्त के भी दिखलाई देने वाला होता है

तो वह कलापूर्ण होती है।

(इण्डियन थियासोफिस्ट से)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक टेक

(स्व० श्री पं० चमूपति जी एम० ए०)

तुम प्रभु मेरी एक टेक हो—
एक तुम्हीं मुझमें अनेक हो ॥

छोड़ रहे हों सब बान्धवगण,
मैं हूं और तुम्हारा सुमरण।
अविरत चिन्तन अविरत पूजन,
हो अनन्य जब टेक एक हो ॥
तुम प्रभु! मेरी एक टेक हो –

सुखमें दुखमें तुम्हीं पास हो,
हूँ निराश क्यों ? एक आस हो।
विश्वरास, जब तुम्हीं रास हो,
तुम्हीं न मुझ से विमुख नेक हो ॥
तुम प्रभु! मेरी एक टेक हो—

मैं तुमसे मुख कभी न मोड़ूँ,
स्वार्थ तजूं सन्मार्ग न छोड़ूँ।
सबसे तोड़ूं, तुम से जोड़ूँ,
बस इतना मुझ में विवेक हो ॥
तुम प्रभु! मेरी एक टेक हो—

कटु हो मृदु हो स्पर्श तुम्हारा,
मेरा क्या ? उत्कर्ष तुम्हारा।
है निर्दोष विमर्श तुम्हारा,
जो तुम कर दो वही नेक हो ॥
तुम प्रभु! मेरी एक टेक हो—

मस्त तुम्हारा है स्वरूप क्या ?
अहो रूप यह है सुरूप क्या ?
है अद्भुत क्या औ अनूप क्या ?
सुख-स्वरूप सुखातिरेक हो ॥
तुम प्रभु मेरी एक टेक हो—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्री नारायणप्रसाद जी)

(१)

भगवान् किसे अपनाते हैं ?

जो उन्हें अपनाता है।

संसार में सबसे कठिन क्या है ?

ऊपर उठना, चढ़ना, ऊर्ध्वगति करना।

मनुष्य को नीचे के स्तर में बांध कर किसने रक्खा है ?

वासना ने और अहंकार ने।

उसके ऊपर उठने में सबसे अधिक सहायक क्या है ?

अभीप्सा और भगवत्-कृपा।

भगवान् की कृपा, कहते हैं, वर्षा की तरह सब जगह बरस रही है तो फिर हम उसे पाते क्यों नहीं ?

इसलिये कि हम उसके प्रति खुले हुए नहीं या हम में ग्रहणशक्ति नहीं।

भगवान् की कृपा से क्या होता है ?

पूछो 'क्या नहीं होता है ?'।

भगवान् किसे वरते हैं ?

जिसे वे कसौटी पर कसने पर खरा पाते हैं।

भगवान् किसे नहीं भूल सकते ?

जिसने उनके भरोसे अपने आप को छोड़ दिया है, जो शरणागत हो गया है।

(२)

साधक को प्रसन्नतापूर्वक क्या स्वीकार करना चाहिये ?

जो कुछ भी भगवान् की ओर से आ जाय।

उसे सबसे अधिक किस बात के लिये यत्नवान् रहना चाहिये ?

इस बात के लिये कि साधना की जिस चोटी पर वह चढ़ चुका है उससे तिल भर भी वह पीछे न हटे।

साधक को क्या नहीं करना चाहिये ?

न तो जल्दबाजी और न ही उकताना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या करना चाहिये ?

अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये अपनी अभीप्सा को पवित्र यज्ञाग्नि की तरह सदा निरन्तर प्रज्वलित रखना।

साधक को किससे बचना चाहिये ?

एक तरफ़ राजसिक अत्युत्साह से दूसरी तरफ़ तामसिक निरुत्साह से।

साधक को अपना सर्वस्व देकर बदले में क्या मांगना चाहिये ?

शरणागति में उत्तरोत्तर वृद्धि और ग्रहण-शक्ति।

साधक के लिये सबसे घातक क्या है ?

गुरु से अपने दोष और दुर्बलताओं को छिपाना।

साधक को सतत किस बात की आवश्यकता है ?

सदा जागते रहने की।

उसे अपने अन्दर किसे नहीं आने देना चाहिये ?

निराशा और उदासी को।

साधक को किस बात से जरा भी घबराने की जरूरत नहीं ?

उतराव-चढ़ाव से। क्योंकि उतराव-चढ़ाव या ऊंच-नीच का आना तो साधना में अत्यन्त स्वाभाविक है।

अपने शत्रुओं से युद्ध करने के लिये साधक का सबसे बड़ा शस्त्र क्या है ?

संकल्प-शक्ति।

साधक को बिगाड़ने वाली चीज क्या है ?

दिखावे की आदत।

साधना में खतरा कहां है ?

जहां कपट है।

(३)

मन क्या चाहता है ?

प्राण को अपने साथ घसीट ले जाना।

प्राण क्या चाहता है ?

मन पर भी प्रभुत्व जमाना।

शरीर क्या चाहता है ?

मन और प्राण को अपने दबाव में रखना।

इनमें विजयी कौन होता है ?

जब जो बलवान् होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस खींचातानी में मनुष्य कब तक पड़ा रहता है ?
जब तक वह इनमें एकता की स्थापना नहीं कर लेता।
इनमें एकता कैसे लाई जा सकती है ?
साधना के द्वारा—इन प्रतिद्वन्द्वी भागों में एकता लाने के लिये ही तो साधना की जाती है।
शान्ति का मोती कहां रहता है ?
साधना की सीपी में।
मन के शान्त और सर्वतोभावेन भगवन्मुखी होने से क्या होता है ?
अन्दर का वह दरवाज़ा खुलता है जिससे दिव्य शक्ति, दिव्य प्रकाश आदि प्रवेश करता है।
ध्यान में सबसे बड़ा बाधक क्या है ?
विषय-भोगों की स्मृति।
साधक को ध्यान में बैठने से पूर्व क्या करना चाहिये ?
पहिले अपनी पुकार उठानी चाहिये।
ध्यान या साधना में उसे क्या करना होता है ?
माता की शक्ति उतर आने पर उसके हाथ अपने आपको छोड़ देना।
सब से पहिले किस बात का यत्न करना चाहिये ?
शान्ति को पाने के लिये और शान्ति की स्थापना के लिये।
मन माने ही नहीं तो क्या करना चाहिये ?
उस पर ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं करनी चाहिये, न झल्लाना चाहिये, बल्कि एक हठी बालक को जैसे मीठे प्रेम के शब्दों में समझाया जाता है वैसे मनको समझाना चाहिये और उसे उसकी भूल सुझा देनी चाहिये।

(४)

हमारी आंखें कौन खोलता है ?
आन्तर चक्षु, गुरु; और बाह्यचक्षु, हमारा निन्दक।
सच्चा गुरु क्या करता है ?
शिष्य में परमेश्वर की ज्योति उतर सके, इसका उसे अधिकारी बनाने का यत्न करता है।
गुरु का उपदेश अपना प्रभाव कब दिखाता है ?
जब मन शुद्ध, शान्त और निर्मल होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग में कौन नहीं प्रवेश कर सकता ?

जो एकरस जीवन से डरता है।

मनुष्य शान्ति कब पाता है ?

जब वह वासनाओं को पोसना छोड़ देता है।

मन की दौड़धूप कब तक चलती है ?

अध्यात्म-रस का चस्का जब तक उसे नहीं लग जाता।

सामाजिक काम-काज करते हुए भी स्थिर शान्ति कैसे रह सकती है ?

सब भूतों में अपनी आत्मा का अनुभव कर लेने से।

एक आत्मा लाखों में जीवरूप से विभक्त होने पर भी पूर्ण कैसे बना रहता है ?

जैसे एक चिराग़ से लाखों चिराग़ जला लेने पर भी उसकी शक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

पाप क्या है ?

जो भगवान् से दूर हटावे।

पुण्य क्या है ?

जो भगवान् के निकट पहुंचावे।

सदा बेहतर क्या है ?

कोरे कहने से करना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द—एक महान् योगी

(ले०—श्री डा० इन्द्रसेन जी)

श्रीअरविन्द का नाम—विशेषतः उनका पुराना नाम 'अरविन्द घोष' अति विख्या है। परन्तु वह रहस्य से इतना आच्छादित है कि उसके विषय में और अधिक तथा ठीक ठीक जानने की उत्सुकता बड़ी तीव्र हो जाती है। "सुनते हैं कि श्रीअरविन्द वर्ष भर केवल एक या दो बार ही अपने कमरे से बाहर निकलते हैं और उस समय भी कुछ बोलते चालते नहीं। क्या वे मौन साधे हुए हैं ? क्या वे हमेशा समाधि में रहते हैं ? वे महा योगी तो हैं ही, तो अवश्य उनमें अनेक असाधारण शक्तियां होंगी। क्या वे ऐसा क सकते हैं ? क्या वे वैसा कर सकतें हैं ?"

ये हैं भाव श्रीअरविन्द के संबंध में वर्तमान पीढ़ी के सर्वसाधारण मनुष्य के कभी कभी पुरानी पीढ़ी के कुछ ऐसे वृद्ध व्यक्तियों से भी हमारी भेंट हो जाती है श्रद्धा व उत्साहपूर्वक उन्हें महान् स्वदेशी आन्दोलन के राष्ट्रीय नायक के रूप में पहिचानते और स्मरण करते हैं तथा अभिमान के साथ कहते हैं कि वे उनके 'वन्दे मातरम्' ग्राहक थे और उसमें वे उनके लिखे उद्बोधक लेखों को बड़ी उत्सुकता के साथ प करते थे।

परन्तु...परन्तु फिर वे सार्वजनिक जीवन से एकाएक अन्तर्धान हो गये—ऐसा वे बड़े खेद के साथ स्मरण करते हैं, साथ ही यह भी कि फिर बड़े लंबे अर्से तक उनका नाम तक सुनाई नहीं दिया। 'सुनते हैं कि वे अब एक महान् योगी हो गये हैं' मानो उन्हें फिर से प्राप्त करते हुए वे कहते हैं। और सुना जाता है कि सुदूर दक्षिण की ओर पांडिचेरी में उनका एक आश्रम है। उनका आध्यात्मिक प्रभाव और शक्ति ऐसी है कि जो लोग भी आश्रम में जाते हैं और उस वायुमण्डल में कुछ देर ही रहते हैं तो वे मन की गहरी शान्ति और निर्मलता को अनुभव करते हैं। लोग अपनी मानसिक कठिनाइयों और संघर्षों को लेकर उनके पास पहुंचते हैं और वहां वे सब स्वयमेव हल हो जाते हैं 'उन दिनों भी,' श्रीअरविन्द के वे वृद्ध मित्र याद करते हुए कहते हैं 'वे योग की बातें किया करते थे'। ऐसा प्रतीत होता है कि योग उनके मन में उस समय भी था। 'पर समझ नहीं पड़ता कि' वे आश्चर्य से कहते हैं 'श्रीअरविन्द इन सारे तीस बरसों में करते क्या रहे हैं और वे तथा उनके शिष्य अब आश्रम में क्या करते हैं।'

उस अतीत स्वदेशी आन्दोलन के दिनों में लिखी एक प्रसिद्ध चिट्ठी में श्रीअरविन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने लिखा था, 'मुझ में तीन पागलपन हैं। उनमें से एक है भगवान् को पाना, जो भगवान् कि, यदि वह है, तो अवश्य ही हमें प्राप्य, उपलभ्य भी होना चाहिये'। यह था उनकी जैव सत्ता में विद्यमान, गहराई में पहुंचा हुआ उनका दार्शनिक और यौगिक अनुराग जिसने कि, अब स्पष्ट प्रतीत होता है, उनके जीवन के असली ध्येय और कार्य का आगे निर्धारण करने वाला बनना था। इससे पहले १६०८-६ के बीच जब वे अलीपुर जेल में अभियोगाधीन बन्दी के रूप में थे उनको एक नया बोध प्राप्त हुआ था जिससे उन्हें यह दीख गया था कि योग में जीवन की समस्या को हल करने की क्षमता है। उन्हें तब योग के लिये और जीवन की पूर्णता के आदर्श के लिये अत्यन्त शक्तिशाली और सर्वथा अदम्य पुकार सुनाई दी। राजनीति और देश की स्वाधीनता के जिन कार्यों में वे अब तक व्यस्त थे वे उस समय उन्हें अपेक्षाकृत गौण प्रतीत होने लगे। स्वयं मानव जीवन की महान् समस्या उनके सामने बड़े उग्र रूप में आई। उन्होंने अनुभव किया कि यदि इसका हल हो जाय तो अन्य सब समस्याएं जो हमारी वर्तमान मानव प्रकृति के ही सीधे सादे परिणाम-रूप हैं वे भी अवश्य ही स्वयमेव हल हो जायंगी। परिवार, समाज, देश तथा धर्म तक के दावों तथा इनके प्रति दृढ़ भक्ति को भी लांघ कर भारतीय संस्कृति, 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' संस्कृत की इस सुप्रसिद्ध सूक्ति के अनुसार, आध्यात्मिक जीवन के ध्येय की सर्वोत्कृष्टता को जो स्वीकार करती है सो उचित ही है। वही चेतना श्रीअरविन्द में उस समय जागृत हुई और उन्होंने यह स्पष्ट देखा कि आत्मिक राज्य की गवेषणा उनके जीवन का सच्चा ध्येय है। अब उन्होंने अपनी नई जिम्मेवारी की मांगों के अनुसार पांडिचेरी के एक शान्त कोने में विश्राम लेकर अपने आपको सचाई और श्रद्धा के साथ इस ध्येय के प्रति समर्पित कर दिया।

और तब से वे वहां क्या करते रहे हैं? उनके महान् दार्शनिक ग्रन्थ 'The Life Divine' के पहले दो वाक्य स्वयं ही इसका उत्तर देते हैं। इनमें वे कहते हैं, "अपने प्रबुद्ध विचारों में मनुष्य सबसे पहले से जिस कार्य में लगा है मनुष्य की वह प्राचीनतम कार्य-व्याप्रृति और, जैसा कि प्रतीत होता है, उसकी वह अनिवार्य और चरम कार्य-व्याप्रृति—क्योंकि संदेहवाद के लंबे से लंबे काल के बाद भी यह जीवित बची रहती है और प्रत्येक निर्वासन के बाद फिर लौट आती है—साथ ही वह सर्वोच्च वस्तु भी है जिसे कि उसका विचार चिन्तन में ला सकता है। यह अपने आपको प्रकट करती है देवाधिदेव के पता लगाने के रूप में, परिपूर्णता-प्राप्ति के आवेग के रूप में, विशुद्ध सत्य तथा अमिश्रित आनन्द की खोज के रूप में, छिपी हुई अमरता के संवेदन के रूप में।" संपूर्ण इतिहास के इन उच्चतम मानव आदर्शों पर श्रीअरविन्द का ध्यान प्रारंभ से जमा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ था और इन्हें अपने वास्तविक अनुभव में लाकर उत्तरोत्तर साक्षात्कार करना इन पिछले वर्षों में उनका कार्य रहा है। जब से उनको जीवन के उच्चतर और गंभीरतर अर्थ के प्रति वह अवश्यम्भवितव्य जागृति हुई तब से ही उनके अविभक्त मन की खोज का विषय वह "ज्ञान का प्राचीनतम सूत्र" रहा है जोकि साथ ही "चरमतम सूत्र भी सिद्ध होता दीखता है," जो "परमेश्वर, प्रकाश, मुक्ति और अमरता" के शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। निःसंदेह जिस कार्य का उन्होंने बीड़ा उठाया है वह किसी भी अन्य कार्य की अपेक्षा जिसमें कि मनुष्य लग सकता है बहुत ही अधिक कठिन है। इसके कष्ट-क्लेश और परीक्षायें इतनी अधिक सूक्ष्म हैं कि साधारण मनुष्यों की स्थूल कसौटी उन्हें पहिचान नहीं सकती। एक भारतीय लोकोक्ति का यह कहना ठीक है कि जो मन पर विजय पा लेता है वह संसार-विजेता की अपेक्षा भी बड़ा है।

परन्तु क्या श्रीअरविन्द, उन्होंने जो महान् कार्य अपने हाथ में लिया था उसमें सफल हुए हैं? अब, इस प्रश्न का जवाब कौन देगा? मैं तो नहीं दे सकता। मैं तो निश्चित तौर पर इतना ही कह सकता हूँ कि उसी प्रकार के साक्षात्कार की खोज में लगे हुए लोग उनके पास सहायता और पथप्रदर्शन के लिए जाते हैं और यह सुनकर हमारे आश्चर्य तथा हर्ष की सीमा नहीं रहती कि उनकी छत्रच्छाया में साधना करते हुए उन्हें जो सफलता मिलती है उस पर वे अत्यन्त संतोष प्रकट करते हैं। वे आपको यह बतायेंगे कि उनमें समस्वरता, शान्ति, प्रकाश और प्रेम का भाव उत्तरोत्तर प्रतिष्ठित हो रहा है। वे आश्रम में १० या १५ वर्ष बिता देने पर पूर्ण संतोष अनुभव करते हैं। शायद यह जानकर आप भौंचक्के रह जायं कि उनका लक्ष्य अत्यन्त यथार्थवादी रूप में भगवान् को पूर्णतया प्राप्त करना है। उनका उद्देश्य है परिमित सुख, ज्ञान व शक्ति वाली मानव चेतना को अमित ज्ञान, शक्ति और आनन्द वाली पूर्ण भागवत चेतना में रूपान्तरित करना।

प्रश्न होता है: यह परमार्थ—परम श्रेय, साक्षात् पूर्णत्व—कैसे साधित किया जा सकता है? ऐसा करने की विधि का प्रतिपादन, मेरे विचार में, श्रीअरविन्द का अद्वितीय उपकार है—विशेषतया आधुनिक मनुष्य के लिये। योग एक प्राचीन वस्तु है परन्तु इसकी सत्यता को आधुनिक ढंग से प्रमाणित किये जाने की तथा इसकी पुनः व्याख्या किये जाने की आवश्यकता थी। श्रीअरविन्द ने हठयोग, राजयोग, तंत्रयोग तथा अन्य विविध योग-पद्धतियों का बृहत् परीक्षण करके उसके द्वारा योग की एक सर्वसंग्राहिका पद्धति को विकसित किया है जिसे उन्होंने सर्वांग-योग (Integral yoga) या 'पूर्ण-योग' नाम से पुकारा है। वर्तमान युग को उनकी यह एक महान् देन है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आध्यात्मिक सत्य के जिज्ञासुओं द्वारा यह इतनी अधिक बहुमूल्य करके आदृत की गई है।

यहां उस पद्धति का यथार्थ वर्णन कर सकना अशक्य है और उन के तत्त्वज्ञान (दर्शन) का मोटे तौर पर प्रतिपादन मात्र भी हम यहां नहीं कर सकेंगे। पर यह मुझे स्वीकार करना चाहिये कि इस पद्धति की यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परिपक्वता और उत्कृष्टता ही है जिसने मुझे इसका अध्ययन करने पर मन्त्रमुग्ध कर लिया और मुझे तुरन्त इसका अनुयायी बना दिया। इस योगपद्धति की जो युक्ति है उसकी कुंजी 'सर्वांगीण (Integral)' शब्द में है। हठयोग मानव व्यक्तित्व का अभीष्ट रूपान्तर करने के लिये शरीर को साधन बनाता है, राजयोग मुख्यतया मन को और एकाग्रता के अभ्यास को। परन्तु सर्वांगीण योग (Integral yoga) इस बात पर बल देता है कि संपूर्ण व्यक्तित्व ही काम करे, जानने, अनुभव करने और संकल्प करने के सब व्यापार द्वारा संपूर्ण व्यक्तित्व ही काम करे। और इससे जो परिणाम उद्दिष्ट होता है वह भी यह है कि संपूर्ण व्यक्तित्व का ही अपने साधारण नियमित व्यापारों में एक कार्यक्षम रूपान्तर हो जाय। सब प्रकार के व्यष्टिगत भेदों के लिये इस पद्धति में अत्यधिक स्थान है। किसी भी प्रवृत्ति का निग्रह किया जाना इसमें सह्य नहीं है। इस पद्धति के अनुसार निग्रह कोई इलाज नहीं है। इस योग का वास्तविक मनोवैज्ञानिक अभ्यास-नियम यह है : प्रकृति की कुत्सित चेष्टा जैसे घृणा, ईर्ष्या इत्यादि का परित्याग और इनसे आन्तरिक, मानसिक संबन्ध का विच्छेद कर देना, तथा प्रकृति की शुभ चेष्टा जैसे कि शुभेच्छा और दूसरों के प्रति प्रेम के लिये अभीप्सा करना और उच्चतर चेतना के प्रति अपने को ऐसे खोल देना कि मानो उसे आमन्त्रित कर उसके स्वागत-सत्कार के लिये हम बाहु पसारे प्रतीक्षा कर रहे हों।

पुरानी आदतों को छोड़ने और नई को डालने के लिए आधुनिक मनोविज्ञान अनेकविध विधियों को प्रस्तुत करता है। जहाँ तक उन की पहुंच है वहाँ तक वे निःसंदेह अच्छी हैं। परन्तु इस यौगिक प्रणाली का मेरा अनुभव इतना सुन्दर और उत्साहवर्धक है कि मैं प्रत्येक युवक लड़के और लड़की से निवेदन करूंगा कि वे अपने जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिये इस विधि का सचमुच प्रयोग करने की ओर ध्यान दें। चरित्र-गठन मुख्यतया युवकों की समस्या है और मुझे निश्चय है कि इस प्रणाली से उन्हें बड़ा संतोष मिलेगा। पूरी सत्यहृदयता इस प्रणाली की मांग है। किसी चीज को प्राप्त करने की या छोड़ने की तुम्हें हृदय से अभिकांक्षा करनी चाहिये। उचित वस्तु के लिये तीव्र अभीप्सा—कुत्सित चेष्टा का, उसके फिर फिर लौटने पर प्रत्येक बार उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परित्याग, और रूपान्तर के लिये उच्चतर चेतना का अपने अन्दर बार बार आवाहन, यह है जो कि, चुपके से परन्तु अवश्य ही तुम्हारे अन्दर तुम्हारे बिना कुछ और किये चमत्कार उपस्थित कर देगा।

युवकों के अन्दर जवानी में जो कुछ नई हलचलें उठा करती हैं उनका जब उन्हें पता लगता है तो वे बहुधा भयभीत हो जाते हैं। वे उनके लिये चिन्तातुर हो जाते हैं, उनके बारे में बहुत सोचते हैं और उद्विग्न रहने लगते हैं। यह सब कुछ मामले को सुधारने का ग़लत ढंग है। काम में लगे रहने को एक अच्छा बाहरी धन्धा, सामाजिक क्रीड़ाएं, सादी ख़ुराक और जीवन-यापन का सर्वसामान्य, साहसपूर्ण ढंग—ये सब सहायक सिद्ध होंगे। परन्तु आवेग का ज्यों ही यह उठे परित्याग करो, यह परित्याग दृढ़ता और आग्रह के साथ लगातार करो, शान्ति, प्रकाश और पवित्रता की निर्मल चेतना के लिये अभीप्सा करते हुए ऐसा करो। जब हम किसी वस्तु को चाहते हैं और उसे प्राप्त नहीं कर पाते तो उसका मनोवैज्ञानिक कारण यह होता है कि हम आधे मन से उसकी तलाश करते हैं; शेष आधा मन विपरीत वस्तु की लालसा करता रहता है।

आवेगाधीन होना संपूर्ण मानव जीवन की ही वास्तविक समस्या है, और अधिक तीव्र रूप में यौवनकाल की। हमारे अन्दर की विशेष प्रवृत्तियों के क्षणिक उभार मुख्य शक्ति के द्वारा हम पर अपना एकमात्र नियंत्रण स्थापित करना चाहते हैं। यही मनुष्य में पाशविक खिंचाव है। उन प्रवृत्तियों के प्रभाव के ही अधीन हो हम जल्दी में काम कर बैठते हैं और पीछे फ़ुर्सत के समय पछताते हैं। आचार की समस्या यह है कि उन प्रवृत्तियों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाय कि वे विद्रोहपूर्वक उपद्रव करने के बजाय आत्म-पथप्रदर्शन के अधीन सामंजस्य के साथ क्रिया करने लगें। जब इसमें सफलता पूरी तरह से प्राप्त हो जाती है तो मनुष्य, पशु को पीछे छोड़कर, निश्चयात्मक तौर पर **दिव्य** हो जाता है अर्थात् स्थिर, शान्त, अखण्ड और कर्मकुशल बन जाता है। उपरिवर्णित योगप्रणाली ठीक वह विधि है जिससे कि इस प्रकार का महान् परिणाम प्राप्त किया जाता है।

यहां हम ज़रा श्रीअरविन्द के अपने शब्दों में ही उन के योग के कुछ पहलुओं का मनन कर लें:—

'योग की प्रक्रिया यह है कि मानव आत्मा को चेतना की उस अहम्मन्य अवस्था से जो वस्तुओं की बाह्य प्रतीतियों और उनके आकर्षणों में ग्रस्त रहती है, पराङ्मुख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करके उस उच्चतर अवस्था की ओर अभिमुख कर दे जिसमें कि परात्पर और विराट् ईश्वर अपने आपको व्यक्तिमय सांचे में उँडेल सकें और उसे रूपान्तरित कर सकें।'

('Arya' के एक लेख से)

'मन में समझने और संकल्प करने का दबाव तथा हृदय में भगवान् के प्रति भावना भरी उमंग ये दोनों योग के सबसे पहले क्रियाजनक हैं।' (योग के आधार पृष्ठ १६)

'असली इलाज शान्ति है। कठिन परिश्रम में लगकर मन को दूसरी ओर फेरे रखने से केवल अस्थायी आराम ही मिलेगा।' (पृष्ठ २५)

'जितना ही अधिक तुम यह अनुभव कर सकोगे कि मिथ्यापन तुम्हारा अपना अंश नहीं है और यह तुम्हारे पास बाहर से आया है, उतना ही अधिक इसका त्याग करना तथा इसे अस्वीकार करना तुम्हारे लिये सुगम हो जायगा।' (पृष्ठ २५)

'अपनी कमजोरियों और कुप्रवृत्तियों को पहचानना और उनसे निवृत्त होना यही मुक्ति की ओर जाने का मार्ग है।' (पृष्ठ २८)

'बाह्य अवस्थाओं की अपेक्षा एक आध्यात्मिक वातावरण अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई इसे प्राप्त कर सके और साथ ही अपने श्वास लेने के लिये वहां अपना निजी आध्यात्मिक वायुमंडल उत्पन्न कर सके और उसमें रह सके तो यह उन्नति के लिये ठीक अवस्था होगी।' (पृष्ठ ३३)

'अभीप्सा तीव्रता के साथ करो, पर बिना अधीर हुए।' (पृष्ठ ४२)

'श्रद्धा, **भगवान्** पर भरोसा, **भागवत शक्ति** के प्रति आत्म-समर्पण और आत्मदान ये आवश्यक और अपरिहार्य हैं। परन्तु ईश्वर पर भरोसा करने के बहाने आलस्य और दुर्बलता को नहीं आने देना चाहिये........इस श्रद्धा और भरोसे के साथ साथ अनथक अभीप्सा और **भागवत सत्य** के मार्ग में आने वाली रुकावटों का निरन्तर त्याग, ये भी चलते रहने चाहियें।' (पृष्ठ ५५)

'इस योग की इसके अतिरिक्त और कोई पद्धति नहीं कि साधक अपनी समस्त वृत्तियों को एकाग्र करे, ध्यान करे, अधिक उपयुक्त यह है कि यह ध्यान वह हृदय में करे और वहां **माता** (भगवान् का क्रियाशील स्वरूप) की उपस्थिति और शक्ति का आवाहन करे कि वह उसकी सत्ता को अपने हाथ में ले लें और अपनी शक्ति के प्रयोग द्वारा उसकी चेतना को रूपान्तरित कर दें।' (पृष्ठ ५६)

'प्रत्येक सच्ची अभीप्सा अपना परिणाम लाती है।' (पृष्ठ ६२)

'योग में तो आन्तर विजय के द्वारा ही बाह्य विजय हुआ करती है।' (पृष्ठ ६५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अब जिन अज्ञानमय क्रियाओं का तुम्हें भान हो रहा है, उनका दृढ़ता के साथ त्याग करना होगा और अपने मन और प्राण को भागवत शक्ति के कार्य के लिये एक शान्त और शुद्ध क्षेत्र बना देना होगा।' (पृष्ठ ७०)

'योग साधन करने का अर्थ ही यह है कि साधना करने वाला समस्त आसक्तियों पर विजय पाने तथा केवल भगवान् की ओर ही अभिमुख होने का संकल्प रखता है।' (पृष्ठ ७१)

'इस योग का सारा सिद्धान्त ही यह है कि आते हुए भागवत प्रभाव के लिये साधक अपने आपको उद्घाटित करे।' (पृ० ७९)

'यह अभीप्सा करे कि दूसरी कोई भी शक्ति न तो उस पर प्रभाव डाल सके और न उसका नेतृत्व कर सके।' (पृ०८०)

'न उतावली हो न आलस्य, न राजसिक अति-उत्कंठा हो न तामसिक निरुत्साह—बल्कि एक धीर और लगातार पर शान्त आवाहन तथा क्रिया होनी चाहिये।' (पृ० ८१)

'हर प्रकार के अतिरंजित आत्महीनता के भाव से अपने आपको मुक्त करो और पाप, कठिनाई अथवा विफलता के ख्याल से उदास हो जाने की अपनी आदत को छोड़ दो। इन विचारों से वस्तुतः कोई लाभ नहीं होता, बल्कि ये भयानक विघ्न हैं और प्रगति में बाधा डालते हैं। ये बातें धार्मिक मनोवृत्ति की हैं, यौगिक मनोवृत्ति से इनका कुछ सम्बन्ध नहीं है। योगी को चाहिये कि वह प्रकृति के इन समस्त दोषों को 'निम्न-प्रकृति की प्रवृत्तियां समझे जो सभी को समान रूप से सताती हैं और इनका, भागवत शक्ति में पूर्ण विश्वास रखते हुए, स्थिरता, दृढ़ता और निरन्तरता-पूर्वक त्याग करे—पर दुर्बलता या उदासी अथवा बेपरवाही के साथ नहीं और उत्तेजना या अधीरता अथवा उग्रता के साथ भी नहीं।' (पृ० १०४)

'आत्म-हत्या कर लेने से समस्या हल नहीं होती, यह बिलकुल बेमतलब है, वह सरासर भूल करता है जो यह सोचता है कि इससे उसको शान्ति मिलेगी। इससे तो वह केवल अपनी कठिनाइयों को मरणोत्तर स्थिति की अवस्था में, जो यहां से भी अधिक बुरी है, अपने साथ ले जायगा, और इन्हें फिर दूसरे जीवन में पृथ्वी पर साथ ले आवेगा।' (पृ० १४१)

'इच्छा का त्याग तत्त्वतः तृष्णा या लालसा के भाव का त्याग है। इसको एक विजातीय वस्तु के तौर पर, जिसका कि अपने सत्य स्वरूप या आन्तरिक प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं, अपनी चेतना से ही बाहर निकाल फेंकना है।' (पृ० १४२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'जब मनुष्य सत्य चेतना में रहता है तभी वह इच्छाओं को अपने से बाहर अनुभव करता है।' (पृ० १५३)

'हृत्पुरुष (हमारी सच्ची आन्तर सत्ता) कोई मांग या इच्छा नहीं करता, यह तो अभीप्सा करता है।' (पृ० १५४)

'इच्छा से सर्वथा छुटकारा पा लेने में देर लगती है। किन्तु यदि एक बार भी इसे अपनी प्रकृति में से निकाल बाहर कर सको और यह अनुभव कर सको कि एक शक्ति है जो बाहर से आती है और प्राण और शरीर को अपने पंजे में लेना चाहती है तो तुम्हें इस आक्रमणकारी के चंगुल से छुटकारा पाना सहज हो जायगा।' (पृ० १५७)

'यदि तुम योग करना चाहते हो तो तुमको सभी बातों में, चाहे वे छोटी हों या बड़ी, अधिकाधिक यौगिक भाव धारण करना चाहिये। हमारे मार्ग में यह यौगिक भाव विषयों का जबरदस्ती निग्रह करके नहीं, किन्तु इनके सम्बन्ध में अनासक्ति और समता रख कर धारण किया जाता है।' (पृ० १६२)

'इस बात की प्रतीति होना कि अमुक वस्तु रसनेन्द्रिय के लिये सुखकर है कोई बुरी बात नहीं है, पर उस वस्तु के लिये कामना या विह्वलता नहीं होनी चाहिये, उसके प्राप्त होने पर न तो हर्षोल्लास होना चाहिये और न उसकी अप्राप्ति से किसी प्रकार की अप्रसन्नता या खेद।' (पृ० १६२)

'आहार-तत्त्व को जीवन में उसके लिये उपयुक्त स्थान देकर उसे एक कोने में रख दो।' (पृ० १६४)

'इसका उचित मात्रा में (न अत्यधिक न अत्यल्प) सेवन करो; इसके लिये न तो लालसा हो न अरुचि, बल्कि तुम्हारा यह भाव रहे कि शरीर की रक्षा के लिये माता का दिया हुआ यह एक साधन है।' (पृ० १६५)

'कामावेग का प्राण और शरीर पर जो आक्रमण होता है इससे साधक को एकदम अलग रहना होगा—कारण, जब तक वह कामावेग को नहीं जीत लेता तब तक उसके शरीर में भागवत चेतना और भागवत आनन्द का संस्थापन नहीं हो सकता।' (पृ० १७३)

'मैंने यह पाया है कि काम शक्ति पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर लेने को लक्ष्य बनाना साधना के लिये अत्यन्त आवश्यक है।' (पृ०१८५)

'यह ठीक है कि काम का बाह्य क्रिया में तो निग्रह किया जाय पर दूसरी तरह से उसमें लिप्त रहा जाय तो इससे शारीरिक उपद्रव और दिमागी कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं...यदि इस पर प्रभुत्व स्थापन करने और इसका संयम करने के लिये सच्चा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आध्यात्मिक प्रयत्न किया जाता है तो मैं नहीं समझता कि कामवासना के इस संयम से कभी हानि होती है।' (पृ० १८७)

'अब रहा इस प्रभुत्व के स्थापन करने की पद्धति के सम्बन्ध में सो यह केवल शारीरिक संयम के द्वारा ही नहीं हो सकता—अनासक्ति और परित्याग की सम्मिलित प्रक्रिया द्वारा यह किया जाता है।' (पृ० १८८)

'इसका (कामवासना का) पूर्ण त्याग करो परन्तु वह इससे संघर्ष करके नहीं, बल्कि इससे अपना सम्बन्ध विच्छेद करके, अपने आपको इससे अनासक्त करके और इसको अपनी स्वीकृति देने से इन्कार करके।' (पृ० १९०)

'कामुकता एक विकार अथवा अधोगति है जो प्रेम के आधिपत्य की स्थापना में रुकावट डालती है।' (पृ० १९७)

उपर्युक्त उद्धरण जो कुछ विस्तार से दिये गये हैं श्रीअरविन्द की योग-सम्बन्धी शिक्षाओं का रसास्वादन कराने के लिये पर्याप्त होंगे। परन्तु लेख को समाप्त करने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सच्ची शिक्षापद्धति के आधार के संबंध में हम उनके विचार का निर्देश कर दें क्योंकि न केवल योग के विद्यार्थियों के लिए अपितु प्रत्येक विद्यार्थी के लिये उसका अत्यन्त महत्त्व है। अपनी छोटी सी कृति "The Brain of India (भारत का मस्तिष्क)" में वे कहते हैं कि आजकल न केवल भारतवर्ष में अपितु सर्वत्र ही आधुनिक शिक्षा का प्रधान लक्ष्य सूचनायें दे देना या ज्ञातव्य समझी जाने वाली बातें बता देना है। "परन्तु" वे विवेचन करते हैं कि "इन सूचनाओं का मिलना या ज्ञातव्य बातों का पता होना बुद्धि की, ज्ञान की नींव का काम नहीं दे सकता। यह केवल उस सामग्री का एक अंश बन सकता है जिससे कि ज्ञाता ज्ञान का निष्पादन करता है।" "उन (स्मृति, कल्पना तथा अन्य मानसिक शक्तियों) के द्वारा जिस भवन का निर्माण किया जाना है उसकी नींव तो केवल बल और शक्ति के कोष का संचय करने से पड़ सकती है।" पर यह शक्ति कहाँ से आयेगी? इसका उत्तर जो वे देते हैं वह है "प्राचीन आर्य जानते थे कि मनुष्य विश्व से पृथक् नहीं है परन्तु विश्व का केवल एक सजातीय अंश है।" इस समस्त विश्व में अनन्त शक्ति व्याप्त है और अतएव शिक्षण का वास्तविक लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह प्रत्येक मानव व्यक्ति में एक उपयुक्त आधार, पात्र या उपकरण तैयार कर उसकी विघ्न-बाधाओं को हटा दे जिससे वह विश्वव्यापी शक्ति में से पोषण प्राप्त कर सके।

क्रियात्मक तौर पर ब्रह्मचर्य उन मुख्य प्रक्रियाओं में से एक था जिन से कि यह विश्वव्यापी शक्ति प्राप्त की जाती थी। श्रीअरविन्द ब्रह्मचर्य पर पूरा पूरा बल देते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और इसे शिक्षासंबन्धी वह मुख्य रहस्य मानते हैं जो कि प्राचीन आर्यों ने प्राप्त किया था। योरोपियन जड़वाद (या भौतिकवाद) आधार और स्रोत में घपला कर देता है। परन्तु श्रीअरविन्द स्पष्ट कहते हैं "जीवन और शक्ति का स्रोत भौतिक नहीं, आत्मिक है। किन्तु वह आधार या नींव जिस पर कि जीवन और शक्ति स्थित हैं और काम करते हैं भौतिक है।" "भौतिक को आत्मिक तक उठा ले जाना ब्रह्मचर्य है।" "सब वासनाएं, कामवासना या इच्छा आदि, शक्ति को स्थूल रूप में या उदात्तीकृत सूक्ष्म रूप में बाहर निकाल कर नाश कर देती हैं।" "कार्य में अनैतिकता इसे स्थूल रूप में बाहर फेंकती है और विचार में अनैतिकता सूक्ष्म रूप में।"

"दूसरी ओर सब प्रकार का आत्म-संयम रेतस् की शक्ति को संरक्षित रखता है और संरक्षण सदा साथ में वृद्धि को भी लाने वाला होता है।" "इस से यह परिणाम निकलता है कि हम ब्रह्मचर्य के द्वारा 'तपस्' 'तेजस्' 'विद्युत्' और 'ओजस्' के भण्डार को जितना अधिक बढ़ा सकें उतना ही हम अपने आपको संपूर्ण शक्ति से भरपूर कर सकेंगे, शरीर, हृदय, मन और आत्मा के कार्यों को करने के लिये शक्ति से भरपूर हो सकेंगे।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्ध का अन्त

(ले०—स्वामी शुद्धानन्द जी भारती)

आजकल का सबसे प्रधान विषय है युद्ध। सज्जन हो या दुर्जन, कोई भी इसके प्रभाव सें वंचित नहीं है। हमारे भोजन, पानी और यहां तक कि सांस लेने की हवा तक पर इसका असर पड़ा है। पूरब और पच्छिम, उत्तर और दक्खिन, नीचे और ऊपर, पृथ्वी और समुद्र सर्वत्र नर-रक्त की नदी बह रही है। इतना बहुमूल्य मानव शरीर, जो प्रकृति के युग-युगान्तर के क्रमविवर्तन का फल है, आज सामूहिक रूप में विध्वंस किया जा रहा है। वर्षों की मेहनत मिनटों में तहस-नहस हो रही है। प्रकांड-प्रकांड जहाज़, विशालकाय टैंक, बड़े-बड़े हवाई जहाज़ बनाये जा रहे हैं और टुकड़े-टुकड़े किये जा रहे हैं। जिस सोने और चांदी को वर्षों व्यवसाय-वाणिज्य, उद्योग-धंधा करके मनुष्य ने इकट्ठा किया है वह चिता के धूएँ की तरह न मालूम कहां गायब हो रहा है। आज मनुष्य सर्वत्र त्राहि त्राहि पुकार रहा है, नारकीय धूएँ के घोर अंधकार में वह शुद्ध वायु का सांस लेने के लिये छटपटा रहा है।

आज मानो सदाचार, धर्म, न्याय और उनकी ज्योतिर्मयी शक्तियां मानव-मन के घेरे से एकदम विलुप्त होगयी हैं। जापान की **तृष्णात्मक** महत्त्वाकांक्षा प्राचीन चीन को बेतरह सता रही है। रक्त पिपासु नाज़ी-दल अपनी कठोर सत्यानाशी चक्की के नीचे निरपराध देशों को पीस रहा है। दूसरी तरफ़ से इन पर भी प्रहार किये जा रहे हैं। हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस युद्ध के कारण हमारा धर्मप्राण भारत भी आज किस किस प्रकार दुःख पा रहा है।

आज मनुष्य इस तरह हृदयहीन पागल क्यों हो रहा है, जंगली पशुओं की तरह ख़ून के लिये क्यों लालायित हो रहा है? इस प्रकार शक्ति, द्रव्य और बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ नष्ट करने का क्या कारण है? क्या इस रक्त-स्नान को बंद करने का कोई उपाय नहीं है? आइये, इन बुराइयों की जड़ का पता लगावें और उस पर आघात करें।

(२)

मनुष्य, देवता और पशु के ठीक बीच का प्राणी है। वह एक पशु है जो अपनी पशुता से ऊपर उठ रहा है, वह एक देवता है जो भविष्य में अपने देवत्व को प्राप्त करने जा रहा है। उसके अन्दर दो प्रकार की शक्तियां वर्तमान हैं अच्छी और बुरी जिन्हें सुर और असुर; देव और दानव या ईश्वर और शैतान कोई भी नाम दिया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य-जीवन इन्हीं दो शक्तियों का सनातन युद्ध है और यह युद्ध अभी तक समाप्त नहीं हुआ है। मनुष्य के अन्दर जो 'देव' है वह मूलतः भगवान् है, शुद्ध, आनंदमय, शान्तिमय है। वह सर्वदा मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाता है। किन्तु मनुष्य के अन्दर जो शैतान या असुर है वह उसे अहंकार और महत्त्वाकांक्षा के निम्न स्तर की ओर खींचा करता है। जीवन मानो इन्हीं दोनों शक्तियों की परस्पर खींचातानी है। बुरी शक्तियां हमारी सत्ता के प्राणमय और मनोमय भाग में उत्पन्न होती हैं। सब प्रकार की बुरी कामनाएं, वासनाएं, ईर्ष्या-द्वेष, घृणा, दुश्चिन्ताएं इत्यादि प्राणिक अहंकार और मानसिक अज्ञान से उत्पन्न होती हैं। जब तक मनुष्य अपनी सत्ता के इन निम्नतर भागों का दास बना हुआ है तब तक वह न तो स्वयं शान्ति पा सकता है और न अपने आसपास ही शान्ति को रहने दे सकता है। प्रकृति ने अपना सारा आश्चर्यमय भंडार मनुष्य को इसलिये दिया है कि वह अपने सामूहिक जीवन को समृद्धिशाली बनावे। उसने उसे देश और काल को जीतने के लिये बिजली की शक्तियां दी हैं। परन्तु मनुष्य ने प्रकृति की शक्तियों का उपयोग किया है अपने स्वार्थ की वृद्धि के लिये, महत्त्वाकांक्षापूर्ण प्रतियोगिता और सत्यानाशी युद्ध चलाने के लिये। उसके अन्दर विराजमान आत्मा ने उसे तीक्ष्ण बुद्धि दी है जिसमें वह प्रकृति की शक्तियों को महान् कार्यों में व्यवहृत करे। उसने उसे मन और शरीर का ज्ञान दिया है; भौतिक तत्त्वों का विज्ञान—गणित, पदार्थविज्ञान, रसायनशास्त्र, यंत्रविज्ञान इत्यादि—सिखाया है; उसने उसे प्रकृति के उन खजानों का पता दिया है जो खानों में छिपे पड़े थे जैसे, कोयला, लोहा, तांबा, पैट्रोल, मैगनेट इत्यादि। परन्तु मनुष्य ने जीवनसम्बन्धी प्रश्नों को हल करने और अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये समय बचाने के लिये इन दोनों का कोई सदुपयोग न कर इनका दुरुपयोग ही किया है और अपने विचार और जीवन को असुर का कारखाना बना डाला है। वास्तव में टैंक और टारपेडो की उत्पत्ति जर्मनी या अमेरिका के कारखानों में नहीं होती। वर्तमान या भूतकाल में युद्ध के जितने भी संहारकारी अस्त्र-शस्त्र बने हैं वे सब मनुष्य के अन्दर विद्यमान मनोमय असुर की ही सृष्टि हैं और वे प्राणिक आकांक्षा को तृप्त करने के लिये ही तैयार किये गये हैं। युद्धके कारण न तो चर्चिल ही हैं न हिटलर। मनुष्य के अशुद्ध प्राणों की जो पागल आकांक्षा है वही इस भयानक खेल को खेल रही है। कोई भी प्रचारकार्य, युद्ध या संधि मनुष्य के इस अगणित भयावह दृश्य उत्पन्न करनेवाले युद्धोन्माद को दूर नहीं कर सकती। अगर आसुरिक शक्तियों के इस विनाशकारी युद्ध के फलस्वरूप सभी वैज्ञानिक और विमान-चालक पृथ्वी से विलुप्त भी हो जायँ तो भी युद्ध का अन्त न होगा; यह फिर से धीरे-धीरे मनुष्य के प्राणिक अहंकार और मानसिक बर्बरता के अन्दर से उत्पन्न होगा और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब तक महत्त्वाकांक्षी सत्ता के अन्दर एक बूँद भी रक्त बाकी रहेगा तब तक वह ऐसे ही दुष्कर्म किया करेगी। यह समझना एक निस्सार स्वप्न है कि किसी राजनीतिक कौशल या धार्मिक प्रचार के द्वारा संसार में कभी शान्ति स्थापित होगी। हिटलर और टोजो, स्टालिन और चर्चिल या रूज़वेल्ट तो केवल नाम और रूप हैं; ये न तो पहले थे और न बाद में ही रहेंगे। जो कुछ भी आज युद्ध का साज-सरंजाम है वह सब द्रुतगामी काल के चक्राकार प्रवाह में कल ही विलुप्त हो जायगा, महत्त्वाकांक्षा की आतिशबाज़ी की राख भर बाकी रह जायगी। इस जगत् में कुछ भी स्थायी नहीं है, भाग्य की निम्नगामी धारा में सब कुछ बह जाता है। जिस आतंक की आज सृष्टि हुई है, आखिर उसका अन्त होगा ही। परन्तु मनुष्य के अन्दर जो प्राणमय दानव है, उसके अन्दर जो मानसिक अज्ञान है, प्रेम और घृणा, अच्छे और बुरे का जो द्वन्द्व-भाव है, वह फिर उसके अन्दर महत्त्वाकांक्षा को जगायेगा, फिर उसे वही दुःखान्त नाटक खेलने के लिये प्रवृत्त करेगा।

(३)

अतएव इसकी दवा वहीं है जहां इसका कारण है। शान्ति वहीं है जहां युद्ध उत्पन्न होता है। सब कुछ अन्दर से ही आता है। मनुष्य के अन्दर जो कुछ भला या बुरा है उसके लिये सबसे पहले उसमें विचार उठता है, तब शब्द और उसके बाद क्रिया होती है। जब मनुष्य का अन्तःकरण अशुद्ध होता है और उसके प्राण अहंकारमयी आकांक्षा से भरे हुए होते हैं तब उसके विचार, शब्द और कर्म उस सत्यानाशी आकांक्षा से दूषित हो जाते हैं। मनुष्य के अन्दर का यही वह शैतान या अहंमान है जो उसे एक बुराई से दूसरी बुराई की ओर, एक युद्ध से दूसरे युद्ध की ओर, एक स्वार्थ से दूसरे स्वार्थ की ओर ले जाया करता है। आह! कितने ही निर्दोष राष्ट्र प्राणमय मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा रूपी चक्की के नीचे पीसे जा चुके हैं! यही प्राणमय दानव एक राष्ट्र के मन-प्राण के अन्दर प्रवेश कर उसके द्वारा दूसरे राष्ट्र पर अत्याचार कराता है। ऐसे कितने ही देश इस राक्षसी शक्ति के द्वारा पददलित और लांछित हुए हैं जिन्होंने कभी अपनी तलवार को दूसरे देश के रक्त से अपवित्र नहीं किया।

(४)

अतएव संसार में यदि कभी स्थायी शान्ति आये, अगर मनुष्य मनुष्य में परस्पर सद्भाव और सुसंगति स्थापित हो तो इसके लिये सबसे पहले उसके अन्तःकरण का सर्वाङ्ग परिवर्तन होना जरूरी है। इसे हम और भी स्पष्ट रूप में समझने की चेष्टा करें।

हमारी सत्ता के दो भाग हैं—जड़ और चेतन, प्रकृति और पुरुष। शरीर, प्राण और मन हमारे जड़ भाग के अन्तर्गत हैं और जीव या अन्तरात्मा हमारा चेतन भाग है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन दोनों के बीच में है उच्चतर बुद्धि, या विज्ञानतत्त्व या परा-बुद्धि, जो हमारी सत्ता के इन दोनों तत्त्वों को जोड़ती है। मनुष्य को इस मध्यवर्ती परावुद्धि को पाने की चेष्टा करनी चाहिये और ऐसा जीवन यापन करने का प्रयास करना चाहिये जिसमें हमारा आत्मा पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो रहा हो, जिसमें हमारी आध्यात्मिक सत्ता जड़मय सत्ता के अन्दर तक ओतप्रोत हो रही हो। आत्मा सम्पूर्ण शान्ति, आनन्द, सत्य, चैतन्य है। जड़ तीनों गुणों और द्वन्द्व-विकारों का संमिश्रण है। जो मनुष्य केवल जड़मय चेतना में निवास करता है वह अवश्य ही चार्वाक या कम-से-कम नीत्शे का अतिमानव बन जाता है और वह अस्त्र-शस्त्र तथा युद्ध-सामग्री बनाने में ही अपना सारा जीवन नष्ट कर देता है। वह सदा ही अपने पड़ोसी को द्वेष और घृणा की दृष्टि से देखता है। उसकी स्वार्थ भरी भूख खर्च का कोई ख्याल न कर अपनी ही उन्नति के लिये नाना प्रकार के हथियारों का आविष्कार करती है और फिर वह एक घर से दूसरे घर में, एक शहर से दूसरे शहर में, एक देश से दूसरे देश में कूदता-फांदता चला जाता है। उसकी अहंकार-मयी वाणी दूसरे देशों को मूक बनाती है, उनकी मातृभाषा को, उनकी बहुमूल्य परंपरा को नष्ट करती है और अपने स्वार्थ भरे बेलगाम फ़र्मान जारी करती है। हम प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी मनुष्य के अन्दर एक ही प्रकार की दमन, अत्याचार और अहम्मन्यता की क्रिया देखते हैं। इस बुराई का प्रधान कारण यही है कि मन-प्राण-शरीरस्थ मनुष्य कभी अपने पड़ोसी को आमने-सामने नहीं देख सकता, 'मैं, अकेला मैं, अकेला मेरा' यही उसकी वक्र भृकुटी पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा होता है, वह कभी दूसरे आदमी की उन्नति को नहीं सह सकता। क्योंकि उसको यह ज्ञान ही नहीं है कि दूसरा या तीसरा आदमी भी वही एक आत्मा है जिसने एक ही तत्त्व से बने कई शरीरों को धारण किया है, अन्तर केवल नाम और रूप में ही है। ज्योंही मनुष्य एक बार यह अनुभव कर लेगा कि दूसरे मनुष्य में भी एक ही आत्मा मूर्त्तिमान् हो रहा है त्योंही उसके विचारों में सुसंगति आ जायेगी, उसके हृदय में प्रेम उत्पन्न हो जायगा। मनुष्य को अपने शरीर, प्राण और मन के परे उठना चाहिये और शुद्ध परावुद्धि में निवास करना चाहिये और उसके बाद उस आत्मा को, विशुद्ध आत्मा को जो वह है, प्राप्त करना चाहिये। एक बार यदि आत्मा का स्पर्श मिल जाय तो फिर सभी मानसिक कष्टों का, प्राणिक विक्षोभों का अन्त हो जाता है। स्थायी शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। फिर मनुष्य चिरकाल के लिये आनन्दमय हो जाता है। क्योंकि वह आत्मा अपने स्वभाव में सत्-चित्-आनन्द है। जब मनुष्य इस अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब वह सब को आत्मवत् देखता है; उसके अन्दर बड़प्पन के अहंकार का या राजनीतिक उग्रता का लेश भी नहीं रह जाता। वह अपने अन्दर सारे जगत् को देखता है और सारे जगत् में अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आप को देखता है। इसी विश्व-चेतना को लक्ष्य करके उपनिषद् में यह कहा गया है कि "जो सबके अन्दर अपने को देखता है और अपने अन्दर सबको देखता है वह भला किससे भय करे ?"

(५)

इस परम सत्य के सबसे बड़े प्रामाणिक ग्रन्थ हैं वेद। वेदों में ऋषियों द्वारा प्राप्त सत्य-वाणियों का संग्रह है। वे शाश्वत सत्य के ग्रन्थ हैं। संसार में ऐसी कोई पुस्तक नहीं है जो जीवन की इन दो शक्तियों के युद्ध का वर्णन वैसे ही स्पष्ट रूप में करती हो जैसे कि वेदों ने किया है। इन सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों का मुख्य विषय यही है कि अन्धकारमयी विरोधिनी शक्तियों के ऊपर, वल और वृत्र के ऊपर भागवती शक्तियों की विजय कैसे हो।

भगवान् सच्चिदानन्द हैं। वह शरीर, प्राण, मन तथा इससे ऊपर के ज्ञानमय और आनन्दमय लोकों में परिव्याप्त हैं। वह प्रबुद्ध विचारों के प्रेरक हैं। वह हमारी सत्ता में विद्यमान प्रज्वलित सज्ज्योति हैं। वह पुरुष हैं, शुद्धात्मा हैं। मनुष्य अपने अन्दर की इस सत्य-ज्योति को न जानने के कारण तथा अहंकारमयी प्रवृत्तियों से अंध हो जाने के कारण अपने प्राणों में निवास करता है, असुर के अधीन रहता है। उसके अतृप्त प्राणों की अंधेरी गुफाओं में से विरोधी शक्तियां बाहर निकल आती हैं और उसके जीवन को अस्तव्यस्त करदेती हैं। एक दिन वह जीवन का पर्यवेक्षण करता है; सत्य की एक किरण उसके अन्दर प्रवेश करती है। उसी क्षण विशुद्ध सत्ता के अधिष्ठाता इन्द्र-देवता सामने आते हैं; भागवती शक्ति अग्नि प्रकट होती है; बृहस्पति सृजनकारी मंत्र प्रदान करते हैं; अश्विन, इन्द्र अर्थात् बुद्धि के रथ को जोतते हैं; स्नायवीय शक्तियां अर्थात् मरुत रथ को खींचते हैं; वरुण, मित्र, अर्यमन और भागवती शक्तियों की एक विशाल सेना रथ का अनुगमन करती है। तब माता अदिति हंसती हुई आती हैं; वह देवताओं की महाजननी हैं। वह भागवत सेना को आशीर्वाद करती हैं। तब इन्द्र का विजयी रथ रवाना होता है। इन्द्र के नेतृत्व में भगवान् के, प्रकाश के पुत्र अंधकार की शक्तियों को परास्त करते हैं, सारे जगत् में शान्ति का जयघोष करते हैं और अमृतत्व का रसास्वादन करते हैं। यही वेदों का प्रधान सत्य है और यही वह सत्य है जिसकी हमें आज आवश्यकता है। आज पृथ्वी पर असुरों ने मनुष्यों को जिस अकथनीय विपत्ति में डाल रखा है उसे दूर करने का एक मात्र उपाय यही है कि आसुरिक शक्तियों के ऊपर भगवान् की विजय हो।

और यही उपाय है जिससे कि ऐसे युद्धों का सदा के लिये अन्त हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्यारे को पाना

[सन्त महात्मा की दृष्टि सदा सत्यस्वरूप श्रीभगवान् पर आबद्ध रहती है और इस कारण वे जो कुछ कहते व लिखते हैं उस द्वारा सदा सत्य ही प्रकाशित होता है और वह साधारण जीवों के लिये मार्गदर्शन का काम करता है। इसी भाव से यह एक महात्मा का पत्र हम नीचे दे रहे हैं जिससे कि जिन्हें व्यक्तिगत रूप से यह पत्र लिखा गया है उनके अतिरिक्त अन्य प्रेमी पाठकों को भी इसका लाभ प्राप्त हो सके। पत्र पाने वाले भक्त भाई ने ही औरों के लाभ के लिये हमें यह पत्र प्रकाशनार्थ दिया है, इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। यह पत्र बंगला भाषा में काश्मीर से ता० ७ जून १९४० का लिखा हुआ है। –सं० अ०]

मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि मुझे पाना, मेरे पास रहना और मेरी सेवा करना तुम लोगों को कितना प्रिय है। × × × (पत्र लिखने वाले महात्मा का अपना नाम) एक प्राणहीन जड़ पदार्थ नहीं है। वह प्रेममय की पूजा करता है, प्रेम को सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति समझता है। वह कभी प्रेम की अवहेलना नहीं कर सकता। विश्वास करो, उसका प्राण तुम लोगों के हाथों बिक चुका है। किसी के भी कल्याण के लिये, आनन्द के लिये जिस किसी भी समय वह अपना प्राण दे सकता है। तुम लोग जानते ही हो कि वह जगज्जीव को किस दृष्टि से देखता है, कितना प्यार करता है। मनुष्य उसकी दृष्टि में उसके प्रियतम का ही जीवन्त विग्रह है, जीव की सेवा ही उसकी दृष्टि में शिव की सेवा है। वह दूसरी कोई साधना नहीं जानता। उसने सोचा था, जीव की सेवा में ही वह अपना सारा जीवन बिता देगा। परन्तु शरीर ने उस कार्य में बाधा डाल दी। वह शरीर की उपेक्षा करके भी जीव की सेवा करता, परन्तु उसके गुरुदेव के आदेश तथा मित्रों के अनुरोध ने उसकी सेवा की भावना को कुछ पलट दिया है। फिर भी वह सबको सुखी करने की चेष्टा करता है, सबको सारे अन्तःकरण से आशीर्वाद करता है। उसने अपनी छात्रावस्था में ही भगवान् से कहा था, " 'येन वा भवति सुखजातम्' — जिसमें तुम्हें सुख हो वही तुम करना। मुझे बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ा है कि तुम मंगलमय हो। जो कुछ शुभ है, जो कुछ आनन्दप्रद है—वह किये बिना तुम नहीं रह सकते ; इसलिये तुमसे अब मुझे कुछ भी प्रार्थना करनी नहीं है। मेरा जीवन तुम्हारे चरणों में उत्सर्ग हो चुका है।" तो अब उनकी इच्छा पूरी करने के सिवा दूसरा कोई काम करना मेरे लिये उचित नहीं। इसी कारण यह पद – 'पूर्णा भवत्वनुदिनं मयि ते शुभेच्छा'—मुझे बहुत अच्छा लगता है। जब तक मैं उनकी इच्छा नहीं जान पाता तब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक सबका मत पूछता हूँ, सबसे परामर्श करता हूं। परन्तु जब उनकी इच्छा का अनुभव हो जाता है तब फिर मैं दूसरे किसी के मत के अनुसार नहीं चल पाता।

तद्ध्यानतोऽन्यत् न च चिंतयानि, तत्कर्मतो वा करवाणि नान्यत्—

'उनके ध्यान को छोड़कर अन्य कोई चिन्तन मेरे मन में आना उचित नहीं, उनके काम के सिवा अन्य कोई काम करना मुझे उचित नहीं'। इस अवस्था को प्राप्त करने में अभी देर होने पर भी उसके लिये चेष्टा करना मेरे लिये उचित है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि वह बहुत जल्द मुझे अपने मन के मुताबिक बना लेंगे। इससे तुम लोगों का भी अधिक कल्याण हो सकता है। परमात्मा सबसे अधिक प्रिय आत्मा हैं, सबके भीतर के आत्मा हैं—वह सर्वव्यापी हैं। जो परमात्मा को प्यार करता है वह सबको प्यार किये बिना रह नहीं सकता। अगर वह सबके भीतर अपने आत्मा को न देखे तो वह कुछ भी नहीं देख पाता। उसके लिये तो सबके भीतर उन्हीं का ध्यान, दर्शन और सेवा करना ही प्रधान साधना है।

जगत् है या नहीं, भगवान् हैं या नहीं—यह विचार या अनुभव सापेक्ष है। 'मैं हूं'—इसमें किसी को भी सन्देह नहीं होता, ऐसा कोई नहीं कहता कि मैं नहीं हूं। इसी 'मैं' को खोजते-खोजते एक दिन उनकी कृपा से मैंने वास्तविक 'मैं' का थोड़ासा परिचय पाया था। सब उपाधियों से परे उस पक्के 'मैं' का, उस सर्वव्यापी 'मैं' का कुछ अनुभव मुझे मिला था। उस परम 'मैं' ने, उस चरम आत्मा ने, उस परमात्मा ने उसी दिन से मुझे पागल बना दिया है। अपने भीतर और बाहर सर्वत्र मानो केवल उन्हीं को ढूंढता फिरता हूँ। वह मेरे परम प्रिय हैं इसलिये उन्हें प्यार किये बिना मैं नहीं रह सकता। जिसके भीतर मैं जितने अंश में उन्हें पाता हूँ उतने ही अंश में मैं उसे प्यार भी करता हूँ। सच्चे प्रेम का रहस्य उसी दिन उन्होंने मानो मुझे समझा दिया था। मनुष्य अपने आत्मीय स्वजनों को प्यार करता है, परन्तु यह विचार कर नहीं देखता कि उसका आत्मीय है कौन? आत्मीय का अर्थ है आत्मा-सम्बन्धी। जिसके भीतर मैं अपने आत्मा को जितना अनुभव करता हूँ उतना ही वह मेरा आत्मीय है। हम लोग आत्मा के सिवा अन्य किसी को नहीं प्यार करते। इसी कारण आत्मा को परम प्रेमास्पद कहा जाता है। स्थूल या सूक्ष्म में प्रियजन को समीप पाकर हमें आनन्द होता है। हम लोग भूल से ऐसा समझते हैं कि उसी व्यक्तिविशेष ने हमें आनन्द दिया है। सीता राम के पास जा रही हैं, राम के आनन्द की सीमा नहीं। समीप जाकर ज्योंही वह राम के गले में हाथ डालती हैं त्योंही राम समाधि-मग्न हो जाते हैं। सीता के चले जाने पर भी रामचन्द्र की समाधि नहीं टूटती। कुछ देर बाद सीता फलमूल ले आती हैं और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचन्द्र का ध्यान भंग करती हैं। रामचन्द्र यह सुनकर अवाक् हो जाते हैं कि सीता चली गयी थीं। फिर सीता से वे कहते हैं—"सीता! मैं तुम्हें नहीं प्यार करता, मैं केवल अपने-आपको प्यार करता हूँ। यदि तुम आनन्द का कारण होती तो तुम्हारे चले जाने पर वह आनन्द भी नहीं रहता—"तत्सत्त्वे तत्सत्त्वता तदसत्त्वे तदसत्त्वता तदेव तस्य कारणम्"। अगर तुम्हारे पास रहने से आनन्द रहे, अगर तुम्हारे पास न रहने से आनन्द न रहे तभी ऐसा कह सकता हूँ कि तुम मेरे आनन्द का कारण हो। आग पास में रहने से शरीर गरम होता है; वही आग जब दूसरी जगह चली जाती है तब शरीर गरम नहीं रहता, इसी कारण तो कहा जाता है कि आग गरम होने का कारण है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, मन उसी आनन्द का भोक्ता है। मेरा मन तुम्हारे पास, मुझसे दूर था, तुम जब पास में आयी तब मन भी तुम्हारे साथ ही मेरे पास आया, मन को आत्मा के सान्निध्य से आनन्द मिला। अत्यन्त निकट आने पर वह मन आत्मानन्द में इतना विभोर हो गया, आत्मा में इतना लीन हो गया कि जब तुम चली गयी तब उसे इसकी खबर भी न रही। अतएव मेरी आनन्दानुभूति का कारण है मन का आत्म-सान्निध्य प्राप्त करना।"

इसीलिये वेदान्त विषयानन्द को आत्मानन्द का ही अध्यास मानता है। तुम लोग प्यार करते हो अपने आत्मा को और भूल से समझते यह हो कि तुम लोग प्यार करते हो मुझे—मेरे इस शरीर और मन को। तुम लोगों की इस भूल को दूर कर देना मेरा कर्तव्य है। तुम लोग अपने आत्मा को प्यार करते हो, आत्मा को खोजते हो, आत्मा को सुखी करने की चेष्टा करते हो; परन्तु यह जानते नहीं कि आत्मा कौन है, कहाँ है, वह कैसे सुखी होता है। सम्भवतः तुम लोग मेरे अन्दर अपने आत्मा को, तुम लोग जिसे प्यार करते हो उसे, जो कुछ तुम लोगों का इष्ट, अभीप्सित आदर्श है उसको, बहुत कुछ पाते हो, इसी कारण समझते हो कि मुझे प्यार करते हो। तुम लोग जिसको वास्तव में प्यार करते हो उसीके पास तुम लोगों को ले जाने के लिये मैं व्यस्त हो रहा हूं, चेष्टा कर रहा हूँ। बीज फटकर पेड़ होना चाहता है, पूर्ण परिणत, फल-फूल से सुशोभित एक वृक्ष में परिणत होना ही बीज की सार्थकता है। उसी तरह तुम लोगों का भी पूर्ण परिणति प्राप्त करना ही तुम लोगों के जीवन की सार्थकता है। जिसके भीतर तुम लोग अपनी उस पूर्ण परिणत अवस्था (fulfilment) का जितना सा आदर्श देखते हो उतना ही तुम लोग उसकी ओर आकृष्ट होते हो, उतना ही उसे प्यार करते हो, उतना ही उसकी तरह बनने की चेष्टा करते हो। हम लोग आदर्श मनुष्य को प्यार कर, भक्ति कर आदर्श जीवन प्राप्त करते हैं, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। इसीलिये तुम लोग मुझे प्यार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हो, मेरे पास आने की चेष्टा करते हो, मेरे समान होने से सुखी होते हो। विश्वास करो कि मैं भी तुम लोगों को सुखी करने के लिए इच्छुक हूं। परन्तु इस एक शरीर को भला मैं कितने आदमियों को दे सकता हूं ? इस वृद्ध, जराजीर्ण शरीर को कितनी जगह ले जा सकता हूँ ? इस शरीर को भला तुम लोग कितने दिन तक अपने पास रख सकते हो ? शरीर के मोह को दूर करना भी भगवान् का एक उद्देश्य है और इसी कारण यह मेरा भी काम है। कभी कभी प्रियजनों को जो भगवान् हमसे दूर ले जाते हैं उसके अन्दर भी भगवान् का एक मंगलमय उद्देश्य मुझे दिखायी देता है। वह हमारे मन को भीतर की ओर ले जाना चाहते हैं, धीरे-धीरे आत्मा के पास पहुंचाकर हमारे जीवन को सार्थक बनाना चाहते हैं, हमको पूर्णानन्द में डुबाये रखना चाहते हैं। वह प्रेममय भला यह कैसे सह सकते हैं कि हम केवल स्थूल शरीर को ही लेकर भूले रहें, इतना धोखा खायें ? इस श्लोक को स्मरण करो—

संगमविरहविकल्पेन संगमः विरहोऽपि तस्य।
संगमे एकरूपता विरहे तन्मयं जगत्॥

हमारा प्रियजन जब हमारे पास होता है तब हमारा सारा प्राण उसके स्थूल शरीर की ओर लगा रहता है; जब वह हम से दूर चला जाता है तब हमारा मन उसके गुणों को स्मरण करता हुआ उसके सूक्ष्म भावों की ओर जाने की चेष्टा करता है। अगर हमारा मन उसके आत्मा तक चला जाय तब आत्मा के सर्वव्यापी होने के कारण वह जगत् के सभी पदार्थों में अपने प्रियजन का आस्वादन करता है, उस समय जगत् तन्मय (प्रियजनमय) हो जाता है, मन भी तन्मयता प्राप्त करता है। उसी समय वास्तविक प्रेम सार्थक होता है।

तुम लोग यह अच्छी तरह याद रखना कि किसी को भी केवल स्थूल में पाना चार आना मात्र पाना है, सूक्ष्म में पाना आठ आना है, कारण में पाना बारह आना है, केवल आत्मा में ही पाना सोलह आना पाना है। उस समय पाना अविराम पाना है, उस पाने की सीमा नहीं। उसी पाने में प्रियजन को भी पाया जाता है, आत्मा और परमात्मा को भी पाया जाता है। तुम लोग ऐसी चेष्टा करो जिसमें अपने प्रियजन को थोड़ा अधिक पा सको। उस समय तुम लोग देखोगे कि तुम लोगों का जो प्रिय है वही तुम लोगों का 'परम श्रेयः' बन गया है। तुम लोगों का पाना, तुम लोगों का प्रेम भगवत्प्राप्ति में, भगवत् प्रेम में परिणत हो कर सार्थक हो गया है। तुम्हीं लोग इस बात के साक्षी हो कि दूर रह कर अधिक पाया जाता है, सुन्दर रूप में पाया जाता है। इस बात को थोड़ा सोच विचार कर देखो कि जिसे तुम लोग पाना चाहते हो उसे किस तरह पूर्ण रूप से पा सकते हो। अगर मैं पांच आदमियों का समष्टि होऊं तो मेरे भीतर के पांचों आदमियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को पाये बिना क्या मुझे अच्छी तरह पाया जा सकता है ? मेरे भीतर साधारणतः है एक शरीर, एक प्राण, एक मन, एक बुद्धि, एक अहंकार, एक आत्मा। इसके साथ ही यह भी सदा याद रखना चाहिये कि पाने का मतलब है जानना और होना। जब तक किसी को अच्छी तरह जाना नहीं जाता, उसमें तन्मय नहीं हुआ जाता तब तक उसे अच्छी तरह पाया भी नहीं जा सकता। स्थूल शरीर को पाना बड़ा आसान है, क्या तुम लोग केवल उसी को पाना चाहते हो ? उसमें अगर प्राण न हो तब तो उसे मुंह में आग डाल कर विदा कर देना होगा। उसके बाद प्राणयुक्त शरीर को भी यदि पा लो तो उसे भी कितने दिन पकड़ कर रख सकते हो ? प्राण को पाना उतना सहज नहीं है। किसी के प्राण को पाने के लिये उसके प्राण को जानना होगा; उसका प्राण कितना उदार है, उसका प्राण सबको कितना प्यार करता है, सबके सुख के लिये कितनी चेष्टा करता है— यह सब अच्छी तरह जानना होगा; उसी की तरह सोचना, काम करना सीख कर अपने प्राण को उसके प्राण-जैसा बनाना होगा। जिसका प्राण जीव के दुःख के प्रति उदासीन हो वह उसके प्राण को हृदयंगम नहीं कर सकता जो जीव के दुःख से कातर हो उठता है। किसी आदर्श पुरुष के मन को पाने के लिये यह जानना होगा कि उनका मन कितना द्वन्द्वातीत, कामना-वासना-आसक्ति से रहित, निर्मम, निरहंकार, शुद्ध, शांत, 'सर्वभूत-हिते रतः' है, उनका ध्यान करके उनके मन के जैसा अपने मन को तैयार किये बिना उनके मन को ज़रा भी नहीं पाया जा सकता। उनकी बुद्धि को पाने के लिये यह अनुभव करना होगा कि उनकी बुद्धि कैसी संकल्प-विकल्प-रहित, निश्चयात्मिका है, किस प्रकार सच्चे सार पदार्थ का निश्चय कर वह उसमें कैसे तन्मय रहती है, अन्य भावों से रहित होती है, और फिर अपनी बुद्धि को वैसी ही बनाने की चेष्टा करनी होगी। उनके अहंकार को पाने के लिये यह जानना चाहिये कि उन्होंने किस प्रकार अपने व्यक्तिगत तामसिक अहंभाव का त्याग कर, अपने को भगवान् का अंश या प्रतिबिम्ब समझ कर, उसी भाव में आत्म निवेदन कर, उनका (भगवान् का) हो कर दास भाव से उन्हीं की सेवा में, उनके प्रिय कार्य को करने में अपने आप को नियुक्त कर रखा है और इस तत्त्व को ठीक ठीक समझ कर उन्हीं की भांति 'दासोऽहम्'-भाव प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। उनकी आत्मा को अगर पाना हो तो उसे तभी पा सकते हो जब तुम पूर्ण रूप से उन्हीं के साथ तन्मयता प्राप्त कर अपने आत्मा के नित्य, सर्वगत, शुद्ध, बुद्ध, अपाप-विद्ध, आनन्दरूपममृतं, शांतं, शिवमद्वैतम् तत्त्व का आस्वादन करोगे। याद रखो तभी उन्हें पूर्ण रूप से पाया जा सकता है।

जो लोग चिट्ठी में 'प्राणाधिक' 'मैं तुम्हारा हूँ' इत्यादि बातें पढ़ कर भुलावे में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आ जाते हैं, प्रतारित होते हैं, उनकी बात अलग है। बिना दिये पाया नहीं जा सकता। यह भगवान् का विधान है। अपनी समस्त कामना, वासना, आसक्ति, सुखस्पृहा, प्रतिष्ठा, मोह आदि का विसर्जन कर उन्हीं में तन्मयता लाभ किये बिना, 'तन्निष्ठ तत्परायण' हुए बिना किसी को भी नहीं पाया जा सकता। विचार करके देखो कि वृन्दावन की गोपियों ने कब और किस प्रकार से श्रीकृष्ण को पाया था। वे भगवान् को पाने का रास्ता जीव को दिखा गई हैं। तन्मनस्का, तदालापा, तद्विचेष्टा, तदात्मिका होने से जब देह, गेह की स्मृति तक चली गयी थी तभी उन्होंने अपने अभीप्सिततम प्राणाराम को पाया था। उनका वह पाना ऐसा पाना था कि उस पाने के वर्णन मात्र से शुकदेव मतवाले हो गये थे, चैतन्यदेव ध्यान में समाहित हो गये थे। याद रखना आत्मा तक पाये बिना कुछ भी पाना नहीं होता। अगर किसी को भी पाने की साध हो तो पाने के लिये साधना आरम्भ करो। अपने आपको जितना पाओगे उससे अधिक किसी को भी नहीं पा सकते। तुम लोग स्वयं अपने भीतर घुसने की चेष्टा करो, अपने प्रियजन को भी अपने भीतर घुसने में सहायता करो। अपने को जितना पाओगे, प्रियजन को भी ठीक उतना ही पा सकोगे, उससे अधिक ज़रा भी नहीं। जो अपने आपको जितना सा पाना सीखा है वह किसी भी साधु महात्मा के पास जा कर उन्हें उतना ही पा सकता है। अवश्य ही जिसने अपने आपको अधिक मात्रा में पाया है उसके सान्निध्य में जाने से अपने को प्राप्त करने में बहुत आसानी होती है। किसी 'जगदीश वसु' के पास जाकर विज्ञान पढ़ सकना आसान है। पर जब तक 'जगदीश वसु' के ज्ञान का कोई एक तत्त्व जानकर, उस तत्त्व को हृदयंगम कर अपना नहीं बना लिया जाता तब तक उनको उस विषय में ज़रा भी नहीं पाया जा सकता।

तो स्थूलतः समीप रहकर पाने में जिस तरह एक सुविधा है उसी तरह एक असुविधा भी है, एक महान् विपत्ति भी है। मनुष्य के अन्दर से अहंभाव की प्रतिष्ठा करने का मोह जल्दी नहीं जाता। वह अपने जानने के लिये जितना व्यस्त होता है उससे अधिक दूसरे को जानकर प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये व्यस्त होता है। थोड़ा सा पाकर ही स्वयं जो कुछ पाया है उसे दूसरों को जनाने के लिये व्यग्र हो उठता है। इसीलिये पूर्णरूप से पाने से पहले, अहंकार दूर होने से पहले अपने पाने की बात किसी से भी नहीं कहनी चाहिये। मंत्ररहस्यसिद्धि को मातृजारवत् छिपा कर रखना चाहिये। प्रकाश के नीचे जो अंधकार होता है, महापुरुषों के सन्तान और भक्त जो बहुत बार वंचित होते हैं, पीछे पड़ जाते हैं, इसका कारण भी यही दिखायी देता है। पास रहने की, सेवा करने की वासना बहुत बार इतनी प्रबल हो उठती है कि उस समय अन्य साधना की बात, उपदेश की बात याद ही नहीं रहती। समीप रहकर सावधान होने की अपेक्षा बहुत बार दूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रह कर सावधान होना आसान होता है। इसीलिये जो लोग सचमुच में अपना मंगल चाहते हैं वे कुछ दिन समीप रहकर, कुछ देख-सुन-समझ लेते हैं और फिर उसके बाद कुछ दिन दूर रहकर साधना के द्वारा उस विषय में सिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। जितना सा देखा है, उपदेश सुना है, उतनी सी तन्मयता प्राप्त करने की, उतना सा लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं। उसके बाद फिर कुछ दिन और समीप रहकर कुछ जानने, पाने और होने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार करने के कारण पाना भी स्वाभाविक होता है, प्रतिष्ठा का मोह भी नहीं जगने पाता, दूसरा कोई भी धोखा नहीं खाता। मनुष्य में अपने सुख की इच्छा, अधिक खाने, जल्दी-जल्दी खाने की इच्छा इतनी प्रबल होती है कि अपनी हज़म करने की शक्ति की ओर वह उस समय एक बार भी नहीं देखता, यहां तक कि उपदेशों को भी ठीक-ठीक नहीं समझ पाता। उस समय अन्तर्यामी भगवान् बड़ी चतुराई के साथ उसे ठीक रास्ते पर आने के लिये बाध्य करते हैं। भगवान् में प्रेम की अधिकता होने के कारण वह किसी पर ज़ोर करना पसन्द नहीं करते। हम लोग अपने-आप ठीक रास्ते पर चलने, उनको सुखी करने की चेष्टा नहीं करते। वह जितना देना चाहते हैं उसके करोड़ भागों में से एक भाग भी हम लेना नहीं जानते। वह चूँकि मां हैं, इसलिये कुपथ्य देकर सन्तान का अनिष्ट करना नहीं चाहते। तुम लोग चाहते हो, मैं भी कहता हूँ, खूब पाओ, पूर्ण होओ, थोड़े से तृप्त मत होओ, पर उसे हज़म करो।

इस प्रकार कई विषयों में उपदेश और दृष्टान्त के द्वारा तुम लोगों को शिक्षा देने की यथेष्ट चेष्टा की गयी है। परन्तु जितनी शिक्षा की जरूरत थी क्या उतनी शिक्षा हुई है? मुझे पाने की, मेरा संग प्राप्त करने की यदि इच्छा हो तो तुम लोग यह समझने की चेष्टा करो कि कौन-कौन से भाव मुझे प्रिय हैं। उनमें से दो-तीन को विशेष रूप से ग्रहण कर उनके अनुसार जीवन बनाने की चेष्टा करो। मैं कैसे चलता हूं, क्या पसन्द करता हूँ विशेषतः युवावस्था में मैं किस प्रकार चला करता था उसे थोड़ा और भी अधिक प्राण देकर अच्छी तरह समझने की चेष्टा करो। अपने संस्कार और अभिप्राय का त्याग कर देखना और समझना होगा, अन्यथा भूल होना ही स्वाभाविक है। खूब शान्त होकर विचार करो और देखो कि तुम लोग मुझसे क्या चाहते हो। यदि कोई सांसारिक चीज़, किसी प्रकार की प्रतिष्ठा चाहो तो उसे मेरे पास नहीं पा सकते। यदि अन्य सभी अभिलाषाओं को छोड़कर अपना कल्याण चाहो, शांति चाहो, भगवान् को चाहो तब यथासम्भव सहायता पा सकते हो। तब खड़ा होना होगा अपनी इच्छा से अपने पैरों, क्योंकि मैं किसी को भी अपनी इच्छा के अधीन गुलाम बनाकर रखने के लिये बाध्य नहीं। मैं स्वाधीनता पसंद करता हूँ और इसी कारण सबको स्वाधीनता देना, स्वाधीन देखना भी पसंद करता हूँ। याद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखना, मेरी स्वाधीनता उच्छृङ्खलता नहीं है। 'स्व' के, परमात्मा के, भगवत्-विधान के अधीन होने का नाम स्वाधीनता है—मेरे भगवान् सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा हैं—अतएव सबके भीतर उनका ध्यान करना, दर्शन करना, सेवा करना ही मेरी साधना है। जिस तरह इस शरीर के अन्दर से उनको प्रस्फुटित करके व्यक्त करने की चेष्टा मैं करता हूँ उसी तरह सब शरीरों के भीतर से उनको प्रस्फुटित कर व्यक्त किए बिना मेरा काम नहीं चल सकता। हम सब उसी एक के देश से आए हैं सब को एक देखने के लिए, एक करने के लिए। यह शरीर अब उतना काम नहीं कर सकता—तुम लोग मुझे थोड़ी सहायता करो। उठो, जागो, श्रेष्ठ को पाकर श्रेष्ठ बनो। तुम लोग वीर बनो—कापुरुषता, हतोत्साह हो जाना मैं सहन नहीं कर सकता। मेरे भीतर के इस तेजोमय भाव के लिये ही मेरे नरेनदा (तुम लोगों के स्वामी विवेकानन्द) मुझे इतना स्नेह करते थे। अमृत की संतानों को अमर बनाना होगा। स्वयं अमर हुए बिना किसी को भी अमर नहीं बनाया जा सकता। किसी की बात मैं नहीं भूलता, किसी को भी मैं दूर रखना नहीं चाहता, किसी को भी अग्राह्य बनाने, पर समझने का मैं अभ्यासी नहीं। सबको उन्नत करना होगा, शांति देनी होगी, एक करना होगा। किसी वैष्णव कवि ने कहा है—

"पैर पकड़ कर भी नाम उच्चारण कराओ, कोई वंचित न रह जाय।"

विश्वास रखो, मेरे लिये अदेय कुछ भी नहीं, लेना सीखते ही, हजम करना सीखते ही पा जाओगे। कितना मैं बकता हूं, कितना अनुरोध करता हूँ, उसके अन्दर मेरे प्राण की ओर दृष्टि उठाकर देखना। इधर कई वर्षों से तुम लोगों को निम्नलिखित कुछ बातें सिखाने की चेष्टा कर रहा हूँ, मैं इसमें कितना सफल हो सका हूँ यह तुम लोग ही विचार करके देखना—(१) घोर आसक्त व्यक्ति जिस तरह सब चीज़ों को यत्न के साथ रखता है, मन लगाकर सब काम करता है, उसी तरह हमें भी पूर्ण अनासक्त हो कर सब चीज़ों को यत्नपूर्वक रखना चाहिये, सब काम करना चाहिये; तुम लोग जानते हो कि मेरी पुस्तकें, सभी चीज़ें किस प्रकार सुरक्षित रहती हैं, परन्तु साथ ही शायद तुम लोगों को यह विश्वास करने का यथेष्ट कारण मिला होगा कि अगर वे सब आग में जल जायं तो भी मैं तनिक भी दुःखी नहीं हूँगा। (२) मनुष्य को इतना प्यार करना होगा जितना प्यार पाने की आशा वह कहीं भी न करता हो, फिर भी उस प्यार में बिंदु मात्र भी आसक्ति या निज सुखस्पृहा नहीं होनी चाहिये। उसके अन्दर सत्-दृष्टान्त सदा सुरक्षित रहना चाहिये। एक शब्द में अनासक्त अनुरागी होना चाहिये। (३) सब कार्यों को पूजा में परिणत करना चाहिये—फुलवारी के पेड़ों की सेवा और हारमोनियम की शिक्षा के द्वारा इसकी शिक्षा देने की चेष्टा की गई है। इसके अन्दर आसक्ति या मोह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भाव क्या कभी खोजने पर भी तुम लोगों को मिला है? कितनी बार मन-ही-मन तुम लोगों को दुःख हुआ है। (४) निर्मम निरहंकार होना चाहिये। मेरा कहलाने योग्य कुछ भी नहीं होगा, फिर भी "सर्वं त्वदीयमिति मे प्रियमेव सर्वम्"—सब उनका होने के कारण सबको प्राण खोलकर प्यार करना होगा, आदर करना होगा। (५) किसी कार्य में अपने स्वार्थ, सुखस्पृहा, प्रतिष्ठा का मोह नहीं रहना चाहिये—उद्देश्य होना चाहिये भगवान् की इच्छा को पूरा करना, जीव का कल्याण करना। अनासक्त, फलाकांक्षावर्जित हो कर यज्ञार्थ, भगवत्प्रीत्यर्थ सब कार्य करना चाहिये। (६) धनी और नारी जाति के साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिये जिसमें अनादर का भी भाव न हो, आसक्ति भी न हो। आवाहन विसर्जनहीन और अनुराग आसक्तिहीन होना चाहिये। (७) प्रतिष्ठा को सदा त्याज्य समझना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकार और उद्धार

रचयिता—पं० दीनानाथ भार्गव 'दिनेश'

मानव ! विकार का भार लिये फिरता है।
अपनी करनी से आप स्वयं गिरता है॥

सोने सा सुन्दर तूने नर तन पाया।
तुझ पर विधि नें करुणा का नभ है छाया॥
उठकर 'दिनेश' ने जीवन पथ दर्शाया।
शशि बालाओं ने सौम्य सुधा बरसाया॥
उन सबकी खोकर देन न जाने क्यों तू,
घुटता घुलता चिन्ताओं में घिरता है।
मानव ! विकार का भार लिये फिरता है॥

तू निर्मल तूने पहिना दूषित बाना।
मन की मृदंग में भूल गया तू गाना॥
छोड़ा विराग का राग मधुर मस्ताना।
यौवन के मद ने बना दिया दीवाना॥
ममता की मृगतृष्णा की भूल भटक में,
ओ अस्थिर ! तेरे सुख में अस्थिरता है।
मानव ! विकार का भार लिये फिरता है॥

बहती अनन्त से रहती सुख दुख धारा।
यह मृत्युलोक है उसका एक किनारा॥
उस पार लोक आलोकित ध्येय हमारा।
नर तरते पुरुषोत्तम का लिये सहारा॥
तू परम पिता का पूत कपूत भले ही,
पर वह तेरा उद्धार लिये फिरता है।
मानव ! विकार का भार लिये फिरता है॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीता में अनासक्ति-योग

(ले०—श्री अनिलबरण राय)

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ गीता ६।४

जब मनुष्य इन्द्रियभोग्य विषयों में अथवा कर्म में आसक्त नहीं होता और सब प्रकार के संकल्पों का त्याग करता है तभी उसे योगारूढ़ कहते हैं।

जो मनुष्य योग के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया है वह किसी इन्द्रियभोग्य विषय में आसक्त नहीं होता और न किसी कर्म में ही आसक्त होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह विषय का ही त्याग कर देता है, कर्म का ही परित्याग करता है, बल्कि इसका अर्थ केवल यही है कि वह साधारण मनुष्यों की तरह इन सब बातों में आसक्त नहीं हो जाता और यहां पर बस गीता इतना ही कहना चाहती है। साधारण मनुष्य आसक्ति के वश में होता है और इसी कारण उसका चित्त चंचल और विक्षुब्ध रहता है—भोग्य वस्तु के सामने आने पर उसे पकड़ने के लिये वह चंचल हो उठता है, सर्वदा ही कोई-न-कोई कर्म करने के लिये वह बेचैन रहता है—इस प्रकार सदा चंचल और विक्षुब्ध रहने के कारण वह आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। परन्तु योगी सब प्रकार की आसक्ति को त्याग देता है, सब प्रकार के संकल्पों को छोड़ देता है, वह अपने भोग के लिये कोई चीज नहीं चाहता, अपने लिये कोई काम करने के लिये वह नहीं छटपटाता, इसी कारण वह प्रशान्त रहता है, वह सदा ही गम्भीर शान्ति में प्रतिष्ठित रहता है और उसीसे ज्ञान परिपक्व होता है और योग में दृढ़ता प्राप्त होती है।

यहां पर कर्म में आसक्ति का त्याग करने का मतलब यह निकलता है कि योगी वास्तव में कर्म का परित्याग नहीं करता। परन्तु शंकर ने यह अर्थ नहीं ग्रहण किया है। उनके मतानुसार कर्म का त्याग किये बिना कोई योगी नहीं हो सकता। इसी कारण उन्होंने यहां पर 'अनुषज्जते' शब्द का अर्थ 'आसक्ति' नहीं किया है। गीता के दूसरे सभी व्याख्याकारों ने 'न अनुषज्जते' का सहज और स्वाभाविक अर्थ 'आसक्त नहीं होता' ही ग्रहण किया है। परन्तु शंकर की कुशाग्र बुद्धि ने यह देखा कि यह अर्थ ग्रहण करने से अपना मत ही दुर्बल हो जायगा, इसलिये उन्होंने इसका एक अपना कपोलकल्पित कृत्रिम अर्थ कर डाला। वह अर्थ करते हैं कि, नानुषज्जते अनुषंगं कर्त्तव्यताबुद्धिं न करोति इत्यर्थः। अर्थात् कर्म में जिसकी कर्तव्यबुद्धि नहीं है, अतएव जो कर्म नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता। परन्तु वास्तव में आसक्ति का अर्थ कर्तव्यबुद्धि नहीं है, बल्कि आसक्ति का त्याग कर कर्तव्यबुद्धि से सब कर्म करना ही गीता के मतानुसार सच्चा कर्मयोग है। एक दूसरे स्थान में गीता कहती है—

> तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
> असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ ३।१९

इसके अतिरिक्त इसी श्लोक में केवल कर्म में अनुषंग का त्याग करने को नहीं कहा गया है बल्कि इन्द्रियभोग्य विषय में भी अनुषंग का त्याग करने को कहा गया है। इन्द्रिय-विषय में कर्तव्यताबुद्धि का त्याग करने की अद्भुत बात सुनाना निश्चय ही गीता का उद्देश्य नहीं है। अतएव यहां पर अनुषंग का अर्थ आसक्ति ही समझना होगा—बाह्य विषय या कर्म का त्याग नहीं; इन सब चीज़ों में आसक्ति का त्याग ही गीता की शिक्षा है।

शंकर ने आसक्ति के त्याग और कर्म के त्याग, तथा संसार के त्याग दोनों को एक कहा है, उनके मत में आसक्ति का त्याग करने का अर्थ ही है संसारत्यागी संन्यासी हो जाना। इस तरह शंकर ने जो गीता की व्याख्या की है उसी को गीता की वास्तविक व्याख्या मानकर आधुनिक शिक्षित व्यक्तियों-से बहुत से लोग गीता की शिक्षा के प्रति उदासीन हो गये हैं। उनका कहना है कि गीता के अन्दर कुछ अच्छी बातें होने पर भी वे सब विरोधपूर्ण हैं और मानव समाज के लिये कल्याणकारी नहीं हैं। अभी हाल में इसी तरह के एक विख्यात लेखक ने यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि "गीता ग्रन्थ का ईश्वरवाद प्रलोभक होने पर भी उसके भीतर बहुत से विरोधी तत्त्वों का प्रसंग विद्यमान है। वैराग्यवाद, अनासक्तिवाद और संन्यासवाद पूर्णतर और व्यापकतर जीवन के लिये सहायक नहीं हैं। भारत की अधोगति का मूल कारण यह संक्रामक वैराग्यवाद ही है। कामिनीकांचन का त्याग आदि इसीका एक अवश्यम्भावी क्षुद्र अंगमात्र है। तंत्र में नारी को तथा देवी को ही शक्तिस्थानीया कहा गया है। तान्त्रिक बौद्ध और हिन्दूवाद एक मुहूर्त्त में सारे एशिया को अजेय बनाता है। मायावाद और संन्यासवाद के साथ भोग वा शक्तिवाद को नहीं युक्त किया जा सकता। विवेकानन्द ने मायावाद का प्रचार किया है—ठाकुर रामकृष्ण ने भी कामिनीकांचन का प्रश्न उपस्थित किया है; अथच कार्यतः शक्तिरूपिणी नग्ना शिवसंयुक्ता तांत्रिक महादेवी की ही उन्होंने आराधना की है। इस कारण अवश्यंभावी आत्मविरोध, अस्पष्ट प्रतीति और सत्य की अवगुण्ठित मूर्त्ति का ध्यान आ उपस्थित हुआ है। कुलार्णवतंत्र का 'भोगो योगायते सम्यक्' और 'मोक्षाय...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसार।' जिस अध्यात्मपुरी का द्वार उन्मुक्त करता है उससे बीसवीं शताब्दी के मध्यकाल तक इस देश ने किनारा ही काटने की चेष्टा की है।"

लेखक ने यहाँ पर वैराग्य और अनासक्ति को शंकर का अनुसरण करते हुए कर्मत्याग-मूलक संन्यास के साथ एक कर दिया है और इसी कारण उन्हें गीता के अन्दर विरोध दिखाई पड़ा है—क्योंकि गीता ने वैराग्य और अनासक्ति के ऊपर जिस प्रकार ज़ोर दिया है कर्मके ऊपर भी उसी तरह ज़ोर दिया है—कर्मत्याग करने के प्रति आसक्ति का भी त्याग करने को कहा है—"मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।" इसमें कोई संदेह नहीं कि शंकर द्वारा प्रचारित संक्रामक संन्यासवाद भारत की अधोगति की जड़ में मौजूद है, परन्तु यह याद रखना चाहिये कि गीता ने वैसे संन्यासवाद का प्रचार नहीं किया है—गीता ने जिस वैराग्य, अनासक्ति, संन्यास के आदर्श का प्रचार किया है उसके साथ जीवन का या संसार के कर्म का, यहां तक कि युद्ध जैसे घोर कर्म का भी विरोध नहीं है—गीता का आदर्श भगवान् यों कहते हैं—

> मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
> निराशी र्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः॥ ३।३०

यहां पर गीता सर्व कर्मों का संन्यास करने को कहती है और साथ ही उत्साह के साथ युद्ध करने को भी कहती है। यहां पर संन्यास का अर्थ क़र्मत्याग नहीं है, उसका अर्थ है सब कर्मों को भगवान् में न्यस्त करना, भगवान् को अर्पण करना। मैं कर्त्ता नहीं हूँ, प्रकृति ही भगवान् के आदेशानुसार मेरे स्वभाव द्वारा सब कर्म करती है—यह उपलब्धि होने पर ही सब कर्म भगवान् को अर्पण करना संभव होता है और यही है गंभीर और पूर्ण मुक्ति। इसके लिये आवश्यकता है सब प्रकार के अहंकार, कामना-वासना और आसक्ति का त्याग करने की।

पश्चिमी शिक्षा पाये हुए लोग शंकर के साथ सहमत हुए हैं, क्योंकि उनके विचार में कामना, आसक्ति, अहंभाव के न होने पर कर्म हो ही नहीं सकता, यहां तक कि सारा जीवन ही शून्य हो जाता है, अतएव आसक्ति आदि का त्याग करना और संसार छोड़कर संन्यासी हो जाना एक ही बात है। किन्तु गीता ने बार-बार ठीक इसी मत का प्रतिवाद किया है।

पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव में पड़ कर हमारे देश के शिक्षित लोगों ने वासना और आसक्ति के वशवर्ती अहंभावापन्न जीवन को ही जीवन समझना सीखा है। यह भी एक जीवन है इसमें संदेह नहीं। परन्तु इसी में जीवन की पूर्णता नहीं है, यह मनुष्य को क्षुद्र तुच्छ सुखभोग के प्रति आकृष्ट कर रखता है, इस जीवन के साथ जरा, व्याधि,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृत्यु, आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक सब प्रकार के दुःख इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि भारत के अध्यात्म शास्त्र में इस जीवन को मृत्यु ही कहा गया है, मृत्युसंसारसागरात्। इस जीवन को एकदम छोड़ कर ब्रह्म में लीन हो जाना ही संन्यासियों की शिक्षा है। परन्तु आसक्ति का वर्जन कर इसी जीवन को रूपान्तरित करना, इसी क्षुद्र जड़ मानव् शरीर के अन्दर सच्चिदानन्द के अनंत ज्ञान, शक्ति, प्रेम, आनन्द को प्रकट करना ही मानव जीवन की सच्ची पूर्णता है, मानव जन्म का वास्तविक लक्ष्य है। वेद, उपनिषद् और गीता में हम ऐसे ही पूर्ण अमृत दिव्य जीवन का संकेत पाते हैं। युग-युगांतर की अभिज्ञता और साधना के द्वारा मनुष्य पृथ्वी पर ऐसे ही दिव्य जीवन को प्राप्त करने के लिये प्रस्तुत हुआ है और इसी को कार्यतः सुसिद्ध करना वर्तमान युग में श्रीअरविन्द का महान् जीवन-व्रत है।

इन्द्रियभोग्य विषयों की आसक्ति को छोड़ना ही होगा। अमुक भोग्य विषय मुझे चाहिये ही, इसके बिना मेरा काम चल ही नहीं सकता—इस प्रकार के भाव को ही आसक्ति कहते हैं। यही दुःख का मूल है, क्योंकि संसार में हम कौन सी चीज़ पायेंगे या नहीं पायेंगे यह हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं करता। भगवान् की इच्छा के अनुसार ही संसार के सभी कार्य व्यवस्थित होते हैं। अतएव जो लोग किसी चीज़ के प्रति आसक्त न हो कर भगवान् की इच्छा के साथ अपनी इच्छा युक्त कर देते हैं, मिला देते हैं, भक्ति के साथ यह कहते हैं कि "हे भगवान्! मैं सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय की कोई भी परवाह नहीं करूंगा, तू अपने हाथ से जो कुछ मुझे देगा उसे ही माथे चढ़ाऊंगा" वे ही वास्तव में संसार का रहस्य समझते हैं, वे सब वस्तुओं में, सब घटनाओं में एक समान आनन्द पाते हैं, वे सब वस्तुओं के स्पर्श में परम प्रेमास्पद के आलिंगन का सुख उपभोग करते हैं। किसी बाह्य वस्तु को सुख का आकर, सुख का कारण समझना अज्ञान है। वास्तव में सब प्रकार के आनन्द का मूल स्रोत सच्चिदानन्द आत्मा या भगवान् हमारे अन्तरतम प्रदेश में विराजमान हैं, हम अपनी मूल सत्ता में उनके साथ एक हैं—बाह्य वस्तुओं की आसक्ति का त्याग करने का अभ्यास करने से हमें अपने अन्दर विद्यमान इस अनन्त आनन्द के भंडार का पता मिलता है, उसके अन्दर प्रतिष्ठित होने से हमारा सारा जीवन आनंदमय बन जाता है। और इस प्रकार अन्तर में जिस आत्मा और भगवान् का हमें पता मिलता है, बाहर में विचित्र वस्तुओं और घटनाओं के अन्दर, सब जीवों के, सब मनुष्यों के अन्दर हम उसी एक ही सच्चिदानन्द को देखते हैं, स्पर्श करते हैं, उनके प्रेम का अनुभव करते हैं—इसकी अपेक्षा अधिक पूर्ण, व्यापक और कौन सा जीवन हो सकता है? जब तक हम वासना और आसक्ति के वश में रहते हैं तब तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम अपने आपको तुच्छ, क्षुद्र सुखों के अन्दर ही सीमाबद्ध रखते हैं. वे सुख देखते-देखते खतम हो जाते हैं, उन सुखों को पाने में दुःख, उनके भोग में दुःख, आगे, पीछे और बीच में दुःख उनके साथ ओतप्रोत होता है, इसलिये अध्यात्म शास्त्र उन्हें दुःख के अन्दर ही शामिल करता है। आसक्ति का त्याग कर, तथा सब प्रकार की आसक्ति और वासना के मूल क्षुद्र अहंभाव का त्याग कर इस व्यापक दुःख का मूलोच्छेद किया जाता है। उस समय फिर इन्द्रिय-भोग्य विषयों का त्याग करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, इन्द्रियां भी रूपान्तरित हो जाती हैं, उनमें नवीन शक्तियों का विकास होता है, इसी अवस्था को लक्ष्य करके ही तंत्रशास्त्र में कहा गया है—भोगो योगायते सम्यक्। गीता भी कहती है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ २।६४

केवल इन्द्रियभोग्य विषयों की आसक्ति को ही नहीं, वरन् कर्म की आसक्ति को भी छोड़ना होगा। कर्म की आसक्ति छोड़ने का वास्तविक अर्थ क्या है, इसकी धारणा करना आधुनिक मनुष्य के लिये कठिन है; क्योंकि आधुनिक मनुष्य पाश्चात्य भाव से प्रभावित हुआ है; और पाश्चात्य आदर्श है कर्मवाद, activism, dynamism। अनवरत अश्रान्त भाव से कर्म करो—बस यही पाश्चात्य शिक्षा है। आसक्ति के साथ, आग्रह के साथ कर्म करना ही पाश्चात्य मतानुसार प्रकृत जीवन है। हमारे देश के शिक्षित व्यक्तियों ने भी इसी आदर्श को ग्रहण किया है। और केवल इतना ही नहीं, उन में से बहुतेरों ने गीता के भीतर से भी यही अर्थ बाहर किया है। उनके मतानुसार गीताने पाश्चात्य कर्मवाद या activism की ही शिक्षा दी है। उनके मत में गीताने जो अनासक्ति की बात कही है वह है कर्मफल की आसक्ति का त्याग, Duty for the sake of duty। महात्मा गांधी ने अपने गीता-भाष्य में गीता की अनासक्ति की यही व्याख्या दी है और गीता के योग को 'अनासक्तियोग' के नाम से अभिहित किया है। उन्होंने लिखा है, "जो मनुष्य परिणाम को ध्यान में रखकर कार्य करता है वह बहुत बार कर्म और कर्तव्य से भ्रष्ट होता है। उसके भीतर अधीरता आती है, उसके कारण वह क्रोध के वशीभूत होता है और फिर जो नहीं करना चाहिये वही करता है। × × × फलासक्ति के ऐसे कटु परिणाम से गीताकार ने अनासक्ति अर्थात् कर्मफल के त्याग का सिद्धान्त बाहर कर अत्यन्त चित्ताकर्षक भाष्य में उसे जगत् के सामने उपस्थित किया है।"

इसमें कोई संदेह नहीं कि गीता ने कर्मफल के त्याग की शिक्षा दी है। गीता ने कहा है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। किन्तु साधारणतया लोग जो यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझते हैं कि यही गीता का महावाक्य है, यह वास्तव में ठीक नहीं है, और गीता की अनासक्ति केवल कर्मफल के प्रति ही अनासक्ति नहीं है, बल्कि वह और भी गंभीर और व्यापक है। गीता ने जो यह कहा है कि 'कर्म में तुम्हारा अधिकार है', यह बात पाश्चात्यभावापन्न मन के लिये बहुत आदरणीय होने पर भी यही गीता की चरम वाणी नहीं है। यह तो केवल गीता के कर्मयोग की प्रथम अवस्था के लिये उपयोगी उपदेश है। क्रमशः साधक को इस अवस्था के परे उठना होगा, यह अनुभव करना होगा कि वास्तव में कर्म में उसका अधिकार नहीं है। 'मैं कर्म करता हूँ'—यह धारणा अज्ञान से उत्पन्न होती है। प्रकृति ही सत्त्वादि गुणों के द्वारा हमारे सभी कर्मों को करती है। जब इस सत्य की उपलब्धि होती है तब केवल कर्मफल से ही नहीं, बल्कि कर्म से भी आसक्ति चली जाती है। तभी साधक वास्तव में मुक्त, योगारूढ़ होता है। उस अवस्था में भी उसके भीतर प्रकृति का कर्म जारी रह सकता है और जारी रहता है, परन्तु वह कर्म किसी प्रकार की भी प्रतिक्रिया या बन्धन की सृष्टि नहीं करता, अतएव उस समय कर्म-त्याग की आवश्यकता या सार्थकता भी नहीं रहती। अपनी कोई आवश्यकता न होने पर भी मुक्त पुरुष जगत् के हित के लिये, लोकसंग्रह के लिये आवश्यक, कर्तव्य कर्म को सुचारु रूप से ही संपन्न किया करते हैं। अर्थात् मुक्त, स्वाधीन भाव से वे अपनी प्रकृति को उन कर्मों को करने की अनुमति दिया करते हैं। प्रकृति के द्वारा चालित होकर वे कर्म में लिप्त नहीं हो जाते। यही कर्म में अनासक्ति है।

परन्तु शंकर ने कर्म की आसक्ति का त्याग करने का अर्थ एकदम सब प्रकार के कर्मों का त्याग ही समझा है। उनके मत में सर्वकर्मत्यागी संन्यासी ही सच्चा योगारूढ़ है। आधुनिक मनुष्य शंकर की इस शिक्षा को नहीं ग्रहण कर पाते, कर्म उन्हें चाहिये ही, इसी कारण वे कहते हैं कि शंकर का अद्वैतवाद महान् होने पर भी उनका संन्यासवाद वर्जनीय है। वे देखते हैं कि एक को ग्रहण करने से दूसरे को भी स्वीकार करना पड़ता है, अन्यथा संगति नहीं रहती। महात्मा गांधी ने अपने गीता-भाष्य में इस समस्या का यह समाधान किया है कि सब कर्म त्याज्य नहीं हैं, बल्कि जो कर्म आसक्ति के बिना नहीं हो सकते वे ही सर्वथा त्याज्य हैं। उनके मत में युद्ध, हिंसा, रक्तपात आदि कार्य आसक्ति के बिना नहीं हो सकते, अतएव इन सब कर्मों का त्याग करने की ही शिक्षा गीता देती है। परन्तु गीता ने स्पष्टरूप से यह बात कही है कि अनासक्त होकर हत्या की जा सकती है। गीता ने भी अहिंसा की शिक्षा दी है—परन्तु वह भीतरी, बाहरी नहीं—अनासक्ति के साथ जो युद्ध किया जाता है, हत्या की जाती है वह वास्तव में हिंसा नहीं, अहिंसा ही है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१८।१७

गीता ने वाह्य युद्ध का भी इतने स्पष्ट रूप में उपदेश दिया है कि अहिंसावादी महात्मा गांधी भी उसे अस्वीकार नहीं कर सके हैं। तब उन्होंने कहा है कि वह तो उस समय की बात थी और उस समय की अवस्थानुसार कही गयी है। पर महात्मा जी की ४० वर्ष की व्यक्तिगत अभिज्ञता यह है कि अनासक्त और कर्मफलत्यागी होने के लिये युद्ध जैसे घोर प्रचंड कर्म का त्याग करना ही होगा। गीताकार से मतभेद दिखाते हुए उन्होंने कहा है—"कवि सब प्रकार के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त जगत् के सामने रखते हैं। इसी कारण यह बात नहीं कही जा सकती कि उन्होंने स्वयं सब समय अपना महत्त्व संपूर्ण रूप से जाना है अथवा जानने के बाद उसे भाषा में पूर्णरूप से व्यक्त किया है। इसी में काव्य और कवि की महिमा है। × × × इसीलिये गीता के महाशब्द का अर्थ युग-युग में बदल रहा है और विस्तृत हो रहा है।"

परन्तु वास्तव में गीताकार ने कोई भूल नहीं की है। यह हिन्दूधर्म की प्राचीन शिक्षा है कि युद्ध मनुष्य का धर्म हो सकता है। वैदिक युग से ही युद्ध को क्षत्रियधर्म कहा गया है, युद्धे चाप्यपलायनम्, तथा युद्धव्रती क्षत्रिय को समाज में बहुत ही ऊँचा स्थान दिया गया है, यहां तक कि ब्राह्मण लोग भी अध्यात्म ज्ञान प्राप्त करने के लिये क्षत्रिय के शिष्य हुए हैं। गीता के गुरु और शिष्य दोनों ही क्षत्रिय थे, हिन्दूमतानुसार सभी अवतारों ने दुष्ट का दमन करने के लिये युद्ध किया है। सर्वमंगला सर्वार्थसाधिका होने पर भी जगन्माता ने स्वयं अस्त्र धारण कर असुरदलन किया है। गीता में श्रीकृष्ण को अर्जुन ने बार-बार मधुसूदन, अरिनिषूदन आदि विशेषणों से अभिहित किया है। वास्तव में महात्मा गांधी ने जिस रूप में अहिंसा के आदर्श का प्रचार किया है वह हिन्दूधर्म की शिक्षा नहीं है, वह है ईसाई धर्म की शिक्षा, विशेषकर रूसी मनीषी टालस्टाय की शिक्षा।

(अपूर्ण)

—'वर्त्तिका' से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीनों ओर

प्रत्येक भौतिक वस्तु की तीन तरफ़ होती हैं अथवा यों कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु का त्रिविध विस्तार या प्रमाण (माप) होता है—लम्बाई में (की तरफ़), चौड़ाई में (की तरफ़), मोटाई में (की तरफ़)। संसार में ऐसी कोई भी भौतिक वस्तु नहीं हो सकती जो इस प्रकार तीन तरफ़ से बनी हुई न हो। कालपनिक तौर पर यह कहा जा सकता है, और केवल काल्पनिक तौर पर यह ठीक भी है, कि बिन्दु वह वस्तु है जिसमें लम्बाई चौड़ाई मोटाई कुछ नहीं है, कि रेखा वह वस्तु है जिसमें केवल लम्बाई होती है चौड़ाई मोटाई बिल्कुल नहीं होती, और धरातल या पृष्ठ (सतह) वह वस्तु है जिसमें केवल लम्बाई चौड़ाई होती है मोटाई बिलकुल नहीं होती। पर भौतिक तौर पर कोई धरातल बिना मोटाई नहीं बन सकता, बारीक से बारीक खींची गई रेखा की भी कुछ चौड़ाई और कुछ न कुछ मोटाई होती ही है, बिन्दु भी जब भी वह भौतिक रूप में वस्तुतः बनाया जायगा तो उसकी कुछ न कुछ लंबाई चौड़ाई मोटाई होगी ही। तात्पर्य यह कि ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती जिसकी कि तीन तरफ़ न हों, जो तीन ओर से बढ़ी हुई न हो। हम लम्बाई के स्थान पर कभी ऊंचाई शब्द बोल सकते हैं, ऐसे चौड़ाई की जगह विस्तार या फैलाव आदि शब्द बोले जा सकते हैं, मोटाई को कभी कभी गहराई जैसे किसी शब्द द्वारा प्रकट किया जाना अधिक ठीक हो सकता है। परन्तु यह बात सर्वत्र कायम रहती है कि प्रत्येक वस्तु का तीन ओर से प्रमाण (माप) किया जा सकता है चाहे उन तीनों तरफ़ों या विस्तारों को हम किन्हीं भिन्न अवस्थाओं में कुछ भिन्न नाम से पुकारते हों।

तीन ओर

यह जो कहा जाता है कि दिशाएं छः होती हैं और अतएव प्रत्येक वस्तु की छः दिशाएं हो सकती हैं, वह भी इसीलिये है क्योंकि प्रत्येक वस्तु का त्रिविध विस्तार होता है और फिर ध्रुवीकरण होने से प्रत्येक विस्तार के दो ध्रुव, दो सिरे (छोर) होते हैं, जैसे ऊपर और नीचे, बायें और दायें (उत्तर और दक्षिण), आगे (पूर्व) और पीछे (पश्चिम)। पर प्रत्येक वस्तु के विस्तार (dimensions) तीन ही होते हैं, एक ऊपर नीचे की तरफ़ का, दूसरा आगे पीछे की तरफ़ का, तीसरा दायें बायें का (या इधर उधर का)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा की त्रिविध गति

ज़रा दूसरे रूप में कहें तो संसार की प्रत्येक वस्तु की गति तीन तरफ़ की ही हो सकती है, या तो वह ऊपर नीचे गति करेगी, चाहे वह ऊपर जावे या नीचे, या वह दायें बायें गति करेगी चाहे दायें जाय या बायें, या आगे पीछे को गति करेगी चाहे आगे जाय या पीछे।

यह जो प्रत्येक वस्तु त्रिविध विस्तार वाली होती है और प्रत्येक वस्तु की जो त्रिविध ही गति हो सकती है इसका कुछ कारण है। उस कारण का निर्देश तो यथास्थान आ जायगा। पर इस वर्णन से आशा है पाठकों का मन आत्मा की गति को समझने के लिये भी तैयार हो गया होगा। आत्मा तो अभौतिक वस्तु है, उसको भौतिक तरीकों से समझ लेना सम्भव नहीं। तो भी हम भौतिक अवस्थाओं में रहने वाले लोग अपने भौतिक मन से उसकी तरफ़ अपनी पहुँच में भौतिक उदाहरणों से ही बहुत सहायता प्राप्त कर सकते हैं। जब हम किसी को महात्मा कहते हैं तो उसकी आत्मा के महान् होने का अर्थ बेशक यह नहीं होता कि वह भौतिक तौर पर लम्बी चौड़ी और मोटी है, तो भी यह ज़रूर होता है कि उसकी आत्मा महान् अर्थात् विशाल, विस्तीर्ण, व्यापक है। 'महात्मा' शब्द से कहाने लायक वही महानुभाव है जिसकी आत्मा में इस प्रकार की कुछ महत्ता है। एक मेरे मित्र ने 'सन्त कौन है' इस विषय पर मुझे कुछ लिख भेजने को कहा था, जब कि वे 'सन्त सुधा' नामक एक पत्रिका प्रारम्भ करने लगे थे। मैंने उन्हें तीन वाक्य लिख भेजे थे। उन्हें यहां उद्धृत कर देना सप्रयोजन होगा। 'सन्त' के स्थान पर 'महात्मा' शब्द का प्रयोग करते हुए वे तीन वाक्य निम्न हैं:—

"महात्मा वह है जो **ऊँचाई** में सत्यलोक की ओर बढ़ता है, उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रकाशमान अवस्थाओं में से गुज़रता हुआ 'ऋतंभरा प्रज्ञाओं' को प्राप्त करता हुआ ऋतस्वरूप को पहुंचता है।

"महात्मा वह है जो **गहराई** में अन्दर अन्दर पैठता हुआ और खोजता हुआ अपने अन्तरात्मा को पा लेता है, और उसका मन, प्राण और शरीर, उसकी सब बाह्य और आन्तर क्रियायें, इसी अन्तरात्मा द्वारा संचालित होने लगती हैं।

"महात्मा वह है, जो **विस्तार** में अपने को फैलाता हुआ एक-एक प्राणी और एक-एक जीव में, भूतमात्र में अपने आपको पहिचानने और अनुभव करने लगता है और सब संसार के साथ अपनी एकता कर लेता है।"

मतलब यह है कि आत्मा भी तीन ओर गति या उन्नति करता है, ऊँचाई में, गहराई में, विस्तार में। इन तीनों ओर ही उन्नति करने से, बढ़ने से आत्मा महान् होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यदि कोई आत्मा इनमें केवल एक तरफ़—जैसे केवल ऊँचाई या गहराई में—बढ़ता है तो वह उन्नति ठीक प्रकार की नहीं होती। तब समझना चाहिये कि वहां कुछ गड़बड़ है। स्वस्थ सच्ची उन्नति तीनों तरफ़ ही होगी, ऐसे ही जैसे कि एक शिशु जब भौतिक रूप में बढ़ता है तो वह लंबाई चौड़ाई मोटाई तीनों प्रकार से ही बढ़ता है।

हम जानें या न जानें पर असल में हम सभी ऊपर ऊपर पहुंचना चाहते हैं, गहराई में अन्दर से अन्दर प्रविष्ट होना चाहते हैं, और विस्तार में परे से परे पहुंचना चाहते हैं। आत्मा क्या चाहता है, उसकी अभीप्सा क्या है यह यदि हम देख सकें तो हमें पता लगेगा कि हमारा आत्मा उड़ना चाहता है, ऊपर ऊपर अनन्त ऊँचाई तक पहुंचना चाहता है, उसके लिये वह कशमकश कर रहा है। आत्मा अन्दर की तरफ़, भीतर भीतर घुसकर आन्तरतम को पहुँचना चाहता है, वहां उसका कोई है जिसे बिना पाये उसे कल नहीं पड़ सकती, इसलिये वह भीतर से भीतर घुसना चाहता है। एवं विस्तार में फैलाव चाहता हुआ वह दूर से दूर अनन्त दूरी तक पहुंच जाना चाहता है, वहां बिना पहुंचे उसे विश्राम नहीं मिल सकता।

जब हम बच्चे थे तो यह पूछने पर कि परमात्मा कहां रहता है हमें लोग आकाश की ओर अँगुली करके बताते थे परमात्मा ऊपर है, हम पूछते थे कि क्या बादलों में है, हमें बताया जाता था कि वह बादलों से भी ऊपर है। पीछे ज्ञान की पुस्तकों में यह लिखा देखा और सुना भी, कि परमेश्वर भीतर है, हृदय के भीतर है। गीता में कहा है 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'। उपनिषदों में तो जगह जगह हृदय-गुहा का वर्णन आता है कि उस गंभीर गुहा में परमेश्वर छिपा हुआ है, 'गुहाहितं' 'गह्वरेष्ठम्', उसे अन्दर ढूंढो, गुहा के अन्दर प्रविष्ट होवो। कहते हैं कि स्वामी रामतीर्थ जब परमेश्वर के लिये व्याकुल थे तो किसी ने कह दिया कि 'उसे कहां ढूँढते फिरते हो वह तो तुम्हारे हृदय में है, तुम्हारे अन्दर ही है' तो रामतीर्थ छुरी उठा कर अपने हृदय को चीरने तैयार हो गये थे। अस्तु, इसी तरह यह भी ज्ञानियों से सदा सुनने को मिलता है कि परमात्मा सब जगह फैला हुआ है, भूत भूत में रमा हुआ है। असल में ये तीनों बातें ही सही हैं। सचमुच ही परमात्मा ऊपर है, अन्दर है, और सर्वत्र फैला है। और इसीलिये हमारा आत्मा उस अपने परम आत्मा को पाने के लिये इन तीनों तरफ़ गति करता है, इन तीनों तरफ़ बढ़ना चाहता है। हम सभी चाहे इस बात को अनुभव करें या न करें पर यह सच है। सचमुच हमारा आत्मा तीनों तरफ़ बढ़ना चाहता है, फैलना चाहता है, बल्कि इन तीनों तरफ़ बढ़ने को तड़फाया सा रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि यह सच है तो फिर हम ऊपर, बहुत बहुत ऊपर स्थित उस अपने परम आत्मा को एकदम पहुँच क्यों नहीं जाते ? अन्दर सुगंभीर गहराई में स्थित परम प्रभु को एकदम ढूँढ कर उससे एक क्यों नहीं हो जाते ? सब भूतों में विस्तृत अपने परम देव को हम सर्वत्र फैल कर आज ही प्राप्त क्यों नहीं कर लेते ?

वैदिक प्रार्थना

इसका कारण यह है कि तीनों तरफ़ ही रुकावटें हैं, तीनों तरफ़ हम बंधे हुए हैं, किन्हीं बन्धनों या पाशों से जकड़े हुवे हैं। ऐसे बंधे हैं कि न हम खुलकर ऊपर यथेच्छ उठ सकते या उड़ सकते हैं, न गहराई में तल तक पैठ सकते हैं, न अनन्त रूप से फैल सकते हैं। इसीलिये हमारी मानव आत्मायें—हम सब मानव जीव—वैदिक ऋचा में प्रार्थना कर रहे हैं—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्
अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अथा वयमादित्य व्रते तव
अनागसो अदितये स्याम ॥

ऋ० १–२४–१५ । यजु० १२–१२ । साम पू० ६–३–१०–४ ॥
अथ० ७–८३–३, अथ० १८–४–६९ ।
तैत्ति० सं० १, ५, ११, ३; ४, २, १, ३ ।

पदपाठ

उत् । उत्तमं । वरुण । पाशम् । अस्मद् ।
अव । अधमं । वि । मध्यमम् । श्रथाय ।
अथ । वयम् । आदित्य । व्रते । तव ।
अनागसः । अदितये । स्याम ।

शब्दार्थ

(वरुण) हे वरुण ! (अस्मद्) हम से, हमारे (उत्तमं पाशम्) ऊपर के पाश को, बंधन को (उत् [श्रथाय]) ऊपर को खोल दे। (अधमं [पाशम्]) नीचे के [बन्धन को] (अव श्रथाय) नीचे की तरफ़ खोल दे, ढीला कर दे। (मध्यमं [पाशम्]) बीच के बन्धन को (वि श्रथाय) विशेषतया खोल दे। (अथ) तब (वयं) हम, (आदित्य) हे आदित्य ! (ते व्रते) तेरे व्रत में रहते हुवे (अनागसः) निष्पाप, निर्दोष (अदितये) अदिति के लिये (स्याम) हो जायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह प्रार्थना क्या है, बद्ध मानव आत्माओं की तड़पन है कि वे बन्धनों से, तीनों बन्धनों से किसी तरह छुटकारा पाकर अदिति की निःसीमता, अनन्तता, अमित बंधन-मुक्तता में स्वतन्त्र हो विचर सकें।

पाठक देखेंगे कि यह वही अति प्रसिद्ध (चारों वेदों में पायी जाने वाली, अथर्ववेद में एक के भी बजाय दो बार गायी गयी) ऋचा है जिसके कि अन्तिम चरण को हम अपना आदर्श वाक्य करके अपना चुके हैं। पीछे के गाथा-काल में जब कि गाथा द्वारा सत्यों के वर्णन करने की प्रथा थी वेद के इस प्रसिद्ध मंत्र से या इन सूक्तों से संबद्ध भी एक गाथा कही गयी है। कहते हैं कि शुनःशेप नाम का एक ऋषि था जिसे कि उसके माता-पिता ने यज्ञ में बलि चढ़ाने के लिये राजा को बेच दिया था। जब उसे बलि चढ़ाने के लिये यज्ञस्तंभ से तीन जगह (ऊपर, मध्य और नीचे) बांध दिया गया तो उसने व्याकुल हो कर अग्नि, भग, सविता आदि देवों से रक्षा के लिये, बन्धन-मुक्ति के लिये प्रार्थना की, अन्त में वरुण देवता को पुकारा। अन्तिम चरण उसकी प्रार्थना सुनी गई और वह बन्धनमुक्त हो गया। मूल वेद में तो स्पष्ट ही ऐसी किसी कहानी का निशान भी नहीं है। पर यह गाथा जिस सत्य को चित्रित करने के लिये रची गई है उसके अनुसार शुनःशेप और कुछ नहीं है वह मानवीय आत्मा के लिये एक मनुष्य का रूपक है। हम सभी बद्ध किन्तु मुमुक्षु मानव आत्मायें शुनःशेप हैं, सुख को उत्पन्न करना चाहने वाले हैं ('शुनःशेप' शब्द का शब्दार्थ यही प्रतीत होता है)। इस वेदमंत्र में तो एकवचन में नहीं, किन्तु बहुवचन में प्रार्थना है। इसलिये कथा के उस एक शुनःशेप की नहीं किन्तु बन्धन-मुक्त होना चाहने वाले सभी मानव जीवों की (शुनःशेपों की) यह नित्य प्रार्थना है। शुनःशेप का नित्य इतिहास आज भी घटित हो रहा है। पाप के त्रिविध बंधन से बंधी हुई समस्त मानवता की ही यह पुकार है, वरुण देव के प्रति मोक्ष के लिये उसकी आन्तरिक अभीप्सा है क्योंकि अदिति के पुत्र (आदित्य) वरुण आदि देवों की दिव्य शक्तियां ही हैं जो उसे इन पाशों से छुड़ा सकती हैं। यह असल में मानवता की आत्मा की उस प्यास, तृष्णा का वर्णन है जो कि सीमा, परिमितता के बन्धनों को खोल अदिति (देवमाता, जगन्माता) की अनन्तता, निर्बाध असीमता में मुक्त होना चाहती है। वरुण वह दिव्य शक्ति है जो अपरिमित विस्तार का अधिपति है। अतः उससे अदिति की असीमता में मुक्त कर देने की प्रार्थना की गई है। उसे कहा गया है कि "हमारे ऊपर, मध्य और नीचे के पाशों को खोल दो जिससे कि, हे अदिति के पुत्र! हम तेरे नियम में, व्रत में रहते हुए अनागस् हो जायँ, अदिति के लिये अनागस् हो जायँ।" इस गाथा के चित्र को पूरा २ देखना चाहें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो हम समझ सकते हैं कि हम सभी को हमारे माता-पिता द्यावापृथिवी ने अन्धकार के राजा के हाथ नीचे के अदिव्य सुखों के धन के बदले बेच दिया है। और इस जगत्-चक्र रूपी यज्ञ में जीवन रूपी यज्ञस्तंभ के साथ मन, प्राण और अन्न (शरीर) की अनृतगति (पाप) रूप त्रिविध रज्जु से हम बांध दिये गये हैं। बहुत से लोग हर रोज़ बलि भी चढ़ रहे हैं। पर जो सच्चे सुख के लिये अभीप्सु हो 'बलि का बकरा' नहीं होना चाहते, जो दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिये 'अदिति' के बनना चाहते हैं और आन्तरिक भाव से बन्धनमुक्तता की प्रार्थना करते हैं उन शुनःशेपों की प्रार्थना सुनी जाती है और वरुण आदि दिव्य शक्तियां उन्हें अदिति के लिये तीनों बन्धनों से मुक्त कर देती हैं, वे मुक्त हो अदितिमय दिव्य जीवन प्राप्त करते हैं।

पर ये ऊपर, मध्य और नीचे के बन्धन क्या हैं? यह तो, ऊपर मोटे तौर पर कह दिया गया है कि ये मन, प्राण और अन्न के बन्धन हैं या इन तीनों की अनृतगति रूप पाप के बन्धन हैं। पर इसे और स्पष्ट किये जाने की ज़रूरत है।

तीन बन्धन

हम ऊपर सिर में, मध्य में हृदय में और नीचे मूलाधार (नाभि के भी नीचे) में बँधे हुए हैं। ऊपर का उत्तम बन्धन मन का है, बीच का मध्यम बन्धन (सूक्ष्म) प्राण का है और नीचे का अधम बन्धन (स्थूल) शरीर का है। आत्मा (मानव आत्मा) को परिमित, सीमित अतएव बद्ध करनेवाले ये मन प्राण शरीर ही हैं। मनुष्य का ज्ञान, उसकी **प्रकाश** की तरफ़, **सत्त्व** की तरफ़ ऊर्ध्वगति मन द्वारा बँधी हुई है। मन का स्थान सिर में है। अतएव यह उत्तम बन्धन कहाता है। इसे सत्त्व का बन्धन, सात्त्विक बन्धन भी कह सकते हैं। सत्त्व ने या मन ने मानसिक शरीर द्वारा या आहंकारिक कारण-शरीर द्वारा आत्मा को बांध रखा है। मध्य का बन्धन प्राण का है, इसने भावों, भावावेशों, उद्वेगों, आवेगों, रागद्वेषों द्वारा हृदय में हमें बांध रखा है। अशान्तिमय प्राणों के इस बन्धन को राजसिक बन्धन या सूक्ष्म शरीर का बन्धन भी कहा जा सकता है। अधम बन्धन बिलकुल नीचे भौतिक या 'अन्न' का बन्धन है जिसने अपनी जड़ता से ज्ञान और जीवन की परिमित गति को भी बांध दिया और हमें अत्यन्त सीमित कर दिया है। यह तामसिक बन्धन या स्थूल शरीर का बन्धन है।

यहां हम यह भी देख सकते हैं कि वस्तुओं के त्रिविध विस्तार का मन, प्राण, शरीर से क्या सम्बन्ध है। यह हम जानते हैं कि स्थावर योनि (वृक्ष वनस्पति) अन्न-प्रधान है, इनमें प्राण और मन विकसित नहीं हुआ है, तिर्यक् योनि (पशु पक्षी) प्राण-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रधान है ये अन्न से तो ऊपर हुए हैं पर इनमें भी मन विकसित नहीं हुआ है। मानव-योनि मनःप्रधान है, मनुष्य अन्न प्राण से ऊपर उठे हैं और इनमें मन भी विकसित हुआ है। इसलिये शरीरप्रधान स्थावरों में मुख्यतया मोटाई है, चौड़ाई (विस्तार) और लम्बाई (ऊंचाई) उनमें विकसित नहीं हुई। पर प्राणप्रधान तिर्यक्योनि में मुख्य गुण चौड़ाई (विस्तार) है, लम्बाई (ऊंचाई) इसमें भी विकसित नहीं हुई। तिर्यक् गति का अर्थ संस्कृत में होता है तिरछी, आड़ी, दिगन्तसम (Horizontal) गति। वेद में तथा संस्कृत साहित्य में प्राण की गति या आकृति तिरश्चीन मानी गई है इसीलिये पशुपक्षी पड़ी हुई, चौड़ाई के रुख अवस्था में रहते हैं। पर मनःप्रधान मानव प्राणी खड़ा हो गया है, लम्बाई या ऊंचाई के रुख हो गया है। वृक्ष वनस्पति का मेरुदण्ड सुप्त है या उलटा है। पशु पक्षिओं का मेरुदण्ड प्राण के द्वारा तिर्यक्, पड़ा हुआ दिगन्तसम हो गया है। और मनुष्य का मेरुदण्ड मन के जाग जाने से खड़ा, लम्बाई की ओर हो गया है। मतलब यह कि अन्न (स्थूलभूत) का गुण मोटाई है, प्राण का चौड़ाई और मन का ऊंचाई। इसलिये हमारे इस जगत् की सब चीजें लम्बाई चौड़ाई मोटाई इस त्रिविध विस्तारवाली बनी हुई हैं। और इसीलिये मन ऊपर की गति को बांधता है (और यदि खुल जाय तो ऊपर के रास्ते को खोलता है), तथा प्राण और अन्न मध्यम और नीचे की गति को बांधते हैं (और यदि खुल जायें तो इन दोनों मार्गों के खोलने वाले बन सकते हैं।)

पर बात यह है कि इन बन्धनों में भी कुछ मज़ा है इसलिए बहुत से मानव प्राणी भी इन बन्धनों में अपने एक निम्न कोटि के सुख में रह रहे हैं। पर जहां आत्मा जाग चुका है, जहां उच्च सुख की प्यास लग चुकी है वहां ये तीनों बन्धन उत्तरोत्तर असह्य होते जाते हैं। अन्त में ऐसी अवस्था आ जाती है जब उनका आत्मा तीनों तरफ़ के इस आवरण को, ढकने को, बन्धन को खोलने, भेदन करने और तोड़ देने के लिये व्यग्र हो जाता है।

यह तो कहने की जरूरत नहीं कि ऐसी अवस्था लाने के और इसे पार करने के जो साधन हैं उन्हें योगसाधन नाम से पुकारा जाता है। योग का जो एक प्रकार से ज्ञान-योग, भक्तियोग और कर्मयोग यह त्रिविध विभाग किया जाता है वह हमारे इस प्रकरण में बहुत उपयुक्त है। ज्ञानयोग है जिससे कि ऊपर का बन्धन खुलता है। ज्ञान की सत्त्वगुणी वस्तु होने से ऊर्ध्वमुखी गति होती है। ज्ञान की उपासना करने से अन्त में आत्मा ऊपर के बन्धन को खोल ऊपर चढ़ने का रास्ता बना लेता है और ऊपर एक से एक बड़े प्रकाशमय लोकों में पहुँचता हुआ,

तीन प्रकार का योग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्योतिष्मती ऋतंभरा आदि प्रज्ञाओं को प्राप्त करता हुआ, श्रीअरविन्द की परिभाषाओं के अनुसार उच्च मानस, प्रकाशित मानस, स्फुरणात्मक मानस, अधिमानस से होता हुआ अतिमानस तक पहुँच जाता है। इस ऋचा में जो ऐसा कहा गया है कि 'ऊपर के बंधन को ऊपर की तरफ़ खोल दे' (उत्तमं पाशं उत् श्रथाय) इसका आशय अब पाठकों को स्पष्ट हो गया होगा। क्योंकि यह ऊपर ऊपर जाना मानसिक चेतना से ऊपर, मानवीय चेतना को अतिक्रान्त कर ऊपर अतिचेतन में पहुंच जाना है। सो बन्धन को ऊपर की तरफ़ खोलने का मतलब यह हुआ कि उसके खुलने से ऊपर की तरफ़ गति हो सके। एवं भक्तिमार्ग द्वारा हृदय का मध्यवर्ती बन्धन खुलता है। यह प्रेम का मार्ग है। प्रेम की साधना द्वारा हम हृदय की गहराई में रहने वाले अपने प्रेममय अन्तरात्मा को पावें. यही संक्षेप में भक्ति-साधना है। उसे अन्दर पाने से फिर वह बाहर भी पाया जाता है, और वही सच्चा प्रेम बाहर की सब क्रियाओं का भी प्रेरक हो जाता है। पर यह काफ़ी कठिन काम है। विशुद्ध व्यापक आत्मिक प्रेम द्वारा प्राण के बाकी सब आवेगों, उद्वेगों, भावावेशों, रागद्वेषों को पराभूत कर आत्मिक प्रेम का राज्य स्थापित करना आसान काम नहीं है, इसीलिये शायद इस मध्य बन्धन को खोलने के लिये वेदमंत्र में 'वि' विशेषण लगाया गया है, जिसका अर्थ है विशेषतया या विविध प्रकार से। और तीसरे स्थूल शरीर के अधम बन्धन को खोलने का साधन कर्मयोग है। शरीर से भी निष्काम, भगवदर्पण-पूर्वक कर्म करने की साधना से आत्मविशुद्धि होती है और इस स्थूल भौतिक जगत् में भी सब जगह, सब भूतों में, प्रत्येक छोटी बड़ी वस्तु में परमात्मदर्शन सहज हो जाता है। स्थूल जगत् में भी परमात्मप्राप्ति होने से स्थूल शरीर भी हमारे लिये बन्धनकारक नहीं रहता. स्थूल हमें परिमित करने वाला नहीं रहता। हमारा अपना स्थूल देह तो आत्मा के कार्य में बाधक रहता ही नहीं। पर यह काम पूरा तब होता है जब आत्मा का प्रकाश स्थूल देह से भी नीचे अवचेतना तक में पहुंच जाता है; नहीं तो, अवचेतना की शुद्धि हुए बिना, अवचेतना के विकार हमारे स्थूल देह को खराब करते ही रहते हैं। अतः वेदमंत्र में 'अव श्रथाय' का अभिप्राय 'नीचे की ओर, नीचे तक, अवचेतना तक खोल दो' ऐसा समझना चाहिये।

यह दोहराने की जरूरत नहीं कि जैसे आत्मा की ऊंचाई, गहराई और विस्तार की गति आखिर में एक हो जाती है, आत्मा के लिये ये शब्द बोलना केवल मानवीय भाषा प्रयोग करने के कारण ही है, वैसे ज्ञान, भक्ति और कर्म भी प्रत्येक अपनी पराकाष्ठा में पहुंच शेष दो से अभिन्न हो जाते हैं। पर साथ ही यह भी ठीक है कि साधना की अवस्था में इन तीनों योगों—ज्ञान भक्ति कर्म की आवश्यकता होती है; किसी एक या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो से काम नहीं चल सकता। कम से कम श्रीअरविन्द द्वारा प्रतिपादित योग इन तीनों का ही समन्वय चाहता है। सचमुच महात्मा होने के लिये तीनों ही दिशाओं में प्रगति करके तीनों ओर ही महान् होना होता है, तीनों बन्धन तोड़ना आवश्यक होता है।

इन तीनों पाशों, बन्धनों से छूट जाने पर क्या होता है? क्या तब हम लय को प्राप्त हो जाते हैं, हमारे मन, प्राण, शरीर प्रकृति में लीन हो जाते हैं? वैदिक प्रार्थना तो इस प्रयोजन के लिये नहीं है। तीनों बन्धनों से छुड़ाने की याचना करने के बाद वेद-मंत्र के तीसरे चरण में जो कहा गया है वह तो यह है 'जिससे हम तेरे व्रत में, हे आदित्य, हो जायँ'। तीनों बन्धनों से छुटकारा इसलिये मांगा गया है जिससे कि 'आदित्य के व्रत में हम आयें और अदिति के लिये अनागस् हो जायं'। मन, प्राण, देह नष्ट नहीं होते किन्तु वे बदल जरूर जाते हैं, इनका दिव्य रूपान्तर हो जाता है। ये अब दिव्य व्रत के, दिव्य नियम के अधीन हो जाते हैं, अपने अदिव्य नियमों को छोड़ देते हैं। मन के बन्धन के खुलने का अर्थ यही है कि मन तब अपने मानसिक (अदिव्य) नियम को छोड़ देता है, उस नियम-बन्धन से छुटकारा पा जाता है। इसी तरह प्राण और देह भी अपने प्राणगत और दैहिक नियम के बन्धन से मुक्त हो दिव्य नियम में, आदित्य के व्रत में चले जाते हैं। ये सब एक अबद्ध, असीम आत्मा के नियम में आ जाते हैं, अन्य सभी नियमों से मुक्त हो जाते हैं।

आदित्य के व्रत में

वैसे तो दिशायें अनन्त हैं, जो जिधर चाहता है उधर ही जाता दीखता है। पर सूक्ष्मतया देखने से मुख्य छः दिशायें हैं जिनका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। जब तक मनुष्य सचमुच में मुमुक्षु नहीं होता तब तक वह बद्ध रहता छओं दिशाओं में गति करता है अर्थात् वह ऊपर जाता है तो नीचे भी जाता है, इधर (उत्तर) जाता है तो कभी उधर (दक्षिण) भी जाता है, सामने जाता है तो पीछे भी हटता है। पर मुमुक्षु हो जाने पर मानो उसकी तीन ही दिशायें हो जाती हैं। वह ऊपर ही जाता है, उत्तरायण पथ का ही अवलंबन करता है, आगे (प्राक्) ही जाता है, बन्धन तोड़ने के लिये वह इन तीनों ओर ही जाता है। पर बन्धनमुक्त हो जाने पर ये तीनों दिशायें भी एक हो जाती हैं, यों कहना चाहिये कि वह दिशाओं की दुनिया से ही परे आदित्यलोक का हो जाता है जहां से सब दिशा, अनन्तों दिशा, उत्पन्न होती हैं वहां का वह हो जाता है। अतः एक दिशा का न रह, अनन्त का, असीम का, अदिति का हो जाता है।

आगस्, पाप तभी तक हो सकते हैं, होते हैं जब तक कि मन, प्राण और देह बन्धनमुक्त नहीं होते, जब तक कि ये अपने नियमों से चलते हैं अतएव अनृत गतियां भी करते हैं, जब तक ये आदित्य के व्रत में नहीं आ जाते। तीनों पाशों को तोड़ आदित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के व्रत में आ जाने से हम 'अनागस्' हो जाते हैं, हमारे मन, प्राण, शरीर आत्मप्रेरित दिव्यनियमानुसार चलते हुए बिलकुल अनागस्, शुद्ध, निष्पाप, त्रुटिरहित, अविकल, पूर्ण कार्य करने वाले हो जाते हैं।

तब हम वस्तुत: 'अदिति के लिये' हो जाते हैं। अदिति जो बन्धनरहित मुक्तिस्वरूपा है, असीम अनन्त देवजननी जगज्जननी है उसके 'अमृत पुत्र' हो जाते हैं, अमृत पुत्र होकर रहते हैं।

श्रीअरविन्द निकेतन का उद्घाटन

श्रीअरविन्द निकेतन के बाकायदा उद्घाटन की विधि २६ मार्च, १६४३ सोमवार को सायंकाल, नगरस्थ केन्द्र, कनाट सर्कस में एस० एन० सण्डरसन कम्पनी के भवन में अदा की गयी। यह उद्घाटन श्री लार्ड सिंह के कर कमलों से किया गया। शहर के बहुत से नरनारियों की भारी भीड़ इस अवसर पर उपस्थित हो गई थी। जो प्रतिष्ठित व्यक्ति उस समय उपस्थित थे उनमें श्रीमती सिंह, श्री जी० एस० मेहता, श्री ला० हंसराज गुप्त, श्रीयुत वीरेन राय चौधरी और श्री आशु दे भी सम्मिलित थे।

लार्ड सिंह—

पहिले श्रीअरविन्द निकेतन का उद्घाटन श्रीयुत वरदाचारी—जो भारत की फीडरल कोर्ट के जज हैं और अभी पिछले दिनों इसके चीफ़ जस्टिस का कार्य भी करते रहे हैं—के हाथों से होना निश्चित हुआ था। पर दैववशात् वे उद्घाटन के दिनों देहली में उपस्थित नहीं थे, नहीं हो सकते थे। तो भी सौभाग्य से श्री सत्येन्द्र प्रसन्न सिंह—जो मांटेगु चेम्सफोर्ड सुधारों के लागू होने के दिनों में सन् १६१६-२० के लगभग बिहार और उड़ीसा के गवर्नर रहे थे और लार्ड थे, अतएव जो लार्ड सिंह या लार्ड सिन्हा नाम से अधिक परिचित हैं—उस समय श्री डा० अग्रवाल से अपनी आँखों का इलाज कराने के लिये देहली में ठहरे हुए थे। वे श्रीअरविन्द के नये भक्तों व प्रशंसकों में से हैं। उन्होंने हमारी प्रार्थना पर इस उद्घाटन कार्य को सम्पन्न करना बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया। इस अवसर पर सभापति के आसन से बोलते हुए उन्होंने सुनाया कि जब सन् १६४० में मेरी धर्मपत्नी ने श्रीअरविन्द-दर्शन के लिये पांडिचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलने को मुझे कहा तो मैंने उन्हें कोरा इन्कार कर दिया और कहा कि मैं तो तुम्हारे साथ चलने को तैयार नहीं हूँ। 'पर विधाता की लीला और श्रीअरविन्द के तरीके बड़े गहन हैं,' क्योंकि मैंने देखा कि अपनी उस भावना के होते हुए भी मैं गत फरवरी में दर्शनार्थ पांडिचेरी पहुँचा हुआ था। और तब वहां जो मैंने देखा वह बहुत अद्भुत था। वह आश्रम अन्य बहुत से उन आश्रमों की तरह नहीं है जहां लोग बैठ कर ध्यान लगाते हैं, और कुछ नहीं करते। पांडिचेरी आश्रम के साधक प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक काम करते हैं। वे इसी हमारे संसार में रहते हैं, इसी में काम करते हैं पर फिर भी वे इसके नहीं होते। उनके पास कुछ नहीं होता, पर फिर भी उन्हें किसी चीज की कमी भी नहीं प्रतीत होती।

लार्ड सत्येन्द्र प्रसन्न सिंह ने इस निकेतन के बारे में कहते हुए एस० एन० संडरसन कम्पनी के मालिक श्री सुरेन्द्रनाथ जी जौहर की बहुत प्रशंसा की और उनका धन्यवाद किया कि उन्होंने कितनी उदारतापूर्वक इस निकेतन के कार्य को चलाने के लिये अपने ऊपर एक बड़ी भारी जिम्मेवारी ली है।

श्री दिलीपकुमार राय—

परन्तु उद्घाटन की इस सब कार्यवाही में सबसे अधिक कीमती और प्रभावोत्पादक भाग था श्री दिलीपकुमार राय के संगीत का। निश्चय ही इस समारोह में बहुसंख्यक लोग श्री दिलीपकुमार का संगीत सुनने के लिये ही एकत्रित हो गये थे। पाठक जानते होंगे कि दिलीपकुमार राय (प्रसिद्ध बंगला-लेखक द्विजेन्द्रलाल राय के पुत्र) भारत के एक अति प्रसिद्ध गायक हैं जो विदेशों में भी भारतीय संगीत की धाक बैठा चुके हैं। अपने इस विदेश-भ्रमण के बाद से वे श्रीअरविन्द के योगपथ के यात्री बन चुके हैं। अब वे बहुत वर्षों से श्रीअरविन्द आश्रम में साधक के तौर पर रहते हैं। आश्रम से कहीं बाहर जाते आते हैं तो श्रीअरविन्द व माता जी की अनुमति से ही जाते आते हैं। अवश्य ही उनकी इस अवसर पर उपस्थिति बहुत महत्त्व की बात थी। इस समारोह की कार्यवाही उनके संगीत से ही प्रारम्भ हुई। फिर बीच में दो बार और उनका संगीत हुआ। इन तीनों बार उन्होंने अपने भगवद्भक्तिपूर्ण गीतों से जो अपूर्व आनन्द और प्रेम बरसाया वह शब्दों में नहीं लाया जा सकता। जिन्होंने उन्हें सुना वे उनके 'हम उस देश के वासी हैं' आदि गीतों को और उनकी ध्वनियों को बहुत दिनों तक याद करते और दोहरा दोहरा कर गंभीर आनन्द का उपभोग करते रहे हैं। श्रीअरविन्द निकेतन के अतिरिक्त देहली में दो तीन अन्य जगह भी इन्हीं दिनों श्री दिलीप जी का संगीत हुआ था, जहां चार चार हजार तक की भीड़ (रंगीले गानों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को नहीं, किन्तु इनके प्रभुभक्ति के गंभीर रसपूर्ण संगीतों को सुनती हुई) घंटों तक मन्त्रमुग्ध सी हुई बैठी रही। निःसंदेह दिलीप जी का संगीत कोई कंठ और ध्वनि की साधना मात्र नहीं है, इसमें भी वे बेशक किसी तरह कम नहीं हैं। उनकी विशेषता है अध्यात्ममूलकता में। स्पष्ट ही वे अपने भक्ति बरसाने वाले और भगवत्प्रेम को उद्बुद्ध करने वाले संगीत की शक्ति अपनी गंभीर आध्यात्मिक अनुभूति द्वारा प्राप्त करते हैं।

संगीत के बाद उनका एक भाषण भी हुआ जो कि अपनी अपूर्व सुन्दरता रखता था। कई लोगों पर उसका बहुत ही असर हुआ। वे खड़े तो हुए थे कृतज्ञता और धन्यवाद के दो शब्द कहने के लिये, पर उनके वे दो शब्द एक सुन्दर भाषण के रूप में सहज भाव से ही विकसित हो गये। उनके भाषण की प्रधान विशेषता वास्तव में उस वायु-मण्डल की थी जो कि उनके हार्दिक शब्दों ने उस समय पैदा कर दिया था। वह भाषण एकदम शुरू से अन्त तक उनके अपने व्यक्तिगत अनुभवों से पूर्ण था। वे अनुभव उनके अपने आध्यात्मिक विकास का इतिहास बतलाते थे, वे उनकी अध्यात्म जिज्ञासा की जगह जगह की खोज की कथा सुनाते थे, और अन्त में उन्होंने श्रीअरविन्द के पास पहुंच जो अपूर्व तृप्ति और संतुष्टि प्राप्त की उसका मार्मिक हाल बताने वाले थे। उनकी गुरुभक्ति लोगों के लिये मुग्ध कर देने वाला अतीव सुन्दर अनुभव था। उस समय उन्होंने जो जो अनुभव की घटनायें सुनाईं उनका यहां देना तो शक्य नहीं है। जैसे, उन्होंने अब से १८, २० वर्ष पूर्व विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के श्रीअरविन्द से मिलने की बात सुनाई थी। मिलने के बाद कविवर की जो भावना थी उसे ही दिलीप जी ने अपने सुन्दर मार्मिक ढंग से कह सुनाया था। उन्होंने बताया कि जब कवि श्रीअरविन्द से मिलकर बाहर आये तब उनका मुख विशेष उत्साह से उज्ज्वल हो रहा था। उन्होंने तब विशेष भावुक रूप में कहा था कि 'श्रीअरविन्द एक असाधारण, ज्वलन्त, दीप्तिमान् व्यक्तित्व हैं। मुझे पता नहीं था कि भारत में ऐसी विभूति उपस्थित है।' फिर कुछ हँसते हुए कहा, 'एकान्तवास से निश्चय ही अपूर्व आत्मबल हस्तगत हो जाता है। अब मैं भी एकान्त ग्रहण करूंगा।'

ऐसी ऐसी घटनाओं के वर्णन द्वारा पुष्ट करते हुए जो कुछ उन्होंने प्रतिपादित किया था, कहना चाहा था वह यह था कि श्रीअरविन्द का उद्देश्य है न केवल वैयक्तिक किन्तु सामाजिक जीवन का भी—मनुष्य-प्रकृति का ही—पूर्ण रूपान्तर सिद्ध करना। यह आदर्श आज हमें इसलिये असंभव दिखायी देता है चूंकि आध्यात्मिक जीवन की शक्ति तथा वास्तविकता से हमारा संस्पर्श जाता रहा है, छूट चुका है। श्रीअरविन्द की शक्ति व प्रभाव कितना महान् है यह समझने के लिये आवश्यकता है वास्तविक सच्ची जिज्ञासा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की और श्रीअरविन्द के साथ सम्बन्ध स्थापित होने की। योग-जिज्ञासुओं की आन्तर प्रकृति को बदल देने की, और उनकी आन्तरिक कठिनाइयों और बाधाओं को हटा देने की जो श्रीअरविन्द में शक्ति है वह वास्तव में महान् है।

डा० इन्द्रसेन जी—

श्रीअरविन्द निकेतन की तरफ़ से इस अवसर पर यह बताया जाना तो जरूरी ही था कि इस संस्था की स्थापना क्यों, किस प्रयोजन से की जा रही है। सो निकेतन के मंत्री श्री डा० इन्द्रसेन जी ने अपने भाषण द्वारा यह सब बतलाया। उनका भाषण निम्न प्रकार था :—

'निश्चय ही श्रीअरविन्द के पास मानव जाति को देने के लिये एक महान् संदेश है। योग और दर्शनशास्त्र में दीर्घकाल तक निमग्न रहने से उन्हें कुछ ऐसी उपलब्धियां हुई हैं जो कि संपूर्ण मनुष्यजाति के लिये गंभीरतम महत्त्व रखती हैं। उन्होंने आज मनुष्य के सामने आध्यात्मिक जीवन का सच्चा और स्थूल नक्शा खोल कर रख दिया है और उसकी प्राप्ति के लिये क्रियात्मक साधनों की एक पद्धति का स्पष्ट प्रतिपादन कर दिया है। व्यक्ति में तथा समाज में आध्यात्मिक चेतना की उन्नति ही, श्रीअरविन्द की दिव्य दृष्टि के अनुसार, उन हज़ारों बीमारियों का सच्चा इलाज है जिनसे कि हम पीड़ित हैं। निःसंदेह उनकी आध्यात्मिकता निवृत्ति से या पारलौकिक जीवन में पहुँच कर व्यक्ति के मुक्त हो रहने से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। उनकी दृष्टि के अनुसार आध्यात्मिक चेतना का पूर्णतर जीवन योग की सहायता से संपूर्ण मनुष्य जाति में यहां इस जीवन में ही उत्तरोत्तर चढ़ती सीढ़ियों द्वारा अवश्य विकसित हो जाना चाहिये। यह बात हमारे व्यक्तिगत, राष्ट्रीय और जातीय वर्तमान वैर-विरोधों की निराशाजनक परिस्थितियों में भले ही विचित्र प्रतीत होती हो, किन्तु श्रीअरविन्द पूर्णतया अनन्यचित्त हो कर तथा अन्तिम विजय में पूर्ण विश्वास के साथ जिस आदर्श के लिये सचमुच कार्य कर रहे हैं वह तो केवल जीवन की बाह्य वस्तुओं में कुछ परिवर्तन या सुधार करने के द्वारा नहीं अपितु मुख्यभूत मानव-प्रकृति को ही स्वतः सुधारने या पूर्ण बनाने के द्वारा इस पृथ्वी और पार्थिव जीवन को अधिक सुखमय अवस्था में बदल देने का आदर्श है। यह सहज में ही देखा जा सकता है कि व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक जीवन की हमारी सब समस्याएं आखिरकार मानव-प्रकृति की समस्याएं हैं। अतएव श्रीअरविन्द की सर्वतोमुखी और तत्त्वज्ञानी आत्मा हमारी प्रकृति का वास्तविक रूपान्तर करना चाहती है। और संसारव्यापी सम्पूर्ण सन्देहवाद के बावजूद भी वे ऐसे रूपान्तर को केवल एक सम्भावना के तौर पर ही नहीं बल्कि विकासात्मक प्रक्रिया की अनिवार्य चरम सीमा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के तौर पर स्पष्ट देखते हैं। यह यही 'असम्भवता' है जिसे सम्भव बनाने के लिये वे गत तीस वर्षों से निरन्तर यत्नशील हैं और अब इसे एक निश्चित 'सम्भव' में बदल डालने के लिये आत्मविश्वास के साथ आगे की ओर देखते हैं। पांडिचेरी आश्रम का जीवन इसे ही निष्पन्न करने की मूर्त प्रक्रिया है।

'पिछले कुछ ही वर्षों में, शायद उस भयानक सांस्कृतिक संकट के कारण जिसमें कि हम फंसे हुए हैं, आध्यात्मिक जीवन की मांग व जिज्ञासा बढ़ती चली गई है। और यह ऐसी आवश्यकता अनुभव होने के कारण ही है कि श्रीअरविन्द-निकेतन नाम की संस्था जिज्ञासु जनता तक श्रीअरविन्द का गंभीर संदेश पहुँचाने के लिये दिल्ली में स्थापित की गई है। इस संस्था का मुख्य स्थान नई दिल्ली से लगभग ७ मील दूर कुतुब के पास श्री सुरेन्द्रनाथ जी जौहर का मकान है जो अधचिनी गांव के साथ लगा है, और शहर में इसका प्रतिनिधित्व करने वाला केन्द्र एस० एन० संडरसन एण्ड कम्पनी (कनाट सर्कस, नई दिल्ली) के कार्यालय के साथ विद्यमान है। इस समय इसकी प्रवृत्तियां निम्न लिखित हैं :—

(१) श्रीअरविन्द-साहित्य का हिन्दी तथा उर्दू में प्रचार।

(२) 'अदिति' पुस्तिका या पत्रिका का प्रकाशन।

(३) श्रीअरविन्द-वाचनालय चलाना।

(४) अध्ययन मण्डलों और ज्ञानचर्चा-गोष्ठियों को संगठित करना।

'हमें आशा है कि आध्यात्मिक जीवन के सभी जिज्ञासु और मानव जीवन के गंभीरतर अभिप्राय में दिलचस्पी रखने वाले सभी सज्जन श्रीअरविन्द-निकेतन द्वारा दिये गये इस सुअवसर का स्वागत करेंगे।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखकों का परिचय

श्री अनिलवरण जी—

इनका परिचय पहिले दिया जा चुका है। पर उसके साथ इनके विषय में पाठकों को यह भी विदित हो जाय तो अच्छा है कि कांग्रेस-कार्य से भी पहिले ये फिलासफी के प्रोफेसर थे। उस पद को छोड़ कर तथा अन्य त्याग करके आप कांग्रेस में सम्मिलित हो गये थे। बंगाल की कांग्रेस में भी ये अपनी योग्यता के कारण शीघ्र ही ऊंचे चढ़े और स्वनामधन्य देशबन्धु चित्तरंजनदास के वहां ये दायें हाथ समझे जाते थे। पर फिर कांग्रेस को भी छोड़कर ये श्रीअरविन्द के योग आश्रम में आ गये।

स्व० श्री पं० चमूपति जी—

आप हिन्दी, उर्दू और अंग्रेज़ी के उत्कृष्ट लेखक और कवि थे। आर्यसमाज के महान् सेवक और व्याख्याता थे। गुरुकुल कांगड़ी के आप मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य पद पर भी रहे थे। आपकी जो कविता इस बार प्रकाशित हुई है वह आपके एक शिष्य स्नातक ने हमें प्रदान की है। इस कविता को उन्होंने माता जी के निम्न शब्दों की व्याख्यारूप पाया है :—

Take the Divine alone into your soul's confidence.

श्री नारायणप्रसाद जी—

आप श्रीअरविन्द आश्रम के साधक हैं। आश्रमवासी बने आपको लगभग ७,८ वर्ष हो गये हैं। वैसे आप बिहार प्रान्त के हैं। इस लिखने व कविता करने की प्रवृत्ति आश्रम में आ जाने के बाद ही आप में जगी है।

श्री शुद्धानन्द जी भारती—

एक प्रसिद्ध महापुरुष से संन्यास ग्रहण कर आप संन्यासी 'शुद्धानन्द भारती' बने हैं। अपने प्रान्त में राष्ट्रीय कार्यकर्ता भी रहे हैं। तामिल के आप प्रख्यात कवि हैं। तामिल में आपका रचा हुआ बहुत बड़ा आध्यात्मिक साहित्य है। अँग्रेज़ी, फ्रेंच, संस्कृत के भी आप विद्वान् और लेखक हैं। बहुत वर्षों तक आप मौन भी रहे हैं। राजयोग, हठयोग आदि सभी योगों के अनुभवी ज्ञाता हैं। श्री रमण महर्षि के संपर्क में भी आप रहे हैं। अब चिरकाल से श्रीअरविन्द आश्रम में साधक हो कर रह गये हैं।

प्रकाशक और मुद्रक श्री डा० इन्द्रसेन जी मंत्री श्रीअरविन्द-निकेतन, द्वारा जमना प्रिंटिंग वर्क्स देहली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द की हिन्दी पुस्तकों की सूची

श्रीअरविन्द और उनका योग	...	मूल्य ॥=)
योगप्रदीप	...	,, ॥।)
इस जगत् की पहेली	...	,, १)
माता	...	,, ॥।)
योग के आधार	...	,, २।)
हमारा योग और उसके उद्देश्य	...	,, ॥)
गीता-प्रबन्ध (प्रथम भाग)	...	,, ४॥)
जगन्नाथ का रथ	...	,, ॥)
उत्तरपाड़ा अभिभाषण	...	,, ।)
मातृवाणी	...	,, २।)

इसके अतिरिक्त श्रीअरविन्द की अंग्रेज़ी, बंगला, गुजराती आदि भाषाओं की सब पुस्तकें भी यहां से मिल सकती हैं ।

मिलने का पता :—

श्रीअरविन्द निकेतन

कनाट सर्कस, डाकपेटी ८५,
नई देहली ।

Only Cover Printed by Murari Art, Popular Press, Delhi.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

अदिति

अनागसो अदितये स्याम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक पुस्तिका का मूल्य १।)
वर्षभर की चार पुस्तिकाओं का मूल्य ४)

सम्पादक
डा० इन्द्रसेन जी एम. ए., पीएच. डी.

प्रकाशक
एस. एन. संडर्सन एण्ड कम्पनी
श्रीअरविन्द निकेतन, नई दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२१ फरवरी १६४४ के श्रीअरविन्द-दर्शन के उपलक्ष में भेंट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

विषय-सूची

Life and Death (हिन्दी अनुवाद सहित) ४

मातृवचनामृत—

१. नये वर्ष की प्रार्थना ५

२. पिछले वर्षों की प्रार्थनायें ६

श्रीअरविन्द-वाणी—

१. वैदिक सूक्त-सुधा

(१) इन्द्र और अगस्त्य का संवाद ११

२. कर्मयोगी

(१) कर्मयोगी का आदर्श १७

योग का अधिकार और दीक्षा	श्री नलिनीकान्त जी	२५
श्रीअरविन्द की साधना	श्री हरिदास जी	३२
देव और असुर	श्री अनिलवरण जी	३७
सूर्योदय	श्री अभयदेव जी	४३
माताजी से	श्री 'सुन्दरम्' जी	४६
मां की मृदुल पुकार !	श्री वेदव्रत जी	५२
पूर्णयोग की साधना	श्री मदनगोपाल जी	५३
बच्चों में नकल करने की वृत्ति	श्रीमती लीलावती जी	६६
सीता !	डा० इन्द्रसेन जी	७४
अदिति की पुकार	,,	
लेखकों का परिचय	,,	

भेंट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Life and Death

Life, death,—death, life; the words have led for ages
Our thought and consciousness and firmly seemed
Two opposites; but now long-hidden pages
Are opened, liberating truths undreamed.
Life only is, or death is life disguised,—
Life a short death until by life we are surprised.

—Sri Aurobindo.

जीवन और मृत्यु

जीवन मृत्यु—मृत्यु जीवन,
दो शब्द चले युग युग से आते।
मानव की विचार धारा में,
और चेतना में गति लाते ॥
दिखते प्रायः पूर्ण विरोधी,
किन्तु अरे! लो! जान लिया है—
स्वप्नातीत सत्य को, सम्मुख—
सुन्दरता से, प्रकट किया है ॥
जीवन केवल है—अथवा है—
मृत्यु छुपे जीवन की रेखा।
जीवन अल्प मृत्यु है, जबतक,
जीवन का आश्चर्य न देखा ॥

—दीनानाथ 'दिनेश'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1944

O Lord, the world implores Thee to prevent it from falling back always into the same stupidities.

Grant that the mistakes recognised may never be renewed.

Grant lastly that its actions may be the exact and sincere expression of its proclaimed ideals.

[signature]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

मातृवचनामृत—

नये वर्ष की प्रार्थना

[माताजी की इस नये वर्ष की प्रार्थना हिन्दी अनुवाद सहित नीचे दी जा रही है। यह प्रार्थना माताजी के अपने अक्षरों में लिखी हुई भी साथ लगी हुई है। —सं० अ०]

1944

O Lord, the world implores Thee to prevent it from falling back always into the same stupidities.

Grant that the mistakes recognised may never be renewed.

Grant lastly that its actions may be the exact and sincere expression of its proclaimed ideals.

१९४४

प्रभो ! मनुष्यसंसार तुझसे विनती करता है कि फिर फिर उन्हीं मूर्खताओं में जा पड़ने से तू उसे बचा।

ऐसी कृपा कर कि जो भूलें पहचान में आ चुकी हैं वे फिर नये सिरे से न दोहरायी जांय।

अन्त में, यह प्रदान कर कि मानव-जाति अपने घोषित आदर्शों को कर्म में ठीक और सच्चे तौर पर प्रकट करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिछले वर्षों की प्रार्थनायें

एक दृष्टि में

[गत वर्ष १६४३ की प्रार्थना की व्याख्या करते हुवे हमने लिखा था 'इस प्रार्थना को समझने के लिये अच्छा तो यह होता कि पिछले कुछ वर्षों की प्रार्थनाओं का पाठकों को अक्षरशः पता होता और हमारा विचार है कि कभी पिछले सब वर्षों की, जब से ऐसी प्रार्थना का क्रम आरम्भ हुवा है, प्रार्थनाओं को क्रमिक रूप में पाठकों को दे सकें'। सो अब इस नये वर्ष (१६४४) की प्रार्थना को देने के अनन्तर पिछले वर्षों की १६३६ तक की प्रार्थनायें भी नीचे दी जाती हैं। आशा है पाठकों के लिये इन सब प्रार्थनाओं का एक दृष्टि में देख लेना, माताजी की इन वार्षिक प्रार्थनाओं के महत्त्व को समझने में सहायक होगा। —सं० अ०]

1943

The hour has come when a choice has to be made, radical and definitive.

Lord, give us the strength to reject falsehood and emerge in Thy truth, pure and worthy of Thy victory.

१६४३

वह घड़ी आ गई है, जब कि हमें एक चुनाव कर लेना है मूलग्राही और निर्णायक चुनाव।

प्रभो! हमें वह बल प्रदान करो जिससे कि हम असत्य को त्याग सकें और तुम्हारे सत्य में उदित हो सकें, विशुद्ध हो कर और तुम्हारी विजय के पात्र हो कर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1942

Glory to Thee, O Lord, conqueror of every foe!

Give us the power to endure and share in Thy victory.

१९४२

हे प्रभो! तुम्हारी महिमा अपार है, हे प्रत्येक शत्रु पर विजय करने वाले! तुम्हारी महिमा महान् है। हमें वह शक्ति प्रदान करो जिससे कि हम सब सहन कर सकें और तुम्हारी विजय में भागीदार हो सकें।

1941

The world is fighting for its spiritual life menaced by the rush of hostile and undivine forces.

Lord! we aspire to be Thy valiant warriors so that Thy glory may manifest upon the earth.

१९४१

जगत् अपने आध्यात्मिक जीवन के लिये युद्ध कर रहा है, जिसे आसुरी और अदेव शक्तियों के आक्रमण ने संकटापन्न कर दिया है।

हे प्रभो! हम विनय भावसे अभीप्सा करते हैं कि हम तेरे पराक्रमी योद्धा बनें, जिससे कि तेरी महिमा इस पृथ्वीतल पर अभिव्यक्त होवे।

1940

A year of silence and expectation........

Let us find, O Lord, our entire support in Thy Grace alone.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९४०

यह वर्ष है मौन एवं प्रतीक्षा में ....रहने का
तेरी कृपा में, एकमात्र तेरी कृपा में, हे प्रभो! हम अपना सम्पूर्ण सहारा पावें।

1939

will be the year of
PURIFICATION

O Lord,
All those who take part
in the Divine Work
implore THEE
That by a Supreme Purification
they may be liberated
from the domination
of the ego.

१९३९

शुद्धि व पवित्रीकरण का
वर्ष होगा
हे प्रभो!
वे सब जो कि दिव्य कार्य में
भाग ले रहे हैं
तुम से विनती करते हैं
कि वे एक परम पवित्रीकरण द्वारा
अहंकार के आधिपत्य से
मुक्त हो जांय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1938

Lord, grant that every thing in us may be ready for Thy Realization. On the threshold of the new year, we bow down to Thee O Lord, Supreme Realizer.

१६३८

प्रभो ! ऐसी कृपा करो कि हमारे अन्दर की प्रत्येक वस्तु तुम्हारी सिद्धि के लिये तैयार हो जाय। नये वर्ष में पदार्पण करते हुए हम तेरे आगे नतमस्तक होते हैं, हे प्रभो, हे परमसिद्धिप्रदातः !

1937

Glory to Thee, O Lord, who triumphest over every obstacle !

Grant that nothing in us may be an impediment to Thy work.

१६३७

तुम्हारी महिमा महान् है, हे प्रभो ! जो तुम प्रत्येक बाधा पर विजय पाने वाले हो। ऐसी कृपा करो कि हमारे अन्दर कुछ भी ऐसा न रहे जो कि तुम्हारे कार्य में बाधक हो।

1936

O Lord ! grant that this year may be the year of Thy Victory. We aspire for a perfect faithfulness which would make us worthy of it.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९३९

हे प्रभो ! यह प्रदान करो कि यह वर्ष तुम्हारी विजय का वर्ष हो, हम उस पूर्ण निष्ठा और दृढ़ भक्ति के लिये अभीप्सा करते हैं, जो हमें इसका पात्र बना सकेगी।

(ये १९३९ तक की ही प्रार्थनायें हमें उपलब्ध हो सकी हैं।)

—:o:—

यह नये वर्ष का जन्म हमारी चेतना का नया जन्म होवे।

आओ, आज हम भूत को सुदूर पीछे छोड़े जाते हुए एक प्रकाशमय भविष्य की तरफ दौड़ें।

प्रभो ! यह संवत्सर मर रहा है और हमारी कृतज्ञता तुम्हारे चरणों में नीचे झुकती है।

प्रभो ! संवत्सर फिर जन्मा है, हमारी प्रार्थना तुम्हें पहुंचने के लिये ऊपर उठती है।

ऐसा करो कि यह हमारे लिये भी एक नवजीवन का प्रभात सिद्ध होवे।

—'अमृत-बिन्दु' से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

76321

श्रीअरविन्द-वाणी—

वैदिक सूक्त-सुधा

[श्रीअरविन्द ने वेद के विषय में 'वेद का रहस्य' (The secret of the Veda) नामक एक लेखमाला 'Arya' में लिखी थी। उसका हिन्दी अनुवाद पूरा हो चुका है। और वह पुस्तक रूप में श्रीअरविन्द निकेतन की तरफ से सुविधा होते ही प्रकाशित की जायगी। उस लेखमाला के कथनों के उदाहरण के तौर पर श्रीअरविन्द ने ऋग्वेद के कुछ चुने हुए सूक्तों का भाष्य 'Selected Hymns' शीर्षक से 'Arya' में किया था। हमने विचार किया है कि इन श्रीअरविन्द के चुने हुए १४, १५ सूक्तों का भाष्य भी हिन्दी में 'वैदिक सूक्त-सुधा' शीर्षक से 'अदिति' के पाठकों को क्रमशः भेंट करें। पहिला सूक्त नीचे दिया जा रहा है। —सं० अ०]

(१)

इन्द्र और अगस्त्य का संवाद

ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त १७०

इन्द्र

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीतं वि नश्यति ॥१॥

वह (न नूनम् अस्ति) न अब है (नो श्वः) न कल होगा; (तद् कः वेद यद् अद्भुतम्) उसे कौन जानता है जो सर्वोच्च और अद्भुत है? (अन्यस्य चित्तम्) अन्य की चेतना (अभि सञ्चरेण्यम) इसकी गति और क्रिया से सञ्चरित तो होती है; (उत आधीतम्) पर जब विचार द्वारा इसके समीप पहुंचा जाता है, तब (वि नश्यति) यह लुप्त हो जाता है ॥१॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अगस्त्य

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव ।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः ॥२॥

(इन्द्र ! किं नः जिघांससि) हे इन्द्र ! तू क्यों हमारा वध करना चाहता है ? (मरुतः तव भ्रातरः) ये मरुत तेरे भाई हैं । (तेभिः साधुया कल्पस्व) उनके साथ मिल कर तू पूर्णता को सिद्ध कर; (समरणे) हमें जो संघर्ष करना पड़ रहा है उसमें (नः मा वधीः) तू हमारा वध मत कर ॥२॥

इन्द्र

किं नो भ्रातरगस्त्य सखा सन्नति मन्यसे ।
विद्मा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमिन्न दित्ससि ॥३॥
अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धतां पुरः ।
तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै ॥४॥

(किं, भ्रातः अगस्त्य) क्यों, ऐ मेरे भाई अगस्त्य ! (सखा सन) तू मेरा मित्र है तो भी (नः अतिमन्यसे) अपने विचार को मुझ से परे रखता है ? खैर, (विद्म हि) मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ (यथा) कि क्यों तू (ते मनः) अपने मन को (अस्मभ्यं इत् न दित्ससि) हमें नहीं देना चाहता ॥३॥

वे मरुत (वेदिम् अरं कृण्वन्तु) वेदि को तैयार कर लें, (पुरः अग्निं समिन्धताम्) अपने आगे अग्नि को प्रज्वलित कर लें । (तत्र) वहीं अर्थात् उसी अवस्था में (अमृतस्य चेतनम्) चेतना अमरत्व की प्राप्तिके लिये जागृत होगी । आ, (ते यज्ञं तनवावहै) हम दोनों मिलकर तेरे लिये तेरे फलसाधक यज्ञ को फैलायें ॥४॥

अगस्त्य

त्वमीशिषे वसुपते वसूनां त्वं मित्राणां मित्रपते धेष्ठः ।
इन्द्र त्वं मरुद्भिः सं वदस्वाध प्राशान ऋतुथा हवींषि ॥५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वसूनां वसुपते) हे वसुओं के, सब जीवन तत्त्वों के, शासक, वसुपते ! (त्वम् ईशिषे) तू शक्ति में स्वामी है। (मित्राणां मित्रपते) हे प्रेम-शक्तियों के शासक प्रेमाधिपते ! (त्वं धेष्ठः) तू स्थिति में प्रतिष्ठित करने के लिये सब से अधिक सबल है। (इन्द्र) हे इन्द्र ! (त्वं मरुद्भिः संवदस्व) तू मरुतों के साथ सहमत हो जा; (अध) और तब (ऋतुथा) सत्य की नियम-क्रम से युक्त पद्धति के अनुसार (हवींषि प्राशान) हवियों का स्वाद ले।

भाष्य

इस सूक्त में जो आधारभूत विचार है उसका सम्बन्ध आध्यात्मिक प्रगति की एक अवस्था से है, और यह अवस्था वह है जब कि मनुष्य का आत्मा केवलमात्र विचार-शक्ति के द्वारा ही शीघ्रता के साथ आगे बढ़ कर पार हो जाना चाहता है ताकि समय के पहले ही, सचेतन क्रिया की जो क्रमशः एक के बाद दूसरी अवस्थायें आती हैं उन सबमें पूर्ण विकास को पाये बिना ही, वह सब वस्तुओं के मूल कारण (स्रोत) तक पहुंच जाये। देव जो कि मानव-विश्व और विराट्-विश्व दोनों के शासक हैं उसके इस प्रयत्न का विरोध करते हैं और मनुष्य की चेतना के अन्दर एक जबर्दस्त संघर्ष चलता है, जिसमें एक तरफ तो अपनी अहम्भाव-प्रेरित अति उत्सुकता के साथ व्यक्तिगत आत्मा होता है और दूसरी तरफ विश्व-शक्तियाँ होती हैं जो कि विश्व के दिव्य उद्देश्य को पूर्ण करना चाह रही होती हैं।

ऐसे क्षण में ऋषि अगस्त्य की, अपनी आन्तर अनुभूति में, इन्द्र से भेंट होती है, जो इन्द्र स्वः का अधिपति है और जो 'स्वः' है विशुद्ध प्रज्ञा का लोक जिसके बीच में से होकर दिव्य सत्य में पहुंचने के लिये आरोहण करते हुए आत्मा को गुज़रना होता है।

सर्वप्रथम इन्द्र यह कहता है कि हे अगस्त्य ! वस्तुओं का वह मूल स्रोत अविज्ञेय है जिसे पाने के लिये तुम ऐसी अधीरता के साथ यत्नशील हो रहे हो। वह काल में नहीं पाया जा सकता (वह कालातीत है)। वह वर्तमान की वास्तविकताओं के अन्दर नहीं रहता, न ही वह भविष्य में फलित होनेवाली संभाव्यताओं में है। वह न अब है, न अब के बाद होता है। उसका अस्तित्व देश और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल से अतीत है, और इस लिये वह स्वयं उससे नहीं जाना जा सकता जो देश और काल में सीमित है। वह अपने रूपों और अपनी क्रियाओं के द्वारा उसकी जो वह स्वयं नहीं है (अन्यस्य) चेतना के अन्दर अपने आपको व्यक्त करता है और उन क्रियाओं का अभिप्राय यह है कि उसकी उन क्रियाओं द्वारा ही उसका साक्षात्कार किया जाना चाहिये। पर यदि कोई सीधा स्वयं इसके पास पहुंचने का और इसके स्वरूप को अध्ययन करने का यत्न करता है तो झट यह उस विचार में से जो कि इसे ग्रहण करना चाहता है निकल कर अन्तर्धान हो जाता है और ऐसा हो जाता है मानो यह है ही नहीं [देखो, मन्त्र १]।

अगस्त्य अब तक नहीं समझ पाता कि भला क्यों इस अनुसरण में उसका ऐसा ज़बर्दस्त विरोध किया गया है, वह तो उसी का अनुसरण कर रहा था जो सब मनुष्यों का अन्तिम लक्ष्य है और उसके सब विचार तथा उसके सब अनुभव जिसकी माँग कर रहे हैं। 'मरुत' विचार की शक्तियां हैं जो अपनी प्रगति की सबल तथा दीखने में विनाशक गति के द्वारा इसे जो अब तक निर्मित हुआ है तोड़ गिराती हैं तथा नवीन रचनाओं की उपलब्धि में सहायक होती हैं। इन्द्र, जो विशुद्ध **प्रज्ञा** की शक्ति है, उन मरुतों का भाई है; अपनी प्रकृति में उनका सजातीय है यद्यपि सत्ता में उनसे ज्येष्ठ है। तो इन्द्र को उन मरुतों के साथ होकर उस पूर्णता को निष्पन्न करना ही चाहिये जिसके लिये अगस्त्य इतना प्रयत्नशील है, उसे शत्रु नहीं बन जाना चाहिये, न ही उसे अपने मित्र (अगस्त्य) का, लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जो उसे यह भीषण संघर्ष करना पड़ रहा है उसमें, वध करना चाहिये [देखो, मन्त्र २]।

इन्द्र उत्तर देता है कि हे अगस्त्य ! तुम मेरे मित्र और भाई हो, (आत्मतः अगस्त्य इन्द्र का भाई इस तरह कि ये दोनों एक **परम सत्ता** के पुत्र हैं, मित्र इस तरह कि ये दोनों एक प्रयत्न में सहयोगी होते हैं तथा दिव्य प्रेम में, जो कि देव और मनुष्य को जोड़ने वाला है, ये दोनों एक होते हैं), और इसी मित्रता तथा बन्धुत्व के सहारे तुम उत्तरोत्तर आने वाली पूर्णता में बढ़ते हुवे वर्तमान अवस्था तक पहुंच पाये हो; पर अब तुम मेरे प्रति ऐसा व्यवहार कर रहे हो जैसे कि मैं कोई अवर कोटि की, घटिया दर्जे की शक्ति हूँ और देव के राज्य में अपने को सिद्ध किये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिना ही तुम परे पहुंच जाना चाहते हो। क्योंकि अगस्त्य अपनी बढ़ी हुई विचार-शक्तियों को सीधे अपने लक्ष्य की तरफ ही फेरना चाहता है, इस की जगह कि वह उन्हें विराट् प्रज्ञा में सौंप देवे जिससे कि वह विराट् प्रज्ञा अपनी सिद्धियों को अगस्त्य द्वारा सारी मानवता में सुसमृद्ध कर सके तथा अगस्त्य को सत्य के मार्ग पर अग्रसर कर सके। इसलिये इन्द्र कहता है, अहम्भाव से भरा हुआ प्रयत्न रोक दो, महान् यज्ञ को ग्रहण करो, यज्ञ के प्रधान अंग तथा यात्रा के पथप्रदर्शक के तौर पर अपने आगे **अग्नि** को, दिव्य **शक्ति** की ज्वाला को, प्रज्वलित कर लो। मैं (इन्द्र) और तुम (अगस्त्य), **विराट् शक्ति** और मानव आत्मा, दोनों मिल कर फलसाधक आन्तरिक क्रिया को समस्वरता के साथ विशुद्ध प्रज्ञा के स्तर पर विस्तृत करेंगे, ताकि यह क्रिया वहां अपने को सुसमृद्ध कर सके और पार होकर लक्ष्य को पहुंच सके। क्योंकि जब निम्न सत्ता अपने आपको उत्तरोत्तर दिव्य क्रियाओं के अर्पण करती चलेगी, ठीक तभी यह हो सकता है कि मर्त्य की सीमित तथा अहम्भाव से परिपूर्ण चेतना जागृत होकर असीम तथा अमरत्व की अवस्था तक, जो कि उसका लक्ष्य है, पहुंच सके [देखो, मन्त्र ३, ४]।

अगस्त्य इस देव की इच्छा को स्वीकार कर लेता है और उसे आत्म-समर्पण कर देता है। वह सहमत हो जाता है कि वह इन्द्र की क्रियाओं में भी सर्वोच्च शक्ति को देखे और उसे सिद्ध करे। अपने स्वकीय लोक में इन्द्र जीवन के सब तत्त्वों (वसुओं) का, जो कि मन, प्राण और शरीर के त्रिगुण लोक में अभिव्यक्त होते हैं, सर्वोच्च अधिपति है और इसलिये शक्ति रखता है कि वह उस दिव्य **सत्य** की सिद्धि के लिये जो विश्व में अपने को अभिव्यक्त करता है इस त्रिगुण लोक की रचनाओं का—प्रकृति की क्रिया में—उपयोग कर सके—और इन्द्र सर्वोच्च अधिपति है प्रेम और आनन्द का जो प्रेम और आनन्द उसी (मन, प्राण और शरीर के) त्रिगुण लोक में व्यक्त होते हैं और इस लिये उसमें शक्ति है कि वह इसकी रचनाओं को समस्वरता के साथ—प्रकृति की स्थिति में—यथास्थान स्थापित कर सके। अगस्त्य को जो कुछ भी सिद्धि हुई है उस सब को वह, यज्ञ की हवि की तरह, इन्द्र के हाथों में सौंप देता है ताकि इन्द्र उसे अगस्त्य की चेतना के सुप्रतिष्ठित भागों में धारण करा सके तथा नवीन रचनाओं को करने के लिये उसे गति दे सके। इन्द्र को एक वार फिर अगस्त्य के जीवन की ऊर्ध्वगामिनी अभीप्सा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्तियों (मरुतों) के साथ मैत्री-संलाप करना है और उस ऋषि के विचारों तथा उस प्रकाश के बीच में, जो प्रकाश कि हम तक विशुद्ध प्रज्ञा के द्वारा आता है, एकता स्थापित करानी है। वह शक्ति (इन्द्र-शक्ति) तब अगस्त्य के अन्दर यज्ञ की हवियों का उपभोग करेगी, वस्तुओं के उस उचित नियमक्रम के अनुसार जो नियमक्रम उस पार रहने वाले सत्य से व्यवस्थित तथा शासित होता है।

टिप्पणी—

इन वैदिक सूक्तों का अनुवाद प्रारम्भ करते समय श्रीअरविन्द ने 'आर्य' में इस आशय की टिप्पणी लिखी है कि यह अनुवाद मैं सामान्य पाठकों के लिये दे रहा हूं। अमुक शब्द का अर्थ अमुक तौर पर मैंने क्यों किया है इसके विस्तार में जाना, इसके लिये भाषाविज्ञानसम्बन्धी तथा अन्य प्रकार के प्रमाण देना यहाँ सम्भव नहीं होगा और वैसे भी यह थोड़े से अन्वेषक विद्वान् लोगों के लिये रुचिकर होगा, इसलिये इसे यहां मैं छोड़ रहा हूँ या स्थगित कर रहा हूं —अनुवादक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मयोगी

[इस शीर्षक के नीचे हम श्रीअरविन्द की एक लेखमाला प्रारम्भ करने लगे हैं। पहले पहल इसके १०, १२ लेख श्रीअरविन्द ने १९०९-१० में अपने 'Karmayogin' (कर्मयोगिन) पत्र में प्रकाशित किये थे। पीछे वे अंग्रेजी में पुस्तिका रूप में भी छप चुके हैं। परन्तु हिन्दी में वे पहली बार ही यहां उपस्थित किये जा रहे हैं। —सं० अ०]

प्रथम अध्याय

कर्मयोगी का आदर्श

आज संसार की आंखों के सामने भारतवर्ष इतनी शीघ्रता के साथ, इतनी स्पष्टता के साथ एक राष्ट्र बन रहा है कि सब लोग इस क्रिया को होते हुए देख सकते हैं, और जिन में सहानुभूति तथा प्रतिभा है वे तो इस में काम कर रही शक्तियों को, प्रयोग में लाई जा रही सामग्री को तथा दिव्य शिल्प-कला की प्रणाली को भी पहिचान सकते हैं। यह राष्ट्र प्रकृति के कारखाने में तैयार हुई कोई असंस्कृत नई जाति नहीं है, न ही यह आधुनिक परिस्थितियों से बन रहा है। यह संसारभर की प्राचीनतम जातियों और बृहत्तम सभ्यताओं में से एक है, इस की प्राणशक्ति अत्यन्त अदम्य है, इसकी विशालता अत्यन्त उर्वर है, इसका जीवन गम्भीरतम और इसकी संभाव्यशक्ति अतीव आश्चर्यजनक है। और अब यह विदेशी वीर्य-रुधिर से तथा अन्य प्रकार की मानवीय सभ्यताओं से शक्ति के विविध स्रोतों को अपने में ग्रहण कर अपने आप को अन्तिम तौर से संगठित एक-राष्ट्र के रूप में खड़ा करने की कोशिश कर रहा है। पहले यह ऐसे सजातीय राष्ट्रों का एक संघ था जिनका एक-सा जीवन और एक ही संस्कृति थी। अपनी इस मूलभूत एकता के नियम से सदा ही एकता की ओर झुकता आ रहा, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदा ही अपनी अत्यधिक उर्वरताके कारण नयी नयी विविधताओं और विभाजनोंको पैदा करता हुआ यह देश, अपने आपको महाद्वीपके रूपमें संगठित कर लेनेकी अपनी लगभग दुस्तर बाधाओं को स्थायी तौरपर दूर करनेमें अभी तक कभी समर्थ नहीं हो पाया है। अब वह समय आ गया है जबकि वे बाधायें दूर की जा सकती हैं। हमारी जाति अपने दीर्घ ऐतिहासिक काल में जिस उद्योग को करती रही है उसे अब वह बिलकुल नयी परिस्थितियों में करेगी। कोई भी प्रखर दृष्टि रखने वाला यह भविष्य-वाणी कर सकता है कि वह उद्योग सफल होगा क्योंकि जो कुछ भी बड़ी बड़ी बाधायें थीं वे या तो दूर की जा चुकी हैं या की जा रही हैं। परन्तु हम इससे भी आगे बढ़ते हैं और विश्वास रखते हैं कि उस का सफल होना निश्चित है क्योंकि भारत की स्वतन्त्रता, एकता और महत्ता अब संसार के लिये अनिवार्य हो गई हैं। यही विश्वास है जिस के साथ कर्मयोगी अपने काम को अपने हाथ में लेता है और वह इसे अन्त तक जारी रखेगा, चाहे कितनी भारी और दीखने में अलंघ्य कठिनाइयां क्यों न उपस्थित हों तो भी वह उनसे निरुत्साहित नहीं होगा। हमें विश्वास है कि परमेश्वर हमारे साथ है और उसी विश्वास के बल पर हम विजयी होंगे। हमें विश्वास है कि मानवजाति को हमारी आवश्यकता है और यह मानवजाति का, अपने देश का, अपनी जाति का तथा अपने धर्म का प्रेम और उनकी सेवा ही है जो हमारे हृदय को पवित्र करेगी और संघर्ष के समय हमारे कार्य में अन्तःप्रेरणा का संचार करेगी।

हमने अपने सामने जो काम रखा है वह कोई यान्त्रिक नहीं है, किन्तु नैतिक और आध्यात्मिक है। हमारा लक्ष्य किसी एक प्रकार की सरकार को बदल डालना नहीं है; प्रत्युत एक राष्ट्रका निर्माण करना है। उस कामका राजनीति भी एक भाग है, परन्तु केवल एक भागमात्र है। हम अपनी सारी शक्ति केवल राजनीति पर ही नहीं लगायेंगे, न ही केवल सामाजिक प्रश्नों पर या ब्रह्मविद्या या दर्शन या साहित्य या विज्ञान के विषयों पर, परन्तु इन सब को हम उस एक ही वस्तु के अन्तर्गत समझते हैं जिसे कि हम सब से आवश्यक मानते हैं। वह वस्तु है धर्म, राष्ट्रीय धर्म जो कि, हमारा विश्वास है, सार्वभौम भी है। संसार में जीवन का एक शक्तिशाली नियम है, मानव-विकास का एक बड़ा सिद्धान्त है; आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभव की एक निधि है जिसका कि संरक्षक, आदर्शस्थापक तथा प्रचारक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होना सदा भारतवर्ष की विधि-लिपि में लिखा है। यही 'सनातनधर्म' है। विदेशी संपर्क का दबाव पड़ने से भारत ने उस धर्म के बाह्य रूप को तो नहीं किन्तु उस के जीवित जागृत असली रूप को अधिकांश में खो दिया है। क्योंकि भारत का धर्म अगर जीवन में जिया न जाय तो यह किसी काम का नहीं। इस को केवल जीवन में ही नहीं अपितु जीवन के सभी अंगों में चरितार्थ करना होगा; इस की आत्मा को हमारे समाज, हमारी राजनीति, हमारे साहित्य, हमारे भौतिक विज्ञान, हमारे वैयक्तिक चरित्र, प्रवृत्तियों और अभीप्साओं में प्रविष्ट होना और उनका पुनर्निर्माण करना होगा। इस धर्म के हृदय को समझना, इसे सत्य के रूप में अनुभूति में लाना; जिन ऊंचे भावावेशों की ओर यह ऊपर उठाता है उन्हें अनुभव करना और इसे जीवन द्वारा अभिव्यक्त और क्रियान्वित करना—यह सब है जो कुछ कि हम कर्मयोग से समझते हैं। हम विश्वास करते हैं कि योग को मानव-जीवन का आदर्श बनाना ही वह प्रयोजन है जिस के लिये कि आज भारत का अभ्युदय हो रहा है; योग से ही वह अपनी स्वाधीनता, एकता और महत्ता को अधिगत करने की शक्ति प्राप्त करेगा, योग से ही वह इन्हें सुरक्षित रखने की शक्ति अपने में कायम रखेगा। यह आध्यात्मिक क्रान्ति ही है जिस का कि हम प्राग्दर्शन कर रहे हैं और भौतिक क्रान्ति तो केवल इस की ही छाया और प्रतिबिम्ब है।

यूरोप का आदमी यन्त्र-सामग्री की बहुत अधिक कद्र करता है। वह समाजसम्बन्धी योजनाओं और शासन करने की पद्धतियों के द्वारा मानवता का पुनरुद्धार करना चाहता है; वह राष्ट्रव्यवस्थापिका परिषत् (Parliament) के कानूनों के द्वारा पृथ्वी पर स्वर्ग का राज्य लाने की आशा रखता है। यन्त्रसामग्री बेशक बड़े महत्त्व की वस्तु है, परन्तु अन्दर रहने वाली आत्मा या पीछे रहने वाली शक्ति के केवल कार्यवाहक साधन के तौर पर ही। भारतवर्ष ने १६ वीं सदी में राजनीतिक मुक्ति, सामाजिक पुनर्जागृति, धार्मिक दर्शन तथा धार्मिक पुनर्जन्म पाने के लिये अभिकांक्षा की थी परन्तु वह असफल रहा चूंकि उसने पाश्चात्य प्रेरक भावों और तरीकों को अपनाया, अपनी जाति की आत्मा और नियति (भवितव्यता) की तथा उसके इतिहास की अवहेलना की और यह सोचा कि यूरोपीय शिक्षा, यूरोपीय मैशीनरी, यूरोपीय संगठनप्रणाली और साज-सामान को अपना कर हम अपने लिये यूरोप जैसी समृद्धि, शक्ति और प्रगति को प्राप्त कर लेंगे। हम बीसवीं सदी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतवासी अंग्रेजों की नकल करने वाली उन्नीसवीं सदी के उद्देश्यों, आदर्शों और तरीकों का परित्याग करते हैं; ठीक इसी लिये चूंकि हम इसके अनुभव को स्वीकार करते और ग्रहण करते हैं। हम वर्त्तमान को मूर्ति की तरह पूजने से इन्कार करते हैं; हम आगे और पीछे देखते हैं, पीछे अपनी जाति के शक्तिशाली इतिहास की ओर और आगे उस बृहत् इतिहास की ओर जिसके लिये उस भवितव्यता ने इस जाति को तैयार किया है।

हम ऐसा विश्वास नहीं रखते कि कौंसिलों के विस्तार से, निर्वाचनपद्धति के जारी करने से, औपनिवेशिक स्वराज्य या यूरोपीय राजनीति के किसी अन्य सूत्र से हम अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं। हम इस बातसे इन्कार नहीं करते कि इनमेंसे कुछ चीजों का राजनीतिक संग्राम के उपकरणों और हथियारों के तौरपर प्रयोग किया जा सकता है, किंतु हम इस बातसे इंकार करते हैं कि वे साधनों या आदर्शों के तौर पर पर्याप्त हो सकती हैं; और उस उद्देश्यकी ओर परे तक देखते हैं जिसे कि वे पूरा नहीं कर सकतीं, यदि कुछ कर सकती हैं तो अतीव तुच्छ मात्रा में। वे चीजें भी पर्याप्त हो सकतीं यदि हमारी भवितव्यता अन्तिम तौरपर यही होती कि हमने ब्रिटिश साम्राज्य का एक दूरस्थ प्रान्त या यूरोपीय सभ्यताके अधीन उसका एक पुछल्ला बन कर रहना है। पर वह तो एक ऐसा भविष्य है जिसे हम इस योग्य नहीं पाते कि इसे पूरा हुवा देखने के लिये कोई बलिदान किया जा सके। इसके विपरीत हमारा तो ऐसा विश्वास है कि भारत के भाग्य में यह लिखा है कि वह अपने स्वतन्त्र जीवन और सभ्यता का निर्माण करे, संसार का अग्रणी बन कर खड़ा हो और उन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक समस्याओं को हल करे जिनका हल निकालने में यूरोप असफल रहा है, किन्तु जिनका हल निकालने की अपनी चेष्टा को तथा उस चेष्टा में एक परीक्षण से दूसरे परीक्षण तक, एक विफलता से दूसरी विफलता तक पहुंचने के अपने आयासपूर्ण व्ययसाध्य मार्ग को ही वह (यूरोप) अपनी प्रगति कह कर पुकार रहा है। हमारे साधन भी उतने ही महान होने चाहियें जितने महान कि हमारे उद्देश्य हैं। और उन उद्देश्यों को हम अधिगत कर सकें इसके लिये साधनों को खोजने और उनका प्रयोग करने की जो शक्ति है वह तो एकमात्र तभी प्राप्त हो सकती है जब कि हम अपने अन्दर शक्ति के सनातन स्रोत को खोज निकालें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा समाज यूरोप की नक़ल बन जाय इस दृष्टि से उसके वर्तमान ढांचे को बदल देने से हम सामाजिक सुधार कर सकेंगे, ऐसा हमें विश्वास नहीं है। विधवा विवाह, जातपांत की जगह वर्णपद्धति की स्थापना, बालविवाह-निषेध, अन्तर्जातीय विवाह, अन्तर्जातीय भोज करना तथा समाजसुधारक के बताये हुए अन्य सस्ते इलाज तो ऐसे यान्त्रिक परिवर्तन मात्र हैं जो, चाहे अच्छे या बुरे जैसे भी हों, केवल अपने बल पर राष्ट्र की आत्मा को जीवित नहीं रख सकते या अवनति और विनाश के प्रवाह को रोक नहीं सकते। यह केवल आत्मा ही है जो बचाती है और हृदय से महान् तथा स्वतन्त्र बनने से ही हम सामाजिक और राजनीतिक तौर पर महान् और स्वतन्त्र बन सकते हैं।

हमें इस बात में विश्वास नहीं है कि पश्चिम से लाये हुए धर्मसम्बन्धी संकुचिततर और हीनतर विचारों में सीमित हुए हुए नये सम्प्रदायों को बढ़ाते चले जाने से या हिन्दू धर्म की केवल पोशाक और उसके शरीर को निरन्तर बनाये रखने के लिये संघ कायम करने से हम आध्यात्मिक स्वास्थ्य, शक्ति और महत्ता को पुनः प्राप्त कर सकते हैं। संसार स्वतन्त्र विचार और प्रकृतिवाद की अनिवार्य अराजकता में से गुजरता हुआ धार्मिक विचार तथा अनुभव के एक नवीन समन्वय की ओर, तथा इस प्रकार के नये धर्मयुक्त ऐहलौकिक जीवन की ओर बढ़ रहा है, जो असहिष्णुता से विमुक्त होता हुआ भी श्रद्धा और उत्साह से भरा हुआ हो, जो धर्म के सब रूपों को इसलिये स्वीकार करता हो चूंकि इसे उस **एक** में अटल विश्वास है, जो धर्म भौतिक विज्ञान और आस्तिक बुद्धि का, प्राचीन ईश्वरवाद, ईसाइयत, मुहम्मदी मत और बौद्धधर्म का आलिंगन करता है और तथापि इनमें से कोई-सा भी नहीं है, वह ही है जिसकी ओर कि **विश्व-आत्मा** गति कर रहा है। हमारे अपने धर्म में जो सब धर्मों से अधिक सन्देहवादी और सब से अधिक ही विश्वासी है—सब से अधिक सन्देहवादी तो इसलिये चूंकि इसने सब से अधिक प्रश्न उठाये और परीक्षण किये हैं, सब से अधिक विश्वासी इसलिये चूंकि इसके पास गम्भीरतम अनुभूति तथा सब से अधिक विविधतापूर्ण एवं भावात्मक आध्यात्मिक ज्ञान है,—वह विशालतर हिन्दूधर्म जो कोई एक मतवाद या मतवादों का समुदाय नहीं है किन्तु जीवन का नियम है, जो कोई सामाजिक ढांचा नहीं है बल्कि अतीत और भावी सामाजिक विकास की आत्मा है, जो किसी चीज़ का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निराकरण नहीं करता है परन्तु प्रत्येक चीज को परखने और आजमाने के लिये आग्रह करता है तथा परखने और आजमा चुकने के बाद उसे आत्मा के उपयोग में लाने का आग्रह करता है; उस हिन्दू धर्म में हम भावी विश्वधर्म का आधार पाते हैं। इस सनातनधर्म के अनेक धर्मशास्त्र हैं, वेद, वेदान्त, गीता, उपनिषद्, दर्शन, पुराण, तन्त्र तथा न ही यह बाइबिल या कुरान से इन्कार कर सकता है; पर इसका वास्तविक, सबसे अधिक प्रामाणिक धर्मशास्त्र तो उस हृदय में है जिसमें उस सनातन का वास है। यह हमारी आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूतिओं में ही होगा कि हम संसार के धर्मशास्त्रों की प्रामाणिकता और स्रोत को प्राप्त करेंगे, ज्ञान, प्रेम और आचार के नियम को, एवं कर्मयोग की प्रेरणा और आधार को पावेंगे।

अतएव हमारा लक्ष्य होगा मानवता की खातिर भारतवर्ष के निर्माण किये जाने में सहायता करना—राष्ट्रवाद की यही भावना है जिसको कि हम मानते और अनुसरण करते हैं। हम मानवता से कहते हैं, "वह समय आ गया है जब कि तुझे अवश्य ही बड़ा कदम उठाना चाहिये और भौतिकताग्रस्त जीवन से बाहर निकल कर उस उच्चतर, गम्भीरतर और विस्तीर्णतर जीवन की ओर उठ जाना चाहिये जिसकी ओर मनुष्यमात्र गति कर रहा है। जिन समस्याओं ने मानवजाति को पीड़ित किया है उनका हल तो केवल अन्दर का राज्य जीतने से ही किया जा सकता है; प्रकृति की शक्तियों को आराम और विलास के काम में लाने से नहीं, परन्तु बुद्धि और आत्मा की शक्तियों का स्वामी बनने से, मनुष्य की न केवल बाह्य किन्तु आन्तरिक स्वतन्त्रता को भी स्थापित करने से और बाह्य प्रकृति पर अन्दर से विजय पाने से। उस काम के लिये एशिया का पुनरुत्थान आवश्यक है, इसीलिये एशिया उन्नत हो रहा है। उस काम के लिये भारत की स्वतन्त्रता और महत्ता का होना अत्यावश्यक है अतएव वह विधाता से नियत की हुई अपनी स्वतन्त्रता और महत्ता का दावा करता है और यह, इंगलैण्ड को भी छोड़े बिना, सारी मानवजाति के हित की बात है कि वह अपने इस दावे को पूरी तरह से स्थापित कर ले"।

हम भारत राष्ट्र से कहते हैं, "यह ईश्वर की ही इच्छा है कि हम अपने होकर रहें और यूरोप न बनें। हमने अपनी सत्ता से भिन्न किसी अन्य की सत्ता के नियम का अनुसरण करके जीवन को फिर से प्राप्त करने की चेष्टा की है। हमें वापिस लौटना होगा और जीवन तथा शक्ति के स्रोतों को अपने अन्दर ढूंढना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ेगा। हमें अपने अतीत का ज्ञान प्राप्त करना है और अपने भविष्य के उपयोग के लिये उसे पुनः प्राप्त करना है। हमारा कार्य है—सब से पहले अपने आपको जानना और फिर भारत के सनातन जीवन तथा उसकी प्रकृति के नियम के अनुकूल प्रत्येक वस्तु को ढालना। अतः कर्मयोगी का उद्देश्य यह होगा कि वह हमारे धर्म, हमारे समाज, हमारे दर्शन, हमारी राजनीति, हमारे साहित्य, हमारी कला, हमारे स्मृतिशास्त्र, हमारे विज्ञान और विचार के, प्रत्येक वस्तु जो हमारी थी और है उसके हृदय का अध्ययन करे ताकि हम अपने आपको, अपने राष्ट्र को यह कहने में समर्थ हों, 'यह हमारा धर्म है'। हम सर्वथा भारतीय विचार और ज्ञान के दृष्टिकोण से ही यूरोपीय सभ्यता की आलोचना करेंगे और पश्चिम की प्रभुत्व जमाने वाली मुहरछाप को अपने पर से मिटाने का यत्न करेंगे; हमें पश्चिम से जो कुछ लेना है उसे हम भारतीय रहते हुए लेंगे। और धर्म का एक बार पता चल जाने पर हम न केवल उसे मानने का अपितु उसे जीने का, अपने वैयक्तिक कार्यों में, अपने सामाजिक जीवन में, अपने राजनीतिक उद्योगों में उसे जीने का भरसक प्रयत्न करेंगे"।

हम प्रत्येक व्यक्ति से कहते हैं और विशेषतया उन युवकों से जो अब भारत का काम, संसार का काम, ईश्वर का काम करने के लिये उठ रहे हैं: "तुम इन आदर्शों को धारण नहीं कर सकते और इन्हें सफल करना तो तुम्हारे लिये और भी कठिन है, यदि तुम अपने मनों को यूरोपीय विचारों का गुलाम बना दोगे या जीवन को भौतिक या जड़वादी दृष्टिकोण से देखोगे। भौतिक दृष्टि से तुम कुछ नहीं हो, आध्यात्मिक दृष्टि से तुम सब कुछ हो। यह केवल भारतीय ही है जो कि प्रत्येक चीज़ पर विश्वास कर सकता है, प्रत्येक काम करने का साहस कर सकता है, प्रत्येक चीज़ का बलिदान कर सकता है। इसलिये सब से पहले भारतीय बन जाओ। अपने पूर्वपुरुषों की पैतृक सम्पत्ति को फिर से प्राप्त करो। आर्य विचार, आर्य अनुशासन, आर्य चरित्र, आर्य जीवन को पुनः प्राप्त करो। वेदान्त, गीता और योग को फिर से प्राप्त करो। उन्हें केवल बुद्धि या भावना द्वारा ही नहीं अपितु जीवनों द्वारा पुनः जीवित कर दो। उन्हें जीवन में लाओ और तुम महान्, दृढ़, शक्तिशाली, अजेय तथा निर्भय हो जाओगे। तब तुम्हें न तो जीवन ज़रा भी भयभीत कर सकेगा और न ही मृत्यु। कठिनाई और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असम्भवता तुम्हारे शब्दकोषों से विलुप्त हो जायेंगे। क्योंकि यह तो आत्मा ही है जो कि शाश्वत, अनन्त बल से युक्त है और अपने राज्य, आन्तरिक स्वराज्य को जीत कर वापिस ले लेना तुम्हारे लिये आवश्यक है पूर्व इसके कि तुम बाह्य साम्राज्य को वापिस ले सको। वहां (आत्मा में) ही **माता** विराजमान है और वह पूजा की प्रतीक्षा कर रही है ताकि वह शक्ति दे सके। **उस** में विश्वास रखो, **उस** की सेवा करो, अपनी इच्छाओं को **उस** की इच्छा में, अपनी मैं को देश की बड़ी मैं में, अपनी पृथक् स्वार्थपरता को मानवता की सेवा में विलीन कर दो। सम्पूर्ण शक्ति के स्रोत को अपने में फिर से प्राप्त कर लो तो अन्य सब कुछ तुम्हें आ मिलेगा, सामाजिक स्वस्थता, बौद्धिक प्रमुखता, राजनीतिक स्वाधीनता, मानव-विचार पर प्रभुत्व और संसार का नेतृत्व"।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग का अधिकार और दीक्षा

ले०—श्री नलिनीकान्त जी

योगसाधना में "अधिकार" शब्द बहुधा प्रयोग में आता है। अधिकार का अर्थ है सामर्थ्य, योग्यता। यह कहा जाता है कि सामर्थ्य या योग्यता सभी मनुष्यों में नहीं होती, हरेक मनुष्य केवल इच्छा करने ही से योग-जीवन ग्रहण नहीं कर सकता, कई एक गुण-कर्म आवश्यक हैं, कुछ विधिव्यवस्था या शर्त्तों का पालन करना जरूरी है, एक विशेष अवस्था में पहुंचने या भूमिका पर खड़े होने की आवश्यकता है, इसके बाद ही अध्यात्म-समस्या के सम्मुख आना सम्भव है।

उपनिषद् ने इसीलिए जलदगम्भीर स्वर में घोषणा की है कि दुर्बल की अध्यात्मसाधना विडम्बना मात्र है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः (मुण्डक ३।२।४)।

अथवा अव्यवस्थित चित्त वाले को ज्ञान देना उचित नहीं है—

नाप्रशान्ताय दातव्यम् (श्वेताश्वतर ६—२२)।

यहां तक कि पण्डित, विद्वान, शास्त्रपारदर्शी या मेधावी होने ही से अध्यात्मज्ञान की योग्यता प्राप्त होती हो, ऐसी बात नहीं है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।

इसी लिए तो ब्रह्मजिज्ञासा के प्रारम्भ में जो 'अथातः'—अब इसके बाद— है उसकी बहुल और विपुल व्याख्या भाष्यकारों तथा टीकाकारों ने देने का प्रयत्न किया है। आचार्य शंकर ने अधिकार अर्जन के लिए साधन-चतुष्टय की आवश्यकता बतलायी है। अतएव पहले योग्यता प्राप्त करनी होती है, अधिकारी बनना पड़ता है—उस के बाद अध्यात्म-दीक्षा होती है।

यह प्रश्न अवश्य उठाया जा सकता है— आधुनिक लोग इस प्रश्न को उठाते रहते हैं— सार्वजनीन शिक्षा-दीक्षा के वर्त्तमान युग में यह प्रश्न स्वाभाविक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि अध्यात्म-साधना में सभी मनुष्यों का अधिकार क्यों नहीं हो सकता है? अध्यात्म-साधना यदि मनुष्य के लिए परम सत्य है, श्रेष्ठतम कल्याणतम आदर्श है, तो किसी को भी उससे वंचित करना अन्त्यज या पाषण्डी होने के कारण—शूद्र या नारी होने के कारण किसी को उससे दूर ठेल देना— असंगत, अन्याय्य और निन्दनीय है। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। किसी चीज़ के ऊपर दावा करने ही से या कानूनी हक होने ही से उस के भोगने की योग्यता भी प्राप्त हो जाती हो, ऐसी बात नहीं है—यदि ऐसा होता तो अजीर्णरोग नामक कोई चीज़ ही नहीं होती। अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में अजीर्णरोग के बहुतेरे उदाहरण मिलते हैं— पतित, भ्रष्ट और विकृत लोगों की, समस्त हताहतों की संख्या कम नहीं है और अधिकांश में यह अनधिकार चर्चाका फल है, अरसिक को रस-निवेदन का फल है।

साधारण रूप से मनुष्यमात्र को ही कवि या वैज्ञानिक बनने का सम्भवतः अधिकार है। किन्तु यदि कोई विशेष व्यक्ति कवि या वैज्ञानिक बनना चाहता है तो देखना होगा कि इस उद्देश्य के लिये जिस विशेष शिक्षा-दीक्षा की जरूरत है उस ओर इस मनुष्य की स्वाभाविक क्षमता या उन्मुखता है या नहीं। कवि बनने की इच्छा होने ही से केवल प्रयत्न या अनुशीलन के फलस्वरूप कोई कवि नहीं बन सकता—कवि होकर जिसने जन्म लिया है वही कवि बन सकता है। अध्यात्म-जीवन के बारे में भी यही बात लागू होती है। केवल इतना ही नहीं, इसके अलावा भी एक बात है। अध्यात्म-साधना मनुष्य को इस प्रकार की गुह्य शक्तियों और अमानुषी चेतना के साथ संयुक्त कर देती है, उनको जागृत और सचल कर देती है जिनको धारण करना या व्यवहार करना साधारण मनुष्य के लिये दुःसाध्य ही नहीं, बल्कि असाध्य हो जाता है यदि आधार पहलेसे तैयार और उपयुक्त नहीं हुआ रहता। साधना के साथ भूत-प्रेत, दैत्य-दानव, देव-देवी की बात उठा करती है— ये ही हैं वे सब शक्तिवाहिनी जिनको मनुष्य अपेक्षाकृत आसानी से बुला तो सकता है, किन्तु उतनी आसानी से वशमें रख नहीं सकता। कवि बननेकी कोशिश में यदि सफलता न हुई तो उससे बहुत ज्यादा नुकसान नहीं होता—किन्तु अगर अध्यात्म-साधना में नाकामयाबी हुई तो दीन-दुनिया दोनों ही नष्ट हो जायेंगे; इसके अलावा 'महती विनष्टिः' की भी सम्भावना है। इसीलिये वैदिक ऋषियों ने कहा है कि अच्छी तरह पकाये हुए घड़े की जरूरत है, कच्चे घड़े में सोमरस नहीं ठहर सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीनकाल में इसीलिये अधिकारी-निर्वाचन और अधिकारी-परीक्षा की विशेष विधिव्यवस्था थी सभी देश और सभी साधन-पथ में। देश और पथ के अनुसार यह परीक्षा विभिन्न ढङ्ग और स्तर की होती थी—स्थूल काय-क्लेश से लेकर सूक्ष्म अनुभव की योग्यता तक। हम एक सहज (अपेक्षाकृत सहज सरल) परीक्षा की मिसाल उस ऋषि की कहानी में पाते हैं जिन्होंने कई बार एक वर्ष के बाद दूसरे वर्ष गायें चराने की आज्ञा दी थी। यहां प्रश्न अवश्य ही उठेगा कि अध्यात्म-साधन के साथ गो-चारण का क्या सम्बन्ध ? कोई गूढ़ रहस्य निकालने की कोशिश न करके हम लोग यह कह सकते हैं कि यह आज्ञापालन और धैर्य की परीक्षा है। साधना में इन दो चीजों की सर्वप्रथम और अपरिहार्य जरूरत है—इन दो के बिना साधना ग्रहण नहीं की जा सकती, एक भी कदम आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। इस बात की बड़ी जरूरत है कि गुरुवाक्य को निर्विकल्प रूप से प्रसन्नतापूर्वक पालन किया जाय और कुछ फल नहीं मिलने पर भी अधीर और अवसन्न न होकर समानभाव से हमेशा दत्तचित्त रहा जाय। प्राचीन मिश्र देश में किसी किसी साधन-सम्प्रदाय में एक दूसरे प्रकार की परीक्षा थी। साधनार्थी को एकान्त कोठरी में बन्द कर दिया जाता—उसके सामने दीवाल पर एक टेढ़ा-मेढ़ा रेखायन्त्र अङ्कित रहता, एकाग्र होकर उस रेखायन्त्र पर उसको ध्यान करना होता जब तक और जितने दिन तक वह उसका अर्थ आविष्कार न कर लेता—यदि नहीं कर सकता, तो वह अनधिकारी करार दिया जाता।

लेकिन यह कहने की जरूरत नहीं कि ये परीक्षायें और व्यवस्थायें केवल वहिरंग हैं। कम से कम हम लोगों की श्रीअरविन्द की साधना में इनका स्थान नहीं है। इस प्रकार के या अन्य प्रकार के अनेक सद्गुण अनेक व्यक्तियों में हैं और हो सकते हैं, किन्तु इनके होने से अध्यात्म-जीवन का—भागवत जीवन का विकास होवे, ऐसी कोई बात नहीं है। जिस प्रकार मानसिक क्षेत्र में बुद्धि की प्रखरता और विद्वत्ता किसी को अध्यात्म का अधिकारी नहीं बनाती, उसी प्रकार प्राण के क्षेत्र में भी केवल संयम, तितिक्षा और अध्यवसाय के जोर से अध्यात्म-ज्ञान का अधिकार पैदा नहीं होता—शारीरिक तपश्चर्या की तो कोई बात ही नहीं है। उपनिषद् के निर्देश के अनुसार अ-पुत्र न होना सम्भव है, अ-शिष्य न होना सम्भव है, यहां तक कि सबल साहसी धीर स्थिर शांत दांत पर्यन्त होना सम्भव है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथापि इसका निश्चय नहीं दिलाया जा सकता कि अध्यात्म-साधना में सिद्धि प्राप्त होगी ही। यहां तक कि आचार्य शंकर के कथनानुसार तो, मुमुक्षु होने पर भी अर्थात् मोक्ष की इच्छा और आग्रह रहने पर भी दिव्य मोक्ष प्राप्त होगा, यह सन्देह का विषय है।

तब अध्यात्म-साधना के लिये, भागवत जीवन की प्राप्ति के लिये कौन-सी चीज़ आवश्यक है, अपरिहार्य है? कौनसी वस्तु अव्यर्थ रूप से इस अपूर्व अधिकार को ला सकती है?

केवल एक चीज़ ही यह कार्य कर सकती है जिसे घरेलू भाषा में "पुकार" कहते हैं (जिसका अङ्गरेजी प्रतिशब्द "Call") है। अन्य अध्यात्म-साधन-पथ के सम्बन्ध में चाहे जो हो, किन्तु श्रीअरविन्द-साधना की मर्मवाणी यही "पुकार" है। भागवत जीवन के लिये तुम्हारे अन्दर पुकार उठी है या नहीं, उस पथ पर तुम अन्त तक चल सकोगे या नहीं, इसका प्रमाण और चिह्न इसी का होना या न होना है। अगर यह वस्तु तुम्हारे पास है तो सब कुछ है, अगर यह नहीं है तो तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है। तुम हजार ज्ञानी होओ, हजार तुम्हारा पुण्य और तपस्या हो, किन्तु यदि यह चीज नहीं है, तो श्रीअरविन्द की साधना में तुम्हारा अधिकार नहीं है। और यदि तुम्हारे अन्दर कोई भी गुण न हो, तुम यदि मूर्ख हो, दुर्बल हो, सब प्रकार की त्रुटि और दोष से तुम्हारी प्रकृति भरी हुई हो, किन्तु यह एकमात्र प्रयोजनीय वस्तु यदि तुम्हारे अन्दर है, तो सब गुण तुम्हारे अन्दर आ जायेंगे, तुम्हारे लिये सब-कुछ हो जायगा, तुम्हारी सब बाधा-विपत्ति हट जायगी, तुम्हारी सब कमी पूरी हो जायगी, सब छिद्र भर जायेंगे। उपनिषद् की भाषा में—पाप तुमको नहीं पार कर सकेगा, तुम्हीं सब पापों को पार कर डालोगे, पाप तुमको नहीं जलावेगा, तुम्हीं सब पापों को जला डालोगे *।

किन्तु यह अद्भुत वस्तु है क्या? अघटनघटनापटीयसी यह कौनसी शक्ति है? किसकी पुकार, कहां से आती है यह पुकार? और कुछ भी नहीं, यह है तुम्हारे अन्तरात्मा की पुकार, तुम्हारे अन्तःपुरुष की पुकार और उसका प्रयोजन

* नैनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तरति। नैनं पाप्मा तपति, सर्वं पाप्मानं तपति॥
(बृहदारण्यक ४-४-२३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दावा। सारांश, सच्चे आध्यात्मिक-जीवन के सूत्रपात का अर्थ है अन्तःपुरुष के आविर्भाव की सूचना। मनुष्य का प्राकृत या लौकिक जीवन तब तक है जब तक अन्तरात्मा अप्रकट तथा पर्दे की आड़ में रहता है, तब तक मनुष्य अपने मन, प्राण और देह के प्रयोजन और प्रेरणा के अनुसार चलता है। हां, यह बात ठीक है कि मन, प्राण और देह के द्वारा भी परिणामतः अन्तरात्मा का ही निर्देश और प्रयोजन सिद्ध होता है, किन्तु गौणभाव से परोक्षभाव से। मन, प्राण और देह की बहुल विविध अनुभूति और अभिज्ञता के द्वारा अन्तरात्मा की क्रमगति होती है अर्थात् जैसे जैसे उसकी चेतना बढ़ती है, परिपुष्ट होती है—अल्प से बृहत्, अणु से महान् बनती है, वैसे वैसे, वह पीछे से आड़ से क्रमशः सम्मुख आ जाता है—जन्म-जन्म के इस क्रमविकास के फलस्वरूप आखिरकार ऐसी हालत पैदा हो जाती है कि देह, प्राण, मन अब और अधिक समय तक अन्तःपुरुष को दबा कर या छिपा कर नहीं रख पाते, वे स्वच्छ बन जाते हैं या कहीं-कहीं टूट-फूट कर अन्तरात्मा को प्रकाशित करना शुरू कर देते हैं; देह-प्राण-मन के ऊपर अन्तःपुरुष का दबाव इतना अधिक हो जाता है कि वे अपनी सहजात प्राकृत स्वाधीनता, स्वधर्म और विधिव्यवस्था, नियमशृंखला को खोने लगते हैं; उनको घूमफिर कर इसी भीतरी गम्भीरतर निर्देश को, हुकुम को—पुकार को—सुनकर मान कर चलने का अभ्यास करना पड़ता है। इसी पुकार का एक और नाम है अनाहतवाणी—पाश्चात्य साधुसन्तों ने इसको नाम दिया है The still small voice—क्योंकि शुरू में देह-प्राण-मन के विपुल कोलाहल में यह इसी रूप में सुनाई देती है।

यह पुकार जब स्पष्टरूप से उठती है तब देह प्राण और मन के लिए—प्राकृत मनुष्य के लिए—और कोई मार्ग नहीं रहता, उस को तटहीन समुद्र में कूदना पड़ता है, अज्ञांत देश के लिए नौका को खोल देना होता है। इसी मुहूर्त्त की अनुभूतिका स्मरण करके ही प्राचीन साधकों ने निर्देश दिया है—जिस दिन मनुष्य को वैराग्य उदय हो, उसी दिन वह परिव्रज्या ले ले अर्थात् संन्यासी बन जाय—यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।

अन्तरात्मा—जिस का एक दूसरा नाम "चैत्य पुरुष" है—बहुधा अन्दर ही अन्दर तैयार हो जाता है, नेपथ्य में देह, प्राण, मन के पर्दे से सटकर वह मौजूद रहता है, यद्यपि बाहर से किसी विशेष परिवर्त्तन का कोई चिह्न नहीं दीख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ता, कोई योग्यता या अधिकार नहीं मालूम पड़ता। इस सम्बन्ध में हम लोग महेश्वर की बाह्यमूर्त्ति की याद कर सकते हैं—निन्दकों को अन्धों को आंखें कहां हैं कि आन्तर रूप को देख सकें ? कालिदास ने महेश्वर की बाह्यमूर्त्ति का वर्णन करते हुवे कहा है—

वपु र्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु (कुमारसंभव)
"इतनी आंखें होने के कारण वे कदाकार दीखते हैं, इसके अलावा उनके जन्म का भी ठिकाना नहीं है—और उनकी धन-दौलत का चिह्न उनका दिगम्बरत्व है"।

किन्तु मैं कह चुका हूँ कि बाहरी गुण-दोष अन्तरात्मा की अग्नि का परिचय नहीं देते। हम सभी लोग चरित्रहीन जगाई मधाई और पापंडपंडित सैंट पाल की कहानी जानते हैं—यह आकस्मिक रूपान्तर चेतना का विपर्यय, जीवनधारा का विप्लव, भगवत्कृपा का फल है—यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ; सच्ची बात है, किन्तु तो भी प्रश्न उठता है कि भगवत्कृपा सब के ऊपर क्यों नहीं होती अर्थात् सब के ऊपर समानभाव से फलवती क्यों नहीं होती ?

अन्तरात्मा की, अन्तःपुरुष की—चैत्यपुरुष की—शक्ति अघटनघटना-पटीयसी है, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् भगवान् का, चिन्मयी महाशक्ति का निज अंश है, स्थूल आयतन में डाला हुआ उनकी सत्ता का कण है, चेतना का बिन्दु है। इस बिन्दु की अदम्य अव्यर्थ प्रेरणा है बढ़ते बढ़ते सिन्धु में परिणत होना, केवल भगवान् के सालोक्य को ही प्राप्त नहीं करना अपितु उनके साजात्य और साधर्म्य को भी प्राप्त करना। यह चेतना-बिन्दु अनेक जीवन धारण करते हुए, दुःख सुख के कड़ुवे-मीठे सभी अनुभवों की सहायता से सत्ता और चेतना को क्रमशः बृहत्तर विपुलतर बनाते हुए आगे बढ़ता है और उसका लक्ष्य है इसी पार्थिव आयतन में अपनी निभृत स्वकीय भागवत समग्रता और साकल्य की सिद्धि।

इस दृष्टि से, अपने अन्तःपुरुष में ही जीव पूर्ण स्वाधीन और पूर्ण समर्थ है, क्योंकि यहां पर वह प्रकृति का दास नहीं, प्रकृतिका ईश्वर है। इसीलिए उपनिषद् ने अपनी अनुपम भाषा और भंगीमें कहा है—

इस द्विधासंकुल देहगहन में प्रविष्ट आत्मा जिस के अन्दर सञ्जात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है, सजग हुआ है, वह विश्व का कर्त्ता है, वह सब का कर्त्ता है, उसी का यह लोक है, वह यह सब लोग है। *

अन्त:पुरुष का अधिकार ही योगसाधना में एकमात्र अधिकार है, अन्त:पुरुष की नैसर्गिक स्वत:सिद्ध दीक्षा ही योग-साधना की दीक्षा है। दीक्षा के लिए किसी बाह्य आयोजन और अनुष्ठान की ज़रूरत नहीं होती। यदि हम अन्तरात्मा की भित्ति के ऊपर स्थित हों तो मन्त्र, शुभदिन और मुहूर्त्त सभी गौण हो जाते हैं। जिस मुहूर्त्त अन्तरात्मा अपना अन्तिम निश्चय जना देता है कि इसी जीवन में इसी देह में वह प्रकट होगा, वह देह-प्राण-मन पर अधिकार करेगा, अब और प्रतीक्षा नहीं करेगा—उसी मुहूर्त्त सब मंत्र पढ़ लिए गये, सब दीक्षा ग्रहण कर ली गयी। शिष्य ने अपने गुरु के निकट—अपने चैत्यगुरु, अपने अन्तर्यामी के निकट—नति प्रपत्ति निवेदन कर दिये और गुरु ने भी उसको ग्रहण कर लिया।

मंत्र और दीक्षा असलमें अन्त:पुरुष के स्पर्श के सिवाय दूसरी कोई चीज़ नहीं है। हम लोगों की साधना में इसी लिए कोई दूसरा आचार नियम विधि अनुष्ठान नहीं है। चैत्यपुरुष की चेतना में जागृत होने की, उसकी पुकार सुनने की—इस अन्तर्यामी पथप्रदर्शक की दृष्टिसे, इशारे से, प्रेरणा से चलने की एकमात्र आवश्यकता है। इसीलिए हम लोगों की दीक्षा केवल एक बार का अनुष्ठानमात्र नहीं है, प्रति मुहूर्त्त यह दीक्षा ग्रहण करनी होती है, इसको नवीन रूप नवीन प्राण देना होता है, क्योंकि प्रति मुहूर्त्त अन्तरात्मा के साथ बहिश्चेतना को युक्त रखना होता है; प्रति मुहूर्त्त निष्ठा की परीक्षा होती है—कि हम लोग अन्तरात्मा की ओर झुके हैं, उसकी धारा में चलते हैं या बहिर्मुखी प्राकृत प्रकृति की धारा में चलते हैं, मन-प्राण की तथा देह तक की सभी प्रवृत्तियां और गतियां गतानुगतिक-स्वभाव के द्वारा नियंत्रित होती हैं या ये अपने प्रच्छन्न दिव्य उत्स की ओर उन्मुक्त हैं, उसके साथ संयुक्त हैं। यह निरंतर चलनेवाली दीक्षा सभी साधनाओं का मूल या प्रच्छन्न रहस्य है—पूर्णयोग-साधना का तो यह सम्पूर्ण रहस्य है।

---

* यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन् सन्देह्ये गहने प्रविष्टः।
स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्त्ता तस्य लोकः स उ लोक एव॥ बृहदारण्यक ४।४।१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द की साधना

ले०—श्री हरिदासजी चौधरी

श्रीअरविन्द और उनके पांडिचेरी आश्रम का नाम सुनकर हमारे बहुतेरे देशभाइयों के मन में एक प्रकार के अस्पष्ट रहस्य का भाव प्रस्फुटित हो उठता है। राष्ट्रगुरु अरविन्द को सर्वसाधारण लोग समझते थे, प्यार करते थे और उनके तेजोमय आह्वान को सुनकर मृत्यु की गोदी में भी कूद पड़ते थे; योगीगुरु श्रीअरविंद को साधारण लोग भक्ति तो करते हैं, सम्भवतः पूजा का अर्घ्य भी उन्हें निवेदन करते हैं, किन्तु उन्हें अच्छी तरह समझते नहीं, उन्हें प्रेम करने का साहस नहीं करते। ऐसे लोग भी हैं जो यह समझते हैं कि अरविन्द की महान् कर्मशक्ति और असाधारण बुद्धि 'श्री' अरविन्द के अन्दर निष्फलता की समाधि को प्राप्त हो गयी है, वे इस बात की बिल्कुल ही खबर नहीं रखते कि उस 'समाधि' के पीछे एक महत्तर शक्ति के द्वारा प्रेम और ज्ञान से समृद्ध, भागवत छन्द से ओतप्रोत देवजन्म गठित हो रहा है। बहुत से लोग यह समझते हैं कि संग्रामशील राष्ट्रक्षेत्र से अवसर ग्रहण कर आध्यात्मिक योगसाधना में तल्लीन होना अरविन्द-चरित्र की एक शोचनीय दुर्बलता है। परन्तु जिस तरह प्रखर ज्योति हमारी दुर्बल आंखों के सामने अन्धकार की सृष्टि करती है उसी तरह इस 'दुर्बलता' के पीछे विश्वमाता के चरणों में पूर्ण आत्मसमर्पण करने के कारण, एक अपरिमित शक्ति कार्य कर रही है जिसकी कल्पना करना भी बहुत से लोगों के लिये कठिन है। तब आनन्द की बात यही है कि आज बहुत से लोगों ने श्रीअरविन्द के विषय में श्रद्धा और आग्रह के साथ आलोचन करना आरम्भ कर दिया है। आज श्रीअरविन्द के असाधारण जीवन का रहस्यमय छन्द बहुसंख्यक लोगों के मन में झंकृत होने लगा है। आज उनकी साधना के उद्देश्य और सम्भावनीयता को हृदयंगम करने की अदम्य इच्छा धीरे-धीरे सारे विश्व में फैलने लगी है। हम इस लेख में उसी विषय की संक्षिप्त आलोचना करने की चेष्टा करेंगे।

हमारे देश में योगसाधना की बात उठते ही सब से पहले लोगों का ध्यान संन्यास के आदर्श की ओर जाता है। वे समझते हैं कि कर्म छोड़ना होगा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसार छोड़ना होगा, मायामय इस जगत् को त्याग कर गहन वन की निर्जनता या अंधेरी पर्वत-गुहा में आश्रय लेना होगा। जीवन की पूर्णतम परिणति जीवन के त्याग में ही है। बुद्ध ने प्रचार किया निर्वाण का आदर्श, जीवन-प्रदीप को पूर्ण-रूपेण निर्वापित करनेका धर्म। बचे रहने की जो अन्धी स्पृहा है यही समस्त अनर्थों का मूल कारण है। बौद्धधर्म में अवश्य ही जगत्-हिताय कर्म करने की बात है; विश्वव्यापी करुणा और मैत्री की बात है; किन्तु वह पृथ्वी पर रह कर जीवन को महीयान् बनाने के लिये नहीं है; वह है केवल सर्वं दुःखं, सर्वं शून्यं, सर्वं क्षणिकं और सर्वं स्वलक्षणं—इन चार महामन्त्रों के द्वारा विश्वमानव को उद्बुद्ध कर निर्वाण के मार्ग में ले जाने के लिये।

शङ्कर ने प्रचार किया—ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। शङ्कर के ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप हैं; बुद्ध के निर्वाण की तरह सर्वग्रासी महाशून्य मात्र नहीं हैं। परन्तु शङ्कर का आदर्श भी बुद्ध की ही तरह जीवन-प्रदीप को बुझा कर ब्रह्म में लीन हो जाना अथवा ब्रह्म के साथ जीवात्मा का एकत्व अनुभव करना है। उस चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये यह हृदयंगम करना होगा कि जीवन केवल मृगमरीचिका या मिथ्या ज्योति के पीछे पीछे व्यर्थ दौड़ना है; यह समझना होगा कि जगत् केवल मिथ्या माया की सृष्टि है; रज्जु में सर्प का भ्रममात्र है। अवश्य ही शंकर ने जीवन्मुक्ति को स्वीकार किया है, किन्तु उनके मतानुसार जीवन्मुक्त पुरुष के लिये उसका जीवन परित्यक्त दुःस्वप्न की अन्तिम स्मृति मात्र है। अतीत कर्मों के अन्ध आवेग के वश जीवन उस समय भी स्पंदित होता है; किन्तु उसकी असारता और तुच्छता की उपलब्धि मुक्त पुरुष को हो गयी है और शीघ्र ही उसका अवसान हो जायगा।

रामानुज ने जीव और जगत् दोनों को स्वीकार किया है, यद्यपि दोनों ही परमेश्वर के विशेषण मात्र हैं, अर्थात् परमेश्वर के ऊपर सब प्रकार से निर्भर करते हैं। परन्तु उनके मत में भी जीवन का चरम लक्ष्य पृथ्वी के ऊपर जीवन का पूर्णतम विकास करना या मनुष्य के अन्दर देवता का जन्म साधित करना नहीं है, बल्कि संसार और इहजीवन से मुक्त होकर स्वर्गके देवताओं के साथ सान्निध्य प्राप्त करना और उनका आज्ञानुवर्ती होना है। रामानुज ने मर्त्य को स्वीकार किया है, किन्तु मर्त्य और स्वर्ग के बीच उन्होंने एक दुर्भेद्य अन्तराल की भी कल्पना की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके मतानुसार देवजीवन प्राप्त करने के लिये मर्त्य के शरीर, मन और प्राण का त्याग कर शुद्ध सत्त्व के नवीन उपादान से गठित नवीन शरीर, मन और प्राण ग्रहण करने की आवश्यकता है। मर्त्यधामको रूपान्तरित कर उसीके ऊपर स्वर्गधाम की प्रतिष्ठा करना संभव है, इहजीवन को भागवत छन्द से झंकृत कर पृथ्वी के वक्षःस्थल पर ही भगवान् का जन्म सिद्ध करना विश्वप्रकृति का निगूढ़ उद्देश्य है—इस बात की कल्पना रामानुज नहीं कर सके हैं।

हमारे देश में जिस तरह साधारण तौर पर योग का अर्थ संन्यास और संसार-त्याग समझा जाता है उसी तरह पाश्चात्य देशों में साधारण लोग योगको व्यापकतर भोग का एक प्रकृष्ट पथविशेष समझते हैं। पाश्चात्य लोगों की सर्वोच्च आकांक्षा यही है कि इस क्षुद्र देह, मन और प्राण की सारी शक्ति, क्षमता प्रयुक्त कर पृथ्वी की समस्त भोगसामग्री लूट लेनी होगी। उनकी दृष्टि से मनुष्य के लिये जितना सम्भव हो उतना अधिगत करना चाहिये, मनुष्य के अन्दर जितनी शक्तियां अन्तर्निहित हैं उनका पूर्ण विकास करना चाहिये। उनका यही चरम आदर्श है। पार्थिव भोग की उपेक्षा कर किसी शाश्वत, विशुद्ध आनन्द को प्राप्त करने की साधना को वे लोग सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, कल्पनाविलासी का निष्फल प्रयास समझते हैं।

श्रीअरविन्द के जीवन में प्राच्य और पाश्चात्य भावों का अपूर्व समन्वय साधित हुआ है। उनके योग का उद्देश्य है प्राच्य के आध्यात्मिक आदर्श के द्वारा पाश्चात्य की कर्मप्रेरणा को उद्बुद्ध करना तथा पाश्चात्य के कर्मस्रोत के अन्दर प्राच्य के देवजन्म के स्वप्न को मूर्त्त, विकसित करना। यह पृथ्वी ही हमारा कर्मक्षेत्र है, और कर्मक्षेत्र ही नहीं बल्कि हमारी सिद्धि का भोगक्षेत्र भी है, इस विषय में पाश्चात्य का सहज ज्ञान बिल्कुल अभ्रान्त है। परन्तु श्रीअरविन्द की साधना का लक्ष्य केवल मनुष्य की क्षुद्र शक्ति के द्वारा प्रकृति के पास से यथासम्भव सुखभोग वसूल करना नहीं है, बल्कि प्रकृति के पीछे जो विश्वात्मा विराजमान हैं उनके साथ अभिन्नता स्थापित कर अनन्त शक्ति से शक्तिमान् होना है। पृथ्वी की स्थूलता और संकीर्णता को स्वीकार कर मनुष्य रूप में यथासम्भव व्यापकता प्राप्त करना ही चरम वस्तु नहीं है। मनुष्य के अन्दर जो सुप्त देवता विद्यमान हैं उनको जागृत कर मनुष्य का रूपान्तर साधित करना होगा। पृथ्वी की अन्तर्निहित विराट् चेतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को उद्बुद्ध कर यहीं पर स्वर्गराज्य को स्थापित करना होगा। स्थूल प्रकृति के पीछे सच्चिदानन्दमयी विश्व-शक्ति की इच्छा निरन्तर कार्य कर रही है। उसी विश्वशक्ति के संकेत से क्रमविकास के अन्दर से होकर प्रकृति जड़ के अन्दर चेतन की, पृथ्वी के वक्षःस्थल पर सच्चिदानन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति साधन करने के लिये अग्रसर हो रही है। जड़ से उद्भिद् तथा उद्भिद् से प्राणी की सृष्टि हुई है, प्राणी के बाद मन के अधिकारी मनुष्य का आविर्भाव हुआ है, और श्रीअरविन्द का विश्वास है कि मनुष्य के बाद भगवान् की अतिमानस-शक्ति (Supramental power) का अवतरण होने से अतिमानव (Superman) का जन्म होगा। मनुष्य की सचेतन प्रचेष्टा और साधना के द्वारा ही यह नवीन जन्म या अभिव्यक्ति सिद्ध होगी। फलस्वरूप समग्र विश्वमानव इस दिव्य जीवन का अधिकारी होगा तथा अपने को अमृत के सन्तान के रूप में पहचानेगा।

जड़ प्रकृति की आड़ में तथा हमारे मन, प्राण और शरीर के परे जो एक विराट् सच्चिदानन्दमयी सत्ता विद्यमान है उसका पता प्राच्य की गभीर अन्तर्दृष्टि को बड़ी आसानी से मिल गया था। किन्तु उस असीम विराट् सत्ता का पता लग जाने पर और उसके अगाध आनन्द में विभोर हो जाने पर प्राच्य ने विश्व-प्रकृति की गति की, जीवन की कर्मधारा की उपेक्षा या उसे एकदम अस्वीकार करने की चेष्टा की। शंकर ने प्रचार किया—ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। श्रीअरविन्द कहते हैं—ब्रह्म सत्य है, जगत् भी सत्य है। मिथ्या अगर कुछ है तो वह है अन्धी अहमिका के वश जगत् के प्रति हमारी आसक्ति। त्याग और संन्यास बड़े ही ऊंचे आदर्श हैं इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि कामना-वासना को जब तक दूर नहीं किया जाता तब तक अज्ञान का अन्धकार दूर नहीं हो सकता, अहमिका की क्षुद्रता को पार नहीं किया जा सकता, 'अवाङ्मनोगोचर' परम सत्य का पता नहीं पाया जा सकता। परन्तु त्याग करना होगा संसार का नहीं, संसार के प्रति होने वाली आसक्ति का। कर्मसंन्यास नहीं, कर्तृत्व-संन्यास, कर्मफल की स्पृहा का सम्यक् त्याग ही जीवन का सर्वश्रेष्ठ आदर्श है। क्योंकि स्वयं भगवान् कर्म के द्वारा ही अपने-आपको नाना वैचित्र्यों के अन्दर भोग कर रहे हैं, नाना छन्दों में अभिव्यक्त कर रहे हैं। हमारा उद्देश्य है कर्मफल और कर्तृत्वाभिमान दोनों को भगवान् के हाथों में समर्पण कर उनके खेल का साथी होना। अवश्य ही अगर कोई चाहे तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब कुछ त्याग कर भगवान् के अन्दर विलीन होकर रह सकता है। किन्तु इससे भी बड़ा आदर्श है विश्वलीला में भगवान् का सहचर होना, जगत् में धर्मराज्य संस्थापित करने में उनका सहायक होना, क्योंकि यही भगवान् को अभिप्रेत है। जीवात्मा तो नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है, जब चाहे तभी भगवान् की विश्वातीत सत्ता में अपने को डुबा दे सकता है। किन्तु भगवान् की लीलामयी इच्छा के प्रति आत्मसमर्पण कर पृथ्वी पर भगवान् का कार्य करना ही जीव का श्रेष्ठ धर्म है।

अज्ञान, अहंकार और कर्तृत्वाभिमान का त्याग कर कर्मजीवन को स्वीकार करना भगवद्गीता का मूल मंत्र है। अन्दर में ब्राह्मी स्थिति का विशुद्ध प्रशान्त आनन्द रहना चाहिये और बाहर में कर्मतरंग का विपुल उच्छ्वास, यही व्यक्ति-जीवन की सर्वोच्च अवस्था और चरम सार्थकता है। वैदिक ऋषियों ने भी ज्ञान-प्रतिष्ठित इस कर्मयोग के आदर्श को ही श्रेष्ठ स्थान दिया था। ऋषिगण समस्त जीवन को ही एक यज्ञ समझते थे। प्रतिक्षण के कार्य और विचार को भगवान् के चरणोंमें उत्सर्ग करना होगा। इस उत्सर्ग और आत्मबलिदान के द्वारा भगवान् मनुष्य के अन्दर जन्म ग्रहण करने के लिये नीचे उतर आवेंगे। पृथ्वी पर उसी देवजन्म के स्वप्न को सत्य-रूप में परिणत करने के लिये श्रीअरविन्द जीवनव्यापी साधन में निमग्न हो रहे हैं। उनका विश्वास है कि दिव्य जीवन प्राप्त करना केवल संभव ही नहीं है, वरन् यही विश्वप्रकृति के युगयुगान्तर-व्यापी क्रम-विवर्तन का निगूढ़ उद्देश्य है, विश्वसृष्टि का गुह्य रहस्य है। इस दिव्य जीवन को प्राप्त करने के लिये देह-मन-प्राण की सीमा को पार कर केवल ऊपर तुरीय धाम में चले जाने से ही काम नहीं चलेगा, बल्कि साथ ही उस तुरीय धाम की अतिमानस शक्ति को नीचे उतार लाना होगा और मन, प्राण और शरीर को नयी चेतना, नयी शक्ति और नये आनन्द से परिप्लावित कर पूर्ण रूप से रूपान्तरित करना होगा। श्रीअरविन्द के पूर्णयोग, अध्यात्मयोग या आत्मसमर्पणयोग का लक्ष्य यही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देव और असुर

ले०—श्री अनिलवरण जी

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥

'मैं रुद्र के धनुष की डोर खींचती हूं जिसमें उन सब का संहार हो जो भगवद्द्वेषी हैं; जो विशुद्ध हैं उनकी रक्षा के लिये मैं युद्ध करती हूँ, मैं द्यौ और पृथ्वी में सर्वत्र व्याप्त हूं'।

—ऋग्वेद १०-१२५-६

हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थ स्वर्गके राज्यकी प्राप्ति के लिये होने वाले देवासुर-संग्राम का बहुधा वर्णन करते हैं। आधुनिक लोग पार्थिव विज्ञान से प्रभावित होने के कारण अपनी सहज प्रवृत्ति के अनुसार इसे किस्सा-कहानी ही मान बैठते हैं। वेदों और पुराणों की शैली भी सामान्यत: ऐसी ही है कि वे विश्व के तथा अध्यात्म जगत् के सत्यों को प्रतीकों, रूपकों तथा कल्पित कथाओं के रूप में प्रकट करते हैं। आजकल लोगों को यह विश्वास नहीं होता कि ऐसा भी कोई जीवन हो सकता है जिसमें कोई इन्द्रियगोचर भौतिक शरीर ही न हो। परन्तु ऐसी मनः-स्थिति बुद्धि के सर्वथा विपरीत है। सायंस ने स्वयं ही ऐसे पदार्थों की सत्ता मानी है जो इन्द्रियों के ग्राह्य विषय नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ, इस विशाल पार्थिव जगत तथा इसके समूचे व्यापार को घटित करने वाले जो इलेक्ट्रोन और प्रोटोन हैं उनकी सत्ता का प्रत्यय तो उनके कार्यों के फल देखकर ही होता है; वे इन्द्रिय-गोचर नहीं होते। इसी तरह प्राणिक और मानसिक शक्ति की क्रियायें भी बिना किसी भौतिक इन्द्रिय की मदद के हुआ करती हैं। आधुनिक आत्मविज्ञान की भी खोज से यह असन्दिग्ध सिद्धान्त स्थापित हो चुका है कि एक मनुष्य का विचार दूसरे मनुष्य के पास बिना किसी भौतिक इन्द्रिय के पहुंचाया जा सकता है। यह प्राय: ही देखा जाता है कि मन की सुदृढ़ एकाग्रता से अति दूरस्थ पदार्थों और घटनाओं पर इष्ट परिणाम उत्पन्न किया जा सकता है। किसी प्रकार के भौतिक सम्पर्क के बिना लोग प्राणिक शक्तियों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। इस प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी शक्तियों और ऐसे जीवों का होना, जिनके कोई भौतिक शरीर न हो, असम्भव या बुद्धि के लिये अग्राह्य बात नहीं है।

अध्यात्मशास्त्र में इसकी व्याख्या चाहे जिस प्रकार की जाती हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस संसार में बुराई एक चीज़ है और ऐसे बुरे जीव भी हैं, जो असुर कहलाते हैं, जो इस बुराई को जारी रखने पर दृढ़ हैं, क्योंकि बुराई में सुख मानना ही उनका स्वभाव है, उनका स्वधर्म है। वे किसी अन्य प्रयोजन के लिये नहीं, किन्तु बुराई करने के लिये ही बुराई करते हैं। श्रीअरविन्द कहते हैं कि, "ऐसी शक्तियां हैं, और अति गम्भीर स्तर की अनुभूति यह बतलाती देख पड़ती है कि इन शक्तियों के आधार पर बने हुए ऐसे पारभौतिक जीव हैं जो अपने मूल स्वभाव से ही अज्ञान में, चेतनाविषयक अन्धकार में, बल के दुरुपयोग में, आनन्द के विपर्यास में, बुराई नाम से जानी जाने वाली चीजों के सब कारणों और परिणामों में आसक्त हैं। ये शक्तियां, ये जीव, अपने उलटे व्यापारों को इहलोक के जीवों पर लादने के काम में लगे हुए रहते हैं; इस व्यक्त हुए जगत् में वे अपना राज बना रखने को उत्सुक रहते हैं; वे प्रकाश, सत्य और सद्भाव की वृद्धि का विरोध करते हैं, इतना ही नहीं बल्कि दिव्य चेतना और दिव्य जीवन की ओर लगे हुए जीव के उन्नतिक्रम के वे शत्रु होते हैं। जीव-जगत् के जीवन का यह जो एक रूप है यही प्रकाश और अन्धकार, अच्छाई और बुराई, वैश्व सामंजस्य और वैश्व अराजकता की शक्तियों की परंपरागत युद्धकथा में वर्णित हुआ है; यह परम्परा सभी प्राचीन पुराण-ग्रन्थों और धर्मों में है, और योग-गम्य गूढ़ज्ञान की सभी पद्धतियों में इसका ग्रहण हुआ है। इस परम्परागत ज्ञान की बात सर्वथा युक्तियुक्त और आन्तर अनुभूति से प्रत्यक्ष अवगम्य है, और यह स्वतः सिद्ध रूप से गृहीत हो जाती है यदि हम पारभौतिक सत्ता का होना मान लेते हैं और भौतिक जीवन को ही केवल एकमात्र सत्य मान लेने की वृत्ति के अन्दर बन्द नहीं हो जाते"। * (लाइफ डिवाइन भाग २,४६८-६६)

---

* There are forces, and subliminal experience seems to show that there are supraphysical beings embodying those forces, that are attached in their root-nature to ignorance, to darkness of consciousness, to misuse of force, to perversity of delight, to all the causes and

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह जगत् उन भगवान् की रचना या प्रादुर्भाव है जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वानन्दमय हैं; सभी धर्मों ने इस बात को माना है; अतः बुराई और बुराई की ये शक्तियां उत्पन्न ही नहीं हो सकती थीं यदि भगवान ने अपनी ही किसी महती विश्वयोजना और परम सृष्टिहेतु के साधन में इन्हें कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के अन्दर रह कर काम आने के लिये उत्पन्न ही न होने दिया होता। और वह परम सृष्टिहेतु इसके सिवाय और क्या हो सकता है कि भगवान का जो आनन्द स्वरूप है वह इस अनन्तकाल में से होकर अनन्त रूपों में व्यक्त हो? व्यक्त होने की यह प्रक्रिया अवश्य ही अपने परस्पर विरोधाभासों के बीच में से होकर हुआ करती है। इस प्रकार बुराई विकासक्रम की एक अचिर और बीच की ही कोई अवस्थामात्र हो सकती है और भगवान् का कुछ ऐसा ही संकल्प हो सकता है कि इस बुराई को जीता जाय और इससे अपनी महिमा की कोई नवीन और अनिर्वचनीय अभिव्यक्ति करानेका काम लिया जाय। एक पार्थिव ढांचा बनाने की प्रक्रिया में एक अनिवार्य उपकरण के तौर पर इसकी उत्पत्ति हुई है जिससे कि अनन्तस्वरूप एकमेव भगवान् सान्त अनेकों में से होकर अपने आपको प्रकट करें,

---

consequences of the things that we call evil. These powers, beings or forces are active to impose their adverse constructions upon terrestrial creatures; eager to maintain their reign in the manifestation, they oppose the increase of light and truth and good and, still more, are antagonistic to the progress of the soul towards a divine consciousness and divine existence. It is this feature of existence that we see figured in the tradition of the conflict between the Powers of Light and Darkness, Good and Evil, cosmic Harmony and cosmic Anarchy, a tradition universal in ancient myth and in religion and common to all systems of occult knowledge.

The theory of this traditional knowledge is perfectly rational and verifiable by inner experience, and it imposes itself if we admit the supraphysical and do not cabin ourselves in the acceptation of material being as the only reality. (The Life Divine, Vol. II, 468-69).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अतएव इस प्रक्रिया की पूर्णता सिद्ध करने में इस बुराई का पूर्णतया अन्त करना होता है। बुराई की उत्पत्ति और उसे हटाने के उपाय की पूर्ण दार्शनिक मीमांसा जानने के लिये श्रीअरविन्द का 'दि लाइफ डिवाइन' ग्रन्थ देखना चाहिये। प्रस्तुत लेख के लिये इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि देवासुर-संग्राम अर्थात् भगवान से ही निकली हुई प्रकाश की शक्तियों और सृष्टि-प्रक्रिया में से एक विषैले विजातीय द्रव्य के तौर पर निकली हुई अन्धकार की शक्तियों के बीच होने वाले युद्ध की जो बात कही जाती है, वह एक सत्य घटना है। और यह युद्ध वास्तव में कोई ऐसा युद्ध नहीं है जो इस पृथ्वी के बाहर या ऊपर के किसी स्वर्ग के लिये होता हो बल्कि यह होता है इस पृथ्वी पर और इन मनुष्यों के जीवनों के ही अन्दर स्वर्ग का राज्य स्थापित करने के लिये। देवता चाहते हैं मनुष्यों के अन्दर सत्य, सद्भाव और सौन्दर्यादि दैवी गुणों की समृद्धि करना, पर असुर बीच में बाधक होकर इन चीजों को अस्त-व्यस्त कर डालते हैं। यही कारण है कि मनुष्य अपनी साधना और अभीप्सा के रहते हुए भी इन चीजों को उनकी असली पवित्रता और पूर्णता के साथ नहीं प्राप्त कर सकते। यहां तक कि माता के हृदय में जो अपने बच्चे के लिये प्यार होता है उस जैसी स्वर्गीय वस्तु भी अहंकार से मिल कर विकृत हो जाती है। वही बात धन के विषय में है। धन का कितना भयंकर दुरुपयोग होता है, इसकी चर्चा करते हुए श्रीअरविन्द कहते हैं, 'यह सचमुच ही एक शक्ति है उन तीन—आधिपत्य, धन और कामवासना की—शक्तियों में से जिनमें मानव अहंकार और असुर के लिये बड़ा ही आकर्षण होता है और प्रायः ही जो ऐसे लोगों के हाथों में होती हैं जो उनके अधिकारी नहीं हैं और जिनके हाथों में ये होती हैं वे इनका दुरुपयोग ही करते हैं'। मनुष्य उस अमृत की प्यास से छटपटा रहे हैं जो अमृतमय स्रोत से सतत आता हुआ जीवन में प्रवाहित हो रहा है; पर पद पद पर असुर आकर बाधा डालता और उसके प्याले में विष मिला देता है। मानव-जीवन पर असुर के इस सर्वव्यापक प्रभाव को वैदिक ऋषियों ने स्पष्ट देख लिया था।

के धासिमग्ने अनृतस्य पान्ति के आसतो वचसः सन्ति गोपाः।

'कौन हैं जो असत्य की प्रतिष्ठा की रक्षा करते हैं ? इस मिथ्या वचन के रक्षक कौन हैं ?' (ऋग्वेद ५।१२।४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर ऋषियों ने वह रास्ता भी दिखा दिया जिससे ये आसुरी शक्तियां अन्त को जीती जायेंगी और मर्त्य जीव परम अमृतत्व में प्रतिष्ठित होगा और उसे भागवत आनन्द भी मिलेगा तथा मानव हर्ष भी।

त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवे दिवे।
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये॥
(ऋग्वेद १।३१।७)

वास्तव में भारतवर्ष की युग-युगान्तर से यही साधना चली आयी है और अब उसके फलवती होने का समय समीप आ गया है। माताजी कहती हैं कि, 'यह केवल कोई एक सामान्य परिकल्पना की बात नहीं है, बल्कि वस्तुतः होने वाली एक चीज़ है। असुर असत्य की एक शक्ति है, भगवद्द्वेषी है, जो अपना आधिपत्य जमा कर भौतिक जगत् पर राज करता है। सर्वत्र ही इसका प्रभाव अनुभूत होता है; जड़ की हर चीज़ में यह मौजूद है। पर अब वह समय आ गया है जब पृथक्करण, विशुद्धिकरण किया जा सकता है; असत्य, आसुरी प्रभाव त्याग दिया जा सकता है और भागवत सत्य में ही अनन्य जीवन सम्भव बन सकता है' *। पर ऐसा होना असुर सह नहीं सकता; मानव जीवन पर से अपना अधिकार नष्ट हो जाने की सम्भावना से वह आपे के बाहर हो गया है और सत्य का उदय न होने देने के लिये अपनी सारी शक्ति के साथ उठ खड़ा हुआ है। आज संसार जिस अभूतपूर्व संकट से गुजर रहा है उसका यही असली मतलब है।

---

* "This is no question of general theory; it belongs to the actuality of things. The Asura is the force of falsehood, anti-divine, which reigns as sovereign over the physical world; his influence is felt everywhere; it is in everything in Matter. But the time has now come when the separation, the purification, can be made, the falsehood, the Asuric influence, rejected and there can be an exclusive living in the divine Truth."

ये वचन १९४३ की प्रार्थना के विषय में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में माताजी ने कहे थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असुर सारी नैतिक और आध्यात्मिक उत्तमताओं को नष्ट करने पर तुला है ताकि मानवजाति सदा उसके पंजे में बनी रहे और अपनी मर्त्य यन्त्रणाओं से आसुरी हर्ष का प्याला भरती रहे। और इस प्रयोजन के लिये असुर ने हिटलर और उसके नाज़ी दलों के रूप में एक उपयुक्त यन्त्र पा लिया है। यह उनकी बदला लेने की अतिमात्र तृष्णा और विश्वविजय के लिये उनकी अशमनीय महत्त्वाकांक्षा ही थीं जिन्होंने कि उनके हृदय के द्वारों को असुर के प्रति खोल दिया जो असुर कि अब अपने मतलब के लिये कठोरतापूर्वक उन से काम ले रहा है; और वह मतलब है जर्मनी को ही नहीं किन्तु संसार के अन्य भागों को भी नितान्त पशुतुल्य कर देना। नाज़ियों की विजय का अर्थ होगा असुर की विजय और युगों तक भारत की साधना की विफलता। वे जो कि अन्धे होकर, निष्क्रिय सहानुभूति या सक्रिय सहायता के द्वारा नाज़ियों की तरफदारी कर रहे हैं, वास्तव में ईश्वरीय इच्छा का विरोध कर रहे हैं और उन्हें इसके परिणामों को भोगना पड़ेगा। दूसरी तरफ, उन सब लोगों ने जो कि, किसी भी प्रेरक भाव से, नाज़ियों के विरुद्ध खड़े हुए हैं, अपने आपको जाने या अनजाने देवताओं के पक्ष में सन्निविष्ट कर दिया है और वे भगवान् की विजय के और सत्ययुग को अर्थात् भूतल पर स्वर्ग के राज्य को तैयार करने के यश के भागी बनेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्योदय

ले०—अभय

उठो जागो, अबतक भी सोने वालो, उठो। जरा यह दृश्य, देवों के भी देखने योग्य भव्य दृश्य देखने के लिये ही, जरा जागो। देखो, पूर्व की दिशा में सूर्यनारायण उदित हो रहे हैं। कैसा हृदय को प्रफुल्ल करने वाला, अन्तरात्मा को उद्बुद्ध करने वाला, मन में शुद्ध और नव-प्राण का संचार कर देने वाला दृश्य है; यदि परमेश्वर ने मुझे कवित्व-शक्ति प्रदान की होती तो आज सूर्योदय का वर्णन कर उसे कृतकृत्य करता। अभागे हैं वे पुरुष जो अब भी निद्रा में हैं जब कि पूर्व दिशा में प्रकट होते हुए बालसूर्य अपनी सुनहली रश्मियों की स्वर्गीय छटा से चारों दिशाओं को आलोकित कर रहे हैं, जब कि पूर्व दिशा में दिव्य उषा का उज्ज्वल उदयन हो रहा है।

यह भौतिक सूर्योदय भी कोई मामूली घटना नहीं है। यद्यपि अपने चौबीस घन्टों के प्रत्येक अहोरात्र में एक बार हो जाते देखते रहने के कारण इस घटना को इसका ठीक महत्त्व देने की शक्ति हम खो बैठे हैं। पर इस से इसका असली महत्त्व कम नहीं हो जाता। जरा हम सोचें, यदि सूर्य उदय ही न हो तो कैसा हो? या हम लगातार अंधेरे में, सूर्यप्रकाश से हीन लोक में रहते हों और सूर्योदय को जानते तक न हों तब यदि अचानक कभी सूर्य का उदय हो जाय तो हमें कैसा लगे? सचमुच रात के ऐसे अन्धकार के बाद चतुर्दिग्-व्यापी दिव्य उजाला हो जाना बड़ी अद्भुत और आश्चर्यकर घटना है।

और हम सूर्यप्रकाश का प्रतिदिन अनुभव करने वाले भी देखते हैं कि चोर डाकू राक्षस, नानाविध रोग और आजकल के कीटाणुओं का उपद्रव, ये सब बलाएं रात्रि के अन्धकार में ही फलीभूत होती हैं; सूर्यप्रकाश हो जाने पर, नहीं टिक सकतीं। इसी तरह यद्यपि सूर्य के अस्त हो जाने पर हम लोग इस पृथ्वी पर अग्नि और बिजली की रोशनी से अपना काम चलाते हैं और आकाश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भी तारा-गण नक्षत्र अपने क्षुद्र प्रकाश में टिमटिमाने लगते हैं (मानो चक्रवर्ती महाराजके हट जानेसे छोटे-छोटे राजा अपनी छोटी-छोटी रियासतोंमें चमकते दीखने लगे हों) तथा चन्द्रमा भी—जोकि सूर्य के अभाव में हमारे लोक के लिये सूर्य का ही प्रतिनिधित्व करता है—बेशक अपनी घटती बढ़ती कला के साथ कम से कम बढ़ती के दिनों में रात में चांदनी फैला देता है तथापि ये सब प्रकाश—दीपक से लेकर चन्द्रमा तक ये सब प्रकाश—सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश के उगते ही एकदम फीके पड़ जाते हैं और विलीन हो जाते हैं, सूर्यप्रकाश से इनका क्या मुकाबिला ?

यह सब तो भौतिक सूर्य का वह माहात्म्य है जो स्थूल दृष्टि से भी दीखनेमें आ सकता है। पर सूक्ष्मता में जांय तब तो मालूम पड़ता है कि इस जगत् के अग्नि, विद्युत् आदि सब प्रकाश और ताप तथा अन्य भौतिक शक्तियोंका ही स्रोत हमारा भौतिक सूर्य नहीं है किन्तु इस पृथ्वी के स्थावर जंगम प्राणी मात्र के जीवन और प्राण का भी स्रोत वही है। सूर्य के और सूर्य किरणों के इस माहात्म्य को तथा अन्य सूक्ष्मतम माहात्म्य को अनुभव करने के कारण ही प्राचीन काल से सभी देशों के ज्ञानी लोग सूर्य को देव, भगवान्, नारायण करके मानते और उनकी सक्रिय सफल उपासना करते आये हैं। सच तो यह है कि अपने उदय-अस्त द्वारा हमारे दिन रात के बनाने वाले इन सुपरिचित भौतिक सूर्य देव की ही महिमा का वास्तविक वर्णन कर सकना मनुष्य की वाणी की शक्ति के अगोचर है।

* * * *

भगवन् सूर्य ! तुम क्यों यह भ्रमण कर रहे हो ? एक नियत समय पर और नियत रूप से क्यों निरन्तर आते जाते रहते हो, उदय अस्त होते रहते हो ? तुम कभी विश्राम करने नहीं बैठ जाते ? इन लोकों में घूमते हुए कभी किसी सुन्दर वस्तु को देखने के लिए ही क्षण भर ठहर नहीं जाते और देर नहीं कर देते ? यह तुम्हारा कठोर समयपालन—कि गणना करने वाला आज भी कह सकता है कि सौ वर्ष बाद तुम अमुक दिन इतने बजकर इतने मिनट इतने सेकिण्ड पर उस जगह उदय होगे—किस लिये है ? पहरा देने वाला सन्तरी तो मालिक के या राजा के डर से, दण्डित होने के भय से ठीक ठीक घूमता है पर तुम्हें किस का डर है ? तुम तो स्वतन्त्र देव हो। तुमने क्यों अपने आपको इतने कठोर नियम में बान्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया है ? या तुम भी किसी देव की, देवों के देव की आज्ञा में हो ? यह तो बताओ कि क्या तुम कभी उकता नहीं जाते ? अपने उसी एकरस सूखे मार्ग का परिक्रमण करते करते कभी जी-बहलाव के लिये व्यतिक्रम क्यों नहीं कर देते ? क्या तुम किसी व्रत में हो, किसी साधना में हो ? तुम किस की उपासना में यह उग्र तपस्या कर रहे हो ? किसे रिझाने, किसे पाने के लिये यह तुम्हारा अनवरत, न जाने कब से चला आता, अनुष्ठान है ? मेरे जन्म के पूर्व से, मेरे अनगिनत पुरखाओं के समय से तुम चक्कर लगा रहे हो, मेरी उम्र चाहे सैकड़ों वर्ष की क्यों न हो तुम्हारा यह क्रम जारी रहेगा, यह देह छूट जाने के सैकड़ों वर्ष बाद तक तुम उगते और अस्त होते रहोगे। हे महान् देव ! यह किस लिये है ? और तुम कौन देव हो, तुम्हारा मुझ से क्या सम्बन्ध है ? क्या कुछ भी सम्बन्ध नहीं ? तुम हर रोज आते हो और चुपचाप—केवल हम पर प्रकाश डालकर—चले जाते हो। क्या तुम कुछ कहने के लिये आते हो या तुम कुछ कह भी जाते हो जिसे हम सुन और समझ नहीं सकते ? नहीं तो यह तुम्हारी मौन अविश्रान्त, अविरत, रहस्यमय गति किस लिये है ?

* * * *

हां मैं जानता हूँ, और अब मैं यह किसी से छिपा कर नहीं रखना चाहता, कि तुम इस चराचर जगत के पिता हो, तुम मेरे भी पिता हो जैसे कि यह पृथ्वी माता है। तुम्हारा और मेरा पिता पुत्र का सम्बन्ध है। निःसन्देह तुम भी किसी देवों के देव की आज्ञा में हो, जिस परम देव के विषय में कहा है—"भयादस्याग्निस्तपति, भयात्तपति सूर्यः"। अवश्य ही वह सूर्य का भी सूर्य है जिससे कि तुम भी, हे प्रकाश के राजा ! अपना यह जगत्-प्रकाशक प्रकाश ग्रहण करते हो :

" न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः॥
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"॥

उसी की आज्ञा से रहने में तुम्हें असीम सुख मिलता है, इसी लिये तुम यह दुनिया को नीरस और विकट दीखने वाला अपना काम—यह अपना व्रत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पालन–परमानन्द की मग्नता में बड़े सौख्य के साथ गाते गाते कर रहे हो। हां, सचमुच सहज आनन्द से उत्पन्न होने वाला एक निरन्तर गान, विशाल सामगान, तुम से निकल रहा है और अपनी इन स्वरलहरियों से जगत् को हिला रहा है। उस स्वर्गीय गान के प्रति अभिमुख होतेही मेरा तो रोम-रोम नाचने लगता है। तुम केवल प्रकाश नहीं देते हो, न जाने कितनी प्रकार की शक्तियों की वर्षा कर देते हो; तुम केवल अपना गान नहीं सुनाते हो न जाने और क्या क्या कर करा जाते हो। सच कहूँ तो मुझे तो तुम विह्वल कर देते हो, क्योंकि तुम्हारा ध्यान आते ही मुझे तुम्हारे महान् ध्येय का स्मरण हो आता है और मुझ में तुम्हारे ध्येय की महत्ता, उसको पूरा हुआ देखने की मेरी तीव्र उत्कण्ठा और अपनी दयनीय असमर्थता इन सब भावों की प्रबल तरंगें उथल पुथल मचा देती हैं। मैं जानता हूँ, हे सूर्य देव, तुम्हारा यह ध्येय, उस परम देव की आज्ञा में होने वाला तुम्हारा यह गम्भीर कार्य तब तक पूरा न होगा जबतक इस अन्धकारमय जगत् का एक एक कोना शुद्ध आनन्द भरे चैतन्य के प्रकाश से जगमगा नहीं उठेगा। ओ! यह कब होगा, यह कैसे होगा, मैं लोगों को क्या बताऊं कि तुम्हारी रश्मियों का संस्पर्श मुझ में कैसी वेदना पैदा कर जाता है।

* * * *

यह जो दोपहर को आकाश में अपनी सहस्रों रश्मियों से तपता हुआ, जगत् को तपाता हुआ, प्रचण्ड दुर्निरीक्ष्य प्रकाशपिण्ड स्थूल दृष्टि से दिखाई देता है यह तो असली सूर्य का केवल भौतिक स्थूल देहमात्र है, स्थूल देह की भी एक अवस्था है। इसके अन्दर सूर्यदेव का जो प्राणमय, जो मनोमय शरीर है और जो पीछे अभौतिक आत्मा छिपा हुआ है वही असली सूर्य नारायण है। हम तो अभी तक उसके स्थूल भौतिक प्रकाश का ही पूर्ण उपयोग नहीं प्राप्त कर रहे हैं। उसके आन्तर महान् प्रकाश से हमारे प्राण और मन तो लगभग अछूते ही पड़े हैं। उसका आन्तर प्रकाश—लाखों सूर्यों के इकट्ठा चमकने से भी अधिक तेजस्वी उसका आन्तर प्रकाश—इतना प्रचण्ड है कि हमारे दुर्बल प्राण और मन उसे सहन नहीं कर सकते हैं इसीलिए सूर्य भगवान् का वह तेजोमय आन्तर रूप हमारे सामने अभी तक प्रकट ही नहीं होता है। पर यह ठीक है कि वह वह प्रकाश है जिसमें जगत् का प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक जीव, प्रत्येक पदार्थ अपने सत्य में यथावत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठीक ठीक दिखाई देने लगता है, इसलिए वहां राग द्वेष आदि विकारों और काम क्रोध आदि आवेगों के लिये कोई स्थान नहीं रहता, उस प्रकाश में यह दुनियावी जीना मरना एक बराबर हो जाता है, अपना अजर, अमर, अभय स्वरूप तब प्रकट दीखता है, अनन्त प्रकाश में अनन्त चैतन्य में अनन्त आनन्द में यह सांसारिक दुख व्याधि जरा मृत्यु अपनी सत्ता खो देते हैं। यद्यपि उस आन्तर प्रकाश के हमारे मानसिक क्षेत्र में उदय और अस्त होने से ही हम मनुष्यों के आन्तरिक (स्वल्प या दीर्घकालिक) अहोरात्र बनते हैं, व्यक्तियों के ही नहीं, किन्तु राष्ट्रों के या मनुष्यजाति के जो उज्ज्वल या अन्धकारमय लम्बे लम्बे काल आते हैं वे भी इसी आन्तर ज्योति के उदय और अस्त के कारण होते हैं और इस प्रकार यह पृथ्वी या इसके विभाग या भिन्न भिन्न राष्ट्र अपने अपने जुदा जुदा अहोरात्रों में से गुजरते रहते हैं, परन्तु इनसे आगे, इनसे ऊपर एक वह सूर्य का असली अपना लोक है जहां कभी सूर्यास्त नहीं होता। जहां अमृत, अजस्र ज्योति है, जहां अखण्ड असीम प्रकाश-पारावार है। वहां किसी असत्य, भ्रम, अन्धकार, छाया या मिथ्यात्व की पहुंच नहीं हो सकती। क्योंकि सूर्यदेव के स्थूल देह, प्राण तथा मन के पीछे जो उसका आत्मा है वह सत्यस्वरूप है। उस अक्षय सत्य-स्रोत से ही सब प्रकार का प्रकाश निकलता है, उत्पन्न होता है। वह सत्य केवल प्रकाशकारक नहीं है वह शक्तिदायक भी है, वह स्वयंप्रकाश है वह स्वयंशक्ति है। उस सत्यस्वरूप के सामने कोई अन्धकार, कोई विरोधी शक्ति टिक नहीं सकती। वही असली सूर्य है जो हमारा पिता है, वह सत्य प्रकाश है, वह सत्य शक्ति है, वह सत्य देव है।

वह सूर्य जब उदय होता है उसकी ज्योति जब पूर्णतया मनुष्य में पहुंचती है तब उसके मन में सत्य का ही—शुद्ध सत्य का ही प्रकाश हो जाता है, उसके प्राण में सत्य भाव ही उठता है और उसके शरीर द्वारा सत्य कृति ही निकलती है। उस सत्य प्रकाश में पहुंच कर किया हुआ आन्तर या बाह्य कर्म कभी निष्फल नहीं हो सकता, वह सत्य होता है, वह अमोघ होता है।

भाइयो! पृथ्वी माता के हम पुत्र बहुत काल से अन्धेरे में हैं, युगों से हम पर रात्रि छायी हुई है। बेशक इस अन्धेरे में भी हम अपनी चित्त-वृत्ति रूपी अग्नियों के धुंधले प्रकाश का या सचेतन प्राण-मन रूपी बिजली के प्रकाश का आयोजन कर अपने काम चला रहे हैं और सन्तोष मान रहे हैं तथा ऊपर से आने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले घटते-बढ़ते किन्तु नियमित विमल बुद्धि रूपी चान्द्रमस प्रकाश को पाकर भी हम खुश रहते हैं और इससे भी अपना निर्वाह करते जाते हैं, पर इन सब प्रकाशों से रात्रि नहीं मिट जाती। क्या वह वास्तविक सत्य प्रकाश जिसके अंश को पाकर ही ये सब हमारे मलिन प्रकाश चमकने की शक्ति प्राप्त करते हैं हमारे भाग्य में नहीं है ? क्या इस रात्रि का अन्त नहीं होगा ? बहुत से लोग सचमुच इस मलिन प्रकाश, इस अन्धकार भरे उजाले से ऊब चुके हैं और किसी अज्ञात नये प्रकाश के लिये चिरकाल से पुकार कर रहे हैं। देखो, उधर पूर्व दिशा में जो एक अदृष्ट-पूर्व बिल्कुल नये प्रकार का स्वर्णीय प्रकाश उभरता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है वह उन पुकारों का ही फल तो नहीं है ? अवश्य भगवान् सूर्य के उगने का समय अब आ गया है। आओ, हम सब भाई इस सूर्योदय का स्वागत करें, नतमस्तक होकर स्वागत करें, नतमस्तक नतहृदय और नतात्मा होकर इस सूर्योदय का स्वागत करें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माताजी से

लें०—श्री सुन्दरम् जी

यह तो केवल तेरा और मेरा, हम दोनों का ही वार्तालाप है, और वार्तालाप का जो एक आनन्द होता है उसी आनन्द के लिये ही यह किया जा रहा है। हम दोनों के मिलने से जो घटनायें बन चुकी हैं उनके ज्ञान, उनके रस, उनकी कर्मशक्ति आदि से किसी को चकाचौंध कर देने की, लुभाने की, या आहत कर देने की कामना से नहीं। ऐसा करना तो प्रायः असम्भवित भी है। क्योंकि मैं स्वयं भी इन बातों का आयुभर इन्कार करता रहा था, बरसों से ये बातें मेरे कानों पर इधर-उधर से आती रही थीं लेकिन मैं उनको केवल एक अशक्य स्वप्न जैसा समझता था, हमारे वास्तविक जीवन से बिल्कुल सम्बन्ध न रखने वाली कोई अनुपयुक्त आत्मपरायण वञ्चनात्मक घटना समझता था। जो मैं नहीं समझ सकता था, जिसको सुनने पर भी नहीं स्वीकार कर सकता था, उसको समझने की या स्वीकार करने की आशा मैं औरों से कैसे रख सकता हूँ ?

खैर, औरों की बात छोड़ो। उनसे कैसे काम लेना यह तो मेरी अपेक्षा तू अधिक जानती है। अब जगत् के कल्याण का कर्त्तव्य मैं अपने सिर पर उठाये नहीं फिरता। जगत् का कल्याण किस में है और उसको सिद्ध करने के लिये किस प्रकार की, कितनी शक्ति अपने पास होनी चाहिये इन बातों का ख्याल किये बिना ही मैं पहले एक बच्चे की तरह अज्ञानपूर्ण आदर्श से उद्दण्ड हुआ पागल-सा मारा मारा फिरता था। लेकिन वह पागलपन अब छूट गया है। जगत् का कल्याण किसमें है और उसको सिद्ध करने वाला कौनसा बल है, यह मैं आज कुछ कुछ समझने लगा हूँ। इस जगत्-कल्याण का जिम्मा आज बेखटके तेरे ही ऊपर छोड़ कर मैं अपने कल्याण की उलझन को सुलझाने में मगन हुआ हूँ। और कितने महान् आश्चर्य की बात है कि इन उलझनों का ढेर अब गायब सा होने लगा है। शङ्का कुशङ्का, अश्रद्धा अविश्वास, भय, पंगुता, अज्ञान आदि का कंटक-युक्त अरण्य साफ होता जा रहा है और उसके स्थान में सुगन्ध से भरे हुए फूलों वाला एक बगीचा खिल रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आह, वह कैसी अज्ञानपूर्ण तमसावृत अवस्था थी जिसको मैं बड़ी दिलचस्पी के साथ अपने गले से लगा कर उमंग से घूमता रहा था। मैं समझता था कि जगत् का अन्तिम ध्येय मुझे प्रत्यक्ष हो चुका है और उस पथ पर मेरा जीवन चलता जायगा। मेरे मन ने अपनी छोटी-सी ज्योति के प्रकाश से चौंधिया जाकर मान लिया था कि अब सारी सृष्टि प्रकाश से भर गई है। हां, जीवन के कुछ ऐसे भी कोने थे जिनमें यह प्रकाश पहुंच नहीं सकता था, और मैंने अपने दिल को समझा लिया था कि इतना अन्धेरा तो रहेगा ही, जीवन में कुछ तो अप्राप्य रहेगा ही, कुछ बातें हैं ही जो मनुष्य के ज्ञान की सीमा में कभी नहीं प्रविष्ट हो सकेंगी। लेकिन 'इन्हीं कुछ बातों ने' सारी बाज़ी उलटा दी !! उस अन्धकार की गुहा से आंधी की एक प्रबल बाढ़ आई और मन की सारी ज्योति गुल हो गई !!

तब मैं बेबस होकर घूमने लगा। घूमने लगा यूं कहना भी असत्य कथन है, क्योंकि घूमने के लिये जो शक्ति होनी चाहिये वह भी मेरे पास नहीं रही थी। मानो कि मैं जड़ता का एक ढेर बन कर पड़ा रहा। इस बेबसी से छूटने का कोई इलाज नजर नहीं आता था। किताबों में भरी हुई अनेकविध विचार-सृष्टि इस असहायता को मिटाने के लिये समर्थ नहीं थी। करोड़ों मनुष्यों से हरी-भरी इस सृष्टि में ऐसा कोई मानव व्यक्ति नजर नहीं आता था जो इस मरे हुए प्राण को जीवन की ऊष्मा दे सके। पहले तो ज्ञान का घमण्ड था, प्राण का उल्लास था। उस अवस्था में मैं जिसको जगत् का अन्तिम सत्य समझता था उसको दृढ़ता से पकड़ रहता था, जिसको मैं अपने सत्य से विरुद्ध समझता था उसके प्रति दृष्टि तक नहीं जाने देता था। लेकिन अब वह आग्रह नहीं रहा था। यह असहायता इतनी हद तक मुझे खींच लाई थी कि उसकी व्यथा से छूटने के लिये हर किसी की अन्टसन्ट बात मानने को भी मैं तैयार हो जाता था, पहले जिसको मैं असत्य समझ कर छूता तक नहीं था उसको भी गले लगाने को मैं उद्यत होने लगा। दिल पुकारता था, कहीं से भी आवे, ब्राह्मण के हाथ से आवे या चाण्डाल के हाथ से, इस प्यास को बुझाने वाला पानी कहीं से भी आवे, मैं पी लूंगा। मैं कहता था कि मुझे सत्यासत्य की परवाह नहीं, सिर्फ जीवन की परवाह है। अगर जहर भी मुझे ज़िला सकता है तो मैं उसे निगल जाऊंगा। उस समय ऐसी अवस्था में नये जीवन की कामना में मैंने भूत जीवन का सब कुछ न्योछावर कर दिया। नाही कोई ऐसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदर्श था, नाही कोई ऐसा विचार था; नाही कोई ऐसी व्यक्ति थी, नाही कोई ऐसी प्रीति थी, नाही कोई ऐसा सम्बन्ध था जिसको मैंने इस जलन की वेदी पर न्योछावर नहीं कर दिया।

मालूम नहीं कहां तक यह आग जलती रही, और खुद जलती जलती जीवन की हर एक चीज को जलाती रही, भस्मसात् करती रही। ऐसा ही भाव दृढ़तर होने लगा कि यूं ही जीवन पूरा हो जायगा। असहायता की उस परम निर्वेदमयता में, आंधी के प्रबल आवेग में उड़ता हुआ तिनका जैसा मैं तेरे पास आ पहुंचा।

बस, उसी क्षण से एक नया जीवन शुरू हुआ। तेरी अंगुलि ने मेरे शरीर को छुआ, तेरी आंखों ने मेरे मुख को निहारा, तेरे स्मित ने मेरे हृदय को बुलाया। शरीर की प्रत्येक नस में तेरी शक्ति का प्रवाह प्रविष्ट हुआ, आंखों को जीवन देखने की एक नयी दृष्टि मिल गई, हृदय को आनन्द हुआ, एक नया अनुभव मिला। जीवन का एक भी कोना अब अप्रकाशित न रहा। मन की रची हुई सब इमारतें तो गिर चुकी थीं लेकिन उनके स्थान पर, उससे कहीं कोसों दूर ऊंचाई पर एक नया प्रदेश प्रकट हुआ और वहांके भवनोंकी मीनारें नजर आने लगीं। जीवन के हर एक पहलू को छूती हुई, हृदय की प्रत्येक आकांक्षा को पूर्ण करती हुई, चित्त की ज्ञान पिपासा को आशा से भी अत्यधिक उत्तेजित कर कर विज्ञान के नये नये प्रदेश आविर्भूत करती हुई तेरी मङ्गल दृष्टि मुझे ऊपर की ओर बुलाने लगी।

अब तो मैंने अपनी यात्रा शुरू कर दी है। पहले मुझे डर था कि दुनिया के क्षुद्र मानवों की तरह तू भी मुझे छोड़ देगी। लेकिन अब तो मुझे यह डर होने लगा है कि दुनिया का मैं क्षुद्र मानव कहीं तुझे छोड़ न दूं। लेकिन तुझ को छोड़ कर अब मैं और किस को गले लगा सकता हूँ? मेरी वह पुरानी दुनिया तो राख बन चुकी है न?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माँ की मृदुल पुकार !

स्व० वेदव्रत जी

१. आई कहां से—मधुर मधुर सी, धीमे धीमे, बढ़ती बढ़ती, होती सी साकार।

२. अब न रुकूंगा—सोया था मैं, खोया था मैं, व्याकुल-सा हूँ, यहां नहीं है,
.... मेरा प्रिय संसार।

३. यह सब वैरी—छला गया मैं, इन में भूला, अब तक खेला, अभी अचानक,
.... समझ सका हूँ, मेरा वह परिवार।

४. हां उठती थी—यहां पास ही, मुझे लक्ष्य कर, उस वीणा की, वत्सल वत्सल,
.... अविकल अविरल, मञ्जुल मञ्जुल, कोमल सी झंकार।

५. उसे न सुन कर—स्वप्न समझकर, चपल चपलतर, इस शरीर में, इन प्राणों में,
.... अपने मन में, चित्त बुद्धि में, अहंकार में, समझ रहा था सार।

६. अब निर्वश हूँ—कैसे ठहरूं, इस धरती से, उस अम्बर से, इन नदियों से,
....उन शैलों से, रोम-रोम से, ओम् ओम् की, वह ध्वनि उठती, जिसमें अनुपम प्यार।

७. दिन भर थक कर,—भूखे बछड़े, को मां की सुधि, हुई उसे अब, वही रंभाना-
....सुन पड़ता है, दिशा दिशा से। चैन कहां अब, वह आई मां, अहा ! रसीली,
....यह दुलार-पुचकार।

८. तीन वाणियाँ—एकरूप हों, अन्तरिक्ष द्यौः, भूमि एक हों, हरि की आहट,
....मां की पग-ध्वनि, एक भाव से, मिलती जावें। इन ध्वनियों के, बढ़ू सहारे।
देवि ! समर्पण। यह ममता निस्सार॥
माँ की मृदुल पुकार॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्णयोग की साधना

ले०—श्री मदनगोपाल जी

इस लेख का हेतु श्रीअरविन्द के पूर्णयोग के विषय में कोई नयी बात बताना नहीं है, क्योंकि स्वयं श्रीअरविन्द ने जो कुछ लिखा है वह इतना विशद और स्पष्ट है कि उस पर और कुछ लिखा ही नहीं जा सकता, तब हमारा उद्देश्य है इस योग की साधना के प्रधान-प्रधान अंगों को संक्षेप में एक स्थान पर इस प्रकार सजा देना जिससे कि इस योग के जिज्ञासु साधकों को कुछ सहायता मिल सके।

इस से पहले कि हम इस योग की साधना को समझने की चेष्टा करें, हमें यह जान लेना चाहिये कि हमारा आदर्श क्या है, हमारा लक्ष्य क्या है। क्योंकि आदर्श और लक्ष्य के बारे में हमारी दृष्टि जब निर्भ्रान्त हो जायगी तभी हम अपने आदर्श को चरितार्थ करने के, अपने लक्ष्य को प्राप्त होने के साधनों को सम्यक् रूप से जान सकेंगे और जीवन में उनका सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकेंगे।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि इस विश्व-ब्रह्माण्ड के आपातदृष्ट रूप के परे एक सद्वस्तु है, एक सत्ता और चेतना है जो भूतमात्र का एक और शाश्वत आत्मा है। इस एक आत्मा में समस्त सत्तायें अविभक्त हैं, किन्तु चेतना के एक प्रकार के विच्छेद के कारण, अपने सत्य स्वरूप और सद्वस्तु के अज्ञान के कारण मन, प्राण और शरीर में ये एक दूसरे से पृथक् मालूम होती हैं। एक प्रकार की आंतरिक साधना के द्वारा भेदात्मक चेतना के इस परदे को हटाया जा सकता है और हम लोगों के अन्दर तथा सब के अन्दर बसने वाले भगवान को जाना और पाया जा सकता है। अस्तु, थोड़े में हम यह कह सकते हैं कि हमारा अर्थात् श्रीअरविन्द का आदर्श है सबके अन्दर बसने वाले इन भगवान की, जगत् के आपातदृष्ट रूप में और इसके परे जो यह एक सत्ता और चेतना है, यह सद्वस्तु है, यह शाश्वत आत्मा है उस की मनुष्य के मन, प्राण और शरीर में पूर्ण प्रतिष्ठा; सीधी-सीधी भाषा में मनुष्य को देवता बनाना, मर को अमर करना, जड़ प्रकृति में सच्चिदानन्द को अभिव्यक्त करना; एक शब्द में यों कहें कि हमारा आदर्श है—दिव्य जीवन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब हम देखें कि इस आदर्श को चरितार्थ करने के लिये हमारा लक्ष्य क्या है। श्रीअरविन्द ने एक स्थान पर यह कहा है कि 'जिस योग की साधना हम करते हैं वह केवल हमारे लिये ही नहीं है, बल्कि वह मानव-जाति के लिये है' 'इसका उद्देश्य है मनुष्यजाति की मुक्ति', पर बाद में उन्होंने देखा कि उनके इस कथन का मतलब लोग ठीक-ठीक नहीं समझे और उन्होंने कहा कि 'हमारा योग मनुष्यजाति के लिये नहीं, बल्कि परमात्मा के लिये है' इस लिये इन दोनों वाक्यों का ठीक-ठीक अनुमान करने के लिये यह अच्छा होगा कि हम उनके इन दोनों वचनों को एक करके यह कहें कि श्रीअरविन्द का उद्योग मनुष्यजाति में भगवान् को पाना और प्रकट करना है। यह कैसे होगा ? किस लक्ष्य को प्राप्त कर ? श्रीअरविन्द की शिक्षा के अनुसार 'ब्रह्म सत्यं, जगत् मिथ्या' नहीं है, वे कहते हैं ब्रह्म सत्य है और जगत् भी सत्य है। न जड़वादियों का यह मत ही उनको मान्य है कि इस सृष्टि का मूल 'अन्न' या जड़तत्त्व (Matter) है और आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं। उनके अनुसार 'जड़तत्त्व' और 'आत्मा' दोनों एक ही हैं और शाश्वत रूप से हैं। यह सृष्टि एक निवर्तन-विवर्तनशील सृष्टि या यों कहें कि अवरोहण-आरोहणात्मक सृष्टि है। एक अद्वितीय परब्रह्म पहले संकल्प करता है 'एकोऽहम् बहु स्याम्' मैं एक हूँ अनेक हो जाऊं और वह त्रिक सच्चिदानन्द के रूप में सत्-चित-आनन्द लोकों में प्रकट होता है। तब विश्वसृष्टि के लिये इस सच्चिदानन्द का एक और लोक में अवतरण होता है जिसे विज्ञानमय लोक या अतिमानस लोक (Supermind) कहते हैं, यहां एक सच्चिदानन्द बहु हो जाता है, पर यहां बहुत्व में पूर्ण एकत्व रहता है, यहां अभी विद्या अर्थात् एक चेतना की ही क्रीड़ा रहती है। अवरोहण क्रम में इस के बाद का स्तर है अधिमानस (Overmind), यहां विद्या और अविद्या (बहुपरक और विभाजनात्मक चेतना) दोनों का खेल आरंभ हो जाता है और एक आत्मा अनेक पृथक्-पृथक् पुरुष के रूप में प्रतिभासित होता है। अवरोहण का तीसरा स्तर है अन्तः स्फुरणात्मक मानस (Intuitive mind) जहां जीव को अपने सत्य स्वरूप की आन्तरिक झलक मिलती रहती है, फिर है सम्बुद्ध मानस (Illumined mind) जहाँ जीव परमात्मा से पृथक् होते हुए भी सत्य का प्रकाश पाता रहता है, इसके बाद है उच्चतर मन, फिर है मन। मन में विभाजन की प्रधानता होती है। इसके बाद प्राण जहां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना का रूप हो जाता है मात्र संवेदन और अन्त में जड़त्व की सृष्टि होती है, यहां आत्मा, जीव, अन्तरात्मा या हृत्पुरुष सर्वथा अचैतन्य में प्रवेश कर अपने निवर्त्तन या यों कहें कि अवरोहण की लीला को समाप्त करता है, जिसका हेतु है स्थूल के अन्दर, जड़ के अन्दर अपने विशुद्ध आनन्द की अभिव्यक्ति। तब विवर्तन या यों कहें कि आरोहणक्रम आरम्भ होता है; आत्मा जड़ से अचेतना से प्राण में आरोहण करता और फलतः प्राणलोक से प्राणका अवतरण होता है जो जड़में लीन चेतना को बाहर प्रकट करता और वनस्पति के रूप में यहां प्राण की प्रतिष्ठा होती है। इसके बाद वह मनोमय लोक में आरोहण करता और फलतः मनोमय चेतना का यहाँ अवतरण होता है और पशुजगत् की सृष्टि होती है; मनोमय चेतना का पूर्ण विकास है चिंतनधर्मी मनुष्य। मनुष्य भी विकसित होता हुआ मन के उच्चतर क्षेत्रों में ऊपर उठता हुआ अधिमानस लोक तक पहुंच पाया है और उस लोक की चेतना को अपनी साधारण चेतना बना पाया है, पर विज्ञानमय चेतना में वह अभी सुप्त है और इसलिये अपने एकत्वमय, सामंजस्यमय सत्य स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं है। अतः इस विवर्तनशील सृष्टि का चौथा उदय होगा विज्ञान में आरोहण, फलतः उस लोक की चेतना का, वहां के धर्म का इस जगत् में अवरोहण। इस विज्ञानमय चेतना में आरोहण करना और इसका यहां अवतरण करा कर मनुष्य के मन, प्राण और शरीर को इस चेतना के धर्म में रूपान्तरित कर देना, इस प्रकार अपने खोये हुए एकत्व को फिर से प्राप्त कर जो जीवन विज्ञानमय लोक में है जो सत्यमय, सौंदर्यमय, आनन्दमय और एकत्वमय है जो अक्षर है अमर है उसकी यहां इस स्थूल जगत् में प्रतिष्ठा करना, दूसरे शब्दों में मानवजाति में भगवान् को पाकर इस जाति को ही अमर बना देना—यह है श्रीअरविन्द का लक्ष्य।

सो हमने अपने आदर्श को समझ लिया, अपने लक्ष्य को जान लिया। अब हम यह देखें कि यह किस साधना के द्वारा प्राप्त होगा, किस प्रकार हम इस महत् और दुरूह लक्ष्य तक पहुंचेंगे। यह प्राप्त होगा एक लम्बी आध्यात्मिक या यौगिक साधना के द्वारा। वह क्या है? वह कोई बंधा हुआ मानसिक अभ्यासक्रम, ध्यान का कोई निश्चित प्रकार अथवा मन्त्र, तन्त्र, जप या प्राणायाम नहीं है। इस साधना के प्रधान अङ्ग हैं श्रद्धा, अभीप्सा, त्याग, समर्पण और आत्मोद्घाटन; और फिर इन अंगों को अपने जीवन का जीता-जागता सत्य बनाने के लिये आवश्यक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है अथक धैर्य और अटूट लगन। श्रीअरविन्द कहते हैं कि 'यह बड़ा ही दुर्गम लक्ष्य और कठिन योगसाधन है, बहुतेरों को या प्रायशः सभी लोगों को यह असम्भव ही प्रतीत होगा। सामान्य अनभिज्ञ जगत्-चेतना में अज्ञान की जो शक्तियां जम कर डटी हुई हैं वे इसके विरुद्ध हैं, इसका होना ही नहीं मानतीं और इसके होने में बाधा ही डालने का यत्न करती हैं और साधक स्वयं भी देखेगा कि उसके मन, प्राण और शरीर इसकी प्राप्ति में कितनी जबरदस्त रुकावटें डालते हैं'। पर यदि अन्तरात्मा जागा है, हृत्पुरुष की पुकार उठी है और साधक के हृदय में सच्चाई है, अन्त तक डटे रहने के लिये केन्द्रिक संकल्प है तो यह कठिनाई बहुत कुछ कम हो जाती और उसका पथ अपेक्षया सुगम हो जाता है, यद्यपि साधन-पथ की एक-एक इञ्च भूमि को पार करना पड़ता है विरोधी शक्तियों के भीषण संग्राम पर विजय प्राप्त करके ही।

अन्तरात्मा या हृत्पुरुष का यह जागरण और भगवान् के लिये यह पुकार कब उठती है? साधारणतया सभी लोगों में तो हम इसे नहीं देख पाते? बात यह है कि प्रत्येक भूतप्राणी अपने विकास की एक विशिष्ट अवस्था में है और इस विकासक्रम में एक ऐसा स्थल आता है जब कि अचेतना और अवचेतना के अन्धकार में सोया हुआ हमारा हृत्पुरुष जाग उठता है और तब हमको यह आभास होता है कि क्षुद्र वासनाओं को लक्ष्य बना कर हमारा जो यह अनित्य, असुखी सीमित पशु-जीवन है इसके पीछे कोई सत्ता, कोई सद्वस्तु, कोई जीवन, कोई आनन्द है जो एक है, नित्य है, अनन्त है, असीम है, अमर है और उसे स्वानुभव से ढूंढ कर अपने जीवन में प्राप्त किया जा सकता है। और तब हमें अभी का अशुद्ध भोग, अज्ञान-अन्धकारपूर्ण, अनित्य, अशान्त, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से भरा हुआ जीवन नीरस लगने लगता और हमारे अज्ञानांधकार को भेद कर प्रकट होती है हृत्पुरुष के यज्ञ की अग्निशिखा, उसकी अभीप्सा प्रकृति की इस आपातदृष्ट गुलामी से मुक्त होने के लिये, अपने सत्य स्वरूप, सत्य जीवन को प्राप्त करने के लिये, आत्मा और परमात्मा का जो विछोह हो गया है उसे दूर कर देने के लिये, प्रकृति ने उस पर जो गहरा परदा डाल रखा है उसे चीर कर बाहर निकल आने के लिये। परन्तु यह झलक, यह आभास अभी जब तक हमारी साधारण अवस्था नहीं बन जाती और हम अपनी साधारण अवस्था में लौट कर यह देखते हैं कि कहां, यहां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो ऐसे एक, नित्य, अनन्त, अमर जीवन का कोई लक्षण नहीं है, यहां तो भेद, परिवर्तन, विनाश, अशान्ति का चारों ओर खुला खेल दिखायी पड़ रहा है तब हमारा मन हमें बहुधा यह सुझाने की चेष्टा करता है कि जिस नित्य और अमर जीवन की तुम्हें झलक मिली है वह हो तो इस संसार से दूर जाकर स्वयं उस लोक में प्राप्त किया जा सकता है पर यहां इस पार्थिव प्रकृति में उस जीवन को प्राप्त करना तो एक अलीक कल्पना है और तब हम पर सन्देह, उदासी और दुविधा का आक्रमण होता है और कुछ देर के लिये हम अपने लक्ष्य को भूल गये से जान पड़ते हैं।

इसलिये जब तक कि हम द्वन्द्वों के प्रभाव से निकल नहीं पाये हैं, तब तक इस अनुभव को सदा एक श्रद्धा के सहारे की आवश्यकता होगी, किन्तु यह वह श्रद्धा है जिसका उच्चतम बौद्धिक विचार तथा विशालतम और अतिधीर चिन्तन इन्कार नहीं करते, बल्कि उसकी पुष्टि ही करते हैं। यह श्रद्धारूपी धर्म मानव-जाति को उसकी यात्रा में सहायता करने के लिये दिया गया है और यह तब तक उसके साथ रहेगा जब तक कि वह अपने विकासकी उस अवस्था को प्राप्त न हो जाय जहाँ श्रद्धा ज्ञान और पूर्ण अनुभवमें परिणत हो जाती है तथा ज्ञानका औचित्य उसके कर्मों से सिद्ध होता रहता है। श्रद्धा हमारी आन्तर सत्ताका पहला विश्वास है जो हमारी बाह्य चेतना का स्पर्श करता है, यह प्रत्यक्ष चिह्न है अन्तरात्मा के जागरण का और जीवन में एक नवीन युग के आरम्भ का। श्रद्धा के बिना साधना अपंग और अपाहज है और वह रेंग-रेंग कर या लंगड़ा-लंगड़ा कर ही आगे बढ़ती है, किन्तु श्रद्धारूपी बलवीर्य से युक्त होकर साधक समर्थ होता है देवाधिदेव की उत्तुङ्गताओं को लांघने में, जीवन के अन्तिम सत्य को उपलब्ध करने में। 'श्रद्धा होनी चाहियें विशुद्ध, निश्छल और निर्दोष। मन और प्राण की ऐसी अहंकारयुक्त श्रद्धा, जो बड़े बनने की आकांक्षा, अभिमान, दम्भ, अहंमन्यता, प्राण की स्वैरता, वैयक्तिक अभिलाष और निम्न प्रकृति की क्षुद्र वासनातृप्ति से कलंकित हो उस ऊर्ध्वगमनाक्षम धूमाच्छन्न अग्निशिखा के समान है जो ऊपर स्वर्ग की ओर उज्ज्वलित नहीं हो सकती'। सो हमें अपनी श्रद्धा को पद-पद पर देखते रहना होगा, यह देखते रहना होगा कि इस श्रद्धा के पीछे मन और प्राण की कोई वासना-कामना तो नहीं छिपी पड़ी है, कहीं भी कोई जरा-सी अशुद्धि या मानव-भूख इस श्रद्धा में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घुसी पड़ी हो तो उसे खोज-खोज कर निकाल बाहर करना होगा और भगवान् पर सच्ची श्रद्धा, उनकी दयामयी शक्ति पर पूर्ण भरोसा रख कर अपने मार्ग पर आगे बढ़ना होगा। और जब यह श्रद्धा हममें होगी तब कौन है जो मार्ग में हमें अटका सके या भटका सके।

ऐसी श्रद्धा के साथ हम अभीप्सा करते हैं उस जीवन को प्राप्त करने की जिसकी झलक हमें मिल चुकी है, क्योंकि दो शक्तियाँ हैं जिनके मिलन से ही यह कार्य, पार्थिव प्रकृति को रूपांतरित कर देने जैसा यह कठिन कार्य सम्पन्न हो सकता है, एक है 'हमारी दृढ़ अभीप्सा जो नीचे से आवाहन करती है और दूसरी वह भागवतप्रसादरूपा शक्ति जो ऊपर से उसका उत्तर देती है'। पर चूंकि यह प्रसादरूपा शक्ति केवल प्रकाश और सत्य की स्थिति में ही कार्य करती है, असत्य और अज्ञान की अवस्था में उसका कार्य नहीं होता इसलिये हमें अपनी अभीप्सा को सचाई की कसौटी पर कस कर देख लेना होगा, यह जांच लेना होगा कि यह अभीप्सा केवल भगवान् के लिये है; केवल उस दिव्य जीवन के लिये है जिसकी झलक हमारे अन्दर में बसने वाले भगवान् ने हमें दिखा दी है। हमें स्पष्ट रूप से यह अनुभव करना होगा कि हमारा उद्देश्य कोई शक्ति प्राप्त करना, शांति और स्थिरता की कामना करना नहीं है—इसका यह मतलब नहीं कि साधना के फलस्वरूप हम में अवतीर्ण करती हुई दिव्य शक्ति, शांति और स्थिरता का हम स्वागत नहीं करेंगे, बल्कि चूंकि हमारा उद्देश्य इनमें जाकर निवास करना नहीं बल्कि इनसे युक्त होकर भगवान् के संकल्प को कार्यान्वित करने के लिये जीवन को रूपांतरित करना है इसलिये इन्हें हम सहर्ष ग्रहण और आत्मसात् करेंगे अपने ध्येय की पूर्ति के साधन के तौर पर ही—व्यक्तिगत रूप से मुक्ति लाभ करना तक भी नहीं है—यद्यपि व्यक्तिगत मुक्ति इस साधनक्रम में एक स्थल पर आप ही प्राप्त हो जाती है। हमें यह निरीक्षण करना होगा कि क्या हमारे अन्दर भगवान् के लिये सच्ची पुकार है, क्या भगवान् ही हैं अब हमारे जीवन के एकमात्र सत्य और क्या हमारी ऐसी अवस्था हो गई है कि उनके बिना अब हम रह ही नहीं सकते? यदि हमारी यह अवस्था है तो फिर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि हमारे अन्दर भगवान् के लिये सच्ची अभीप्सा है। जिस प्रकार श्रद्धा हमारी आंतर सत्ता का विश्वास है उसी प्रकार अभीप्सा उसकी अग्नि है जो भगवान् की ओर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर उठ रही है और इसके उत्तर में भगवान् की ओर से जो हमारे लिये उतरता है वही वह प्रथम प्रकाश है जिसकी सहायता से साधना आगे बढ़ती है। एक वार यह अभीप्सा, यह अग्निशिखा, भगवान् के लिये यह पुकार प्रकट हुई कि फिर हमें इसे सदा जीवन्त, ज्वलन्त और जागृत बनाये रखना होगा, ऐसा करना होगा कि यह आग हमारे अन्दर सदा सुलगती रहे, यह अग्निशिखा उत्तरोत्तर ऊँची से ऊँची उठती रहे। और इसके लिये जिस बात की आवश्यकता है वह है एकाग्रता जो उनके संकल्प और अभिप्राय के प्रति पूर्ण और निरपेक्ष आत्म-समर्पण के भाव से की गयी हो, मन में उन्हीं का संकल्प हो, हृदय में उन्हीं की खोज हो, प्राण के वे ही जीवन हों, भौतिक चेतना और प्रकृति को उन्हीं की ओर उद्घाटित और सहजनम्य करने की इच्छा हो। इस प्रकार यदि हम अपनी समस्त क्रियाओं को आप-से-आप होने वाली पूजा में परिणत कर दें और इसके लिये एक सच्ची और प्रवल अभीप्सा बनाये रहें तो हम दिव्य जीवन में अवश्य विकसित होंगे। पर यदि इस अभीप्सा की आड़ में हम अपनी किसी महत्त्वाकांक्षा की पूर्त्ति करना चाहते हों, यह योग-साधना हम भगवान् के लिये नहीं, बल्कि किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये या शक्ति की प्राप्ति के लिये करना चाहते हों तो माताजी कहती हैं 'तुम इस का (योग का) स्पर्श मत करो, यह आग है जो जला देती है'।

सो इस अटूट श्रद्धा को इस दृढ़ अभीप्सा को वनाये रखने के लिये हमें अपने-आप से सचेतन होना होगा, क्योंकि अपनी सत्ता के एक अति तुच्छ भाग से ही अभी हम सचेतन हैं, इस के उच्चतर अंगों से जिसमें हमारी महती दिव्य संभावनायें भरी पड़ी हैं हम अचेतन हैं; 'यह अचेतना ही हम को अपनी प्रकृति के अपरिमार्जित भाग के साथ नीचे की ओर बांधे रहती है और उस के परिवर्तन या रूपांतर को अटकाती है। इस अचेतना द्वारा ही अदिव्य शक्तियां हमारे अन्दर घुस आती हैं और हमको अपना गुलाम बना लेती हैं'। इस लिये हमें अपनी सत्तारूपी यंत्र के पुरजे-पुरजे को अलग-अलग देख लेना होगा, विवेक करना होगा, खरे-खोटे की परख करना होगा। यह देखना होगा कि कौन-सी शक्तियां तो ऊपर उठने में हमारी मदद करती हैं और कौनसी शक्तियां हमें नीचे की ओर खींचती हैं; हमें सतत सजग रह कर यह देखते रहना होगा कि क्या सत्य है और क्या असत्य, क्या दिव्य है और क्या अदिव्य; फिर एक को सदा स्वीकार करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा और दूसरे का अनवरत त्याग। क्योंकि जो घर भगवान् को निवेदित कर दिया गया है उस में सत्य और मिथ्या, प्रकाश और अंधकार, समर्पण और स्वार्थ-साधन साथ-साथ रहने नहीं दिये जायंगे। अतः जो कुछ भी हमारी यात्रा में बाधक होता, हमें भगवान् के पास पहुंचने से अटकाता, भरमाता या उन से दूर ले जाता है उस सब का त्याग। 'त्याग—अपरा प्रकृति की सब वृत्तियों का त्याग—मन की मान्यता, मत, अभिमत, अभ्यास, परिकल्पना, इन सब का ऐसा परित्याग कि जिस से रिक्त मन में वास्तविक ज्ञान को अबाध स्थान मिले—प्राणप्रकृति की सारी वासना, कामना, लालसा, वेदना, आवेग, स्वार्थपरता, अहंकारिता, अहंमन्यता, लोलुपता, लुब्धता, ईर्ष्या, असूया, सत्य के प्रति विरुद्धाचार, इन सब का ऐसा त्याग कि स्थिर, उदार, समर्थ और समर्पित प्राणसत्ता में वास्तविक शक्ति और आनन्द की उन पर से वर्षा हो—देहप्रकृति की मूढ़ता, संशयग्रस्तता, अविश्वस्तता, अन्धता, अनम्यता, क्षुद्रता, अलसता, परिवर्तन-विमुखता, तामसिकता, इन सब का ऐसा परिवर्जन कि ज्योति, शक्ति, आनन्द की सुस्थिरता उत्तरोत्तर निरंतर अधिकाधिक दिव्य होने वाले देह में सुप्रतिष्ठित हो'। इस प्रकार जब हम अपने मन, प्राण और शरीर के सभी दोषों का संपूर्ण त्याग करने में समर्थ होते हैं तब हमारा हृदय हो जाता है स्वच्छ दर्पण जिसमें प्रतिबिम्बित होता है भगवान् का सत्य-स्वरूप और इस हृदयमंदिर में होती है भगवती माता की सजीव प्राण-प्रतिष्ठा। ये भगवती माता ही सत् की चिन्मय-शक्ति हैं जगत् की स्रष्ट्री हैं और इन के प्रति ही हमें करना है संपूर्ण सर्वाङ्गीण आत्म-समर्पण।

इस योग का संपूर्ण तत्त्व यही है कि अपने-आपको हम श्रीभगवान् के हवाले कर दें और भगवती माता के साथ युक्त होकर विज्ञानमय भगवान् की परा ज्योति, शक्ति, विशालता, शान्ति, पवित्रता, सत्, चैतन्य और आनन्द को अपने अन्दर ले आयें। 'इस योग की यह मांग है कि भगवत्सत्यका आविष्कार करने और उसे मूर्त्तिमान करने की अभीप्सा में इस जीवन का पूर्ण रूप से उत्सर्ग कर दिया जाय, अन्य किसी भी काम के लिये नहीं'। क्योंकि समर्पण का अर्थ है सत्ता के एक-एक अंग से अहंकार की ग्रन्थि को काट डालना और उसे मुक्त रूप में तथा संपूर्ण भाव से भगवान् के अर्पण कर देना। यह समर्पण ही इस योग की कुंजी है। क्योंकि व्यक्तिगत प्रयास के द्वारा विज्ञानमय चेतना का अवतरण कराना तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असम्भव ही है। यह विज्ञानमय चेतना पृथिवी पर अवतरण करने के लिये स्वतः-प्रेरित है; पर इसे ऐसे आधार चाहियें जो इस को ग्रहण और धारण कर सकें। किसी भी आध्यात्मिक सिद्धि के लिये आधार को तैयार करना सदा ही कठिन होता है और जिन्हें हठयोग, राजयोग आदि प्रचलित साधनाओं का कुछ भी अनुभव है वे यह अवश्य जानते होंगे कि बहुतों का जीवन समाप्त हो जाता है और वे अपने आधार की तैयारी के पास भी नहीं पहुंच पाते। परन्तु आत्म-समर्पण वह साधना है जो इस कार्य को बड़ी ही सुगमता के साथ संपन्न कर देती है। जिस अंग को हम वास्तविक रूप से भगवती माता के अर्पण करने में समर्थ हो जाते हैं, वह तब उन का, भगवान का हो जाता है और अहंकार वहां से सर्वथा निकाल बाहर किया जाता है, वहां तब निवास होता है भगवती माता का और वह तब बन जाता है हमारे क्षुद्र नश्वर बाह्य व्यक्तित्व का, अहंकार का नहीं, बल्कि साक्षात् भगवती माता का एक अंग। इस प्रकार आज एक और कल दूसरा जब हमारा एक-एक रोम समर्पित हो जायगा भगवती माता को, भगवान को तब यह आधार प्रस्तुत हो जायगा अपने लक्ष्य को प्राप्त करने, वहां पहुंचने में और तब इसमें अवतरण करेगा विज्ञानमय सत् विज्ञानमय चित्-तपस् और विज्ञानमय आनन्द। तब यह होगा भगवान् का सच्चा प्रतिनिधि, उन की लीला में एक उन्हीं का रूप। इस लिये, इस साधना के लिये यह अनिवार्य है कि जो कुछ भी हम हैं और जो कुछ भी हमारे पास है वह सब भगवती माता के अर्पण हो। बहुधा हम में किसी प्रचलित साधन-प्रणाली के प्रति, किसी शास्त्र-वचन के प्रति (जो प्रायः विभिन्न भाष्यकारों के रंग में रंगा हुआ ही होता है) कोई विशेष आसक्ति होती है; देश-सेवा, समाज-सेवा जैसी कोई सात्त्विक झोंक होती है; प्राण की कोई महत्त्वाकांक्षा, वासना, कामना होती है, भौतिक प्रकृति का कोई सन्देह, अविश्वास, आलस्य, परिवर्तित होने की अनिच्छा होती है और तब हमें समर्पण से बाघ जैसा डर लगता है, क्योंकि समर्पण का अर्थ है इन सब का नाश, पर यदि आत्म-समर्पण हमें भगवान को अपने लक्ष्य को प्राप्त करा देता हो तो इस भय को हमें निर्मूल कर देना होगा और इनमें की कोई भी चीज़ हमारे अन्दर हो तो उसे खोज-खोज कर माता के अर्पण कर देना होगा। हमें यहां यह समझ लेना चाहिये कि यह समर्पण का कार्य प्रकृति के द्वारा भी हमारे अज्ञान में से हो रहा है। यह सारा जीवन ही प्रकृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का यज्ञ है पुरुष के आनन्द के लिये और जिस काम को हम स्वेच्छा से नहीं करना चाहते उसे प्रकृति बरबस हम से कराके ही छोड़ती है; पर उसकी यह चाल धीमी है, योग-साधना इसमें एक वेग ले आती है और अनेक जन्मों अनेक शताब्दियों में होने वाले कार्य को एक ही जन्म में और कुछ वर्षों के अन्दर ही सम्पन्न करा देती है। तब क्यों न हम आत्म-समर्पणरूपी इस अनिवार्य कार्य को सहर्ष करें? इसीलिये इस योग की यह एक शर्त्त है कि हमारा समर्पण स्वेच्छाकृत हो। जो समर्पण जी को मसोस कर किया गया हो वह ऐसा आत्म-दान नहीं है कि भगवान तक पहुंच सके।

हमारे आत्म-समर्पण की तीन अवस्थायें होती हैं। पहली अवस्था में हम अपने को अपने कर्मों का कर्त्ता अनुभव करते हैं और उन्हें भगवान् के अर्पण करते हैं। इस अवस्था में हमें यह समझना चाहिये कि माता की सेवा के लिये सृष्ट हम एक व्यक्ति हैं जो माता के लिये ही सारे कर्म करता है। इस अवस्था में हमें किसी खास कर्म पर कोई आसक्ति नहीं होनी चाहिये, कोई अपनी पसन्द नहीं होनी चाहिये तथा किसी प्रकार की फलेच्छा का सर्वथा अभाव होना चाहिये। हमारा एकमात्र फल हो भगवती माता की प्रसन्नता और एकमात्र पुरस्कार हो भागवत चेतना, स्थिरता, सामर्थ्य और आनन्द की हमारे अन्दर निरन्तर वृद्धि। इसके बाद एक वह समय आता है जब हम यह अनुभव करते हैं कि हम केवल यन्त्र हैं, कर्त्ता नहीं। तब हमारा सम्बन्ध माता के साथ इतना घनिष्ठ हो जाता है कि उनका ध्यान करते ही हमें उनका आदेश प्राप्त होता है और हम यह जान पाते हैं कि हमें कौनसा काम करना है, किस तरह करना है और उसका क्या फल होगा। हम यहां तक देख पाते हैं कि माता केवल हमारे कर्मों की प्रेरणा ही नहीं करतीं, बल्कि ये उन्हीं में से आते हैं। हमारी सारी वृत्तियां और शक्तियां उन्हीं की हैं, हमारे मन, प्राण और शरीर उन्हीं के सचेतन यन्त्र हैं; उनकी लीला के पात्र हैं, स्थूल जगत् में उनके प्राकट्य के उपकरण हैं। अन्त में जब हमारा समर्पण पूर्ण हो जाता है तब श्रीअरविन्द कहते हैं कि "तुम भगवती माता के साथ पूर्णतया एकीभूत हो जाओगे और अपने आपको कोई पृथक् पुरुष, यन्त्र, सेवक या कर्मी नहीं पाओगे, बल्कि यह अनुभव करोगे कि तुम सचमुच ही माता के शिशु हो, उन्हीं की चेतना और शक्ति के सनातन अंश हो। सदा ही वे तुम्हारे अन्दर होंगी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और तुम उनके अन्दर; तुम्हारी यह सहज, स्वाभाविक अनुभूति होगी कि तुम्हारा सब सोचना-समझना, देखना-सुनना और कर्म करना, तुम्हारा श्वास-प्रश्वास और तुम्हारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग का हिलना-डोलना भी उन्हीं से होता है, वे ही करती हैं"। यही है आत्म-समर्पण की सिद्धि की चरम अवस्था और जब यह प्राप्त होगी तब हमारा परिचालन करेंगी विज्ञानमय शक्ति, विज्ञानमय तेजोराशि; तब हम होंगे भागवत कर्म के दिव्य कर्त्ता। प्रथम अवस्था में अहंकार ही प्रधान होता है और इसलिये हम अपने को कर्त्ता, दास अनुभव करते हुए अपने कर्मों को अर्पण करते रहते हैं। इस पहली अवस्था से ही दूसरी अवस्था निर्गत होती है; कर्मों का अर्पण करते-करते अहंकार क्षीण हो जाता है और हम अपने को प्रकृति भाग से अलग कर पाते और तब सारा कर्म माता के द्वारा सम्पन्न होता रहता है। तीसरी अवस्था में अहंकार का सर्वथा लोप हो जाता है और हम और भगवती माता एक हो जाते हैं। अब न कोई कर्त्ता है न कोई यन्त्र; अब भगवती माता अपने-आपको अनेक रूपों में देखती और कर्म करती हैं।

आत्मोद्घाटन का अर्थ है माता के प्रति अपने-आपको खोले रखना, क्योंकि इस योग में सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम अपने-आपको दैवी प्रभाव के लिये खोल सकते हैं या नहीं। 'यदि अभीप्सा सच्ची है तथा समस्त विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी उच्चतर चेतना में एक धीर संकल्प विद्यमान है, तो किसी न किसी रूप में आत्मोद्घाटन होगा ही'। तब हमारे मन, हृदय और शरीर की तैयारी की अवस्था के अनुसार इस आत्मोद्घाटन में कुछ कम या अधिक समय लग सकता है। आत्म-समर्पण आत्मोद्घाटन में बहुत ही सहायक होता है, साधक यह पाता है कि उसका समर्पण जैसे-जैसे आगे बढ़ रहा है वैसे-वैसे उसके द्वार माता के लिये खुलते जा रहे हैं और उन द्वारों से वे उसमें प्रवेश कर उसकी प्रकृति का रूपांतर साधन कर रही हैं। इसके लिये आवश्यक है हृत्पुरुष को बाहर ले आना और उसे वहीं पर रखना। हृत्पुरुष के बाहर आने का अर्थ है हमारे मन, प्राण और शरीर का उसके अधीन हो जाना और उनका अहंकार के स्थान पर इसके द्वारा परिचालित होना और उसके वहीं पर रहने का अर्थ है मन, प्राण और शरीर पर उसके प्रभुत्व का सदा बने रहना। यह हृत्पुरुष का उद्घाटन तभी होता है जब हम अपनी साधना में मिली हुई प्राणगत वासनाओं से मुक्त होते हैं और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरलता तथा सहृदयता के साथ मातृचरणों में अपने-आपको समर्पित करने में समर्थ होते हैं। हृत्पुरुष हृदयद्वार से उद्घाटित होकर पहले हमारे हृद्देशस्थित भगवान् से, हमारे साथ अपने आंतर सम्बन्ध में जो भगवान् हैं उनसे हमें मिला देता है। यह हृत्पुरुष ही मुख्यतः प्रेम और भक्ति का मूल है और इसके द्वारा हमारा जो ऊर्ध्व की ओर उद्घाटन होता है वह समग्र भगवान् से हमारा सम्बन्ध जोड़ता है और फिर इसी मार्ग से हमारे अन्दर उतरती हैं दिव्य शान्ति, स्थिरता, पवित्रता और आनन्द।

प्रायः हम तामसिक निश्चेष्टता को वास्तविक समर्पण समझ लेते हैं। हम यह मान लेने की भूल किया करते हैं कि हमारा समर्पण भी भगवती माता करा देंगी; हमारा मन हमें यह सुझाया करता है कि हम क्या साधना कर सकते हैं हमारा आत्मोद्घाटन वे ही करा देंगी, हमारे वैयक्तिक प्रयास से क्या हो सकता है उसकी क्या आवश्यकता है। परन्तु जब तक हमारी निम्न प्रकृति सक्रिय है तब तक माता की क्रिया हमारे अन्दर परदे के भीतर होती है और हमें उसका ठीक-ठीक प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता; इस काल में, जो एक लम्बा काल होता है, व्यक्तिगत प्रयास की आवश्यकता रहती ही है। समर्पण तो हमें ही करना है, मिथ्या और अज्ञान का त्याग भी हमें ही करना है और यह जब तक नहीं हो जाता तब तक सजग रह कर साधना करते रहना भी हमारा ही काम है; यह हो जाने के बाद अवश्य ही हमारी साधना सम्पूर्ण रूप से माताजी अपने हाथों में ले लेती हैं और हमें व्यक्तिगत रूपसे कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। फिर हमारा आधार हो जाता है उनके कार्य का, उनकी ज्योति, शक्ति, शान्ति, स्थिरता, आनन्द के प्रवाह का एक स्रोतमार्ग।

योग-साधना एक लम्बा मार्ग है, इसलिये साधक में जिस गुण की सब से अधिक आवश्यकता है वह है धैर्य और अनन्य लगन। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में, तब तक जब तक कि हम निम्न प्रकृति के पंजे से निकल नहीं पाये हैं ऐसे अवसर आते ही रहते हैं—क्योंकि अभी भगवती माता की क्रिया गुप्त रूप से और अन्दर ही अन्दर होती रहती है—कि हमको ऐसा-सा जान पड़ता है कि कुछ भी साधना नहीं हो रही है, कोई प्रगति नहीं हो रही है। मैं यह समझने लगता हूँ कि 'मैं निर्बल हूँ, अज्ञानी हूँ, अधम हूँ, मेरे द्वारा भगवान् क्या कर सकेंगे; मेरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार इतना अशुद्ध है कि इस जीवन में क्या वह दिव्य बन सकेगा' ? और हम घबरा उठते हैं। जब ऐसा अवसर आता है तब धैर्य हमारी रक्षा करता और हम कठिनाइयों से मुकाबला करने के योग्य हो जाते हैं। योग में धैर्य अपरिहार्य है। जो चीज हमें हर अवस्था में अडिग रखती है वह है धैर्य, और इसे समस्त कठिनाइयों, विलम्बों और बाहर से दिखायी देने वाली विफलताओं के होते हुए भी अटूट बने रहना होगा। योग-साधना का यह नियम है कि कठिनाई उपस्थित होने पर, उदासी छाने पर हमें धैर्य को बनाये रहना होगा और अपने काम में लगे रहना होगा। क्योंकि, हो सकता है कि हमारी श्रद्धा कभी हिल जाय, अभीप्सा की अग्निशिखा कभी कांप जाय, आत्म-समर्पण और आत्मोद्घाटन की गति कभी ढीली पड़ जाय, पर यदि हममें धैर्य हो, श्रद्धा हो और हम अपनी साधना में लगे रहें तो ये सब के सब दूने बल के साथ लौट आवेंगे और हम एक नयी शक्ति; एक नये बल के साथ साधन-पथ में अग्रसर होंगे।

अस्तु! हमने अपने आदर्श को पहचाना, अपने लक्ष्य को जाना, अपनी साधना को और उसके पूरक अंगों को समझा। अब आइये हम भगवती माता से यह प्रार्थना करें कि हे मां, हम जैसे भी हैं तेरे हैं, सदा तेरे रहेंगे। ऐसी कृपा कर कि हम तेरे कार्य को साधने के उपयुक्त पात्र बन सकें। हे दयामयी जननी ऐसा वरदान दो कि मानव-जाति अपने अज्ञानांधकार से बाहर निकले और तेरा साक्षात्कार करे, मर्त्य मनुष्य की पृथिवी हो भगवान की मन्दिर-नगरी—आनन्दपुरी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बच्चों में नकल करने की वृत्ति

ले०—श्री लीलावती जी

'अदिति' के गतांक में "बच्चोंके पालन-पोषणमें योग-दृष्टि" नामक लेख मैं दे चुकी हूँ। उसमें; वास्तवमें, एक नये दृष्टिकोण को उपस्थित किया था। उस दृष्टिकोण को हम आध्यात्मिक अथवा यौगिक कह सकते हैं। इस दृष्टिकोण का आधारभूत विचार यह है कि बच्चों के पालन-पोषण में हमें उनके आन्तरिक अनुभव को ही वास्तविक सत्ता मानना चाहिये, वही उनका असली स्वरूप समझना चाहिये और उसे ही सदा दृष्टि में रखते हुए धीरे-धीरे अपने व्यवहार के दृष्टान्तों, प्रेम और शुद्ध हित-भावना की प्रेरणाओं द्वारा उन्हें अधिकाधिक आत्मसंयम और आत्म-ज्ञान की ओर चलने में सहायक होना चाहिये। माता-पिता और शिक्षक की शुद्ध हित-कामना का अर्थ यह है कि वह उत्तरोत्तर स्वयं सचेत होते हुए अपने अन्दर के अहंकार और मोह की गतियों का त्याग करते जांय और बच्चों को भगवान् की सौंपी हुई ज़िम्मेवारी मान कर उसी की शुद्ध प्रेरणा के आधीन रह कर उसे सदा आनन्दपूर्वक निभाते चले जाँय।

बाल-शिक्षा के सम्बन्ध में उक्त दृष्टिकोण को सम्मुख रखते हुए हमारे लिये बच्चों की जन्म-सिद्ध वृत्तियों को समझना अति आवश्यक हो जाता है। उनका वास्तविक रूप जानकर ही हम उनको ठीक रास्ते पर ला सकते हैं। इस लेख में आज हमें बच्चोंकी एक ऐसी वृत्ति का उल्लेख करना है जो शिक्षा-शास्त्रियों के लिये बड़े महत्त्व की चीज है। वह है बच्चे की नकल करने की वृत्ति।

नकल करनेकी वृत्ति मनुष्य और पशु दोनोंमें पायी जाती है और इसका वहां अपना-अपना उपयोग भी है। पशुओंमें तो यह एक अपरिवर्त्तित जन्म-सिद्ध प्रवृत्ति के रूप में देखने में आती है। जहां एक कौवे ने बिल्ली को देखकर कांव-कांव करना शुरू किया कि सभी ने शोर मचा दिया; बस सारे में अलार्म की घन्टी गूंज उठती है। फलस्वरूप सब चौकन्ने हो जाते हैं। गीदड़ों का रोना और कुत्तों का भौंकना तो मशहूर है ही। 'भेड़चाल' का मुहावरा भी इसी वृत्ति का द्योतक है। पशुओं में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से बन्दर में यह वृत्ति सब से अधिक प्रकट हुई है। आदमी को उस्तरे से हजामत बनाते देख यह अपना गाल काट सकता है। इतना ही नहीं;इसे यदि मनुष्य समाज में रखा जाय तो यह छुरी कांटे का व्यवहार, मेज़ पर बैठ कर खाना, मनुष्य के समान दो पैरों से चलना आदि बहुत शीघ्र सीख जाता है। यह सब वह देख कर, नकल द्वारा ही सीखता है। मनुष्य में भी यह वृत्ति मौजूद है। वहां यह कई रूपों में प्रकट होती है। एक तो बिलकुल भौतिक रूप में ही है। सभा में बैठे एक को जम्हाई आते देख दूसरों को भी जम्हाइयां आने लगती हैं। यह इसका अति स्थूल रूप है। जन-समूह में विचार तथा उद्वेग आदि भी आपस में बड़ी जल्दी एक से दूसरे तक पहुंच जाते हैं। कवि-सम्मेलन हो रहा है, कवि अपनी कविता में दरिद्रता के ताण्डव-नृत्य का वर्णन कर रहा है; पढ़ते-पढ़ते उसकी आवाज भर्रा उठती है। धीरे-धीरे सभी सिसकना शुरू कर देते हैं।

मनुष्य में यह वृत्ति अन्य कई प्रभावों से परिवर्तित हो जाती है। मनुष्य साधारणतया समाज में रहते हुए सामाजिक व्यवहार से भिन्न नहीं होना चाहता। नित्य नवीन ढंग से व्यवहार कर वह दूसरों की दृष्टि में भकुआ बनना नहीं चाहता। फिर वह यह भी जानता है कि सामाजिक व्यवहार के अनुसार चलने में वह निन्दा से सुरक्षित रहता है। उपर्युक्त नकल तो मनुष्य से विना प्रयास के हो जाती है पर कई बार वह जानबूझ कर भी नकल करने की कोशिश करता है। मानो हम किसी व्यक्ति को एक काम करते देखते हैं। उस काम का फल भी देखते हैं। वह फल हमें आकर्षित करता है। तब हम उस काम के करने को नकल द्वारा प्रेरित अनुभव कर सकते हैं। साधारणतया अनुकरण करने की वृत्ति में एक बात आवश्यक होती है। अनुकरण उसी चीज़ का किया जायगा जिसमें मनुष्य को कोई नवीनता दिखाई देगी, जिसका रूप आकर्षक होगा या जो सब से अधिक उसके व्यक्तित्त्व के साथ मेल खा जायगी। कई बार तो हम किसी व्यक्ति-विशेष में खास रुचि रखने के कारण उसके कई बाह्य रंग-ढंग—अनजान रूपमें—ही स्वीकार कर लेते हैं। इस लिये नहीं कि वे ढंग अपने आप में कोई महत्त्व रखते हैं, वरन इस लिये कि जिस के ये ढंग हैं वह हमारा आदर्श है। विद्यार्थी अक्सर अपने शिक्षक की वेष-भूषा, उसके उठने बैठने के ढंग, यहां तक कि उसके बोलने लिखने पढ़ने आदि के तरीके भी ग्रहण कर लेते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बच्चे में यह प्रवृत्ति अपने पूरे ज़ोर पर होती है। पर ज्यों ज्यों वह बड़ा होता है इसका रूप बदलता जाता है। इसका बच्चों की बढोतरी में एक प्रमुख स्थान है। लगभग चार महीने का बच्चा अपने माता-पिता के शब्दों की नकल करने की कोशिश करने लगता है। बच्चा नकल केवल उन्हींकी करेगा जो उसके अत्यधिक निकट हैं। इस लिये साधारणतया माता-पिता बहन-भाई का बच्चे पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

अब हमें देखना यह है कि इस वृत्ति का बाल-शिक्षा-शास्त्र में कितना और कहां तक उपयोग उठाया जा सकता है। नकल करने की वृत्ति एक जन्म-सिद्ध प्रवृत्ति है। इससे प्रेरित होकर बालक जो भी काम करेगा उसमें वह कुछ सोचे-विचारेगा नहीं। जो कुछ वह अपने सामने देखता है उसकी पकड़ में वह ऐसा आता है कि वह उसमें एक प्रकार सहज ही लग जाता है। देखा, मन को भाया और चट कर लिया। बस इतनी-सी बात होती है। बच्चे ने डाकिये को चिट्ठी बांटते देखा। उसे उसका पत्र हाथ में लेकर घर-घर का फिरना बहुत पसन्द आया। फिर क्या था लगा वह भी एक थैला लटका और खाकी पगड़ी बांध इधर-उधर घूमने। लड़कियों का गुड़िया खेलना, मां की तरह उसे थपक-थपक कर सुलाना, उसका व्याह-शादी करना, ये सब बातें इसी वृत्ति की द्योतक हैं। हां, यह हो सकता है कि ये सब बातें बच्चा कभी खेल खेलने के लिये ही करे क्योंकि 'खेलना' भी बच्चे की जन्म-सिद्ध प्रवृत्ति है।

इस वृत्ति का अपना एक विशेष समय होता है। बच्चे में, यह किसी आयु तक ही रहती है और उस समय उसका अपना उपयोग भी होता है। बच्चे इसी तरह सीखते हैं। बच्चा स्वभाव से ही आवेशमय होता है। बड़े की तरह वह सोच-विचार कर, फलाफल को दृष्टि में रख कर काम नहीं कर सकता, जो जिस वक्त धुन समाई उसे वह चटपट कर डालता है। एक ही कार्य बारबार करने से फिर वह उसका स्वभाव बन जाता है। एक पंजाबी कहावत है "बादड़ियां सुजादड़ियां निभन सिरां दे नाल" अर्थात् बचपन में पड़ी हुई आदतें लाख सिर पटक लेने पर भी नहीं छूटतीं। यह बिल्कुल सत्य तो नहीं कहा जा सकता। पुरानी आदतों को दूर करना असम्भव तो नहीं हां कठिन अवश्य है।

नकल करने की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है। एक सचेत और दूसरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवचेत। बच्चों में प्रायः यह दूसरी प्रकार की ही होती है। माता-पिता और घर के और लोगों को बच्चे जो-जो करते देखते हैं उनमें से जो-जो उनके मन और संस्कारों के साथ मेल खा जायगा बच्चे उसी को पकड़ लेंगे या यों कहिये कि वे उसकी पकड़ में आ जायेंगे। बच्चों के स्वभाव में आवेश और चञ्चलता तो अधिक होती ही है। सो जो-जो काम इस वृत्ति के द्योतक होंगे वे ही उन्हें अपनी ओर अधिक खींचेंगे। यहां एक बात कह देनी आवश्यक है कि किसी बच्चे को एक बात ने अपील किया तो किसी को दूसरी ने। एक ही चीज या व्यवहार सब को समानरूप से आकर्षित नहीं करता, बहुत कुछ बच्चेकी अपनी प्रकृति और व्यक्तित्व पर निर्भर है। परन्तु साधारणतया किसी भी कार्य या वस्तु के बाह्य रूप का चित्ताकर्षक और आवेशपूर्ण होना बच्चे को अपनी ओर खींचने में अधिक सफल होता है। इसी लिये कई बार शान्त प्रकृति के माता-पिता की सन्तान में कई ऐसे अवगुण आजाते हैं कि जो उनके लिये नितान्त अपरिचित होते हैं। खोज करने पर पता चलता है कि कोई बाहरी आदमी घर में कुछ समय तक आकर रहा है। उसकी वृत्ति इस आकर्षक रूप में बच्चे के सामने आकर उपस्थित हुई कि उसे तुरंत भा गई; और उसने उसके अन्दर एक विशिष्ट स्थान बना लिया जो अब निकाले नहीं निकलता। नकल करने की प्रवृत्ति में सहानुभूति का समावेश सदा रहता है। दोनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस व्यक्ति या कार्य-विशेष के साथ हमें सहानुभूति होगी हम केवल उसी की नकल करेंगे। यह सहानुभूति चाहे चेतन रूप में हो या अवचेतन रूप में।

अब हमें देखना यह है कि कैसे हमारी अज्ञानता के फलस्वरूप इस वृत्ति के परिणाम कई बार बड़े भयानक हो जाते हैं। बच्चा देखता है कि उसका पिता आफिस से घर आते ही कभी नौकर पर, कभी उसकी मां पर, कभी स्वयं उसके ऊपर डांट-फटकार डालता है। कुछ दिन बाद देखा जाता है कि वही बच्चा ठीक उसी रीति से नौकर को फटकारने लगता है, कारण कई बार कुछ भी नहीं होता। माता-पिता उसके इस व्यवहार को देख कर आश्चर्य मानते हैं, कहते हैं—अरे, इस जरा से लड़के में इतना क्रोध, यह आपे से बाहर होना कहां से आगया। पर कारण तो प्रत्यक्ष ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बच्चे अपने माता-पिता का ही नहीं, अपने बड़े भाई-बहन और घर के दूसरे लोगों का अनुकरण करने में भी बड़े प्रवीण होते हैं। बड़ा भाई दूध पीने से कतराता है तो छोटा भी उसके देखा-देखी दूध से नाक-भौं चढ़ाना सीख जायगा। अक्सर बच्चों को घरों में कहते सुना है कि हमें अमुक सब्जी अच्छी नहीं लगती, अमुक अच्छी लगती है आदि।

यह सब तो हुई बाह्य कार्यों की नकल। पर जो असली नकल होती है और जिस की जड़ बड़ी गहरी होती है उसका सम्बन्ध आन्तरिक वृत्तियों से है। यही अधिक हानिकारक है। यहां मुझे एक घटना याद आती है। हमारी एक पड़ोसिन थीं, पढ़ी-लिखी, चतुर और बच्चों का बड़ा ख्याल रखने वाली। एक दिन बात ही बात में उन्होंने मुझ से कहा कि 'मेरे बच्चों में इधर एक बड़ा दोष उत्पन्न हो गया है। वे दूसरों के साथ कई बार एक धूर्त्ततापूर्ण चालाकी का व्यवहार कर जाते हैं; मुझे यह बहुत बुरा लगता है। बच्चों में सरल भाव होना चाहिये। मैं इनको कितना समझाती हूँ कि ऐसा व्यवहार ठीक नहीं, पर उन पर कुछ भी असर नहीं पड़ता। मैं यही सोचती हूँ कि यह सब सीखे कहां से'। पड़ोसिन होने के नाते मैं उनके अपने स्वभाव से परिचित थी, परिचित ही नहीं मुझे उसका अच्छा-खासा अनुभव था। जब-जब फल या सब्जी वाला आकर पुकारता वे शीघ्रतापूर्वक बाहर आ पहले अच्छे-अच्छे फल-सब्जी छांट कर अलग रख लेतीं, पीछे उससे मोल-भाव करतीं। उसको सदा यह डर रहता कि कहीं कोई आस-पड़ोस का दूसरा आकर ही अच्छे-अच्छे न ले ले। उसका काम सदा ठीक होता रहे, उसे कहीं कोई हानि न उठानी पड़े, इसके लिये वह सदा सतर्क रहती। इस बात के लिये उसे कपट चतुराई आदि बरत लेने में कोई संकोच नहीं था। वैसे और बातों में वह बहुत होशियार थी। बाल-मनोविज्ञान में भी उसकी कुछ रुचि थी। इसीलिये तो वह अपने बच्चों में वह अवगुण भांप भी पाई थी। पर उसमें उसकी अपनी कितनी जिम्मेवारी थी, यह उसकी समझ में न आया था। बच्चे स्वभावतया ही अपनी मां की उस आन्तरिक प्रवृत्ति की नकल कर रहे थे। वैसे माता-पिता अपने बच्चों के बड़े शुभ-चिन्तक समझे जाते हैं। एक प्रकार से उनके सच्चे साथी होते हैं। पर कई बार यह साथ उनके लिये विष का काम देता है। दिन-रात का सम्पर्क उनके अंन्दर, अवचेतन रूप में, उनकी सारी वृत्तियों का प्रतिबिम्ब उनके कोमल हृदयों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर डाल देता है। फलस्वरूप इन सब से प्रभावित होकर बच्चा उन्हीं के सोचने-विचारने, अनुभव करने आदि के ढङ्गों को भी अपनाने लगता है।

इन्हीं सब कारणों से माता-पिता को अत्यन्त सतर्क रहने की आवश्यकता है। अपनी ओर से तो उनको अत्यधिक सचेत रहना ही चाहिये, पर साथ-साथ घर के दूसरे लोगों की वृत्तियों की तरफ से भी चौकन्ना रहने की जरूरत है। विशेषतया उनसे, जो स्थायी रूप से घर में ही रहते हैं। उदाहरणार्थ, बड़े बच्चों में यदि कोई ऐसी-वैसी आदत न बनने पायेगी तो छोटों को उससे दूर रखना अधिक सुगम हो जायगा। क्योंकि छोटे स्वभावतः ही बड़ों के पीछे चलने की कोशिश करेंगे। एक और बात का भी ख्याल रखने की बड़ी आवश्यकता है। बहुधा देखा जाता है कि धनवान् घरों में बाहर के लोग आते रहते हैं और थोड़े-बहुत समय के लिये ठहरते भी हैं। ये लोग, क्योंकि इनको थोड़े ही समय के लिये ठहरना होता है और कुछ अज्ञानवश भी, बच्चों के साथ अक्सर गैरजिम्मेवारी का बर्ताव कर बैठते हैं। जहां माता या पिता ने बच्चों को किसी बात पर ताड़ना की इन्होंने चट से बच्चे का पक्ष ले लिया। उसे पुचकारा, कुछ मिठाई आदि दी, मां-बाप की चाहे ऊपरी भाव में ही निन्दा भी कर दी। बच्चे को उस समय वही अपना हितैषी लगा और वह स्वभावतः ही उसके प्रति आकृष्ट हो गया। ताड़ना का शुभ फल नष्ट करने के साथ-साथ वह आदमी अब बच्चे के लिये आदर्श बन गया। उससे सहानुभूति होने के कारण बच्चा अवचेतन रूप में उस आदमी के विचार, भाव, रङ्ग-ढङ्ग ग्रहण करने लगा। वह आगन्तुक तो कुछ समय बाद चला जायगा पर अपना अभिशाप वह पीछे ही छोड़ जायगा। ये विष-बीज कई बार इसी प्रकार बोये जाते हैं। बच्चे के सामने ऐसे तुच्छ आदर्श कभी नहीं आने देने चाहियें।

इस बात के लिये माता-पिता को यह सदा ध्यान रखना चाहिये कि बच्चे के साथ उनके अपने सारे व्यवहार के मूल में प्रेरक भाव, बच्चे के प्रति प्रेम और वास्तविक हितकामना होनी चाहिये, जिससे उनका माता-पिता के प्रति विश्वास बना रहे। यदि उन्होंने आवश्यकता से अधिक बच्चे को ताड़ना आदि की या उदासीनता या उपेक्षा का बर्ताव दिखलाया तो बच्चा स्वभावतया ही उनकी ओर से मुंह फेर लेगा, फिर जहाँ भी कहीं उसे जरा-सी भी सहानुभूति या आकर्षण मिला वह उसी की ही पकड़ में आ जायगा। माता-पिता का बच्चे के साथ अपना व्यवहार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतना गहरा और निकट का होना चाहिये कि उनका ध्यान दूसरे की ओर जा ही न सके। कई बार तो यहां तक देखा जाता है कि बच्चे अपने नौकरोंको ही आदर्श मान उनके रङ्ग-ढङ्ग अपना लेते हैं। माता-पिता बड़े आदमी हैं, उनको क्लब, सभा-सोसायटी में जाना होता है, बच्चों को साथ ले जाने से उनके काम में बाधा पड़ती है। घर वापस आकर भी बच्चे के साथ बैठने, उसके साथ हंसी-खुशी की बात करने के लिये उनके पास समय नहीं होता। यदि कभी बात की भी तो पूछा क्या पढ़ा है, ठीक समय पर खाना खाया या नहीं, आदि आदि। फलस्वरूप बच्चे के मन में माता-पिता के लिये कोई कोमल भाव पैदा ही नहीं हो पाता। वह तो एक ऐसा साथी चाहता है जो उससे हंस-बोल सके, उसके साथ उछल-कूद मचा सके। जब उसकी यह आशा माता-पिता से पूरी नहीं होती तब वह अपना साथ कहीं और ढूंढ लेता है। सब से नजदीक फिर उसे नौकर दिखाई देते हैं जो मालिकों की अनुपस्थिति में आपस में अपने ढङ्ग से हंसी-मजाक आदि करते हैं। बच्चे को अपनी ओर खींचने में ऐसा व्यवहार कई बार बड़ी जल्दी सफल हो जाता है। माता-पिता को यहां बड़ी सतर्कता से बच्चे के व्यवहार, बोल-चाल, हाव-भाव का पूरा ध्यान रखना चाहिये।

सो, यदि हम बच्चे की इस नकल करने की प्रवृत्ति का रहस्य भली प्रकार समझ जायेंगे तो इससे जो हानि हो सकती है उसके स्थान पर हम इससे बहुत लाभ उठा सकते हैं। इस प्रवृत्ति का शिक्षाशास्त्र में विशेष उपयोग होता है। बच्चों के सामने ऐसे आदर्श ऐसी वृत्तियें लायी जानी चाहियें जो उनके व्यक्तित्व को पूर्ण करने में सहायक हों। यहां हमारे लिये यह जान लेना आवश्यक है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का स्वरूप क्या है और उसे क्या बनना है? दूसरे शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य क्या है? एक मत है कि शिक्षा सामाजिक जीवन के लिये तैयारी है—'Education is a preparation for life'—दूसरा विचार है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्वका विकास करना है—The development of personality!

परन्तु यौगिक दृष्टिकोण इन दोनों से भिन्न है। वे दोनों तो मन-प्राण-शरीर रूपी मनुष्य को व्यक्तित्व का स्वरूप मानते हैं। पर इसके लिये आधारभूत वास्तविक सत्ता आत्मा है, व्यक्ति में भी और संसार में भी। आत्मा योग के लिये कोई दार्शनिक कल्पना नहीं, अपितु अनुभव-सिद्ध सत्य है। पश्चिमी विज्ञानके लिये अभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक आत्मा अधिक से अधिक दार्शनिक आवश्यकता है। इस वास्ते शिक्षा-विज्ञान में मानवीय व्यक्तित्व खाली मन, प्राण और शरीर है। परन्तु योगानुभव मन को गौण सत्ता पाता है, उसके लिये सत्य वस्तु आत्मा है, वह शरीर, प्राण और मन तीनों का राजा है। यहां पर कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक और यौगिक दृष्टियों में भेद फिर इतना ही हुआ कि एक आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती अथवा उसके सम्बन्ध में केवल मौन हैं और दूसरी उसको निश्चित रूप में सत्य स्वीकार करती है। व्यावहारिक उपयोगिता के विचार से हम कह सकते हैं कि जब हम आत्मा को जानते नहीं तो उसके मानने न मानने से हमें क्या लाभ-हानि ? पहले तो यही सत्य नहीं कि आत्मा को हम किसी न किसी रूप में नहीं जानते। सामान्य मनोवैज्ञानिक विचारमें भी मानसिक व्यक्तित्व अपनेसे परे का संकेत रखता है। जैसे शरीर की अपेक्षा हम अपने आन्तरिक मन को अधिक 'अपना' अनुभव करते हैं, एक दूसरे भाव में मन को भी हम अपेक्षाकृत बाह्य अनुभव करते हैं क्योंकि हम कहते हैं कि मन भी 'मेरा' है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वह 'मैं' मन के और भीतर की वस्तु है। उसको यदि हम जानते नहीं तो जान सकते जरूर हैं। अतः शिक्षा-विचार को निश्चित ही हमारे व्यक्तित्व के इस अन्तरतम और गम्भीरतम सत्य को स्वीकार करना होगा। इसके बिना शिक्षा का उद्देश्य भी ठीक निश्चित न हो सकेगा। पश्चिमी शिक्षा ने अच्छे-अच्छे मानसिक व्यक्तित्व पैदा किये हैं परन्तु उनमें वह आध्यात्मिक व्यक्तित्व, सुडौलता, सुन्दरता और आनन्द नहीं पाया जाता। केवल बुद्धि के विकास से मनुष्य एक नीरस, यान्त्रिक प्राण-सत्ता बन जाता है। सजग आत्मा बुद्धि को और ही स्वरूप दे देती है।

बच्चों के पालन-पोषण, शिक्षा आदि में यदि इस दृष्टि से व्यवहार किया जावेगा तो धीरे-धीरे वे भी इसी दृष्टि को विकसित करेंगे जिससे उन्हें मानवीय व्यक्तित्व और उसके उद्देश्य के सम्बन्ध में अधिक पूर्ण भाव प्राप्त हो जायगा। अब यदि शिक्षा का उद्देश्य इसी आत्मिक-सत्ता का विकास करना है तो अन्धप्रेरणाओं द्वारा किये गये कामों का अधिक मूल्य नहीं हो सकता। बच्चों में ये प्रेरणायें कुछ खास अवस्था तक ही अनिवार्य सार्थकता रख सकती हैं, उसके बाद तो आत्मा उत्तरोत्तर सजग होता चला जाना चाहिये और व्यक्ति की सब चेष्टायें भी उसी की प्रेरणा से चलनी चाहियें। आत्मा स्वतन्त्र है, सो मनुष्य के व्यवहार का प्रेरक भाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदा इसी आत्मा की स्वतन्त्र प्रेरणा होनी चाहिये। इस आत्म-प्रेरणा को बच्चे में दिनों-दिन विकसित करना ही फिर शिक्षा का असली उद्देश्य हुआ। दूसरी प्रेरणायें धीरे-धीरे पीछे छूटती चली जानी चाहियें। ऐसी अवस्था में मनुष्य इनका दास न बन कर स्वामी बनता चला जायगा।

सीता !

(१)

'ओह, यह तू ने क्या कर दिया !........तेरी जल्दबाजी !! तू ने हद कर दी, आज !'

बहिन प्रशान्ता चाय पीती पीती उठ खड़ी हुई और अपनी साड़ी को इधर-उधर देखने लगी। मेज पर तो सीता के धक्के से एक प्याला उलट ही गया था, परन्तु उनकी साड़ी पर दो-एक जगह पर कुछ छींटे ही पड़े थे। वे उन्होंने तुरन्त धोकर साफ कर दिये। मेज का कपड़ा मैंने उसी क्षण बदल दिया और सब सामान ठीक-ठाक लगा दिया।

प्रशान्ता—अच्छा, आइये नये सिरे से फिर चाय पियेंगी।

मैं—जरूर, परन्तु सीता का व्यवहार भी क्या प्रश्न है ?

वे—क्यों ?

मैं—तुमने बहिन अभी देखा ही ! सीता को मैंने एक चम्मच लाने को कहा था, थोड़ी देर लगी, उसने शायद मुझे सुना नहीं था। मैंने थोड़ा जोर से कहा 'सीता, शीघ्रम् वा' (जल्दी आओ)। तिस पर वह ऐसी दौड़ी आई कि वह यहां पहुंच कर अपने आपको रोक न सकी। परिणाम जो हुआ सो आपको मालूम ही है।

वे—इसमें ऐसे आश्चर्य वाली बात क्या है ? ऐसा हर किसी से ही कभी हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं—ठीक है, परन्तु यह व्यवहार सीता के तो स्वभाव का एक अंग ही है। वह प्रायः सभी कामों में जल्दबाजी मचाती है। इसे रसोई से स्नानघर जाना हो तो दौड़ी दौड़ी जाती है। स्नानघर से इसे मैं बैठक में बुलाऊं तो सपाटे लगाते आती है। जिस दिन यह मेरे पास आई थी मैं जहां पहले पहल एक फुरतीली नौकरानी पा कर प्रसन्न हुई वहां दो घण्टे के अन्दर ही कुछ आशंका भी मानने लगी। नौकर-नौकरानियों के साथ 'शीघ्रम्' शब्द का उपयोग वार वार किया ही जाता है। न किया जाय तो वे घण्टों एक ही काम पर जमे रहें। 'शीघ्रम् वा' 'शीघ्रम् पो' 'शीघ्रम् करो' 'शीघ्रम् धरो' आदि रूपों में नौकरों को चेतावनी से उन्हें सजग और होशियार रखना ही होता है। सीता तत्पर तो थी ही परन्तु मैं अभ्यास-वश फिर भी कभी कभी इन चेतावनी-सूचक शब्दों को प्रयोग कर देती। लेकिन मुझे तुरन्त ही इस के लिए पश्चात्ताप होता। वह आंधी का तूफान बन जाती और मैं डरने लगती कि कहीं यह अपने आप को या किसी और को पटक न दे।

अब तक तो ऐसा कई वार हो चुका है। एक दिन मैं अंगीठी के पास बैठी हुई कुछ चढ़ाने पकाने का काम कर रही थी। उसने देखा आग कम हो रही है कोयले चाहियें। बड़ी तेज़ी से वह उठ कर अन्दर कोयले वाली कोठड़ी की तरफ़ भागी। रास्ते में खूब ठक सी दरवाज़े से टक्कर खाई। फिर अभी हाल में ही एक सज्जन अपना ग्रामोफोन लिवा ले जाने को आये। वे बैठक में खड़े थे। मैंने सीता से कहा 'शीघ्रम् पो, अय्या, ग्रामोफोन कुण्डवा'। उस क्षण मैं भूल ही गई कि सीता के सम्बन्ध में 'शीघ्रम्' का उपयोग अनावश्यक ही नहीं बल्कि उसके प्रति अत्याचार है। वह आज्ञा सुन ऐसे ही दौड़ी हुई पहुंची जैसे आप ने उसे अभी देखा था। आज उसने मेज़ से आ टकराया ही, उस दिन वह उस आगन्तुक महाशय से टक्कर खाते खाते बच गई। उसने पीछे बड़ा लज्जित अनुभव किया, परन्तु उस के दौड़ा-दौड़ी के अभ्यास में कुछ अन्तर दिखने लगा हो सो नहीं। अभी वर्षा के दिन भी वह सामान्य की तरह दालान में इधर उधर आते जाते सपाटे लगा रही थी। मैं दिल ही दिल में कांप रही थी कि यह अब गिरी कि अब। सोचा तो मैंने यह था कि आज भी इसने दौड़ा-दौड़ी मचाई तो इसे शिक्षा मिल जायगी। वह रपटी तो कई वार पर गिरने से बच ही गई।

क्या यह सीता का व्यवहार आश्चर्य की बात नहीं है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

बहिन प्रशान्ता श्रीअरविन्दाश्रम पांडीचेरी की एक साधिका हैं। उनसे मेरा परिचय जब मैं पहली बार यहां आई तभी हो गया था। इनके गम्भीर प्रसन्न-भाव ने मुझे बड़ा प्रभावित किया। अधिक निकट आकर मैंने देखा कि वह मनुष्य के मनोभावों को खूब समझती हैं। हम किन-किन धोखों में अपने आपको भुलाये रखते हैं, यह मुझे इन्होंने समझा ही न दिया, मानो इस सत्य का साक्षात् दर्शन करवा दिया। योग की विधि का भी उनको खूब ज्ञान और अनुभव है। मनुष्य जितना सुखी है उससे अधिक सुखी होना चाहता ही है। मेरा प्रश्न भी अनेक रूपों में यही रहता था। इसके उत्तर में जिस सरलता और सुगमता से वह अभ्यास की शैली और उसके मनोवैज्ञानिक तथ्य को बतलाती वह अनुभव करने की चीज़ है। अब मैं समझती हूँ; पहले तो पता न था, उन के इस बल का रहस्य यह है कि वह अपने अन्दर उस आनन्द को अनुभव करती हैं जो लोग योग से प्राप्त करना चाहा करते हैं। वह आनन्द उन्हें प्राप्त है और उसे वह अपनी सत्ता के प्रभाव से दूसरों तक भी पहुंचा देती हैं। इसी से ही उन का बतलाना और समझाना इतना सरस होता है।

प्रशान्ता जी कई वर्ष हुवे आश्रम में आईं और फिर वहीं रह गईं। उन्हें सामान्य बन्धन कुछ रोक न सके। उन का घर का नाम प्रेमकली था, परन्तु आश्रम में इसे शायद दो चार ही जानते हों।

मैं पहले पहल आश्रम कुछ ऐसे ही पहुंच गई। योग को मैं हमेशा ही एक हौआ समझती रही, किसी योगाश्रम में जाना, वास्तव में, मेरे लिये कभी लक्ष्य न हो सकता था। बात यह थी कि हम, सारा कुटुम्ब ही, दक्षिण की यात्रा कर रहे थे। कन्याकुमारी के प्राकृतिक दृश्य से आनन्दित हुवे लौट रहे थे। अवकाश अभी हमारे पास था और श्रीअरविन्द और पांडिचेरी का नाम सुना हुआ ही था, वहां का भी दो-चार दिन का प्रोग्राम बना लिया। शायद कुतूहल ही प्रेरक भाव था। या कुछ गहराई में यह अहंकार ही हो कि वापिस घर लौट लोगों से कह सकेंगे कि हम श्रीअरविन्द का पांडिचेरी वाला आश्रम भी देख आये हैं।

जैसे भी हुआ हम वहां पहुंच गये और दो-चार दिन ठहरने के विचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से एक मकान में जम-जमा गये। फिर आश्रम की हवा खाने लगे। कुछ अच्छा लगा। पता नहीं क्या अच्छा लगा, पर अधिक ठहरने की इच्छा हुई। चार दिन से हम सप्ताह भर रुक गये और चलते समय यह इच्छा थी कि फिर भी यहां आयेंगे। परिणामस्वरूप हम हर वर्ष ही वहां जाकर कुछ समय बिताने लगे।

योग, जो मेरे लिये हौवा था, अब आनन्द के अभ्यास का नाम बन गया। जहां पहले मैं इसे कुछ असाधारण रूप से तपस्वी पुरुषों को धुन मानती थी वहाँ अब मैं इसे स्त्री, पुरुष और बच्चों के लिये बराबर जीवन-विकास का क्रम मानने लगी। योग साधने के लिये घर-बार छोड़ने की जरूरत है यह बिल्कुल ही मिथ्या मालूम देने लगा। और योग में प्रवृत्त होने से पुरुष स्त्री-बच्चों को छोड़ देते हैं, इस व्यर्थ के भय को भी मैं लांघ चुकी थी। योग इन वाह्य स्वरूपों को अदलना बदलना बेशक आवश्यक नहीं मानता, परन्तु अन्दर की भावना को समूल बदला हुआ चाहता है। एक तरह से यह श्रीअरविन्द की शैली सरल थी, पर दूसरी तरफ से पूरी टेढ़ी खीर। वह एक गम्भीर आनन्दमयी चेतना को जन्म देना चाहता है और उसका उद्देश्य मनुष्यमात्र के अन्दर उस चेतना को पैदा करना है। यानी सारे जीवन के क्षेत्र को परिवर्तित या, जैसे परिभाषा है, रूपान्तरित कर देना है। इन विचारों और भावनाओं ने मेरा सारा संसार औंधा सीधा कर दिया। मैं चकाचौंध सी हो गई। पर वह सब बड़ा प्यारा लगता था। वह योग का हौवा अब कहीं ढूंढने पर भी न दीखता था।

अब उत्तर भारत की हिन्दी और दक्षिण भारत की तामिल में जो भेद है वह नापना आसान नहीं। तामिल भाषा संस्कृत जैसी भारतवर्ष की प्राचीनतम भाषा है। देहली से मद्रास जाते हुए हैदराबाद रियासत से ही आदमी एक नयी, न समझ में आने वाली, बोली सुनने लगता है। पर वह होती है तेलगू। फिर बेजवाड़ा से कुछ आगे से तामिल शुरू हो जाती है। मैं इन भाषाओं की ध्वनियों को गाड़ी में खूब ध्यान से सुनने लगी। और जब मैंने तामिल के कड़कड़ाते प्रवाह में 'शीघ्रम' शब्द को पकड़ पाया था तो जिस आनन्द का अनुभव किया वह बतलाना कठिन है। मानो मैंने अनुभव किया था कि तामिल भी मैं कुछ तो समझ सकती हूँ। उस शब्द का मैंने तुरन्त ही प्रयोग भी शुरू कर दिया। जरूरत हो न हो सब बात हिन्दी व अंग्रेजी में कह कर साथ 'शीघ्रम' की तामिल पुट लगा देती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मद्रास उतर कर तो मैंने इस शब्द का बड़ा सार्थक प्रयोग किया। कुलियों से कहा 'शीघ्रम् उठाओ' और गाड़ी वाले से खूब ही कहा 'शीघ्रम् चलो'। परन्तु इसका पेट-भर प्रयोग तो पांडिचेरी में रहते हुए ही किया। नौकर-नौकरानियों से काम लेने में इस शब्द को खूब ही बरता। वास्तव में बड़ी निर्दयता से। प....र....न्तु जब से सीता आई लेने के देने पड़ गये। इसने मुझे आते ही डरा दिया। मैं संभल कर रहने लगी, कहीं शीघ्रम् न मुंह से निकल जाय। सीता मुझ से पूरे प्रायश्चित्त की तपस्या करवाने लगी। मानो दूसरे नौकर-नौकरानियों की प्रतिनिधि बन कर शीघ्रम् के दुरुपयोग का बदला चुकाने लगी।

थी न यह कैसी अनोखी नौकरानी ?

(३)

हुं! यह आतुरता, यह जल्दबाजी सीता के तो स्वभाव का अङ्ग ही है। यह मेज के साथ टक्कर खाकर चाय को उलट देना कोई अचानक अकेली घटना नहीं—प्रशान्ता जी गम्भीर भाव में सोचती हुई सी बोलीं।

मैं ने कहा बिल्कुल भी नहीं।

निश्चय, व्यवहार का एक आश्चर्यजनक सुन्दर दृष्टान्त है।

बहिन, यह ऐसा क्यों करती है। यह इस जल्दबाजी से काम बिगाड़ती अधिक है संवारती कम। मैं इससे इस आकुल तत्परता के कारण निश्चित ही खुश नहीं हूँ। मैं सोच इसमें हूँ कि यह इस प्रकार का निरर्थक व्यवहार करती क्यों है ? क्या यह देखती नहीं कि यह जल्दबाजी व्यर्थ है ?

अह, क्या यह इतना सरल है, बहिन ! वे बड़े विशाल और गहरे भाव में बोलीं। इन निरर्थक बातों का हमें आसानी से पता ही कहां चलता है और न ही पता लग जाने पर वे तुरन्त छूट ही जाती हैं। मनुष्य-प्रकृति एक अद्भुत रचना है। पशुओं के जीवन में सरल स्वाभाविकता होती है। देवताओं के जीवन में भी हम उस गुण को मानते हैं, यद्यपि एक में अचेत रूप से और दूसरे में सचेत और ज्ञानपूर्वक। मनुष्य-जीवन संकट और विरोध का क्षेत्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम ऐसे पशु हैं जो देवता बनने की सम्भावना रखते हैं। बस इसी से हम लड़खड़ाते हैं, गिरते हैं, उठते हैं। हमारे व्यवहार की मजेदार उलझनें सब इसी से पैदा होती हैं।

'हुं ! बड़ी गूढ़-सी बात है ! अच्छा, यहां सीता के व्यवहार में कौन-सी उलझन है, क्या लड़खड़ाहट है ?'

कोई एक ही कारण तो थोड़े हो सकता है। शायद आपको खुश करने को ही वह काम जल्दी से करना चाहती हो। परन्तु बुद्धिपूर्वक नहीं, बल्कि एक अन्धप्रेरणा के रूप में। अथवा आज्ञा प्राप्त कर दौड़ने की वृत्ति वर्तमान रूप में एक अर्ध-चेतन यान्त्रिक-सी चेष्टा बन गई हो। इसमें पुष्टिकारक भाव यह लोकमत—कि वह नौकर अच्छा है जो जल्दी काम करे—भी होगा ही।

'जहां इतने उत्तर हों वहां कहना तो यही पड़ेगा कि अभी हमें बात का ठीक पता नहीं'।

पर क्या आप ठीक उत्तर के ढूंढने में आनन्द नहीं मानती हैं ? क्यों तुरन्त कोई निश्चित उत्तर ही मिलना चाहिये—उन्हों ने बड़े बल और आग्रह से कहा।

वास्तव में बिना उतावली मचाये किसी काम में लगे रहने से हम जिस विकासमयी सफलता को अनुभव करते हैं वह बड़े आनन्द की चीज है। हम सफलता को घटना करके मान लेते हैं। वास्तव में वह है क्रम का नाम। स्थिति, इसी कारण, हमें गति से ज्यादह रुचिकर होती है। परन्तु सफलता के स्वरूप को ठीक जान लेने पर हम गति में स्थिति का आनन्द ले सकते हैं। यह वास्तव में अपूर्व सौन्दर्य की अवस्था है।

मैं ने आश्चर्य में कहा—आप भी बड़े मजे की नयी नयी बातें बताती हैं। गति में स्थिति का आनन्द ! अच्छा, इसे तो इस समय रहने दीजिये। सीता के व्यवहार में और क्या बात हो सकती है ?

वे बोलीं जो वास्तव में सब से अधिक मौलिक प्रेरक-भाव इस व्यवहार में हो सकता है वह शायद और ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन के धोखे बड़े विचित्र होते हैं। आपने देख ही रखा है कि मौके मौके पर हम अपने आपको जो धोखा देते हैं वह दूसरा क्या कोई दे सकेगा। वे धोखे सामान्यतया अवचेतन होते हैं। जब कोई भारी काम सामने दीखता है तो कई बार हम महसूस करने लगते हैं कि आज तो कुछ तबीयत ही खराब है। हो सकता है, सीता एक दूसरी प्रकार की आत्म-प्रवंचना से ठगी जा रही हो। वह यह कि मानो सीता उस अनावश्यक अति-चेष्टा से अपने अन्दर एक सन्तोष अनुभव करती हो कि वह बड़ी अच्छी सेविका है।

'बड़ी अद्भुत बात है! आपका यह मतलब हुआ........कि........मानो वह अपनी शरीर की थकान से अनुभव करना चाहती है कि उसने कितना काम कर डाला?'

'हां, ठीक यही। एक और बात आपके अनुभव में जरूर आई होगी। कई स्त्रियां सवेरे उठते ही घर में बड़ी दौड़-धूप मचाती हैं। फिर दो घण्टे में थक कर चारपाई पर पड़ कर ठण्डी सांस लेती हैं—'अह, सवेरे से काम में लगी हुई थी, थक गई'। वैसे काम की दृष्टि से उन्होंने कुछ नहीं किया, न कुछ करने की आवश्यकता ही थी।'

'हां! हां! यह देखा तो है। परन्तु इस दृष्टि से न देखा था।'

'कभी कभी ऐसा भी शायद देखा हो, कोई स्त्री शाम तक खाली बैठी रही। उसे कुछ पश्चात्ताप होने लगता है कि आज कुछ काम तो किया ही नहीं। फिर एक झटके से वह उठ खड़ी होती है। कुछ झाड़-फूंक! कुछ ट्रंकों की अदला-बदली! एकदम घर में तेज दौड़धूप होने लगती है। नौकर भी जुटा दिये जाते हैं।

'घण्टे दो घण्टे के परिश्रम के बाद वह देवी श्रान्त हो प्रसन्नता से पूर्ण फिर आराम लेने को बैठ जाती हैं।

'अह; दिन निष्फल तो नहीं गया!

भला सीता क्यों घोर परिश्रम से अपने जीवन को सार्थक न बनाए?'

—इन्द्रसेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति की पुकार

'अदिति' की चार पुस्तिकाएं आध्यात्मिक जगत् के सम्मुख उपस्थित हो चुकी हैं। उन के साथ इस का पहला वर्ष समाप्त होता है। यह पांचवी पुस्तिका है। और इस के साथ यह दूसरे वर्ष में पदार्पण करती है।

'अदिति' जीवन और संसार के संबन्ध में एक निश्चित दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है। वह दृष्टिकोण योगिराज श्रीअरविन्द का अध्यात्म अनुभव है। उस अनुभव की सत्ता 'अदिति' के दृष्टिकोण का बल है। उस अनुभव में मनुष्यमात्र का उज्ज्वल और तेजोमय भविष्य निहित है। उस उद्देश्य को बतलाना, वास्तव में उसे प्राप्त करने का रास्ता दिखलाना श्रीअरविन्द का संदेश है। उसी को सर्व सामान्य जिज्ञासुओं के लिये उपस्थित करना 'अदिति' का लक्ष्य है।

आज पश्चिम में अनेक दिशाओं से बुद्धिवाद का खण्डन होता दिखाई देता है। बरगसां (Bergson) बुद्धि (intellect) को बाह्य-जगत् के सम्बन्ध में व्यवहार करने के लिये एक क्रियात्मक साधन बतलाता है। सत्ता वास्तव में एक अन्तर्दृष्टि के साक्षात् अनुभव (intuition) से जानी जा सकती है। वर्तमान भौतिक-शास्त्र के प्रगाढ़ पण्डित आईनस्टाईन (Einstein) का कहना है कि वैज्ञानिक विधि (Scientific Method) से सत्ता के प्रत्यक्ष स्वरूप को ही जाना जा सकता है, न कि उस के आन्तरिक मर्म को। अभी हाल में एक सुन्दर छोटी-सी पुस्तक 'पेलीकन सीरीज़' में देखने में आई। उस का नाम है Beyond the isms (वादों से परे)। बड़ा सुन्दर नाम है। उस में विद्वान् लेखक बड़े बलपूर्वक दर्शाता है कि वर्तमान संसार के कोटि दुःखों को दूर करने का दावा करते हुए आज वादों पर वाद उपस्थित होते चले जाते हैं। परन्तु वे सब अपनी-अपनी बोलियां बोल, कुछ दिन चहचहा, चल बसते हैं। पहले विरोधों और संकटों को दूर करते करते दो चार और नये विरोध संसार को अपने दे जाते हैं। इस प्रकार जीवन संकटमय से अधिक संकटमय बनता चला जाता है। ये सब, लेखक महोदय का कहना है, बुद्धि की उपज हैं। ये इस कारण से आंशिक और एकाङ्गी हैं। बुद्धि के हल सदा ऐसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही होंगे। वास्तव में आत्मा ही एक सत्ता है जो अपने अन्दर जीवन की अन्य सब गतियों को एक समन्वय में ला सकती है। अतः हमें आत्मा के विचार तक उठना होगा। वहां पर ही हमारे सब कष्टों का यथार्थ हल मिलेगा।

जहां यह सब विचार बड़ा सुन्दर है वहां यह भी प्रत्यक्ष ही है कि विचारक विचार और बुद्धि के अन्दर ही घूमता-फिरता उन की सीमा को अनुभव कर रहा है। वास्तव में आवश्यकता उस आत्म-सत्य को हृदयंगम करने की है। ठीक यही बात श्रीअरविन्द ने अपने जीवन-प्रभात में अनुभव की थी और उसे ही आज वे अधिकृत सत्य के रूप में उपस्थित करते हैं। वही चरितार्थ आध्यात्मिक जीवन का हल संसार की आशा है। श्रीअरविन्द की यही आज चेतावनी है। यही उत्साही पुरुषों को आज उन की चुनौती है।

इस हल का महा-साधन है योग। श्रीअरविन्द के लिये जीवन और सत्ता-मात्र योगमय हैं। All life is yoga। प्रकृति ने विकास में उत्तरोत्तर महत्तर और अधिक बलवती चेतना को पैदा किया है। यह उस की योग-क्रिया है। परन्तु मनुष्य में वह योग सचेत क्रिया बन जाती है। उस से विकास की गति तेज़ हो सकती है। मनुष्य प्रकृति और सत्ता का सचेत सहयोगी बन सकता है। ऐसा बनने के लिये ही आज श्रीअरविन्द का आवाहन है। उन की पुकार है "ओ मनुष्य, तू अपनी सत्ता के मर्म को समझ, तू आत्मा को पहिचान। शरीर, प्राण और मन तेरी सच्ची सत्ता नहीं हैं। आत्मा तेरा केन्द्र है, वहां स्थित होने से तू अपने सभी अंगों को यथार्थ रूप से अधिकृत करेगा। मनुष्य, तू इस स्वर्णमय अपने भविष्य को चरितार्थ कर। यह तुझे प्राप्तव्य है, पूरी तरह से प्राप्य भी है"।

यह योगिराज श्रीअरविन्द की पुकार व्यक्ति को है तथा एकसमान समाज को भी। हमारे सामाजिक दुःख आज उग्र रूप धारण किये हुए हैं। इन दुःखों को दूर करने के उपाय हमारे अनेक 'वाद' (isms) हैं। परन्तु वाद अपने स्वरूप से ही आंशिक और आंगिक चीज़ हैं। वे विरोध और संकट से जन्म पाते हैं और संघर्ष से बढ़ते तथा शक्तिशाली बनते हैं। वे सम्पूर्णता और समतुलन भला कैसे पैदा कर सकते हैं? वे तो बुद्धि में अपना अस्तित्व रखते हैं। परन्तु आत्मा ही वह विशाल और गम्भीर आधार है जो संपूर्ण व्यक्तित्व तथा सत्ता को अधिकृत करता है। इस वास्ते श्रीअरविन्द की पुकार है आत्म-जीवन चरितार्थ करो। यही हमारे सब प्रश्नों,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैयक्तिक तथा सामाजिक का यथार्थ हल है। अन्य हमारे सब हल अधूरे हैं, अध-कचरे हैं, समझौते से हैं। इन सब प्रश्नों का सच्चा हल ढूंढने वाले वीरों का रास्ता आत्म-विजय है। यह आत्म-विजय संसारभगोड़ों को प्राप्त नहीं हो सकती। उपनिषद् का ही प्रसिद्ध कथन है—नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

श्रीअरविन्द की यह पुकार वास्तव में हमारी, अन्दर से, अपनी आत्मा की पुकार है, संपूर्ण सत्ता-स्वयं की पुकार है। इस को सुनना और इस का अनुकरण करना 'जीवन' की पहली शर्त है। यही सच्चा पुरुषार्थ भी है।

श्रीअरविन्द के सुन्दर शब्द हैं—"The ascent to the divine life is the human journey, the work of works, the acceptable Sacrifice. This alone is man's real business in the world and the justification of his existence,........" "दिव्य जीवन को पाने के लिये आरोहण करना, यही है मनुष्य की यात्रा, कार्यों का कार्य, उसका वरणीय यज्ञ। एकमात्र यही मनुष्य का संसार में असली काज है, इसी में ही उस की सत्ता की सार्थकता है।"

यह है मनुष्य-जीवन की सच्ची यात्रा। इस यात्रा के हम सच्चे यात्री बन सकें यही हमारी अभीप्सा है। और यदि 'अदिति' इस में सहायक बन रही है तो यह जरूर अपने उद्देश्य को किसी अंश में पूरा कर रही है।

—इन्द्रसेन

नोटः—'अदिति' के पुराने अंकों की मांग हमारे पास बार बार की जा रही है। हमें दुःख है जितनी प्रतियां छापी गई थीं वे सब खर्च हो जाने के कारण हम इस मांग को पूरा नहीं कर सकते, यद्यपि हम प्रयत्न कर रहे हैं कि जो जो सज्जन अपनी प्रतियां सहर्ष अन्य जिज्ञासु पाठक के काम के लिए दे सकते हों वे उन से लेकर आगे पहुंचा दी जाँय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखकों का परिचय *

श्री 'सुन्दरम्' जी—आप गुजराती भाषा के अर्वाचीन अग्रगण्य कवियों में से हैं। साहित्य के क्षेत्र में इन का और भी बहुत सा कार्य है। इन की कहानियां (Short stories) काफ़ी लोकप्रिय हुई हैं। गुजराती कविता के विवेचन में भी इन का कार्य महत्त्व का स्थान रखता है। आप गांधी जी के गुजरात विद्यापीठ के स्नातक हैं और राष्ट्रीय कार्यों में अपना पूरा भाग लेते रहे हैं। पिछले तीन चार वर्षों से श्रीअरविन्द के कार्य ने इन को आकृष्ट किया है और अब ये श्रीअरविन्द के तत्त्वज्ञानसम्बन्धी तथा उन के अन्य कार्य के सम्बन्ध में अपने को यथाशक्ति और सोत्साह प्रवृत्त कर रहे हैं।

श्री वेदव्रत जी वेदालंकार—आप गुरुकुल के एक सुशील होनहार स्नातक थे। स्नातक होने के बाद से ही आप को योग की धुन होगयी थी, इस लिये आप अन्य किसी काम में न प्रवृत्त होकर तभी से यथाशक्ति योगसाधन में लग गये थे। इस के दो वर्ष बाद आप पांडिचेरी आश्रम में स्थिर साधक हो गये। विद्यार्थीपन से ही आप को कविता का शौक था और आप की कविता पसंद की जाती थी। इस पत्रिका का 'अदिति' नाम इन्हीं का ही सुझाया हुवा था जिसे कि श्रीअरविन्द ने सब से अधिक पसन्द किया था। पर खेद है कि अदिति का प्रकाशन होने से पूर्व ही, १६४२ के नवम्बर दर्शन के उपरान्त इन्होंने अपना देह त्याग दिया।

श्री मदनगोपाल जी गाड़ोदिया—श्री मदनगोपाल जी का नाम हिन्दी-संसार के लिये बिलकुल अपरिचित नहीं है। बहुत पहले विश्वमित्र, भारतमित्र आदि पत्रों में आप के लेख प्रायः छपा करते थे और इधर ७–८ वर्षों से तो आप श्रीअरविन्द-साहित्य को हिन्दीभाषाभाषी जनता के लिये सुलभ बनाने का अथक परिश्रम कर रहे हैं। आपने श्रीअरविन्द की कई पुस्तकों का अनुवाद किया है जो श्रीअरविन्द-ग्रन्थमाला के द्वारा प्रकाशित हुई हैं। आप मुजफ्फरपुर (विहार) के रहने वाले एक मारवाड़ी हैं और व्यापार ही प्रायः आप का प्रधान धन्धा रहा है। परन्तु सन् १६३६ से आप व्यापार बन्द करके श्रीअरविन्द-आश्रम में स्थायी रूप से रहते हैं।

* हम हर वार जिन लेखकों का पहली वार लेख प्राप्त किया करते हैं, उन का परिचय देते हैं। इस वार के हमारे नये लेखक यही हैं।

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य

श्रीअरविन्द और उनका योग	।।=)
योगप्रदीप	।।।)
इस जगत् की पहेली	१)
माता	।।।)
योग के आधार	२।)
हमारा योग और उसके उद्देश्य	।।)
गीताप्रबन्ध (प्रथम भाग)	४।)
जगन्नाथ का रथ	।।)
उत्तरपाड़ा अभिभाषण	।)
मातृवाणी	२।)
पांडिचेरी के परमहंस	।)

इसके अतिरिक्त श्रीअरविन्द की अङ्गरेजी, बंगला, गुजराती, तामिल, तेलगु आदि भाषाओं की सब पुस्तकें भी यहां से मिल सकती हैं।

श्रीअरविन्द निकेतन

कनाट सर्कस, डाक पेटी ८५, नई देहली।

प्रकाशक और मुद्रक श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर, मालिक एस. एन. संडर्सन एण्ड कंपनी।

अदिति मुद्रणालय देहली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

छठी कला

श्री अरविन्द-दर्शन के उपलक्ष में

LIBRARY,
GURUKULA KANGRI.

13-5-58

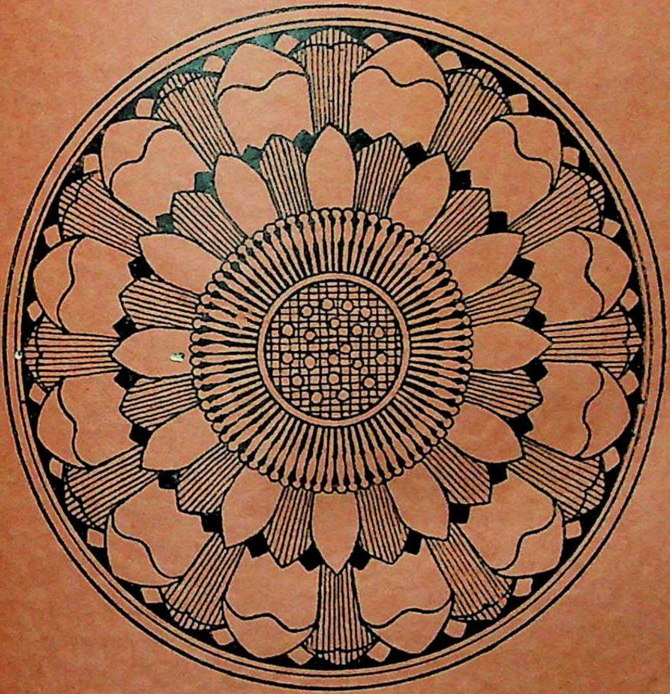

अनागसो अदितये स्याम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

छठी कला

२४ एप्रिल १६४४ के श्रीअरविन्द-दर्शन के उपलक्ष में

LIBRARY,
GURUKULA KANGRI.

डा० इन्द्रसेन द्वारा संकलित तथा सम्पादित

प्रकाशक
एस० एन० सण्डर्सन एण्ड कम्पनी
श्रीअरविन्द निकेतन, नई देहली।

एक पुस्तिका का मूल्य १।)
वर्षभर की चार पुस्तिकाओं का मूल्य ५)

मुद्रकः—टी० एन० दुत्तल, फेडूल ट्रेड प्रेस, नई देहली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

मातृवचनामृत—

प्रार्थना व ध्यान ५

श्रीअरविन्द-वाणी—

१—वैदिक सूक्त-सुधा

(२) इन्द्र, दिव्य प्रकाश का प्रदाता ७

२—कर्मयोगी

(२) कर्मयोग १८

३—वर्तमान युद्ध के विषयमें २३

नये वर्ष की दीक्षा ... श्री नलिनीकान्त जी २८

वसन्त (कविता) ... श्री जगन्नाथप्रसाद जी ३३

दृष्टि-मिलन ... श्री लीलावती जी ३४

पूर्णयोग-विचार ... श्री शुद्धानन्द जी ३७

God (अनुवाद सहित) ५३

मेरा जीवन .... 'कश्चित्' ५४

तेरा ज्ञान कितना सुन्दर और मधुर है, मां! .... डा० इन्द्रसेन जी ५८

आध्यात्मिक योद्धा (कविता) .... श्री नारायणप्रसाद जी ६०

आत्मा का अस्तित्व ... डा० इन्द्रसेन जी ६१

लेखकों का परिचय ... ,, ६४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मातृवचनामृत—

प्रार्थना व ध्यान

हे प्रभु ! मुझे प्रकाश दे, ऐसा कर दे कि मैं कभी कोई भूल न करूं। मैं जिस असीम मान, जिस परम भक्ति, जिस प्रबल और गम्भीर प्रेम के साथ तेरे समीप आ रही हूँ वे सब किरणजाल फैलाने वाले, विश्वास उत्पन्न कराने वाले तथा संक्रामक हों और सब के हृदय में उत्पन्न हों।

हे भगवान् ! हे शाश्वत स्वामी ! तू ही मेरी ज्योति है और तू ही मेरी शान्ति है; मेरे पैरों को पथ दिखा, मेरी आंखों को खोल दे, मेरे हृदय को आलोकित कर दे तथा मुझे उन मार्गों पर ले चल जो सीधे तेरी ओर ले जाते हैं।

भगवान् ! हे भगवान् ! ऐसी कृपा कर कि तेरी इच्छा के सिवा मेरी दूसरी कोई इच्छा न हो और मेरे सभी कार्य तेरे दिव्य विधान को ही अभिव्यक्त करनेवाले हों।

एक महान् ज्योति मानो मुझे एकदम नहला रही है और अब मुझे एकमात्र तेरा ही ज्ञान है............

शान्ति, शान्ति, समस्त पृथ्वी पर शान्ति !!

१२ दिसम्बर १९१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

हे भगवान् ! हे शाश्वत गुरु ! ओ तू, जिसे न तो हम कोई नाम दे सकते हैं और न जिसे जान ही सकते हैं, पर जिसे हम प्रत्येक मुहूर्त्त अधिकाधिक प्राप्त करना चाहते हैं, आलोकित कर हमारी बुद्धि को, उद्‌भासित कर हमारे हृदय को, रूपान्तरित कर हमारी चेतना को; ऐसी कृपा कर कि प्रत्येक मनुष्य अपने सच्चे जीवनके प्रति जागृत हो, तेरे दिव्य और विशुद्ध प्रेम के अन्दर—उस प्रेम के अन्दर जो समस्त शान्ति और समस्त सुख का मूल है—आश्रय ग्रहण करने के लिये वह अपने अहंकार और उसके अनुगत दुःख-दर्द से दूर हटे। तुझ से परिपूर्ण मेरा हृदय अनंत तक फैलता हुआ प्रतीत हो रहा है और तेरी उपस्थिति से उद्‌भासित मेरी बुद्धि स्वच्छतम हीरे की तरह चमक रही है। तू अद्‌भुत जादूगर है, ऐसा जादूगर है जो प्रत्येक वस्तु को रूपान्तरित करता है, जो असौंदर्य के अन्दर से सौंदर्य को, अन्धकार के अन्दर से ज्योति को, कीचड़ के अन्दर से निर्मल जल को, अज्ञान के अन्दर से ज्ञान को और अहंकार के अन्दर से दयालुता को उत्पन्न करता है।

तेरे अन्दर, तेरे द्वारा, तेरे लिये ही हम जीते हैं और तेरा विधान ही हमारे जीवन का सर्वोपरि स्वामी है।

सर्वत्र तेरी इच्छा पूरी हो, सारी पृथ्वी पर तेरी शान्ति का राज्य हो।

१६ मार्च १९१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्दवाणी—

वैदिक सूक्त-सुधा

(२)

इन्द्र, दिव्य प्रकाश का प्रदाता

ऋग्वेद १-४

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ १ ॥

[सुरूपकृत्नुम्] जो पूर्ण रूपों का निर्माता है [गोदुहे सुदुघामिव] और जो गोदोहक के लिये एक खूब दूध देनेवाली गौ के समान है उस (इन्द्र) को [ऊतये] वृद्धि के लिये [द्यवि द्यवि जुहूमसि] दिन प्रतिदिन हम पुकारते हैं ॥ १ ॥

उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब । गोदा इद्रेवतो मदः ॥ २ ॥

[नः सवना उप आगहि] हमारी सोम-रस की हवियों के पास आ। [सोमपाः] हे सोम-रसों के पीने वाले ! [सोमस्य पिब] तू सोमरस का पान कर; [रेवतःमदः] तेरे दिव्य आनन्द का मद [गोदाः इत्] सचमुच प्रकाश को देने वाला है ॥ २ ॥

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् । मा नो अति ख्य आ गहि ॥ ३ ॥

[अथ] तब अर्थात् तेरे सोम-पान के पश्चात् [ते अन्तमानां सुमतीनाम्] तेरे चरम सुविचारों में से कुछ को [विद्याम] हम जान पायें। [मा नः अति ख्यः] उनको हमें अतिक्रमण करके मत दर्शा, [आगहि] आ ॥ ३ ॥

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् । यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥ ४ ॥

[परेहि] आ जा, [इन्द्रं पृच्छ] उस इन्द्रसे प्रश्न कर [विपश्चितम्] जो स्पष्ट-द्रष्टा मन वाला है [विग्रम्] जो बड़ा शक्तिशाली है [अस्तृतम्] जो अपराभूत है, [यः ते सखिभ्यः] जो तेरे सखाओं के लिये [वरम् आ] उच्चतर सुख को लाया है ॥ ४ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत । दधाना इन्द्र इद् दुवः ॥ ५ ॥

[उत निदः नः ब्रुवन्तु] और हमारे अवरोधक [1] भी हमें कहें कि "नहीं, [इन्द्रे इत् दुवः दधानाः] इन्द्र में अपनी क्रियाशीलता को निहित करते हुए तुम [अन्यतः चित् निः आरत] अन्य क्षेत्रों में भी निकल कर आगे बढ़ते जाओ" ॥ ५ ॥

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः । स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ६ ॥

[उत] और [दस्म] हे कार्यसाधक ! [अरिः] योद्धा [कृष्टयः] कर्मके कर्ता [2] [नः सुभगान् वोचेयुः] हमें पूर्ण सौभाग्यशाली कहें; [इन्द्रस्य शर्मणि इत् स्याम] हम इन्द्र की शान्ति में ही रहें ॥ ६ ॥

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम् । पतयन्मन्दयत्सखम् ॥ ७ ॥

[आशवे] तीव्रता के लिये [आशुम्] तीव्र को (ला), [मन्दयत्सखम्] अपने सखा को आनन्दित करने वाले (इन्द्र) को [पतयत्] मार्ग में आगे ले आता हुआ, तू [ईम् नृमादनं यज्ञश्रियम् आभर] इस यज्ञश्री को ले आ जो कि मनुष्य को मदयुक्त कर देने वाली है ॥ ७ ॥

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः । प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥ ८ ॥

[अस्य पीत्वा] इस (सोम-रस) का पान करके [शतक्रतो] हे सैंकड़ों क्रियाओं

---

१. या निन्दक, 'निदः'। 'निद्' धातु, मेरा विचार है, वेद में बन्धन, घेरा, सीमा के अर्थ में आई है, और इसके ये अर्थ होते हैं यह बात पूर्ण निश्चयात्मकता के साथ भाषाविज्ञान द्वारा भी प्रमाणित की जा सकती है। 'निदित', 'निदान' शब्दों का भी, जिनका अर्थ क्रमशः, बद्ध और बन्धनरज्जु है, आधार यही धातु है। पर साथ ही इस धातु का अर्थ निन्दा करना भी है। गुह्य कथन की इस अद्भुत शैली के अनुसार विभिन्न सन्दर्भों में कहीं एक अर्थ प्रधानभूत होकर रहता है कहीं दूसरा, पर कहीं भी एक अर्थ दूसरे अर्थ का पूर्ण बहिष्कार नहीं कर रहा होता।

२. 'अरिः कृष्टयः' का अनुवाद "आर्य लोग" या "रणप्रिय जातियाँ" भी हो सकता है। 'कृष्टि' और 'चर्षणि' जिनका अर्थ सायण ने "मनुष्य" किया है, बने हैं 'कृष्' तथा 'चर्ष्', धातु से जिनका मूलतः अर्थ होता है 'श्रम, प्रयत्न या श्रमसाध्य कर्म'। इन शब्दों का अर्थ कहीं-कहीं 'वैदिक कर्म का कर्ता' और कहीं स्वयं 'कर्म' भी हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

76321

वाले ! [वृत्राणां घनः अभवः] तू आवरणकर्ताओं का वध कर डालने वाला हो गया है, और तूने [वाजिनम्] समृद्ध मन को [वाजेषु] उसकी समृद्धियों में [प्र आवः] रक्षित किया है ॥ ८ ॥

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो । धनानामिन्द्र सातये ॥ ९ ॥

[वाजेषु वाजिनं तं त्वा] अपनी समृद्धियों में समृद्ध हुवे उस तुझको [इन्द्र शतक्रतो] हे इन्द्र ! हे सैंकड़ों क्रियाओं वाले ! [धनानां सातये] अपने प्राप्त ऐश्वर्यों के सुरक्षित उपभोग के लिये [वाजयामः] हम और अधिक समृद्ध करते हैं ॥ ९ ॥

यो रायो ऽवनिर्महान्त् सुपारः सुन्वतः सखा । तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १० ॥

[यः महान् रायः अवनिः] जो अपने विशाल रूप में एक दिव्य सुख का धाम है, [सुन्वतः सुपारः सखा] सोम-प्रदाता का ऐसा सखा है कि उसे सुरक्षित रूप से पार कर देता है, [तस्मै इन्द्राय गायत] उस इन्द्र के प्रति गान करो ॥ १० ॥

सायण की व्याख्या

१. [सुरूपकृत्नुम्] शोभन रूप (वाले कर्मों) के कर्ता, इन्द्र को [ऊतये] अपनी रक्षा के लिये [द्यवि द्यवि] प्रतिदिन [जुहूमसि] हम बुलाते हैं, [गोदुहे सुदुघाम् इव] जैसे गोदोहक के लिये सुष्ठुदोग्ध्री गाय को (कोई बुलाया करता है)।

२. [सोमपाः] हे सोम-पान करने वाले इन्द्र ! [नः सवना उप आगहि] तू हमारे (तीन) सवनों में आ, और [सोमस्य पिब] सोम को पी; [रेवतः मदः] तुझ धनवान् की प्रसन्नता [गोदाः इत्] सचमुच गौओं को देने वाली है अर्थात् जब तू हम से प्रसन्न हो जाता है तब निश्चय ही हमें बहुत सी गौएं देता है।

३. [अथ] उस तेरे सोम-पान के अनन्तर [ते अन्तमानां सुमतीनाम्] जो तेरे अत्यन्त समीप हैं ऐसे सुमतियुक्त पुरुषों के मध्य में (स्थित होकर) [विद्याम] हम तुझे जान लेवें। [नः अति मा ख्यः] तू हमें अतिक्रमण करके (अन्यों को अपने स्वरूप का) कथन मत कर, (किन्तु) [आगहि] हमारे पास ही आ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. होता यजमान से कहता है कि हे यजमान! [परेहि] तू इन्द्र के पास जा और जाकर [इन्द्रम्] उस इन्द्र से [विपश्चितम्] मुझ बुद्धिमान् होता के विषय में [पृच्छ] पूछ (कि मैंने उसकी सम्यक् प्रकार से स्तुति की है वा नहीं), उस इन्द्र से जो कि [विप्रम्] मेधावी है [अस्तृतम्] अहिंसित है और [यः ते सखिभ्यः] जो तेरे सखा (ऋत्विजों) को [वरम्] श्रेष्ठ धन [आप्रयच्छति]* सब तरफ से प्रदान करता है।

५. [नः] हमारे (अर्थात् हमारे ऋत्विज) [ब्रुवन्तु] कहें (अर्थात् इन्द्र की स्तुति करें),—[उत] और साथ ही [निदः] ओ निन्दा करने वाले पुरुषो! तुम (यहां से) तथा [अन्यतः चित्] अन्य स्थान से भी [निःआरत] बाहर निकल जाओ,—(हमारे ऋत्विज) [इन्द्रे इत् दुवःदधानाः] इन्द्र की सदैव परिचर्या करने वाले हों।

६. [दस्म] हे (शत्रुओं के) विनाशक! [अरिः उत] हमारे शत्रु तक [नः सुभगान् वोचेयुः] हमें शोभन धनों का मालिक कहें,—[कृष्टयः] मनुष्य (अर्थात् हमारे मित्र तो ऐसा कहेंगे ही, इसमें कहना ही क्या); [इन्द्रस्य शर्मणि स्याम इत्] इन्द्र के (प्रसाद से प्राप्त हुए) सुख में हम अवश्य होवें।

७. हे यजमान! [आशवे] (समस्त सोमयाग में) व्याप्त इन्द्र के लिये [ईम् आभर] इस (सोम) को ला, (जो सोम) [आशुम्] (तीनों सवनों में) व्याप्त होनेवाला है [यज्ञश्रियम्] यज्ञ की सम्पदा है [नृमादनम्] मनुष्यों, अर्थात् ऋत्विज व यजमानों को हर्षित करनेवाला है [पतयत्] यज्ञविधियों में आनेवाला है [मन्दयत्सखम्] (यजमान को) आनन्दित करने वाले (इन्द्र) का सखा है।

८. [शतक्रतो] हे अनेक कर्मों वाले इन्द्र! [अस्य पीत्वा] इस सोम के अंश को पीकर तू [वृत्राणां घनः अभवः] वृत्रों का (अर्थात् वृत्र जिनका मुखिया है ऐसे शत्रुओं का) हन्ता बन गया है, और तूने [वाजेषु] रणों में [वाजिनम्] अपने योद्धा भक्त की [प्रावः] पूर्णतया रक्षा की है।

९. [शतक्रतो] हे अनेक कर्मों वाले या अनेक प्रज्ञाओं वाले इन्द्र! [धनानां

*इति शेषः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सातये] धनों के संभजन के लिये [वाजेषु] युद्धों में [वाजिनं तं त्वा] बलवान्* उस तुझको [वाजयामः] हम बहुत सारे अन्नों से युक्त करते हैं।

१०. [तस्मै इन्द्राय गायत] उस इन्द्र के स्तुतिगीत गाओ [यः] जो [रायः अवनिः] धन-दौलत का रक्षक है, [महान्] महान् गुणों वाला है [सुपारः] (कर्मों को) उत्तमता के साथ पूर्ण करने वाला है, [सुन्वतः सखा] और सोमयाग करने वाले यजमान का मित्रवत् प्रिय है।

भाष्य

विश्वामित्र का पुत्र मधुच्छन्दस् ऋषि सोम-रस की हवि को लेकर इन्द्र का आवाहन कर रहा है, इन्द्र है प्रकाशमय मन का अधिपति, इन्द्र का आवाहन वह इसलिये कर रहा है कि वह **प्रकाश** में वृद्धिगत हो सके। इस सूक्त में प्रयुक्त सब प्रतीक सामुदायिक यज्ञ के प्रतीक हैं। इस सूक्त का प्रतिपाद्य विषय यह है कि इन्द्र आकर सोम का, अमरता के रस का, पान करे और उस सोम-पान के द्वारा उसके अन्दर **बल** तथा **आनन्द** की वृद्धि हो, और उसके परिणामस्वरूप मनुष्य में **प्रकाश** का उदय हो जावे जिससे कि उसके

---

* देखो कि सायण ८ वें मन्त्र में 'वाजेषु वाजिनम्' का अर्थ करता है "रणों में योद्धा" और ठीक इससे अगले ही मन्त्र में इसी का अर्थ "युद्धों में बलवान्" यह कर देता है। और 'वाजेषु वाजिनं वाजयामः' इस वाक्यांश में उसने मूल शब्द 'वाज' के ही भिन्न-भिन्न तीन अर्थ कर डाले हैं, "युद्ध", "बल" और "अन्न"। सायण की शैली की अत्यधिक असंगति-युक्तता का यह एक उदाहरणार्थ नमूना है।

मैंने यहां दोनों (अपने तथा सायणके) अर्थोंको इकट्ठा दे दिया है ताकि पाठक दोनों शैलियों की तथा दोनों से निकलने वाले परिणामों की एक दूसरे के साथ सुगमता से तुलना कर सकें। जहाँ कहीं सायण को अर्थ को पूरा करने के लिये या उसे आसानी से समझ में आने लायक बनाने के लिये अपनी तरफ से अध्याहार करना पड़ा है उसे मैंने ( ) इस प्रकार के कोष्ठ में प्रदर्शित कर दिया है। वह पाठक भी जो कि संस्कृत से अनभ्यस्त है, मैं समझता हूँ, अकेले इसी नमूने को देख कर, उन युक्तियों का समर्थन कर सकेगा जिनके आधार पर, आधुनिक समालोचक मन को यह युक्तियुक्त जँचता है कि वह यह मानने से इन्कार कर दे कि वैदिक संहिता की व्याख्या के लिये सायण एक विश्वसनीय अन्तिम प्रमाण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्तरिक ज्ञान में आनेवाली बाधायें हट जायें और वह उन्मुक्त मन के उच्चतम वैभवों को प्राप्त कर लेवे।

पर यह सोम क्या वस्तु है, जिसे कहीं-कहीं अमृत, ग्रीक का अम्ब्रोशिया (ambrosia) भी कहा गया है, मानो कि यह अपने आप में अमरता का सार-पदार्थ हो? सोम है, आलंकारिक रूप में वर्णित किया हुवा, दिव्य सुख, आनन्द-तत्त्व, जिसमें से, वैदिक विचार के अनुसार, मनुष्य की सत्ता हुई है, यह मानसिक जीवन निकला है। एक गुप्त आनन्द है जो सत्ता का आधार है, सत्ता को धारण करनेवाला वातावरण या आकाश है, सत्ता का लगभग सार-तत्त्व ही है। इस आनन्द के लिये तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि यह दिव्य सुख का आकाश है जो यदि न हो तो किसी का भी अस्तित्व न रहे*। ऐतरेय उपनिषद् में बताया है कि सोम, चन्द्रमा के रूप में, विराट् पुरुष के इन्द्रियाधिष्ठित मन से पैदा हुआ है और जब मनुष्य की रचना हुई है तब वही चन्द्रमा फिर मनुष्य के अन्दर इन्द्रियाधिष्ठित मन रूप होकर अभिव्यक्त हो गया है‡। क्योंकि आनन्द में ही इन्द्रिय-संवेदन की सप्रयोजनता है, या हम यों कह सकते हैं कि सत्ता का जो गुप्त आनन्द है उसे भौतिक चेतना की परिभाषाओं में रूपान्तरित करने का एक प्रयत्न ही इन्द्रियसंवेदन है। पर उस भौतिक चेतना, —जो प्रायः 'अद्रि' अर्थात् पहाड़ी, पत्थर या घनीभूत पदार्थ के प्रतीक से निरूपित की गई है—के अन्दर दिव्य प्रकाश और दिव्य आनन्द दोनों ही छिपे और बन्द हुए पड़े हैं और इन्हें वहां से मुक्त किया जाना या निष्कासित किया जाना है। आनन्द, रस के रूप में, सार-तत्त्व के रूपमें, इन्द्रियाधिष्ठित विषयों तथा इन्द्रियानुभूतियों में, पृथ्वी-प्रकृति की उपजरूप पौधों व वनस्पतिओं में रखा हुआ है, और इन वनस्पतिओं में जो रहस्यपूर्ण सोमलता है वह सब इन्द्रिय-क्रियाओं तथा उनके सुखभोगों के पीछे रहनेवाले उस तत्त्व का प्रतीक है जो दिव्य रस को देता है, जिससे दिव्य रस निचोड़ा जाता है। इस दिव्य रसको इसमें से चरित करना होता है और एक बार चरित हो जाये तो फिर इसे विशुद्ध करना और तीव्र बनाना होता है जबतक कि यह प्रकाशयुक्त, किरणों से परिपूर्ण, आशुगति से

*देखो तै० २।७—"को ह्येवाऽन्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।"

‡ देखो ऐत० खण्ड १,२— "मनसश्चन्द्रमाः"।..."चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिपूर्ण, बल से परिपूर्ण, 'गोमत्', 'आशु', 'युवाकु' न हो जाये। यह सोम का दिव्य रस देवों का मुख्य भोजन बन जाता है, जो देव सोम-हवि के लिये बुलाये जाने पर, आकर आनन्द का अपना भाग ग्रहण करते हैं और उस दिव्य आनन्द के बल में वे मनुष्य के अन्दर प्रवृद्ध होते हैं, मनुष्य को उसकी उच्चतम संभावनाओं तक ऊंचा उठा देते हैं और उसे दिव्य उच्च अनुभूतियों को पा सकने योग्य बना देते हैं। जो अपने अन्दर के आनन्द को हवि बना कर दिव्य शक्तियों के लिये अर्पित नहीं कर देते, बल्कि अपने आपको इन्द्रियों तथा निम्न जीवन के लिये सुरक्षित रखना पसन्द करते हैं वे देवों के पूजक नहीं किन्तु पणियों के पूजक हैं, जो पणि इन्द्रिय-चेतनाके अधिपति हैं, इस चेतना की सीमित क्रियाओं में व्यवहार करने वाले हैं, जो रहस्यपूर्ण सोम-रस को नहीं निचोड़ते हैं, विशुद्ध हवि को अर्पित नहीं करते हैं, पवित्र गान को नहीं गाते हैं। ये पणि ही हैं जो प्रकाशमयी चेतना की दिव्य किरणों को, सूर्य की उन जगमगाती गौओं को, हमारे पास से चुरा ले जाते हैं, और उन्हें ले जाकर अवचेतन की गुफा में, भौतिकता की घनी पहाड़ी में, बन्द कर देते हैं, और देवशुनी सरमा, प्रकाशमयी अन्तःप्रेरणा, जब उन गौओं के पदचिह्नों का अनुसरण करते करते पणियों की गुफा के पास पहुँचती है तब उस तक को जो कलुषित करते हैं।

पर इस सूक्त में जो विचार दिया गया है वह हमारी आन्तरिक प्रगति की एक विशेष अवस्था से सम्बन्ध रखता है। यह अवस्था वह है जब कि पणियों का अतिक्रमण किया जा चुका है और 'वृत्र' या 'आच्छादक' भी जो कि हम से हमारी पूर्ण शक्तियों तथा क्रियाओं को पृथक् किये रखता है और 'बल' भी जो कि प्रकाश को हम से रोके रखता है, पराजित हो चुके हैं। परन्तु अब भी कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जो हमारी पूर्णता के मार्ग में बाधक बन कर आ खड़ी होती हैं। वे हैं सीमा में बाँधने वाली शक्तियाँ, अवरोधक या निन्दक, जो यद्यपि समग्र-रूप में किरणों को छिपा या बलों को रोक तो नहीं लेते, पर तो भी हमारी आत्म-अभिव्यक्ति की त्रुटिओं पर निरन्तर बल देने के द्वारा वे यह यत्न करते हैं कि इस (आत्म-अभिव्यक्ति) का क्षेत्र सीमित हो जाये और वे अब तक सिद्ध हुए आन्तरिक विकास को आगे आने वाले विकास के लिये बाधक बना देते हैं। तो मधुच्छन्दस् ऋषि इन्द्र का आवाहन कर रहा है कि वह आकर इस दोष को निवृत्त कर देवे और इसके स्थान पर एक वृद्धिशील प्रकाश को स्थिर कर देवे।

वह तत्त्व जो यहाँ 'इन्द्र' नाम से सूचित किया गया है मनःशक्ति है जो कि प्राणमय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना की सीमितताओं और धुँधलेपन से मुक्त है। यह वह प्रकाशमयी **प्रज्ञा** है जो विचार या क्रिया के उन सत्य और पूर्ण रूपों को निर्मित करती है जो प्राण के आवेगों से विकृत नहीं होते, इन्द्रियों के मिथ्याभावों से प्रतिहत नहीं होते। उपमा यहाँ एक गाय की दी गई है जो गाय गोदोग्धा को प्रचुरमात्रा में दूध देने वाली है, दोग्ध्री है। 'गो' शब्द के संस्कृत में दोनों अर्थ होते हैं, एक गाय और दूसरा प्रकाश की किरण। वैदिक प्रतीक-वादियों ने इस द्विविध अर्थ का प्रयोग एक दोहरे रूपक को दिखाने के लिये किया है और वह रूपक उनके लिये निरा अलङ्कार ही नहीं है बल्कि विशेष अर्थ को रखता है; क्योंकि प्रकाश, उनकी दृष्टि में, कविता के लिये सुलभ तौर पर प्रयुक्त किया जाने वाला केवल विचार का एक चित्र मात्र नहीं है बल्कि सचमुच के अपने भौतिक रूप को भी रखता है। इस प्रकार 'गौएं' जो दुही जाती हैं, **सूर्य** की गौएं हैं, जो **सूर्य** है स्वतः प्रकाशयुक्त और अन्तर्ज्ञानयुक्त मन का अधिपति; या वे गौएं **उषा** की गौएं हैं, जो उषा वह देवी है जो सौर कान्ति को अभिव्यक्त किया करती है। ऋषि इन्द्र से यह कामना कर रहा है कि हे इन्द्र ! तू मेरे पास आ और अपनी पूर्णतर क्रिया-शीलता द्वारा अपनी किरणोंको अत्यधिक मात्रा में मेरे ग्रहणशील मन पर डालता हुवा तू मेरे अन्दर दिन प्रतिदिन **सत्य** के इस प्रकाश की वृद्धि को करता जा। (मंत्र १)

सोम-रस रूप से आलङ्कारिकतया वर्णित, दिव्य सत्ता और दिव्य क्रिया में रहने वाला जो आनन्द है उसकी हमारे अन्दर चेतनायुक्त अभिव्यक्ति होने से ही यह होता है कि विशुद्ध प्रकाशमय **प्रज्ञा** की क्रिया स्थिर हो जाती है और वृद्धिंगत हो जाती है। क्योंकि वह **प्रज्ञा** इसी पर फलती फूलती है, इसकी क्रिया अन्तःप्रेरणा का एक मदयुक्त **आनन्द** बन जाती है जिसके द्वारा किरणें प्रचुरता के साथ और उल्लास के साथ प्रवाहित होती हुई अन्दर आती हैं। "जब तू आनन्द में होता है तब तेरा मद सचमुच **प्रकाश** को देने वाला होता है", **गोदा इद् रेवतो मदः**। (मंत्र २)

क्योंकि तभी यह संभव होता है कि उन बाधाओं को जिन्हें अवरोधक शक्तियाँ अब भी आग्रहपूर्वक बीच में डाले हुए हैं, तोड़ फोड़ कर, परे जाकर ज्ञान के उन अन्तिम तत्त्वों के कुछ अंश तक पहुँचा जा सके जो कि प्रकाशमय प्रज्ञा में ही संभव है। सत्य विचार, सत्य संवेदनशीलताएं—यह है 'सुमति' शब्द का पूर्ण अभिप्राय; क्योंकि वैदिक 'मति' में केवल विचार ही नहीं बल्कि इसमें मनोवृत्तिके भावमय अंश भी सम्मिलित हैं। 'सुमति' है विचारों के अन्दर **प्रकाश** का होना; साथ ही यह आत्मामें होने वाली प्रकाशयुक्त प्रसन्नता और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दयालुता भी है। परन्तु इस सन्दर्भमें अर्थका बल सत्य विचारपर है, न कि मनोभावों पर। तो भी यह आवश्यक है कि सत्य विचार में प्रगति उस चेतनाके क्षेत्र में ही प्रारम्भ हो जानी चाहिये जिस चेतना तक हम पहुँचे हुए हों; यह नहीं होना चाहिये कि जरा देर के लिये होने वाली चमकें और चकाचौंध करने वाली क्षणिक अभिव्यक्तियाँ हमारे सामने आवें जो कि हमें अतिक्रमण किये हुवे, हमारी शक्ति से परे की होने के कारण सत्य रूप में अपने को व्यक्त करनेमें अशक्त रहें और हमारे ग्रहणशील मन को गड़बड़ी में डालती रहें। इन्द्र को केवल प्रकाशक ही नहीं होना चाहिये किन्तु सत्यविचार-रूपों का रचयिता, 'सुरूपकृत्नु' भी होना चाहिये। (मंत्र ३)

आगे ऋषि सामुदायिक योग के अपने किसी साथी की ओर अभिमुख हो के, या संभवतः अपने ही मनको सम्बोधन करता हुआ, उसे (साथीको या अपने मनको) प्रोत्साहित करता है कि आ, तू इन उलटे सुझावों की बाधा को जो तेरे विरोध में खड़ी की गयी है पार करके आगे बढ़ जा और दिव्य प्रज्ञा (इन्द्र) से पूछ पूछ कर उस सर्वोच्च सुख तक पहुँच जा जिसे कि इस प्रज्ञा द्वारा अन्य पहले भी पा चुके हैं। क्योंकि यह वह प्रज्ञा है जो स्पष्टतया विवेक कर सकती है और जो सब गड़बड़ियों व धुन्धलेपनों को, जो अबतक भी विद्यमान हैं, हल कर सकती या हटा सकती है। गति में तीव्र, प्रचण्ड, शक्तिशाली होती हुई यह, अपनी शक्ति के कारण, प्राणमय चेतना के आवेगोंकी तरह अपने मार्गों में स्खलन को प्राप्त नहीं होती (अस्तृतम्) अथवा इसकी अपेक्षा यह आशय हो सकता है कि अपनी अपराजेय शक्तिके कारण यह आक्रमणों के वशीभूत नहीं होती, वे आक्रमण आच्छादकों (वृत्रों) के हों या उन शक्तियों के जो सीमा में बांधने वाली हैं। (मन्त्र ४)

इस के आगे उन फलों का वर्णन किया गया है जिन्हें पाने की ऋषि अभीप्सा करता है। इस पूर्णतर **प्रकाश** के हो जाने से, जो कि मानसिक ज्ञान के अन्तिम रूपों के आ जाने पर खुल कर प्रकट हो जाता है, यह होगा कि बाधा की शक्तियां संतुष्ट हो जायेंगी तथा स्वयमेव आगे से हट जायेंगी तथा और अधिक उन्नति और नवीन प्रकाशपूर्ण प्रगतियों को आने के लिए रास्ता दे देंगी। फलतः वे कहेंगी, "लो, अब तुम्हें वह अधिकार दिया जाता है जिस अधिकार को अब तक हम, उचित तौर से ही, तुम्हें नहीं दे रही थीं। तो अब न केवल उन क्षेत्रों में जिन्हें तुम पहले ही जीत चुके हो बल्कि अन्य क्षेत्रों में तथा अक्षुण्ण पड़े प्रदेशों में अपनी विजयशील यात्राको जारी करो। अपनी यह क्रिया पूर्णरूप से दिव्य प्रज्ञा को समर्पित करो,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न कि अपनी निम्न शक्तियों को। क्योंकि यह महत्तर समर्पण ही है जो तुम्हें महत्तर अधिकार प्रदान करता है।"

'आरत' शब्द जिसका अर्थ गति करना या यत्न करना है, अपने सजातीय 'अरि' 'अर्य', 'आर्य', 'अरति', 'अरण' शब्दों की तरह वेदके केन्द्रभूत विचार को अभिव्यक्त करने वाला है। 'अर्' धातु हमेशा प्रयत्न की या संघर्ष की गति को अथवा सर्वातिशायी उच्चता की या श्रेष्ठता की अवस्था को निर्दिष्ट करती है; यह नाव खेना, हल चलाना, युद्ध करना, ऊपर उठाना, ऊपर चढ़ना अर्थों में प्रयुक्त की जाती है। तो 'आर्य' वह मनुष्य है जो वैदिक क्रिया द्वारा, आन्तर या बाह्य 'कर्म' अथवा 'अपस्' द्वारा, जो कि देवोंके प्रति यज्ञरूप होता है, अपने आपको परिपूर्ण करने की इच्छा रखता है। पर यह कर्म एक यात्रा, एक प्रयाण, एक युद्ध, एक ऊर्ध्वमुख आरोहण के रूप में भी चित्रित किया गया है। आर्य मनुष्य ऊंचाइयों की तरफ जाने का यत्न करता है, अपने प्रयाण में, जो प्रयाण कि एक साथ एक अग्रगति और ऊर्ध्वारोहण दोनों है, संघर्ष करके अपने मार्ग को बनाता है। यही उसका आर्यत्व है, 'अर्' धातु से ही निष्पन्न एक ग्रीक शब्द को प्रयुक्त करें तो यही उसका 'अरेटे (arete)', गुण है। 'आरत' का अवशिष्ट वाक्यांश के साथ मिलाकर यह अनुवाद किया जा सकता है कि, "निकल चलो और संघर्ष करके अन्य क्षेत्रों में आगे बढ़ते जाओ।" (मंत्र ४)

शब्दध्वनियों द्वारा सम्बद्ध विचारों को देने की सूक्ष्म वैदिक पद्धति के अनुसार इसी विचार को अगले मन्त्र के 'अरिः कृष्टयः' शब्दों द्वारा फिर उठाया गया है। मेरे विचार में ये 'अरिः कृष्टयः' कोई पृथ्वीपर रहने वाली आर्य जातियां नहीं हैं (यद्यपि यह अर्थ भी संभव है जब कि समूहात्मक या राष्ट्रगत योग का विचार अभिप्रेत हो) बल्कि ये शक्तियां हैं जो कि मनुष्यको उसके ऊर्ध्वारोहण में सहायता देती हैं, ये उसके आध्यात्मिक सबंधु हैं जो उसके साथ सखा, मित्र, बन्धु, सहयोगी (सखायः, युजः, जामयः) के रूप में बंधे हुए हैं, क्योंकि जो उसकी अभीप्सा है वही उनकी अभीप्सा है और उसकी पूर्णता द्वारा वे परिपूर्ण होते हैं। जैसे अवरोधक शक्तियां सन्तुष्ट हो गई हैं और उन्होंने रास्ता दे दिया है वैसे ही उनको भी सन्तुष्ट होकर अन्ततः अपने उस कार्य की पूर्ति घोषित करनी चाहिये जो पूर्ति मानवीय आनन्द की पूर्णता द्वारा संसिद्ध हुई है। और तब आत्मा इन्द्र की शान्ति में विश्राम पायेगी, जो शान्ति दिव्य प्रकाश के साथ आती है—इन्द्र की शान्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् उस पूर्णताप्राप्त मनोवृत्ति की शान्ति जो कि संपरिपूर्ण चेतना और दिव्य आनन्द की ऊंचाइयों पर स्थित है । (मंत्र ६)

इसलिये दिव्य **आनन्द** वेगयुक्त तथा तीव्र किया जाने के लिये आधार में उँडेला गया है और इन्द्र को, उसकी तीव्रताओं में सहायक होने के लिये, समर्पित कर दिया गया है। क्योंकि आन्तरिक संवेदनों में अभिव्यक्त हुआ यही अगाध आनन्द है जो उस दिव्य **परमानन्द** को प्रदान करता है जिससे मनुष्य या देव सबल होता है। दिव्य प्रज्ञा अब समर्थ होगी कि वह अभी तक अपूर्ण रही अपनी यात्रामें आगे बढ़ सके और वह देव के मित्रके प्रति अवरोहण करती हुई **आनन्द** की नवीन शक्तियों के रूप में प्रतिदान करेगी। अर्थात् इन्द्र अब और आगे बढ़ सकेगा तथा सोमपान के बदले में सखा को ऊपर से आने वाला आनन्द प्रदान कर सकेगा। (मंत्र ७)

क्योंकि यही बल था जिसको प्राप्त करके मनुष्यस्थ **दिव्य मन** ने उन सबको नष्ट किया था जो **आच्छादक** या **अवरोधक** होकर इसके संकल्प और विचार की शतगुणित प्रगतियों में बाधा डालते थे; इसी बल के द्वारा इसने बाद में उन भरपूर तथा विविध ऐश्वर्यों की रक्षा की जो पहले हुए युद्धों में, 'अत्रियों' और 'दस्युओं' से—अर्थात् उनसे जो अधिगत ऐश्वर्यों को हड़प जाने और लूट लेने वाले हैं—जीते जा चुके थे। (मंत्र ८)

ऋषि मधुच्छन्दस् अपने कथन को जारी रखता हुआ आगे कहता है कि यद्यपि वह प्रज्ञा पहले से ही इस प्रकार समृद्ध और विविधतया संभृत हुई हुई है तो भी हम **अवरोधकों** को और **वृत्रों** को हटाकर इसकी समृद्धि की शक्ति को और अधिक वृद्धिंगत करना चाहते हैं ताकि हमें निश्चिततया तथा भरपूर रूप में अपने ऐश्वर्यों की प्राप्तियाँ हो सकें। (मंत्र ९)

क्योंकि यह **प्रकाश**, अपनी सम्पूर्ण महत्ता की अवस्था में सीमा या बाधा से सर्वथा स्वतन्त्र यह **प्रकाश**, आनन्द का धाम है; यह **शक्ति** वह है जो मनुष्य के आत्मा को अपना मित्र बना लेती है और इसे युद्ध के बीच में से सुरक्षिततया पार कर देती है, यात्रा की समाप्ति पर, इसकी अभीप्सा के अन्तिम प्राप्तव्य शिखर पर, पहुँचा देती है। (मंत्र १०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मयोगी

द्वितीय अध्याय

कर्मयोग

हम कह चुके हैं कि वेदान्त और योग को जीवन में चरितार्थ करना कर्मयोग है। बहुतों को, जो कि हिन्दूधर्म का ज्ञान किसी दूसरे के द्वारा प्राप्त करते हैं, यह परिभाषा सन्दिग्ध प्रतीत हो सकती है। "व्यावहारिक (बहिर्मुख)" मन वाले लोग साधारणतया यह मानते हैं कि वेदान्त जीवन के पथप्रदर्शक के तौर पर और योग आध्यात्मिक अन्तर्मिलन की विधि के तौर पर ऐसी खतरनाक चीजें हैं जो मनुष्यों को कर्म से हटा कर निवृत्ति की ओर ले जाती हैं। उन की तो हम चर्चा ही नहीं करते जो ऐसे सब विश्वासों को रहस्यवाद, आत्म-वंचन या ढोंग कर के समझते हैं; परन्तु जो लोग हिन्दूधर्म की ऊंची चीजों का आदर करते हैं और उनमें विश्वास करते हैं उनमें भी यह संस्कार बैठा हुआ है कि आध्यात्मिक जीवन जीने के लिये मनुष्य को संपूर्ण मानवीय चेष्टा से अपने-आपको हटा लेना आवश्यक है। परन्तु तो भी आध्यात्मिक जीवन अपने अधिक से अधिक शक्तिशाली रूप में तो उसी पुरुष में प्रकट होता है जो मनुष्यों के सर्वसाधारण जीवन को योग के बल के साथ और वेदान्त के नियम के अनुसार बिताता है। यह आन्तरिक और बाह्य जीवन के इस प्रकार के मेल का ही फल होगा कि मनुष्यजाति उन्नत होगी और शक्तिशाली तथा दिव्य बन जायगी। यह समझना भूल है कि वेदान्त जीवन के लिये कोई प्रेरणा नहीं प्रदान करता, आचार-व्यवहार का नियम नहीं बताता और शुद्धतया दार्शनिक तथा निवृत्तिपरक है। इसके विपरीत उपनिषदों और गीता की शिक्षाओं में उस उच्चतम नैतिकताका, जिसे कि मानवजाति प्राप्त कर सकती है, एक पूर्ण आधार और प्रमाण मिलता है। गीताके विशिष्ट सिद्धान्त और क्या हैं अगर वे जीवनका नियम, उसका धर्म नहीं हैं और वेदान्त की परात्पर भगवान् के सम्बन्ध में अभीप्साएं भी यह मानकर चलती हैं कि मनुष्य अपने जीवनमें उनके लिये आवश्यक तैयारी कर चुका है, क्योंकि यह तो केवल जीवन में से गुजर कर ही होता है कि मनुष्य अमरता को प्राप्त कर सकता है। इससे विपरीत सम्मति का कारण हैं वे विशेष प्रवृत्तियां जो हमारी जाति के इतिहास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और स्वभाव में बहुत अधिक बढ़ चुकी हैं। हमारे धर्म का चरम लक्ष्य है भौतिक प्रकृति के बन्धन से मुक्ति और व्यक्ति का अपने पुनर्जन्म से छुटकारा। जिन ऊंची से ऊंची आत्माओं को हम जानते हैं उनमेंसे कुछको चरम नीरवता और पवित्रता के आकर्षण ने ऐसा मोहित किया कि उन्होंने अपने आप को जीवन तथा शारीरिक कर्म से अलग कर लिया ताकि वे अधिक शीघ्रता और सुगमता के साथ अपने लक्ष्य पर पहुँच सकें। पर्वतशिखरों की भांति सामान्य सतह से ऊपर खड़े हो कर उन्होंने सब की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट किया और इस निवृत्ति को सर्वोच्च तथा सर्वप्रधान हिन्दू आदर्श के रूप में निश्चित कर दिया। यही कारण है कि श्रीकृष्ण ने इस बात पर इतना बल दिया कि जब पूर्णयोगी को अपने लिए जीवन और मानव कर्म की आवश्यकता न रहे तब भी उसे उनमें युक्त रहना चाहिये, ताकि ऐसा न हो कि लोग, श्रेष्ठ पुरुष के आचरण का अनुकरण करते हुए, जैसा कि सदा ही वे किया करते हैं, कहीं अपने धर्म से मुँह मोड़ लें और वर्णसंकर की अराजकता फैल जाय*। आदर्श योगी कोई निवृत्त या अवरुद्ध शक्ति नहीं है किन्तु वह सदा सब भूतों का हित करने में रत रहता है—या तो उस दिव्य शक्ति के प्रवाहसे जिसे वह संसारमें प्रवाहित करता है या फिर स्वयं ही मानवता की अग्रपंक्ति में खड़ा हो कर, प्रस्थान और युद्ध में इसका नेता बन कर किन्तु अपने कर्मों से बद्ध न होते हुए और अपने व्यक्तित्व से ऊपर रहते हुए।

इसके अतिरिक्त साधारणतया 'वेदान्त' शब्द को तथा कट्टर अद्वैतवाद और माया के उस विशिष्ट सिद्धान्त को जिसे शङ्कर की उच्च और तापस बुद्धि ने स्थापित किया था, एक ही समझ लिया जाता है। किन्तु यह स्वयं उपनिषदें ही हैं न कि शङ्कर के ग्रन्थ, मूलग्रन्थ ही है न कि भाष्य, जो कि वेदान्ती का प्रामाणिक धर्मग्रन्थ हैं। शङ्कर का भाष्य यद्यपि महान् और सामयिक तौर पर सन्तोषप्रद था तो भी वह उपनिषदों का केवल एक प्रकार का समन्वय और व्याख्या है। भूतकाल में अन्य भी समन्वय और व्याख्यायें हुई हैं जिन्होंने राष्ट्रवासियों के मन पर प्रबल प्रभाव डाला है और इस में कोई कारण नहीं दिखाई देता कि भविष्य में और भी अधिक पूर्ण समन्वय क्यों न हो। अपने क्षेत्रमें सम्पूर्ण जीवन और कर्म का आलिङ्गन करता हुआ एक इस प्रकार का ही समन्वय है जिसे श्री रामकृष्ण और विवेकानन्द की शिक्षाएं तैयार करती रही हैं। इस समय जो कुछ अस्पष्ट तौर पर शुरू हो रहा है वह उस चीज की अधिक विस्तृत क्षेत्र में पुनरावृत्ति है जो कि भारत में एक बार पहले जब कि बुद्ध जीवित थे

* गीता अध्याय ३, श्लोक २१ से २६ तक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और आर्यजातियों को दर्शन तथा आचारशास्त्र सिखाते थे, अधिक शीघ्रता के साथ परन्तु छोटे उद्देश्यों के लिये हुई थी। इस समय की भांति तब भी एक शक्तिशाली आत्मा मनुष्यों के बीच अवतरित हुआ, इस बात का कुछ महत्त्व नहीं कि वह आत्मा अवतार था या विभूति, मनुष्य में ईश्वर की पूर्ण अभिव्यक्ति थी या दिव्यशक्ति का महान् प्रवाह, और उसने लोगों के दैनिक जीवन और नित्य कर्मों में पूर्ण आध्यात्मिकता की शक्ति और अन्तःप्रेरणा डाल दी। परन्तु इस वार यह पूर्ण ज्योति है (जो कि अवतरित हो रही है) न कि एक श्रेष्ठ भाग और यह चीज उस बौद्धधर्म से भिन्न है जिसने वेदान्त की नैतिकता को अभिव्यक्त करते हुए भी वेदान्त की मूलभूत सद्वस्तु की उपेक्षा कर दी और अतएव उसे अपने प्रधान पद तथा धाम से च्युत कर दिया गया। इसका भौतिक परिणाम तब भी वही हुआ जो कि अब होगा, एक महान् राजनीतिक, नैतिक और सामाजिक क्रान्ति जिसने भारत को राष्ट्रों का गुरु बना दिया और जो प्रकाश उसके पास देने के लिये था उसे संपूर्ण सभ्य संसार तक पहुंचा दिया—उन विचारों का निर्माण करते हुए और उन बाह्य रूपों की रचना करते हुए जो कि अब तक भी विद्यमान हैं और जीवित शक्ति हैं। वेदान्त और योग पहले से ही अपनी एशियाई सीमा को पार कर चुके हैं और अमरीका तथा यूरोप के जीवन तथा व्यवहार पर प्रभाव डालना शुरु कर रहे हैं; और वे बहुत समय से सैंकड़ों अप्रत्यक्ष प्रणालिकाओं में से छन-छन कर पाश्चात्य विचार में पहुंचते रहे हैं। परन्तु ये छोटी नदियां और भूमि के नीचे छिपी हुई धारायें हैं। संसार दिव्य धारा को उसके अपने पूर्ण रूप में प्राप्त करने के लिये भारत के अभ्युदय की प्रतीक्षा कर रहा है।

योग का अर्थ है ज्ञानकेलिये, प्रेम के लिये या कर्म के लिए परमात्मा के साथ अन्तर्मिलन। योगी उसके साथ अपना साक्षात् सम्बन्ध जोड़ता है जो मनुष्य के भीतर और उस के बाहर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। वह अनन्त के साथ अपना स्वर मिलाये रहता है, वह ईश्वरकी शक्तिके लिये प्रणालिका बनजाता है जिससे कि वह शक्ति अपने आप को शान्त दया या सक्रिय परोपकार के द्वारा संसारमें प्रवाहित कर सके। जब मनुष्य अपने पर से स्वार्थी 'स्व' की केंचुली उतार कर ऊंचा उठता है और दूसरों के लिये तथा दूसरों के सुख-दुःख का साथी बन कर जीता है;—जब वह पूर्णता के साथ तथा प्रेम और उत्साह के साथ काम करता है, पर फल की चिन्ता को छोड़ देता है और न तो विजय के लिए उत्सुक रहता है, न ही पराजय से भयभीत होता है;—जब वह अपने सब कामों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान् के अर्पण कर देता है और प्रत्येक विचार, उच्चार और आचार को भगवान् की वेदी पर बलि चढ़ा देता है;—जब वह भय और घृणा, द्वेष और ग्लानि और राग से मुक्त हो जाता है और प्रकृति की शक्तियों की भांति उतावली न करते हुए, विश्राम न लेते हुए, अटल तौर पर तथा पूर्णता के साथ काम करता है ;—जब वह इस विचार से ऊंचा उठ जाता है कि वह शरीर या हृदय या मन है या इन का जोड़ है और अपने आप की तथा सच्ची आत्मा को पा लेता है;—जब वह अपनी अमरता और मृत्यु की अवास्तविकता से अभिज्ञ हो जाता है;—जब वह ज्ञान के उदय को अनुभव करता है और अपने आप को स्थितिशील अनुभव करता है तथा दिव्य शक्ति को अपने मन, अपनी वाणी, अपनी इन्द्रियों और अपने सब अंगों द्वारा निर्बाध कार्य करते हुए अनुभव करता है;—वह जो कुछ स्वयं है और जो कुछ भी वह करता है या जो कुछ भी उसके पास है उस सब को इस प्रकार सबके स्वामी, मनुष्यजाति के प्रेमी और सहायक पर उत्सर्ग कर के जब वह उस में स्थिर रूप से निवास करता है और दुःख, विक्षोभ तथा मिथ्या उत्तेजन से चलायमान नहीं होता,—यह है योग। प्राणायाम और आसन, एकाग्रता, पूजा, विधि-विधान, धार्मिक कर्त्तव्य—ये चीजें स्वयं योग नहीं हैं परन्तु योग के लिए केवल साधन हैं। योग का मार्ग कोई कठिन या भयानक मार्ग भी नहीं है। यह उन सब के लिये सुरक्षित और सुगम है जो **आन्तरिक पथप्रदर्शक** और **गुरु** की शरण ले लेते हैं। क्षमता की दृष्टि से सब लोग इसके योग्य हैं क्योंकि ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जिस की प्रकृति में शक्ति या विश्वास या प्रेम विकसित अथवा प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान न हो, और इनमें से कोई एक भी योगी के लिये पर्याप्त अवलम्बन है। निःसंदेह सब लोग एक जन्म में इस मार्ग में सर्वोच्च शिखर पर नहीं पहुँच सकते, परन्तु सब आगे बढ़ सकते हैं; और जितनी ही मनुष्य उन्नति करता है उतनी ही वह शान्ति, शक्ति और आनन्द पाता है। किन्तु इस धर्म का थोड़ा सा अंश भी मनुष्य या राष्ट्र का महान् भय से त्राण करता है।

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।"

हम फिर कहे देते हैं कि यह सोचना गलती है कि आध्यात्मिकता एक ऐसी वस्तु है जिस का जीवन से कोई नाता नहीं। ईश उपनिषद् में कहा है, "सब कुछ त्याग दो **जिससे कि तुम सब कुछ का भोग कर सको**। किसी मनुष्यके धन पर जी मत ललचाओ। परन्तु अवश्य ही **इस संसार में अपने कर्म करो** और अपनी सौ वर्ष की आयु जीने की इच्छा करो। अपने कर्मों के बन्धनसे मुक्त होने के लिए तेरे सामने इसके सिवाय कोई दूसरा मार्ग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं खुला है* ।" यह सोचना भूल है कि धर्म के शिखर इस संसार के संघर्षों से ऊपर हैं। श्रीकृष्ण की अर्जुन के प्रति बार-बार की गई पुकार संघर्ष पर जोर देती है; "युद्ध कर और अपने शत्रुओंको परास्त करदे।" "मेरा स्मरण करता जा और लड़ता जा।" "आध्यात्मिकता से परिपूर्ण हृदय से अपने सब कर्मों को मेरे अर्पण कर दे और कामना से रहित हो कर, स्वार्थपूर्ण दावोंसे मुक्त हो कर, युद्ध कर! अपनी आत्माके ज्वरको दूर कर दे†।" यह कल्पना करना भूल है कि चाहे धार्मिक आदमी अपने साधारण कामोंको नहीं छोड़ता तो भी वह अत्यन्त सात्विक, अत्यन्त सन्त-स्वभाव वाला, अत्यन्त प्रेमी या अत्यन्त वासनारहित हो जाता है जिससे कि वह संसार के विषम काम के लायक नहीं रहता। इस पर गीता का जो उत्तर है वह इस से ठीक विपरीत भाव रखता है और उस से अधिक अतिपूर्ण तथा समझौते से इन्कार करने वाला उत्तर और कोई नहीं हो सकता, "जिसका स्वभाव 'अहं' से रहित हो गया है और जो अपने आत्मा को कर्म के संस्कार से लिप्त नहीं होने देता, वह चाहे संसार का भी वध कर डाले तो भी वह वध नहीं करता और बन्धनमें नहीं आता‡।" संहारके उस मैदान में अर्जुन के रथ को हांकता हुआ कुरुक्षेत्र का सारथि कर्मयोग की मूर्ति है और उसका प्रत्यक्ष वर्णन है; क्योंकि शरीर रथ है और इन्द्रियां हांकने वाले घोड़े हैं और यह संसार के रक्तरंजित तथा पंकपूरित मार्गों में से ही है कि श्रीकृष्ण मनुष्य की आत्मा को वैकुण्ठ की ओर ले जाते हैं।

---

*...तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ ईशोपनिषद् १-२

†...युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ गीता ११।३४
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च...... ॥ गीता ८।७
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशी निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ गीता ३।३०

‡ यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ गीता १८।१७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान युद्ध के विषय में

[नीचे हम श्रीअरविन्द का युद्धसम्बन्धी एक नया लेख उपस्थित करते हैं। पहले गत वर्ष की अप्रेल की पुस्तिका में हमने श्रीअरविन्द और माताजी के इसी विषय पर कुछ पत्र प्रकाशित किये थे। यह लेख उसी विषय पर नया प्रकाश डालता है।—सं० अ०]

जो कुछ हम कहते हैं वह यह नहीं है कि मित्रराष्ट्रों ने कोई खराब काम नहीं किये, परन्तु यह कि वे विकासकारिणी शक्तियों के पक्ष में खड़े हैं। यह मैंने यूंही नहीं कहा है किन्तु मेरे लिये जो सत्य के स्पष्ट आधार हैं उनके बल पर कहा है। तुम जिसकी बात करते हो वह काला पार्श्व है। सभी सरकारें और राष्ट्र एक दूसरे के साथ अपने व्यवहारों में वैसे काले पार्श्व वाले रहे हैं—कम से कम वे सब जिनके पास कि शक्ति थी और जिन्हें मौका मिला। मैं आशा करता हूँ कि तुम मुझ से यह विश्वास करने की आशा नहीं कर रहे हो कि संसार में धर्मयुक्त सरकारें और स्वार्थहीन तथा निर्दोष प्रजाएं हैं या रही हैं? परन्तु एक दूसरा पहलू भी है। तुम मित्रराष्ट्रों की निन्दा उस आधार पर कर रहे हो जिसकी तरफ देख भूतकाल के लोग आश्चर्यचकित रह जाते—अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के वर्तमान आदर्शों के आधार पर; इस तरह से देखा जाय तो सब का ही इतिहास कालिमायुक्त दिखाई देगा। परन्तु किन लोगों ने इन आदर्शों को जन्म दिया या इन्हें (स्वाधीनता, जनतन्त्र, समानता, अन्तर्राष्ट्रीय न्याय और ऐसे ही अन्य आदर्शों को) जन्म देने के लिये बड़ा प्रयत्न किया? हां, अमरीका, फ्रांस, इंगलैण्ड ने—इस समय के मित्रभूत राष्ट्रों ने। बेशक वे सब ही साम्राज्यवादी रहे हैं और अब तक भी अपने अतीत के भार को उठाये हुए हैं, परन्तु उन्होंने इन आदर्शों को भी सोच-समझकर फैलाया है और उन संस्थाओं को भी विस्तारित किया है जो उन आदर्शों को मूर्त्त करने का प्रयत्न करती हैं। इन चीजों का आपेक्षिक मूल्य चाहे जो भी हो—वे अग्रगामी विकास की एक मध्यवर्त्ती अवस्था रही हैं, चाहे अभी भी अधूरी ही अवस्था। (दूसरों की क्या हालत है? उदाहरणार्थ, हिटलर कहता है कि रंगीन [जो गोरी नहीं हैं] जातियों को शिक्षित करना गुनाह है, उन्हें तो अवश्य गुलामों और मजदूरों की तरह ही रखना चाहिये)। इंगलैण्ड ने किसी निजी लाभ को चाहे बगैर कुछ जातियों को स्वतन्त्र होने में सहायता दी है; और इसके अतिरिक्त उसने मिश्र और आयर्लैण्ड को संघर्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बाद, ईराक को संघर्ष के बिना ही स्वतन्त्रता प्रदान कर दी है। वह स्थिरता के साथ, चाहे धीमे-धीमे ही, साम्राज्यवाद से परे हटता हुआ सहयोग की ओर बढ़ता चला आ रहा है; इंगलैण्ड और उपनिवेशों का ब्रिटिश प्रजातन्त्र राज्य एक ऐसी चीज है जो अद्वितीय और अपूर्व है, उस दिशा में नई चीजों का प्रारंभ है : वह विचार में एक इस प्रकार के विश्व-संघ की ओर गति कर रहा है जिसमें कि दूसरे पर आक्रमण कर सकना असंभव बना दिया जाय; उसकी नयी पीढ़ी के लोगों में अब मिशन और साम्राज्य में पहले सा दृढ़ विश्वास नहीं रहा है; उसने युद्ध के बाद भारत को भी औपनिवेशिक स्वाधीनता—या यदि भारत चाहे तो दूसरों से असंबद्ध उसकी केवल जुदी स्वाधीनता भी—देने का प्रस्ताव किया है, जिस स्वाधीनता का सर्वसम्मत स्वतन्त्र शासनविधान स्वयं भारतीयों की ही पसन्द से तैयार किया जायगा......यह सब वही चीज है जिसे कि मैं ठीक दिशा में विकास कहकर पुकारता हूं—चाहे यह, अभी भी, कितना धीमा, अधूरा और लड़खड़ाता-सा क्यों न हो। जहां तक अमेरिका का सम्बन्ध है उसने मध्य और दक्षिण अमरीका के बारे में अपनी अतीत साम्राज्य-वादी नीतियों को शपथ खाकर त्याग दिया है, उसने क्यूबा और फिलिपाइन्स को स्वाधीनता दे दी है.......क्या धुरीराष्ट्रों के दल में भी कोई वैसी प्रवृत्ति है ? मनुष्य को किसी भी बात पर सब पहलुओं से विचार करना होता है। एक बार फिर दोहराता हूँ कि यह पीछे कार्य कर रही शक्तियां ही हैं जिन्हें कि मैंने देखना है, मैं उपरितल की ब्योरे की बातों में अन्धा नहीं हो जाना चाहता। भविष्य की अवश्य सुरक्षा करनी होगी; केवल तभी यह संभव हो सकता है कि हमारे वर्तमान दुःखों और विरोधों का हल किये जाने और इनका निवारण किये जाने का अवसर आवे।

* * *

हमारे लिये यह सवाल उठता ही नहीं है। हमने इस बात को एक चिट्ठी में स्पष्ट कर दिया था, जो चिट्ठी कि जनता के लिये प्रकाशित की जा चुकी है, कि हम इस युद्ध को राष्ट्रों और सरकारों के बीच में हो रही लड़ाई के रूप में नहीं (अच्छी जनता और बुरी जनता के बीच में तो और भी नहीं) किन्तु दो शक्तियों, दैवी और आसुरी शक्तियों के बीच में हो रही मानते हैं। अतः हमें जो देखना है वह यह है कि मनुष्य और राष्ट्र अपने आपको किस पक्ष में निविष्ट करते हैं; अगर वे अपने आपको ठीक पक्ष में रखते हैं, तो वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुरन्त ही अपने आपको दिव्य प्रयोजन के यन्त्र बना लेते हैं बावजूद उन सभी दोषों, भूलों, कुत्सित चेष्टाओं और कार्यों के जो मानवीय प्रकृतिमें और सब मानवीय समुदायों में सर्वसामान्य रूप से पाये जाते हैं। एक पक्ष (मित्रपक्ष) की विजय विकासपरायण शक्तियों के लिये मार्ग खुला रखेगी : दूसरे पक्ष की विजय मनुष्यजाति को पीछे खींच ले जायगी, इसे भयंकर रूप से अधःपतित कर देगी और, बुरे से बुरा परिणाम निकलने की अवस्था में, इसे जाति के तौर पर (कायम रहने में) चरम असफलता तक प्राप्त करायेंगी, जैसे कि अतीत विकास में अन्य जातियां असफल हुईं और नष्ट हो गईं। यही है सारा प्रश्न और अन्य सब विचारणाएं या तो असंगत हैं या कम महत्त्व की हैं। मित्र राष्ट्र—अधिक नहीं तो—मानवीय मूल्यों के लिये खड़े हुए हैं, यद्यपि वे बहुधा अपने सर्वश्रेष्ठ आदर्शों के विपरीत भी काम कर जाँय (मानव प्राणी सदा ही वैसा करते हैं); हिटलर आसुरी मूल्यों का या ऐसे मानवीय मूल्यों का जो गलत ढंगसे यहां तक अतिशयित किये जाते हैं कि वे आसुरी हो जाते हैं (उदाहरणार्थ, हेरेनवोक, स्वामी जाति के गुणों का) प्रतिनिधित्व करता है। इससे न तो अंग्रेज या अमरीकन निष्कलङ्क देवताओं की जाति बन जाते हैं, न ही जर्मन दुष्ट और पापमय जाति, परन्तु एक निदर्शक के तौर पर यह बात प्रमुख महत्त्व रखती है.......

*** *** ***

कुरुक्षेत्र के दृष्टान्त को बिल्कुल ठीक उपमा के रूप में नहीं ले लेना है बल्कि दो विश्व-शक्तियों के बीच हुए युद्ध के परम्परागत उदाहरण के रूप में, जिस युद्धमें कि भगवान् की कृपा को प्राप्त पक्ष विजयी हुआ, क्योंकि उस पक्ष के नेताओं ने अपने आप को उसका यन्त्र बनाया। इसे इस रूप में नहीं देखना है कि यह पुण्य और पापके, अच्छे और बुरे मनुष्यों के बीच में युद्ध है। आखिर, भला पाण्डव भी क्या निष्कलङ्क पुण्यात्मा, सर्वथा निःस्वार्थ और विकारों से रहित थे ?......

क्या पाण्डव अपने ही दावों और स्वार्थों—निःसंदेह न्याय्य और ठीक, पर तो भी निजी दावे और निज-स्वार्थ—को प्रतिष्ठापित करने के लिए नहीं लड़ रहे थे ? उनका युद्ध बेशक सत्यानुकूल, 'धर्म्य युद्ध' था, परन्तु यह, उनके अपने मामलेमें, सत्य और न्याय के लिये था। परन्तु अगर साम्राज्यवाद, शस्त्रास्त्रसज्जित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेना के द्वारा साम्राज्य का निर्माण करना, सभी अवस्थाओं में पाप है, तो पाण्डव भी उस पाप से कलंकित हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी विजय का प्रयोग अपने साम्राज्य को कायम करने के लिये किया जो साम्राज्य कि उन के बाद परीक्षित और जनमेजय द्वारा जारी रखा गया।

क्या आधुनिक मानव-हितवाद और शान्तिवाद पाण्डवों पर यह दूषण नहीं लगा सकते कि इन भले आदमियों ने (कृष्ण समेत) एक बड़ा भारी संहार ला उपस्थित किया ताकि वे भारत की बहुत-सी स्वाधीन और स्वतन्त्र प्रजाओं के ऊपर सर्वोपरि शासक बन सकें? पुरानी घटनाओं को आधुनिक आदर्शों के पलड़ों में तोलने का यही परिणाम होगा। सच पूछो तो ऐसा साम्राज्य उस समय ठीक दिशा में उठाया गया कदम था, ठीक वैसे ही जैसे कि स्वतन्त्र जातियों का विश्व-संघ इस समय ठीक दिशा में कदम होगा,—दोनों ही अवस्थाओं में भीषण संहार सही परिणाम उत्पन्न करने वाला हुआ या होगा।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि विजय और अधीन प्रजाजनों पर शासन प्राचीन या मध्य या बिलकुल हाल के समय में बुरे करके नहीं समझे जाते थे बल्कि एक ऐसी चीज करके जो कि महान् और शानदार है; लोग विजेताओं अथवा विजयशाली राष्ट्रों में कोई विशेष बुराई नहीं देखते रहे। अधीन प्रजाजनों पर न्याययुक्त शासन हो यह दृष्टि में रखा जाता था परन्तु इससे अधिक कुछ नहीं—शोषण वर्जित नहीं था। इस विषय पर आधुनिक विचार—सब को स्वतन्त्रता का अधिकार, व्यक्तियों और राष्ट्रों दोनों को, विजय और और साम्राज्य की अनैतिकता, या ऐसे समझौते के तरीके जैसे कि अधीन जातियों को जन-तन्त्रीय स्वाधीनता के लिये शिक्षित करने का ब्रिटिश विचार, तो नये मूल्य हैं, विकासात्मक गति हैं; यह एक नया धर्म है जिसने, धीमे-धीमे और अभी आरम्भिक रूप में व्यवहार पर प्रभाव डालना शुरू ही किया है,—एक शिशु धर्म है जिसका कि सदा के लिये गला घोंट हो जायगा अगर हिटलर अपने "अवतार के" कार्य में सफल हो जाय और वह सारे भूमण्डल पर अपना नया "धर्म" स्थापित कर दे। पराधीन राष्ट्र स्वभावतया नये धर्म को स्वीकार कर लेते हैं और पुराने साम्राज्यवादों की कठोरतापूर्वक आलोचना करते हैं; अतः यह आशा की जानी चाहिये कि जिस चीज का वे अब प्रचार करते हैं उसपर वे अमल करेंगे जब कि वे स्वयं प्रबल और समृद्धिशाली और शक्तिशाली हो जायेंगे। परन्तु सबसे अच्छा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो तब होगा अगर एक नयी विश्व-व्यवस्था विकसित हो जाय, चाहे प्रारंभ में लड़खड़ाते हुए और अधूरे तरीके से ही सही, जो कि पुरानी चीजों को असंभव—यदि पूर्णतया असंभव नहीं तो एक कठिन कार्य—बना दे।

भगवान् मनुष्यों को स्वीकार कर लेता है वैसे ही जैसे कि वे हैं और मनुष्यों को अपने यन्त्रों के तौर पर इस्तेमाल करता है चाहे वे गुण में त्रुटिरहित, देवतुल्य, विशुद्ध और पवित्र न भी हों। यदि वे सदिच्छा से युक्त हैं, अगर, बाइबल की भाषा में, वे प्रभु के पक्ष में हैं, तो यह ही किये जाने वाले कार्य के लिये काफी चीज है। अगर मुझे यह मालूम हो कि मित्रराष्ट्र अपनी विजय का दुरुपयोग करेंगे या शान्ति में गड़बड़ी डालेंगे या उस विजय के द्वारा मानवसंसार के लिये खुले हुए अवसरों को कम-से-कम अंशतः बिगाड़ देंगे, तो भी मैं अपनी शक्ति उन के पीछे लगाऊंगा। कुछ भी हो अवस्थाएं उसका शतांश भी खराब नहीं हो सकतीं जैसी कि वे हिटलर के नीचे होंगी। भगवान् के मार्ग फिर भी खुले रहेंगे—उन्हें खुला रखना ही है जो कि महत्त्व की चीज है। आइये हम वास्तविक, केन्द्रीय बात—जघन्य दासता और पुनरुज्जीवित बर्बरता का खतरा जो भारत और संसार को संत्रस्त कर रहा है उसे दूर हटाने की आवश्यकता— को दृढ़ता से पकड़ लें, और उन सब गौण मामलों और तुच्छ मामलों या कल्पनाश्रित समस्याओं को आगे के लिये छोड़ दें जो कि हमारे सामने उपस्थित, एकमात्र, सब से अधिक महत्त्वपूर्ण दुरन्त मामले को आच्छादित कर देंगी।

[इसे हम 'Advent' नामक अंग्रेजी त्रैमासिक पत्रिकासे, जो कि गत फरवरी-दर्शन से(Sri Aurobindo Library, G. T., Madras से) प्रकाशित होनी शुरू हुई है, उद्धृत करते हैं। इस पत्रिका का उद्देश्य पूर्णतया 'श्रीअरविन्द की मानव-विकास-सम्बन्धी और भविष्यसम्बन्धी 'दृष्टि', धारणा तथा विचार का निरूपण करना है'।—सं० अ०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नये वर्ष की दीक्षा

"हे प्रभु ! मनुष्यमात्र तुझसे प्रार्थना करता है कि तू इसे उन्हीं मूर्खताओं में बार-बार जा पड़ने से बचा।

"ऐसी कृपा कर कि जो भूलें पहचान में आ चुकी हैं वे फिर नये सिरे से न दोहरायी जांय।

"अन्त में यह प्रदान कर कि मानव-जाति अपने घोषित आदर्शों को कर्म में ठीक और सच्चे तौर पर प्रकट करे।"

इस वर्ष श्रीमां ने हमारी ओर से यही प्रार्थना की है— हमारी इस वर्ष की साधना के लिये यही निर्देश दिया है। इसलिये हम कह सकते हैं कि यह वर्ष विशेष रूप से स्थूल में प्रयोग करने का, बाहरी जीवन में प्रकट करने के लिये प्रयास करने का है।

साधारण तौर पर साधना के आरंभ में अज्ञान का ही प्राधान्य रहता है—उस समय साधकको अत्यन्त दूर एक अस्पष्ट, धुंधला-सा लक्ष्य दिखायी देता है और उसी तरह उसके अन्दर एक अनिर्दिष्ट अनिर्वचनीय प्रेरणा जगती है, किसी अज्ञात उद्देश्य की ओर केवल आगे बढ़े चलने की ही प्रवृत्ति उठती है—चरैवेति; और इसी को शायद अभीप्सा कहते हैं। उसके बाद ज्यों-ज्यों साधक आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसकी चेतना परिष्कृत होती जाती है—उसका लक्ष्य भी उसकी आंखों के सामने अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है, एक विशेष आकार धारण करने लगता है। उसका मन धीरे-धीरे यह समझना, यह धारण करना सीखने लगता है कि वह क्या चाहता है, उसके हृदय का अभिप्राय, आकर्षण भी स्वच्छ, स्थिर तथा साथ ही गभीर होने लगता है। परन्तु इसी को स्वभाव का या प्रकृति का परिवर्तन नहीं कहा जा सकता—रूपान्तर तो बहुत दूर की बात है। प्रकृति का, स्वभाव का परिवर्तन तो तब आरंभ होता है जब हमारी कर्मेन्द्रियां भी भीतरी चेतना के अनुभव का अनुसरण करने लगती हैं, हमारा कर्मक्षेत्र भी उसी अन्तर्ज्योति के प्रभाव और प्रताप के द्वारा चालित और गठित होने लगता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरंभमें इसी कारण साधक दो भागों में विभक्त हुआ करता है—उसके अन्तरमें तो जागती है अभीप्सा, भगवत्स्पर्श; किन्तु उसकी बहिर्मुखी प्रेरणा, देहाश्रित चेतना रहती है गतानुगतिक अभ्यास के वशमें, निम्न प्रकृतिके शासनमें। साधारणतः मनुष्य अज्ञान-पापी होता है अर्थात् उसे इस बात का ज्ञान ही नहीं होता कि वह क्या पाप कर रहा है। परन्तु हम जिस अवस्था की बात कह रहे हैं उस अवस्था में आ पहुँचनेपर मनुष्य ज्ञान-पापी बन जाता है। इस अवस्था का द्वन्द्व, आशंका, वेदना, त्रास आदि जितना ईसाई साधकों के जीवनमें परिस्फुट हुआ है उतना शायद और कहीं नहीं हुआ है। इस अवस्था में साधक यह जानता है कि उसे क्या करना चाहिये, परन्तु वह उसे कर नहीं पाता—the spirit is willing, but the flesh is weak—साधक बार-बार उचित कार्य ही करना चाहता है और करने जाता भी है, पर बार-बार व्यर्थमनोरथ होता है। इसीलिये इस अवस्था में केवल अन्तर में या विचार में ही साधक का पतन या पदस्खलन नहीं होता, बल्कि कार्य में भी वह बार-बार उसी एक मूढ़ता का ही परिचय देता है। इस मूढ़ता के सहस्र नाम हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, अविश्वास, अकृतज्ञता, विद्रोह आदि। ईसाई-धर्मावलम्बी लोग कहते हैं कि इसका प्रतिकार है अनुताप, निरन्तर अनुताप करो और भगवान् की कृपा के लिये कातर प्रार्थना करो। परन्तु हम अनुताप को बहुत ऊंचा स्थान नहीं देना चाहते। क्योंकि अनुताप एक निम्न वृत्ति है—प्राणकी वृत्ति है; यह वृत्ति पापकी स्मृतिको भूलने नहीं देती; उसे जिलाये रखती है, बल्कि पापकी छापके ऊपर ही अपनी तूलिका घुमाया करती है—इससे बहुत बार साधक के अन्दर पाप-चिन्तनका विलास उत्पन्न होता है। अनुताप की भावना के पीछे यह चेतना, यह तत्त्व विद्यमान है कि मनुष्य स्वभावतः कलुषित है, उसकी प्रकृति मूलतः दूषित है—इसी कारण ईसाई साधकों ने दुःख-दैन्य, वेदना और ग्लानि को साधना के अनिवार्य अंगके रूपमें वरण किया है। इसीलिये रसिकशिरोमणि अनातोल फ्रांस व्यंग करते हुए कहा करते कि पाप किये बिना कोई ईसा का भक्त नहीं हो सकता, तुम जितना अधिक पाप करोगे उतना ही अधिक पुण्यवान् बननेका तुम्हें अधिकार हो जायगा—अधिक पाप का अर्थ है अधिक अनुताप और अधिक अनुताप का अर्थ है अधिक भगवत्कृपा।

हम पहले ही कह चुके हैं कि यह मार्ग हम लोगों के लिये नहीं है। भगवत्कृपा की बात ठीक है—भगवान् की कृपा के बिना कुछ भी नहीं होता। और भगवत्कृपा एक दृष्टि से अहैतुकी होती है—परन्तु इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि 'जगाई-मधाई' की तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन यापन करना ही आध्यात्मिक साधना का साधारण नियम है। साधारण नियम तो यह है कि एक क्षेत्र प्रस्तुत होना चाहिये, सत्ता और चेतना का गठन एक विशेष प्रकार का होना चाहिये, उनके अन्दर एक विशेष प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिये जिसमें भगवत्कृपा अवतरित, प्रकट हो सके और उसकी लीला संभव हो सके। क्योंकि जिस तरह भगवत्कृपा की बात सत्य है उसी तरह यह भी सत्य है कि जीव मूलतः भगवान् के साथ एक है, पाप और अज्ञान उसके बाहरी आवरण हैं; उसका स्वाभाविक अधिकार है भगवत्साधर्म्य। इसीलिये हम लोग मनुष्यके इस प्रच्छन्न अंगके ऊपर, जीव की स्वाधीन इच्छाशक्ति के ऊपर, उसके भाग्यनियंता पुरुषार्थ के ऊपर भी एक समान ही जोर देते हैं। क्योंकि अज्ञान या अर्धज्ञान के क्षेत्रमें, चेतना के अपराधं में वही शक्ति साक्षात् रूप में ऐसा आयोजन करती है, ऐसी व्यवस्था उत्पन्न करती है जिसे आधार बनाकर भागवत कृपा पूर्णता प्राप्त कर सके, अखण्ड सिद्धि को मूर्तिमान् बना सके।

इसीलिये आज श्रीमां ने हमें यह निर्देश दिया है कि बाहरी पदस्खलन हमारी बाहरी प्रकृतिके लिये स्वाभाविक होने पर भी अब, जब कि हमारे भीतर बोध आ गया है, अपनी भूल देखने और स्वीकार करने योग्य दृष्टि और सचाई प्राप्त हो गई है—हम मान लेते हैं कि हमारी इतनी उन्नति हो गयी है—तब हमें थोड़ा सजग हो जाना चाहिये, हमें अपने प्राणावेग के ऊपर, स्नायुमंडल के ऊपर इतना संयम अवश्य ले आना चाहिये कि भ्रान्त वृत्तिका तरंग फिर कभी न उठे, हमारे शारीरिक आयतनपर, कर्मक्षेत्रपर आक्रमण न करे। यह अवस्था जब हमें प्राप्त होगी तभी हम चेतना के एक दूसरे स्तर में उठनेके अधिकारी हो सकेंगे; तभी वास्तवमें हम नयी सृष्टि की नींव डाल सकेंगे—शुद्धिके साथ-साथ सिद्धि भी आकार धारण करना आरंभ करेगी।

(२)

यहां तक तो हमने व्यक्तिगत साधना की बात कही। परन्तु नववर्षकी यह प्रार्थना केवल हमारी व्यक्तिगत साधनाके अन्दर ही आबद्ध नहीं है, बलिक विशेष रूपसे इसका प्रयोग-क्षेत्र है समष्टिगत, समाजगत चेतना। आजकलके दुर्दिनमें यह मानवसमाजकी ही निभृत मर्मवाणी है। इसी मन्त्र के द्वारा, इसी मन्त्र का अक्षय कवच पहनने पर मानव समाज का समष्टिगत जीवन अपनी सार्थकता को प्राप्त होगा। हमने बार-बार कहा है कि वर्तमान जगत् की खास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषता यह है कि यह देव और असुर का कुरुक्षेत्र बन गया है। अवश्य ही देवासुर-संग्राम सृष्टि का चिरंतन सत्य है और अनादि काल से आज पर्यन्त निरन्तर होता आ रहा है—विश्व के अन्तर्लोक की यही है सर्वप्रधान घटना, उसका उत्तम सत्य, तत्त्व और रहस्य। फिर भी यह कहना ही होगा कि आजकल के स्थूल जगत् में यह सत्य जितने अंश में मूर्त्तिमान् और सक्रिय हुआ है, जितने अंश में मानवजाति के, मानवसमाज के भाग्यविपर्यय का कारण बन गया है उतने अंश में और कभी नहीं हुआ था। वर्तमान समय का यह महाप्रलय इस समस्या का समाधान करने में प्रवृत्त हो रहा है कि आखिर मनुष्य अपनी अर्ध-पाशविक गोत्र-पदवी को अतिक्रम करके पूर्ण मनुष्यत्व में, यहां तक कि देवत्व में ऊपर उठ सकेगा अथवा एकदम पशुप्रकृति के अन्दर ही फिर से वापस चला जायगा।

गत वर्ष श्रीमां की वाणी ने स्पष्ट ही कह दिया था कि अब द्विधाका समय नहीं, हमें पूर्ण रूप से एक पक्ष का त्याग करना होगा, उसके सब प्रकार के प्रभावों से पूर्णरूपेण मुक्त होना होगा और निस्संकोच, अकुण्ठित होकर दूसरे पक्ष को ग्रहण करना होगा। पृथ्वी के, मानवजीवन के संधिक्षण में यह पक्षावलंबन करना ही होगा—अति-ज्ञानी, अति-उदार की तरह यह कहने से काम नहीं चलेगा कि दोनों ही पक्ष समान हैं, हम इन दोनों से बाहर या ऊपर हैं। आज निष्पक्ष के लिये कोई स्थान नहीं—जो निष्पक्ष होने का स्वांग रचाते हैं वे सत्यपक्ष के विरोधी हैं—who is not with us is against us—जो हमारे साथ नहीं है वह हमारे विरुद्ध है।

हम लोगों को, जिन्होंने ज्योतिका, क्रमोन्नति का, महान् भविष्य का पक्ष ग्रहण किया है, इस विषय में समुचित रूप से सचेतन होना चाहिये कि हमारे ऊपर कितना बड़ा उत्तरदायित्व आ गया है। केवल पथ चुन लेने से ही सब कुछ नहीं हो गया; उसके बाद हमें पग-पग पर यह देखना होगा, यह जांच करनी होगी कि हम ठीक-ठीक उस पथ पर चले जा रहे हैं या नहीं, कहीं हमारा पदस्खलन तो नहीं हो गया है, कहीं हम पथभ्रष्ट तो नहीं हो गये हैं, कहीं हम अनजान में किसी चोरगली में तो नहीं घुस पड़े हैं। विश्व के रणांगन में हमारे पक्ष के जिन योद्धाओं ने यह अनुभव किया है, यह घोषणा की है कि हम साम्य, मैत्री, स्वाधीनता और शान्ति के अग्रदूत हैं, नवीन भविष्य के, श्रेष्ठतर मानवसमाज के नबी, पुरोहित हैं, उनके सामने भी आज अग्निपरीक्षा उपस्थित हुई है। आज उनके लिये भी सजग, सतर्क होने का समय आ गया है, उनके बाहरी कर्म में भी ठीक-ठीक वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात मूर्त्तिमान् होनी चाहिये जिसे उन्होंने मुंह से कहा है, जिसे कल्पना के अन्दर निर्धारित किया है। उन्हें काया-मनसा-वाचा यह प्रमाणित करना होगा कि उनकी समग्र सत्ता एक है, अखंड है।

आज इस नववर्ष के प्रारंभ में हमें स्मरण रखना होगा कि हमने किस उद्देश्य को सामने रखकर, किस प्रेरणा को साथ लेकर वर्तमान दारुण कर्मक्षेत्र में पदार्पण किया है और किस प्रेरणा और योग्यता के प्रसाद से हमारी विजय संभव होने जा रही है। हम जिन्हें प्रकृति की क्रमोन्नति के सहायक के रूप में जानते और मानते हैं उन्हें निरन्तर इस सत्य का अनुधावन करना चाहिये कि अगर आज विजय की संभावना दिखायी देती हो तो वह ठीक उनकी सच्चाई के अनुपात में ही दिखायी देती है—उनकी निभृत चेतना की अभीप्सा ने जिस महाशक्ति की करुणा का आवाहन किया है उसी शक्ति के इन्द्रजाल से विजय की संभावना दिखायी देने लगी है। और जो आज संभव दिखायी देता है वह ठीक-ठीक तभी वास्तविकता में परिणत होगा जब हम बराबर उसी भाव का अनुसरण करते रहेंगे जिस भाव को लेकर आज तक चलते आये हैं। अन्यथा, अगर हम अपनी इस निष्ठा को खो दें, प्राचीन संस्कार की धारा में जा गिरें, अगर हम पुराने अभ्यास के वश, आशु लाभ के, स्वार्थ के प्रलोभन में पड़कर, संकीर्ण समाजगत सीमाबद्ध अहंकार के आकर्षण के कारण अपने अन्तःपुरुष की बृहत्तर चेतना को क्षुण्ण और क्षुब्ध कर डालें, किसी-न-किसी प्रकार से उसे अस्वीकार करें तो जिस अशुभ शक्ति को पराजित करने के लिये हम आज प्राणपण से चेष्टा कर रहे हैं, पीछे फिर उसीके प्रभावमें पड़ जायेंगे। यहां तक कि अगर हमारी बाहरी जीत हो भी जाय तो भी वह वास्तव में हमारी हार ही होगी। वास्तव में उसका अर्थ होगा सारे किये-कराये पर पानी फेर देना, कार्य को फिर नये सिरे से आरंभ करना। प्रकृति अपने लक्ष्य को कभी व्याहत नहीं होने देगी, फिर से उसे एक गर्भयंत्रणा स्वीकार करनी होगी और वह यंत्रणा होगी और भी निदारुण।

परन्तु हम ऐसे विपर्यय की आशंका नहीं करते। हम आशा करते हैं, पूरा भरोसा रखते हैं कि प्रकृति की ही निभृत प्रेरणा, महाशक्ति की ही एषणा मनुष्य को, मानवसमाज को अज्ञान के हाथ से मुक्त करेगी, सुबुद्धि और सत्य प्रेरणा प्रदान करेगी।

—श्री नलिनीकान्त

'श्रीअरविंद-मंदिर' की अष्टम वर्त्तिकासे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वसन्त

मुझ में भी कुछ सुमन खिला दो ॥

सब तुमको देते पुष्पाञ्जलि, लेकिन खाली हाथ खड़ा मैं।
जगती को क्या मुँह दिखलाऊँ, इस असमंजस बीच पड़ा मैं ॥
माधव के तक पहुंच न मेरी, माधव से मां! मुझे मिला दो—

देवि! तुम्हारे चरण स्पर्श से, धूलमात्र भी सार्थक होती।
वह बनकर पराग का सोना, पुष्प अङ्कमें जाकर सोती ॥
श्री पदरज की इस विभूति की, दो चुटकी मां! मुझे दिला दो—

ओस-अश्रु जो पाला बनकर, हरे खेत को शुष्क बनाता।
वही तुम्हारे शुभागमन में, नव-मधुऋतु का साज सजाता ॥
अश्रुरूप में ही चरणामृत के, मुझको दो बूँद पिला दो—

सुना तुम्हारी वीणा का स्वर, कोकिल के स्वर में लहराता।
सुना कि कोकिलका गायन ही, पतझड़को मधुमास बनाता ॥
अपनी उंगलियों से छूकर, मेरे भी उर तार हिला दो—

कटु कांटों में फूल लगाकर, तुम कटुता को मृदुल बनाती।
काली कोयल को गायन दे, तुम उसकी कालिमा मिटाती ॥
यहां कालिमा, कटुता दोनों, इससे मुझको दुगुण खिला दो—

सुमन गीत का रूप दूसरा, दोनों ही अन्तरोद्‌गार हैं।
दोनों में कुछ भेद नहीं है, दोनों ही लाते बहार हैं ॥
सुमन, गीत दोनों को, मेरे जीवन में हे अम्ब मिला दो—

नहीं किसी को भी तुमने मां! अबतक निराश किया है।
जिसने तुमसे जो-जो मांगा, उसको तुमने वही दिया है ॥
मैं तुम पर बलिदान हो सकूँ, इससे फिर-फिर मुझे जिला दो—

—श्री जगन्नाथप्रसाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टि-मिलन

इस संसार-सागर के उतार-चढ़ाव में कई प्रकार की आंखें देखने में आईं। बचपन में माता-पिता, दादा-दादी की वात्सल्यमयी आंखें तो देखीं ही, पर साथ में छोटे भाई-बहिनों, सखी-सहेलियों की शरारत-भरी पर सरल, बात-बात में मचलने और रूठने वाली आंखें भी भूली नहीं हूँ। और फिर बड़े होकर तो कई प्रकार की आंखें देखीं। दुःख, गर्व, विश्वास, निराशा, सामर्थ्य, विवशता, न जाने क्या-क्या भाव लिये ये सिनेमा के दृश्यों की तरह मेरे सामने घूमी हैं।

छोटी-छोटी, गोल-गोल, धूमिल सी, बड़े से चेहरे पर स्थित, सर्वथा भाव-शून्य आंखें देखने में आयीं। इनमें कहीं कुछ नहीं जो दो दूसरी आंखों को अपनी ओर खींच सके। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो वे भीख मांग रही हों—हमारे हिस्से में कुछ नहीं आया है। ऐ दुनिया के लोगो! हम पर कृपा-दृष्टि रखना, नहीं तो हम बेमौत मारी जायेंगी।

बड़ी-बड़ी, कटोरे जैसी, स्वच्छ स्फटिक के समान, हिरण की आंखों को मात करने वाली आंखें भी देखीं। बरबस मुँह से निकल गया—वाह! कैसी सुन्दर हैं ये आंखें! पर जब जरा गहराई में देखा तो! ओह! मुंह फेर लिया। ईर्ष्या, व्यंग्य, घृणा के भाव झरोखों में से झांकते नजर आये। अभी उस दिन सड़क पर जाते हुए, पटड़ी के किनारे बैठी उस भिखारिन की लड़की की आँखों से भी मैंने आँखें मिलाई थीं। करुणा, दया की भीख मांगते वे दो तारे मानो पुकार-पुकार कर अपनी ओर बुला रहे थे। मैं जरा और गहराई से बढ़ती चली गई। ओह! वहां भी उस करुणा के पीछे तृष्णा, लोभ, मत्सर आदि जल-जन्तु तैरते नजर आये। घर के लोगों की आंखें तो खूब ही देखी थीं। उनमें प्रेम था, ममता थी, सहानुभूति तथा सहृदयता थी। परन्तु ईर्ष्या, व्यंग्य आदि भी जगह जगह अपनी झलक दिखा जाते थे। पर जो बरबस अपनी ओर खींचकर अपने में मिला लें ऐसी आँखें कहीं नहीं दिखाई पड़ीं। अपने निकट से निकट सम्बन्धी की आँखें भी उस परम वस्तु से वंचित थीं। पर हृदय की यह खोज चलती रही। वह कहीं ऐसी आँखें ढूंढ रहा था जो उसके अन्तर तक भेद जायें, उसके साथ पूर्णरूपेण एकाकार हो जायें। पर कहां! यह तो एक मृगतृष्णा मात्र थी। ऐसी आँखें मनुष्य-देह पर मिलनी क्या कभी सम्भव हैं? सुनते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं गोपियों ने कृष्ण की आँखों में यही झाँकी पाई थी जिसके लिये उन्होंने अपना सब कुछ उन पर न्योछावर कर दिया था। पर कौन जाने यह कोरी कल्पना-मात्र है या कुछ और। इसको कल्पना न कहें तो और कहें भी क्या? वह अनन्त-सौन्दर्य, अनन्त-ज्ञान और अनन्त-आनन्द वाला देव मनुष्यदेह ले कर, देवकी के पुत्र के रूप में, सामने आ गया; पहले तो यही सम्भव नहीं लगता। जो सब के निकट से निकट होते हुए भी इतनी दूर है और दूर से दूर होते हुए भी इतना निकट प्रतीत होता है, वह इस तरह मनुष्य-मात्र के इतना निकट आ जाय और निकट आ कर फिर कैसे सब में—मामूली ग्वालबालों तक में घुलमिल जाय! यह सब यह परिमित बुद्धि स्वीकार नहीं करती। इसी लिये तो इसे कल्पना-मात्र कहते हैं। पर उस अलभ्य वस्तु को पाने, उसे समझने, उसमें अपने आप को लीन कर देने की जो प्रवृत्ति मनुष्य-मात्र में, अचेत या सचेत रूप में, अनन्त काल से चली आ रही है, उसका समाधान कैसे हो? यदि यह सब सम्भव नहीं, कोरी कल्पना ही है तो फिर यह आकांक्षा क्यों? यह जिज्ञासा की पिपासा किस लिये? खैर जो कुछ भी हो, अब मालूम पड़ता है कि इस हृदय को भी कुछ इसी प्रकार की अन्वेषणा थी। हां, वह अपनी इच्छित वस्तु किन्हीं आँखों में खोज रहा था।

पर अब वह निराश हो चला था। उसने वह अपनी आँखों की खोज अब प्रायः समाप्त सी कर दी थी। पर उस जादूगर की विचित्र माया तो देखो। एक दिन अनायास ही ऐसी आँखें सामने आईं। हृदय कुछ ठिठक सा गया। क्या है इनमें! एकबारगी ही कुछ समझ में नहीं आया। बुद्धि भी आगा-पीछा करने लगी। ऐसी अनोखी आँखें तो किसी शरीर-धारी की हो नहीं सकतीं। गहरी गहरी अथाह समुद्र सी। कहीं कुछ पकड़ में ही नहीं आता। पकड़ में भी क्या आये? सामने दृष्टि ठहरे तब न? वहां तो एक झलक में ही ये, प्रकाश के देखने में अनभ्यस्त आँखें सकपका सी जाती थीं। सदा अंधेरी कोठरी में रहने वाली दिन के उज्ज्वल प्रकाश में ठहर नहीं पा रही थीं। पर धीरे धीरे इनकी दुर्बलता दूर होती चली गई।

फिर एक दिन वही आँखें थीं। हां, थी तो आँखें ही, साधारण बिलकुल साधारण। पर जब उनकी ज्योति, उनका उज्ज्वल प्रकाश उस दिन इन आँखों पर पड़ा तो मानो मैंने एकबारगी ही अपना सब कुछ उनके आगे बखेर दिया हो—देख लो, अच्छी प्रकार देख लो। तुम से बचा कर क्या कहां रखूंगी। फिर ऐसा जान पड़ा, मानो उन आँखों ने सब कुछ देख लिया, सब कुछ समझ लिया और अपनी भाषा में बोलीं—समेट लो, सब समेट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लो। अब इनमें से कुछ भी मेरे से दूर नहीं रहेगा। मेरे प्रकाश में इन की जन्मजन्मान्तरों की मैल धुल जायगी। उत्तर में इन आँखों ने कृतज्ञता प्रकट की थी।

फिर एक दिन वही आँखें! उस दिन मन कुछ क्षुब्ध था। किस कारणसे यह नहीं याद पड़ता। और मन को क्षुब्ध होने को भी क्या किसी कारण की जरूरत पड़ती है? जब उसने क्षुब्धता के आनन्द का उपभोग करना चाहा, तभी उसको याद किया। वह भी स्मरण करते ही भक्तों के पास दौड़ी आती है। हां, तो तब भी उन्हीं आँखों ने अपना प्रतिबिम्ब मुझ पर डाला, मानो भर्त्सना कर रही हों—छिः! इतनी दुर्बलता! क्या मेरा प्रकाश इस अन्धेरेको दूर करने के लिये काफ़ी नहीं था? फिर वे मेरी आँखोंमें गहराई से उतरती चली गईं, गड़ती गईं, मानो ठीक तहमें डुबकी लगा कर दुःखके कीड़े को वहीं भस्म कर देंगी। मन एकबारगी ही कुछ सकपका सा गया। इस क्षुब्धताके आनन्द पर वह दूसरे की दृष्टि नहीं पड़ने देना चाहता था। वह सहम गया, कहीं हाथ आई वस्तु छिन न जाय। उसको बचानेके लिये वह हाथ पैर मारने लगा। अन्त में यही सूझा कि इन आँखों को ही समझाया जाय। यह द्वार ही बन्द हो जायगा तो चोर घुसेगा कहां से। चटसे आज्ञा दे ही तो दी—मत देखो, उन ज्वलन्त, धधकती हुई तीव्र शिखाओं की ओर से मुँह फेर लो। वे तुम्हें जला डालेंगी। आँखें इधर उधर करने लगीं। सचमुच ही वे उन चमकती हुई दो मणियों के सम्मुख ठहर नहीं पा रही थीं। ये एक क्षण के लिये झुक गईं। 'उन्हों' ने यह विवशता ताड़ ली। फिर जो आँखें उठीं तो दो करुणा और प्रेम के अथाह समुद्र लहरें मारते दिखाई पड़े। विश्वास नहीं हुआ। क्या ये वही आँखें हैं? वह अग्नि, वह तीव्रता कहां गई? ओह! ये स्वच्छ, स्निग्ध, निर्मल जल के स्रोत क्या उन्हीं तप्त शिलाओं के पीछे छुपे थे। इतने में-ये स्रोत झर्झर शब्दमें बोल उठे—ओह! तुम डर गईं! पगली कहीं की। वह तो मनका मैल भस्म कर देने भर को अग्नि थी। चल तू डरती है तो जाने दे। इस प्रेम के प्रवाह में भी तेरी क्षुब्धता बह सकेगी। यह कह कर वे आँखें एक अनूठी अदा से मुस्कराईं और बोलीं—चिन्ता मत कर, तू हमारी है। हमारा प्रकाश तुझे सदैव रास्ता दिखायेगा। उत्तर में ये आँखें खिल उठीं। फिर एकबारगी ही सजल हो गईं। अनायास ही मुँहसे निकल गया—मैं क्या जानूँ क्या जादू है......

— श्री लीलावती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्णयोग-विचार

ले० —स्वामी शुद्धानन्द जी भारती

सबसे पहले हम पूर्णयोगके उन पूज्य आचार्यके चरणकमलोंमें अपना नमस्कार निवेदन करते हैं जो इस पृथ्वी पर वर्तमान अमरता की सन्तानोंके आध्यात्मिक संघके पिता-माता हैं, जो उस अद्भुत सत्य-ज्योति के पूर्ण विग्रह हैं जिसका स्पर्श ही रूपान्तर है, जिसके साथ एकत्व स्थापित करना ही योग है, जिसकी सेवा करना ही शुद्धिकरण है, जिसका प्रेम ही जीवनी शक्ति है। उन अतिमानव जातिके महामहिम श्रीगुरु के आशीर्वादसे हमारी बुद्धि आलोकित हो और हमारे अन्दर उस सत्यकी प्रेरणा हो जो योगयुक्त जीवन प्राप्त करनेकी साधना करने वाले साधकोंके समस्त सन्देहोंको दूर कर सके। अब हम प्रश्नोत्तर रूप में विषय को रखते हैं।

प्रश्न—योग है क्या ? आखिर उसका जीवन में उपयोग क्या है ?

उत्तर—योग का अर्थ है भगवान् के साथ एकत्व प्राप्त करने की चेष्टा करना। योग के द्वारा जब मनुष्य आत्मा के साथ, जो आत्मा भी प्रभु की मूर्ति है और विश्वसत्ता का सर्वोच्च शिखर है, उसके साथ निरन्तर आन्तरिक सम्बन्ध बनाये रखता है तब उसका उच्चतर विकास बहुत शीघ्र साधित होता है, भागवत चेतना के अन्दर वह दूसरा जन्म प्राप्त करता है।

प्रश्न—पूर्णयोग क्या है ? अन्य योगों में और उस में क्या अन्तर है ?

उत्तर—पूर्णयोग वह सर्वाङ्गपूर्ण योग है जिसका आदर्श है सांसारिक जीवन और आध्यात्मिक पूर्णता के बीच सर्वविजयी सामंजस्य स्थापित करना। जीवन को बिना खोये भगवान् को प्राप्त करना, मुक्ति और पूर्णता को प्राप्त मानव-जीवन के अन्दर भगवान् और प्रकृति का पुनर्मिलन साधित करना। 'पूर्ण' शब्द ही यह सूचित करता है कि यह योग मनुष्य को पूर्णत्व प्राप्त कराता है। अर्थात् यह आत्मा के अन्दर जीवन को पूर्णत्व प्रदान करता है, सार्थक बनाता है। यह जीवन के किसी भी भाग को, चाहे वह शरीर, प्राण या मन किसी से भी सम्बन्ध रखने वाला क्यों न हो, न अमान्य करता है, न अस्वीकार करता है और न त्याग करता है। यह जीवन-प्रदीप को शाश्वत आत्म-ज्योति से प्रज्वलित करता है। यह मनुष्य के अन्दर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निहित भगवत्ता के दृढ़ आधार के ऊपर समाज-रूपी एक महिमान्वित प्रासाद का निर्माण करता है। वैदान्तिक योगों का उद्देश्य है आत्मा के अन्दर जीवन को लय कर देना; परन्तु आत्मा में जीवन प्राप्त कराना पूर्णयोग की विशेषता है; पुराने सभी योग प्रायः आत्म-केन्द्रित थे और इहजीवन से उन का कोई सरोकार नहीं था, वे केवल परलोक से ही सम्बन्ध रखते थे। वे इस गतिशील जगत् को स्वप्न, माया और मृगमरीचिका समझ कर इस से दूर ही रहे और निराकार ब्रह्म में स्वात्ममुक्ति और निर्वाण प्राप्त करने की चेष्टा में लगे रहे। उन्होंने समाधि को ही सब से अधिक महत्त्व प्रदान किया और मन को एकदम स्थिर बना कर अथवा यों कहें कि मार कर ही शारीर चेतना को पूर्ण रूप से शान्त, निस्तब्ध बनाने की चेष्टा की। पूर्णयोग विभेदमूलक अहंकार का तो पूर्ण नाश करना चाहता है, परन्तु स्वात्ममुक्ति के लिए प्रयास नहीं करता, बल्कि विश्वात्मा भगवान् के अन्दर समस्त मानवसमाज को पूर्णत्व प्रदान करना चाहता है। यह व्यक्तिगत या स्वार्थमयी मुक्ति के लिए नहीं, बल्कि मानवता के अन्दर भगवान् की अभिव्यक्ति के लिए प्रयास करता है। यह 'पूर्ण' इसी लिये है कि यह मनुष्य के अन्दर भगवान् को, नर के अन्दर नारायण को, इस जड़ पृथ्वी के ऊपर स्वर्गीय आनन्द को अभिव्यक्त करता है; यह शरीर-प्राण-मन की वेदी पर आत्मा के सौन्दर्य, सामंजस्य, प्रेम, शक्ति और सत्य की मूर्ति को प्रतिष्ठित करता है; यह जीवन के अन्दर आदर्श और वास्तविकता को एक करता है। यह मनुष्य को शरीर, प्राण और मन के अन्दर आबद्ध एक आध्यात्मिक सत्ता समझता है और उसकी चेतना को विस्तृत कर के, विकसित कर के उसे एक ऐसे उच्च स्तर में उठा ले जाना चाहता है, जहां वह बहु के अन्दर एकत्व को देख सके, और विश्व-चेतना के अन्दर पहुँच कर विश्वचैतन्यमय व्यक्ति बन सके। यह एक सहज आन्तरिक जीवन के द्वारा जीवन के सभी भागों और उन की गतियों को इस प्रकार आत्मभावापन्न बना देता है कि मनुष्य का समूचा जीवन ही एक महान् विश्वव्यापी योग बन जाता है, दिव्य जीवन की एक समष्टि-साधना बन जाता है, बाहर और भीतर आत्मा के विधान द्वारा परिचालित जीवन बन जाता है। यह केवल शुद्धता, निम्न प्रकृति के अहंकार और अज्ञान से मुक्ति ही नहीं वरन् इस पृथ्वी पर ही आत्मा के अन्दर प्रतिष्ठित जीवन का पूर्ण आनन्द प्रदान करता है। थोड़े में यह कहा जा सकता है कि यह जीवन को भगवान्मय, दिव्य बनाता है और पृथ्वी को स्वर्ग, दिव्य धाम में रूपान्तरित करता है।

प्रश्न—क्या अन्य योगों के लिये ऐसा करना संभव नहीं था ?

उत्तर—अब तक इस बात का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता कि वास्तव में किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योगमार्ग ने या धर्म ने सारी मनुष्यजाति को रूपान्तरित कर आत्मामय बना दिया हो, और वास्तव में विश्वात्मा के आधार पर सारे मनुष्य-संघ के जीवन को नये रूप में संघटित किया हो। इस प्रकार की परिपूर्णता तो केवल तभी प्राप्त की जा सकती है जब सत्य-ज्योति के अतिमानस स्तर को आधार बनाया जाय जहां तक इस से पहले कोई भी अन्य योग नहीं पहुँच सका था। वैदिक ऋषियों ने उस सुनहले दरवाज़े पर धक्का ज़रूर लगाया था जो अतिमानस स्तर को ढके हुए है परन्तु उसके कई शताब्दियों बाद अब इन पूर्णयोगी ने ही अपनी महान् साधना के द्वारा उसे उन्मुक्त किया है। अब वह दिन-रात इस बात के लिए अथक परिश्रम कर रहे हैं कि एक ऐसा मार्ग खोल दें जिसमें सारी मनुष्यजाति उस परम सत्य-चैतन्य के स्तर में आसानी से पहुँच सके।

प्रश्न—मैं आपके 'अतिमानस' शब्द को बिल्कुल नहीं समझ सका। यह मेरी बुद्धि की पहुँच के बाहर प्रतीत होता है। इसका क्या कारण है ?

उत्तर—यह बात बिलकुल स्वाभाविक ही है कि जिसने कभी चीनी न खायी हो वह उसकी मिठास को केवल उसके विषय में सुन कर या पढ़ कर कुछ समझ न सके; अथवा कोई भी आदमी केवल एटलस (नक्शा) के द्वारा पेरिस की भव्यता को न जान सके। जो चेतना पत्थर में सोई हुई है वह पेड़-पत्तों के अन्दर जगती और कुछ-कुछ दुःख-सुख आदि का बोध प्राप्त करती है, पशुओं में आकर इन्द्रियानुभूति को पाती है और अन्त में मनुष्य के अन्दर विचार करने की योग्यता प्राप्त करती है। एक पौदा, चाहे जितना भी बड़ा क्यों न हो, विचार-धर्मी मनुष्य की महत्ता को कभी नहीं समझ सकता और न एक पशु के लिये ही उसे समझना संभव है। उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी सीमित अर्द्धप्रकाशित मन-बुद्धि के द्वारा अतिमानस स्तर के जाज्वल्यमान प्रकाश की धारणा नहीं कर सकता।

प्रश्न—खैर कोई बात नहीं; तब क्या आप यह समझाने की कृपा करेंगे कि पुराने योगमार्ग क्या थे, उनका उद्देश्य क्या था, उन की साधना और फल क्या था और इस तरह यह साधित करके दिखायेंगे कि आप के पूर्णयोग से इनकी अपेक्षा क्या अधिक लाभ प्राप्त होता है ?

उत्तर—अवश्य; हम संक्षेप में आपको यह बतलाने की चेष्टा करेंगे कि हठ, राज, कर्म, भक्ति और ज्ञान योग जिन्हें वैदान्तिक योग कहते हैं और इन से भी अधिक समन्वयात्मक जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तान्त्रिक योग है, उन सब के उद्देश्य, साधनपद्धतियां और संभावनाएं क्या हैं। ये ही प्रधान योगमार्ग हैं जो विशेषकर प्रचलित हैं। शुद्धि करना, मन को एकाग्र करना, आत्मा में समाहित होना और मुक्ति प्राप्त करना इन सब की मुख्य साधन-क्रिया है।

हठयोगी नाना प्रकार की कष्टसाध्य जटिल शारीरिक प्रक्रियाओं के द्वारा—आसन, वस्ति, धौति, प्राणायाम, बन्ध और मुद्रा आदि के द्वारा अपनी नाड़ियों को शुद्ध करता है और अपने भौतिक आधार को शक्तिशाली बनाता है जिस में वह विश्वव्यापी प्राण-समुद्र से आने वाली प्राणशक्तियों को अधिकाधिक धारण कर सके। हठयोग के द्वारा पूर्ण स्वास्थ्य, बल और दीर्घ जीवन प्राप्त होता है, परन्तु इस के सारे फल इस से कहीं अधिक आसानी से राजयोग और तन्त्रयोग के द्वारा प्राप्त हो सकते हैं।

राजयोगी आत्मा के साथ एकत्व प्राप्त करने के लिये अष्टांग-प्रक्रिया का अनुसरण करता है। इस के आठ अङ्ग हैं—यम (नैतिक पवित्रता जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के द्वारा प्राप्त होती है); नियम (आत्मसंयम जो अन्तः और बाह्य शुद्धि, संतोष, तपस्या, शास्त्राध्ययन और भगवत्पूजा का फल है); आसन (कोई दृढ़स्थायी और सरल आसन जैसे पद्मासन या सिद्धासन जो सिर, पीठ और छाती को सीधा रखे); प्राणायाम (८:३२:१६ के अनुपात से पूरक, कुंभक और रेचक के द्वारा श्वास-प्रश्वास को संयत करना जिससे भीतरी क्रियात्मिका शक्ति अर्थात् कुंडलिनी जागृत हो जाय); प्रत्याहार (चंचल मन को स्थिर करना और इस के द्वारा आत्मनिरीक्षण करना); धारणा (आत्म-केन्द्र में मन को एकाग्र करना); ध्यान (हृदयगुहा में या सहस्रार में चेतना को ले जाना); समाधि (उच्च चेतना में जा कर लीन हो जाना; यह अवस्था ऐसे गहरे ध्यान के द्वारा प्राप्त होती है जिस में मन-प्रज्वलित आत्मा का भोजन बन जाता है)। राजयोग एकाग्रता, ध्यान और समाधि आदि आन्तरिक प्रक्रियाओं के द्वारा कोई भी शक्ति प्राप्त कर सकता है। राजयोग मन को वश में करता है और आन्तर राज्य पर अद्भुत अधिकार प्राप्त करता है; परन्तु वर्तमान काल में इसका जो रूप है वह समाधि और आत्मलीनता को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान कर बाह्य जीवन की उपेक्षा करता है। केवल आन्तरिक साम्राज्य (स्वाराज्य) को ही जीतना नहीं वरन् आन्तरिक चेतना के द्वारा बाह्य साम्राज्य को भी अधिकृत करना (साम्राज्य-सिद्धि) हमारा लक्ष्य है।

कर्म, भक्ति और ज्ञानयोग, जिन्हें एक साथ त्रिमार्ग कहते हैं और जिन्हें जैसा कि आजकल लोग इन की अलग-अलग साधना करते हैं, क्रमशः इच्छा-शक्ति, हृदय और बुद्धि का योग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी कह सकते हैं, केवल सीमित फल ही प्रदान करते हैं। मुक्ति, परिवर्तनशील प्रकृति के जीवन से मुक्ति प्राप्त करना इन का एक उद्देश्य है। कर्मयोगी भगवान् के प्रति उत्सर्ग का भाव रख कर, कर्मों को भगवान् के प्रति अर्पण कर के, कर्मफल तथा कर्तृत्वाभिमान का त्याग कर के मन तथा इच्छाशक्ति को शुद्ध करता है और इस साधना के द्वारा उस भागवती शक्ति के विषय में सचेतन होता है जो सारे संसार को और जगत्-जीवन के सारे विभिन्न कर्मों को स्वतः-प्रसूता सृष्टि-प्रकृति के द्वारा परिचालित कर रही है। कर्मयोगी उन परम प्रभु का ज्ञान प्राप्त करता है जो संसार के स्वामी हैं और इस विश्व-जीवन की सारी छोटी-मोटी बातों को अपनी इच्छा-शक्ति के द्वारा व्यक्ति को अपनी शक्ति का केन्द्र, यन्त्र बना कर परिचालित कर रहे हैं। भक्त मनुष्य-जीवन के सभी प्रेमसंबन्धों को सर्वप्रियतम, सर्वसुन्दर, सर्वानन्दमय प्रभु के प्रति निवेदन कर उन्हें अत्यन्त हार्दिक प्रेम के साथ पुत्र, माता, सखा, प्रभु या प्रियतम के रूप में पूजता है, जैसे यशोदा, प्रह्लाद, रामकृष्ण, अर्जुन, हनुमान् और राधा आदि ने किया था। इस प्रकार की साधना के द्वारा भक्त विश्वातीत भगवान् के अन्दर लीन हो जाने की चेष्टा करता है। ज्ञानी ध्यान और आत्मनिरीक्षण के द्वारा आत्मकेन्द्र में पहुँचता है; मैं यह नामरूपात्मक जगत् नहीं हूँ, तब मैं कौन हूँ ? मैं वह हूं, ब्रह्म हूँ, आत्मा हूं, इस तरह सदा-सर्वदा ज्ञानयोगी विचार करता है और अपने सच्चे स्वरूप को पाता तथा उसी में निमग्न हो जाता है। इस तरह ये तीनों योग अलग-अलग एक प्रकार के सीमित ही फल देते हैं और मनुष्य को परलोक की ही ओर आकर्षित करते हैं। परन्तु पूर्णयोग में ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों योगों का समन्वय किया गया है। इस का ज्ञान इस अर्थ में पूर्ण है कि यह आत्मज्ञान के साथ-साथ यह ज्ञान भी प्रदान करता है कि यह चर सत्ता, नामरूपात्मक जगत् भागवत चेतना का ही खेल है, ब्रह्म ही आत्मा है और इस नामरूपात्मक जगत् में जो कुछ है वह सब भी ब्रह्म ही है। पूर्णयोग का पूर्ण प्रेम समस्त मानवीय भावावेग, इन्द्रिय-बोध और रसबोध को भागवत स्तर पर उठा ले जाता है और हृदय के प्रेम को विश्वप्रेम के रूप में सर्वभूत की प्रसन्नता के लिए अभिव्यक्त करता है। यह समस्त मनुष्यजाति को भगवान् के अन्दर विद्यमान एक शरीर के रूप में देखता है। पूर्णयोग का पूर्ण कर्म मानवीय संकल्पशक्ति और कर्म को भागवत स्तर पर उठा ले जाता है और व्यक्ति को विश्वकर्म के अन्दर, जिसमें वह भगवान् का हाथ देखता है, निरहंकार हो कर भाग लेने की योग्यता प्रदान करता है। पूर्णयोगी आत्मा और विश्व के अन्दर भगवान् को विराजमान देखता है, प्रत्येक प्राणी के साथ, उस एक भागवत शक्ति का केन्द्र समझ प्रेम करता है जिस की ही लीला यह सब कुछ है, और जीवन को विश्वसत्ता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्दर निहित भगवान् की एकनिष्ठ पूजा के रूप में परिवर्त्तित करता है। वह भगवान् को जानता है, सब के अन्दर उन्हें प्रेम करता है, और उन की विश्वव्यापी इच्छाशक्ति के यन्त्र के रूप में जीवन यापन करता है।

तन्त्र इन सब से कहीं अधिक वीरतापूर्ण और उदार साधना है और मूलतः समन्वयात्मक है। यह आत्मा को पाने के लिए शक्ति को या सक्रिय ब्रह्म, विश्वात्मिका शक्ति को सब से अधिक महत्व प्रदान करता है। यह संसार को शक्ति की लीला के रूप में देखता है। मन्त्रजप, आसन, प्राणायाम, बन्ध, नारी रूप में अभिव्यक्त शक्ति की उपासना आदि के द्वारा यह सब से नीचे के आधारचक्र में चक्राकार सोई हुई विश्व-शक्ति को, कुंडलिनी को जगाता है और षट्चक्रभेद की क्रिया के द्वारा एक के बाद एक सभी आध्यात्मिक चक्रों को खोलते हुए उसे सहस्रार में ले जाता है। इस साधना के द्वारा मनुष्य आत्मप्रभुत्व, पूर्णत्व, मुक्ति और सहस्रार में शिव और शक्ति के मिलन का आनन्द प्राप्त करता है। परन्तु जिस कुंडलिनी को जगाने के लिये इन सब योगसाधनाओं में इतना अधिक बखेड़ा करना पड़ता है वह कुंडलिनी पूर्णयोग में सहज ही अपने आप जग जाती है। आत्मसमर्पण के पूर्ण होने पर यह शक्ति जागृत होती है और चैत्य पुरुष के उच्चतम केन्द्र से क्रिया करती है। इस तरह पूर्णयोग को हम वैदान्तिक और तान्त्रिक योग का पूर्ण समन्वय कह सकते हैं, क्योंकि यह आत्मा के अन्दर भगवान् की अनुभूति प्रदान करता है और प्रकृति को उन की क्रियात्मिका शक्ति समझता है। पुरुष सत् है, प्रकृति चित् है और प्रकृति के द्वारा पुरुष का आत्मपरिपूर्णता प्राप्त करना उद्देश्य है। पूर्णयोग मानव-चेतना को भगवान् के अन्दर उठा ले जाता है और फिर वहां से भगवत्ता का समस्त ऐश्वर्य ले कर मन, प्राण और शरीर रूपी निम्न स्तरों को रूपान्तरित करने के लिए नीचे उतरता है जिस में समस्त जीवन को यह प्रकृति का योग बना सके। यह वेदान्त की पद्धति से आरंभ करता है और तन्त्र के उद्देश्य को प्राप्त कर उस के भी परे जाता है।

प्रश्न—अवश्य ही यह एक विशाल और अद्भुत योग है; अब मैं समझ गया कि यह सभी योगों का समन्वय है और उस से भी अधिक है। अब मुझे इस की साधना के विषय में कुछ जानने की बड़ी इच्छा होती है। क्या आप थोड़े में इस के साधन-तत्त्व और पद्धति को समझाने की कृपा करेंगे।

उत्तर—हां बड़ी खुशी के साथ। सुनिये— शुद्ध आत्मोत्सर्ग, सत्ता के प्रत्येक भाग का सरल और पूर्ण आत्मसमर्पण, भगवान् के साथ सचेतन एकत्व, उनके रूपान्तरकारी स्पर्श के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रति बिना कहीं कुछ बचाये हुए उन्मुक्तता, आत्यन्तिक प्रेम, दृढ़ विश्वास और भगवदिच्छा द्वारा निर्दिष्ट कर्म में शुद्ध भक्ति, उस इच्छा-शक्ति के प्रति कर्मों, कर्मफलों तथा जो कुछ मनुष्य है और जो कुछ उस के पास है सब को उत्सर्ग करना; रूपान्तर के लिए ज्वलन्त अभीप्सा; अहंकार, अभिमान, द्वेष, कामना-वासना, मिथ्यापन तथा निम्न प्रकृति के समस्त दोषों से मुक्ति; प्राणों की शुद्धि; हृदय का प्रेम और भक्तिभाव; मन की प्रकाशमयी एकाग्रता; शरीर की सद्यः आज्ञाकारिता और जागरूकता; प्राणों का सौन्दर्य और सामंजस्य; जिस परिस्थिति में भगवदिच्छा ने मनुष्य को रखा हो उस के साथ प्रत्येक कार्य में एकत्व और सामञ्जस्य बनाये रखना—ये ही साधना की प्रधान बातें हैं। योग का तात्पर्य ही है आत्म-प्राप्ति, आत्मपरिपूर्णता, आत्मविस्तार और विश्वात्मक परम देव के अन्दर आत्मा का पूर्ण विकास, अपने आप को भगवान् की चिच्छक्ति, श्रीमां के प्रति उन्मुक्त रखो और नमनशील बने रहो। इस चेतना के साथ कि मां की शक्ति तुम्हारे द्वारा कार्य कर रही है, तुम केवल उन के एक यन्त्र हो, उन का कार्य करो। कर्मफल की कामना का त्याग करो। भगवान् सब भूतों के आत्मा के रूप में सर्वत्र एकसमान व्याप्त हैं—इस ज्ञान को गभीर प्रेम के साथ युक्त करो। मन के द्वन्द्वों और त्रिगुणों से ऊपर उठो; निम्न प्रकृति पर विजय प्राप्त करो तथा आन्तर एकत्व, श्रद्धा, समर्पण, अभीप्सा की पवित्रता, ज्ञान की निर्मलता, सचेतन प्रेम और भक्ति को दिन-दिन गभीर बनाओ। भगवान् की कृपाशक्ति तुम्हें अतिमानस स्तर में उठा ले जायगी जहां से ही तुम आत्मा और जड़तत्त्व को विश्वात्मिका सत्ता के अन्दर एक साथ मिला सकते हो। परन्तु सावधान, तुम्हें सदा यह याद रखना होगा कि योग तुम्हारी व्यक्तिगत मुक्ति के लिए नहीं है, बल्कि इस का उद्देश्य है मनुष्य के अन्दर भगवान् को अभिव्यक्त करना; तुम तो उन की विश्वव्यापी शक्ति श्रीमां के एक केन्द्र मात्र हो।

प्रश्न—अच्छा, अब मैं इस पूर्णयोग की महत्ता को तो समझ गया, इस के महान् उद्देश्य और परिणति को भी समझ गया किन्तु मैं भगवान्, चिच्छक्ति, मां इत्यादि शब्दों का ठीक ठीक अर्थ नहीं समझ सका। कृपया मुझे यह समझाइये कि वह भगवान् क्या चीज हैं जिन के विषय में आप बातें करते हैं? वह साकार हैं या निराकार, सक्रिय हैं या निष्क्रिय? अगर वह सक्रिय हैं तो वह कैसे क्रिया करते हैं?

उत्तर—विश्वमय आत्मा के अन्दर विद्यमान प्रकृति के योग के स्वामी श्रीभगवान् सच्चिदानंद हैं अर्थात् अनंत सत्ता, अनंत शक्ति, अनंत आनंद और स्वातंत्र्य हैं। वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वव्यापी सद्वस्तु हैं, सत्य हैं, निरपेक्ष सापेक्ष, सजीव या निर्जीव जो कुछ भी है सब के अंदर विद्यमान सारवस्तु हैं। वह एक हैं जो अपने सृजनकारी आनंद में अपनी चित्-शक्ति के साथ मिल कर बहु हुए हैं। वह समस्त वस्तुओं के मूल हैं। उन्हीं शक्ति के प्रभु से सब कुछ आरंभ होता है, उन्हीं के अंदर रहता है और फिर उन्हीं में वापिस लौट जाता है। वह परात्पर विशुद्ध सत्, विश्वातीत, निर्विशेष, मुक्त और अक्षर हैं, तथा काल-देश और कार्य-कारण के परे हैं। सापेक्ष के अन्दर निरपेक्ष, ससीम के अन्दर असीम, मर के अन्दर अमर और प्रकृति के शरीर के अन्दर आत्मा हैं। वह विश्वात्मा हैं और आंशिक रूप से व्यक्ति के अन्दर प्रकट होते हैं। वह अव्यक्त और व्यक्त, निराकार और साकार, निष्क्रिय और सक्रिय, एकमेवाद्वितीय और सर्वव्यापी 'एक' भी हैं। तत्त्व रूप में वह नाम-रूप के परे हैं, किन्तु इन्हें स्वीकार करने से उन में कोई कमी नहीं आती, स्वर्ण नाना प्रकार के अलंकारों में परिणत होने पर भी स्वर्ण ही रहता है, अपने स्वर्णत्व को खो नहीं देता। विश्व-सत्ता उन की चेतना-शक्ति की ही अभिव्यक्ति है जिसके द्वारा वह अपने देवत्व की महिमा को सर्व जीवों के अन्दर ढालते हैं।

प्रश्न— परन्तु उस निर्विशेष परात्पर को एक इस नामरूपात्मक जगत् के रूप में अपने को फैला देने की भला क्या आवश्यकता है?

उत्तर—अपनी अविच्छेद्य सृजनकारी शक्ति के स्वभाववश वह अपने आप को फैला देता है—स पर्यगात्—और अपने आत्मानन्द की अनंत गतियों तथा परिवर्तनों का उपभोग करता है। यह समस्त नामरूपात्मक जगत् उस की सृजनात्मिका शक्ति की लीला है। अनंत सत्ता की यह अखण्ड शक्ति सीमाहीन देश तथा शाश्वत काल के अन्दर अपने-आपको ढालती है। "यह हमारे समस्त समष्टिगत अहंकार को अतिक्रम करती है; इस की तुला में युग-युगान्तर की उत्पत्ति केवल एक क्षण की धूल के समान है; इस के विशाल योगफल के अन्दर असंख्य सहस्र भी एक नगण्य अंक मात्र हैं। जब हम यह समझते हुए कार्य करते हैं और विचार करते हैं कि मानो यह विराट् कर्म हमारे अपने लिए है तब यह हमारी संकीर्णता को दया तथा व्यंगभरी हंसी के साथ देखती है।"

प्रश्न—इस शक्ति की क्रिया किस तरह होती है? किस आश्चर्यमय आवेग के कारण होती है?

उत्तर—यह शक्ति सत् के अन्दर निहित है और सत् से ही प्रेरणा पाती है। सांख्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी तो यह मानता है कि पुरुष और प्रकृति शाश्वत रूप से एक साथ रहते हैं। मायावादी लोग भी स्वीकार करते हैं कि माया कार्यतः सनातन है, अवश्य ही अवर्णनीय है। पुरुष सदा के लिये अनुमन्ता, भर्त्ता, भोक्ता है, शक्ति उस के आनन्द के लिये विश्वलीला करती है।

प्रश्न—क्या माया एक प्रकार का भ्रम नहीं है ? काल्पनिक वस्तु या मिथ्यापन नहीं है ?

उत्तर—महाशय ! यह विभेदात्मक मन का भ्रम है जो माया को, जो कि ब्रह्म की बहुधा विभक्त करने वाली शक्ति है उसे मिथ्या बना देता है। वह तो संसार की सृष्टि करने वाली मां है, अनन्तगुणसंपन्ना चित्-शक्ति (अनंतगुण चिन्मयी) है। यह विश्वव्यापी शक्ति हमारे अन्दर है, हमारे चारों ओर है और हमारे ऊपर है। पुरुष और प्रकृति ब्रह्म के ही द्विविध भाव हैं और सदा एक साथ हैं। यही विश्वमाता है जो साधना को संभव बनाती है और सभी सिद्धियां प्रदान करती है।

प्रश्न—ऐसी बात है ! तब तो मां की जय हो, जय हो ! क्या आप कृपा कर के यह समझायेंगे कि किस तरह यह मां हमारी साधना और सिद्धि को संभव बनाती है ? किन-किन रूपों में यह हमारे सामने प्रकट होती है ?

उत्तर—इस विषय की प्रत्येक बात उस अद्भुत पुस्तक 'माता' में वर्णित है जिसे अतिमानवों के नेता श्रीअरविन्द ने मनुष्यजाति के सामने प्रकट किया है। पूर्णयोग की साधना में साधक को उस मातृशक्ति के प्रति पूर्ण रूप से बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण करना होता है। आत्मसमर्पण जितना सच्चा और पूर्ण होता है उतनी ही अधिक माता की अति-मानस-ज्योति साधक के अन्दर उतरती है और उस की निम्न प्रकृति को उच्चतर प्रकृति में रूपान्तरित करती है। मां किस पथ से और किस पद्धति से कार्य करती हैं इसे अपूर्ण मानव-बुद्धि कभी समझ नहीं सकती। उनका प्रेम और उनकी शक्ति विराट् है। उनके लिये कोई भी कार्य असंभव नहीं, क्योंकि वही वह चित्-शक्ति हैं जो संसार पर शासन करती हैं। वह परात्पर ज्ञान की देवी हैं, शान्त, महत्, ज्योतिर्मय तथा आनंदमय सत्य की देवी हैं, समस्त बुद्धिमत्ता की खान हैं, माहेश्वरी हैं। वह एक प्रज्वलित शक्ति हैं, अजेय बल हैं, तपः की अग्नि हैं, भगवदिच्छाविरोधी शक्तियों को विनष्ट करने में अत्यन्त तीव्र हैं। वह भगवान् की कार्य-पूर्ति के लिये युद्ध करती हैं, विजय प्राप्त करती हैं, वह महाकाली हैं। वह आकर्षण, प्रेम, सौंदर्य, सामंजस्य, आत्मप्रसाद और आनन्द की देवी हैं। वह मनोमुग्धकारिणी उल्लासमयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महालक्ष्मी हैं। वह कर्म के दिव्य कौशल की देवी हैं, वह मनुष्य की पूर्णता साधित करने के लिये धीरता और दृढ़ता के साथ अथक परिश्रम करने वाली हैं, वह महासरस्वती हैं। इस तरह विश्व-माता इस विश्व-क्रिया को जिस के पीछे स्वयं भगवान् इस के आधार, साक्षी, परिचालक और भोक्ता के रूप में विद्यमान हैं, प्रकाश, शक्ति, सामंजस्य और पूर्णता प्रदान करने के लिये चार रूपों में प्रकट होती हैं। यह संसार शक्ति का खेल है जो भगवान् के आनन्द के लिये अभिनीत होता है।

प्रश्न—जय मां की! उन की रूपान्तरकारिणी इच्छा-शक्ति के प्रति मेरा सच्चा समर्पण हो! यहां तक तो ठीक है, परंतु यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि यह भागवती शक्ति इस अनित्य संसार के लिये जो आज है और कल नहीं रहेगा, इतना ध्यान क्यों रखती है? गीता भी तो यही कहती है कि यह संसार अनित्य और दुःखमय है—अनित्यम् असुखम्। फिर एक महान् दैवी शक्ति इस 'कुत्ते की दुम' को, जैसा कि बहुतेरे ज्ञानी पुरुष इसे पुकारते हैं, सीधा करने के लिये अपने समय को क्यों व्यर्थ गंवाती है?

उत्तर—वास्तव में यह सब वाणी की चालबाजी है, ईश्वर और प्रकृति के विषय में हमारी भ्रान्त धारणा है। वास्तव में अगर किसी चीज ने अतिमानस-स्तर की ओर जाने वाले मनुष्य के विकास-क्रम को बाधा पहुँचाई है, उस की दिव्य जीवन प्राप्त करने की अभीप्सा रूपी कली को चोट पहुंचायी है, तो वह है मायावाद जो इसी संसार में रहते हुए, इसी की मिट्टी पर विचरते हुए मनुष्यों से कहता है कि इस दुःखमय स्वप्न से दूर भाग जाओ। वास्तव में यह विश्व सर्वव्यापक भगवान् का अनंत देश और काल के अंदर आत्मप्रसारण है और व्यक्ति देशकाल की सीमा के अन्दर उसी का एक-एक केन्द्रित भाव है। विश्व भागवत कर्म का आधार, साधन, क्षेत्र और उपादान है। संसार भगवान् के आत्मानन्द की एक अंशविभूति है। भागवत सद्वस्तु की सृष्टि स्वप्न नहीं हो सकती। संसार मिथ्या नहीं है; यह अगर सनातन रूप से स्थिर रहने वाला नहीं है तो कम से कम बदलता हुआ निरंतर रहने वाला है, सनातन रूप से बार-बार उत्पन्न होने वाला है। यह शून्य के अन्दर होने वाला स्वप्न नहीं है, बल्कि आत्मचेतन पुरुष के शाश्वत सत्य के अन्दर विद्यमान दृश्यमान सृष्टि है। यह मायावादियों से पहले भी था और उनके बाद भी रहेगा; भ्रम को पैदा करने वाले मन से भी पहले यह था और मन के न रहने पर भी रहेगा। संसार ब्रह्म के बहुत्व का व्यक्त सत्य है, जिस तरह नाना प्रकार के गहने सोने के सत्य हैं, बर्तन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिट्टीके और कपड़े रुईके सत्य हैं। काल और देश चेतन-शक्ति की अपने ऊपर की गयी क्रिया के ताने और बाने हैं। अतिमानस चेतना के लिये बहुत्व एक सद्वस्तु का, बहुविध एकत्व का, सनातन आत्मोद्घाटन है, काल एक नित्य 'वर्तमानता' है, देश एक अविभाज्य विस्तार है, संसार-सत्ता सच्चिदानंद की लीला है।

प्रश्न—बहुत अच्छा महाशय! जो कुछ मेरी आंखों के सामने है उसे विश्वास करने में आसानी है। इस संसार में, भगवान् की इस भौतिक सत्ता में—जैसा कि इसे आप पुकारते हैं—मैं विश्वास रक्खूंगा और इसके कारण अपने जीवन को समृद्ध बनाने तथा विश्वभावापन्न बनाने की मुझे प्रेरणा भी मिलेगी। परन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि जब यह संसार सच्चिदानंद का खेल है, जैसा कि आप विश्वास दिलाते हैं, तब भला ये अंतहीन अगणित दुःख-कष्ट और रोग-शोक जो इसे इस तरह लगातार सता रहे हैं, कहां से आये हैं?

उत्तर—अगर विचार करके देखा जाय तो पता चलेगा कि संसार के सुखों का जोड़ उसके कष्टों से बहुत अधिक होता है। और फिर वास्तव में दुःख और सुख मन की गढ़ी चीजें हैं और एक प्रकार से मानसिक रोग हैं, अभ्यासगत हैं, और स्नायविक सत्ता पर अधिकार रखते हैं। जब मन मुक्त, निरहंकारी बन जाता है, सर्वभूतों के साथ और विश्वशक्तियों के खेल तथा प्रकृति के गुप्त उद्देश्य के साथ समस्वर हो जाता है तब समस्त द्वन्द्वों की अधीनता से मनुष्य मुक्त हो जाता है। विश्वमयीभूत आत्मा के लिये सभी वस्तुओं में रस होता है। हम वस्तुओं की मिठास को पकड़ने में असमर्थ होने के कारण संसार को तीखा अनुभव करते हैं। सहनशीलता के द्वारा और दुःख-सुखमें आसक्त अहं-चेतना के स्थान में आनंद-चेतना को स्थापित करके जीवन के धक्कों को जीतना चाहिये। मृत्यु, कामना, और रक्षा तथा अधिकार के लिये युद्ध—ये विभक्त जीवनके तीन प्रधान अंग हैं। जीवन भूख है और अतएव वह मृत्यु है (अशनाया मृत्युः)। जीवन जीवनसंग्राम में जीवनको निगलता है। प्रकृति जीवन को मुक्त करना चाहती है और व्यक्तिगत अहंकार अपने पृथक्त्वकी रक्षा करने की चेष्टा करता है। जीवन का उद्देश्य है आनंद को खोजना। वह आनंद मन के परे है; आत्म-ज्ञान के अन्दर जीवन के स्वामी के साथ एक होने पर वह प्राप्त होता है और यह एकत्व केवल अतिमानसमें आरोहण करके ही स्थापित किया जा सकता है। उस से पहले मनोमय मानव कभी अपने बनाये हुए द्वन्द्वके बंधनसे अलग नहीं रह सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न—अच्छा, मैं समझ गया कि दुःख और दर्द की जंजीर, जिससे जीवन जकड़ा हुआ है, मानसिक अज्ञान के कारखाने में तैयार होती है। आप बार-बार विज्ञान या अति-मानसका उल्लेख करते हैं। आखिर यह क्या चीज है? साधारण मन से इसका पार्थक्य क्या है?

उत्तर—विज्ञान, अप्रत्यक्ष मानव-ज्ञान के विरुद्ध, प्रत्यक्ष दिव्य ज्ञान है। यह वह सत्य-चेतना है जो सब कुछ जानती, सब को पूर्ण बनाती और सबको उत्पन्न करने वाली है; यह वह सोने की जंजीर है जो इस विश्व-जीवन को सच्चिदानंद के साथ जोड़ती है। यह सक्रिय आत्म-ज्ञान है, भागवत ज्ञान की सृष्टिकारिणी शक्ति है, सत्य-ज्योति है। इसकी सृष्टि आनंद-लोक से प्रेरणा पाती है; इसके अन्दर अन्तरात्मा परम पुरुष के साथ अपना अनंत एकत्व पाता है और 'सोऽहम्' की ध्वनि करता है। वेद इस विज्ञानलोक को 'ऋतम् सत्यम् बृहत्' कहते हैं। श्रीगुरुदेव कहते हैं कि "मन वस्तुओं के तात्त्विक एकत्व को ग्रहण नहीं कर सकता; यह विभक्त कर सकता है, गुणा कर सकता है, जोड़ सकता है या घटा सकता है, किन्तु इस गणित की सीमा के बाहर नहीं जा सकता और अनंत सत्य को अधिकृत नहीं कर सकता।" यह अज्ञान से ओतप्रोत है, उस मूल अज्ञान से जो निरपेक्ष सत्य को, सब वस्तुओं के मूल सत्य को नहीं जानता, उस विश्वव्यापी अज्ञान से जो विश्वपुरुष के देश-काल के अन्दर होने वाले परिवर्तन को ही संसार का पूर्ण सत्य समझने की भूल करता है, उस अहं-जन्य अज्ञान से जो विश्वात्मा को नहीं जानता, विश्व-चेतना के अन्दर सब के साथ हमारी अनंत एकता को नहीं जानता, हमारे अहंकारमय मन, प्राण और शरीर को हमारा सच्चा आत्मा समझता है और अन्य सब चीजों को अनात्मा समझता है। उस लौकिक अज्ञान से जो काल के अन्दर हमारे शाश्वत प्रकाश को नहीं समझता, उस बौद्धिक अज्ञान से जो हमारे अन्दर विद्यमान पराचेतन, अवचेतन और पारिपार्श्विक चेतना को नहीं जानता, उस स्थूल अज्ञान से जो केवल बाहरी स्थूल और मानसिक अनुभवों पर तो ध्यान देता है और हमारी सनातन सत्ता के सत्य की अवहेलना करता है, उस व्यावहारिक अज्ञान से जो सांसारिक जीवन के वास्तविक सत्य, व्यवस्था और सुखभोगका त्याग करता है। इन अज्ञानों को पार करना और दिव्यज्ञान के आनन्द को प्राप्त करना ही अमृतत्व कहलाता है। सत्, चित्, आनन्द और विज्ञान ये चेतना के उच्चतर स्तर हैं। मन, प्राण और जड़तत्त्व (अन्न) हमारी सत्ता के निम्नतर तत्त्व हैं। भगवान् सत् से अवतरित होते हैं और अपनी चित्-शक्तिके द्वारा सभी स्तरों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याप्त होते हैं। अन्तरात्मा अन्न से ऊपर उठता है और प्राण, अन्तरात्मा और मन को विकसित करते हुए तथा अतिमानसकी ज्योतिर्मय मध्यस्थता की सहायता से दिव्य सत्ता की ओर अग्रसर होता है। अतिमानस भागवत ज्ञानलोक है जो सभी संसारों को उत्पन्न करता, शासन करता और धारण करता है। मन तर्क-वितर्क करने वाली विचारशीला बुद्धि, अन्तः-प्रेरणा, आवेग, स्मृति, कल्पना और आलोचनात्मक निर्णय के द्वारा कार्य करता है। अति-मानस का ज्ञान प्रत्यक्ष, ज्योतिर्मय और संबोधिजन्य (intuitive) होता है।

प्रश्न—मैं अब अपने मन के टिमटिमाते हुए दीपक के सामने अतिमानस-रूपी सूर्य की कल्पना कर सकता हूँ। परन्तु मनुष्य किस प्रकार मन को अतिक्रम कर उस ऊंचाई पर पहुँच सकता है?

उत्तर—समस्त अहंकारमयी मानसिक धारणाओं को दूर हटाना होगा, समस्त व्यक्तिगत इच्छाओं, मानसिक पसंदगियों और प्राणिक मांगों को छोड़ना होगा। भागवत शक्ति के प्रति सचाई और सच्चे विशुद्ध श्रद्धा-विश्वास के साथ पूर्ण आत्मसमर्पण करना होगा। अपनी सत्ता को भागवत संकल्प-शक्ति के प्रवाहित होने के लिये एक बाधाहीन समतल प्रणाली बनाना होगा। अपने अन्दर उतरने वाले प्रकाश और सत्य को स्वीकार करने तथा साथ ही उस के प्रति अपने को उन्मुक्त रखने की इच्छा रखनी होगी। सतत आन्तरिक एकत्व, समर्पित कर्म, प्राणों की पवित्रता, प्रेम की घनता, तीव्र अभीप्सा, आन्तरिक शान्ति, समता और भगवान् के सर्वव्यापकत्व की सचेतनता—इन चीजों के द्वारा मन को जीता जा सकता है और अपने अन्दर भागवत करुणाशक्ति को उतारा जा सकता है और फिर उसकी शक्ति और ज्योति की सहायता से अतिमानस में उठ कर वहां दिव्य जीवन प्राप्त किया जा सकता है।

प्रश्न—आप जिस रूपान्तर की बात कहते हैं वह क्या चीज है? इस अतिमानस रूपान्तर के द्वारा संसार का क्या लाभ हो सकता है? दिव्य जीवन का आखिर क्या मतलब है?

उत्तर—सुनिये, रूपान्तर का अर्थ है वर्तमान मनुष्य को दिव्य सत्ता, प्रकृति, चेतना, ज्ञान, आनन्द इत्यादि में बदल देना जिसमें वह विश्व-चेतना में भागवत ज्ञान, सौंदर्य, शक्ति, एकत्व और आनन्द में जा कर आत्मस्वरूप को प्राप्त करे और उपभोग करे, थोड़े में कह सकते हैं कि इसका अर्थ है मानव-जीवन में भगवान् को अभिव्यक्त करना। इस का अर्थ यह है कि हमारा सारा जीवन दिव्यभावापन्न हो जायगा, और भगवान् के साथ पूरे व्योरे के साथ पूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप से हमारा योग स्थापित हो जायगा। अतिमानस-बोध (संज्ञान) जो विशुद्ध, पूर्ण और स्वभावतः आध्यात्मिक है, सब को भगवान् के रूप में भगवान् के अन्दर अनुभव करता है। अतिमानस-कानके लिये सभी शब्द भगवान्के शब्द हैं, विश्वव्यापी संगीतका एक सामंजस्यपूर्ण स्वर है। अतिमानस-स्पर्श प्रत्येक वस्तु के अन्दर भगवान् का स्पर्श अनुभव करता है। नेत्रों को अतिमानस-सिद्धि के द्वारा एक नवीन दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है जिस के सामने वस्तुओं तथा प्राणियों का अन्तरात्मा तुरत प्रकट हो जाता है। अतिमानस रूपान्तर प्राणको आत्मामय बना देता है और इसे आत्मा की सक्रिय शक्तिके रूप में परिवर्तित कर देता है। यह शरीर के अन्दर प्राणिक शक्ति को जागृत करता है और शरीर का एक एक अणु आत्मा की ज्योति से उद्भासित हो उठता है। हमारी सारी सत्ता विश्वशक्तिका एक सक्रिय कोष बन जाती है। अतिमानस के अन्दर प्रत्येक विचार स्वभावतः स्फुरित ज्ञान, अनुप्रेरणा और दिव्य दर्शन होता है। अतिमानस तादात्म्य प्राप्त कर वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है, वस्तुओं के आत्म-सत्य का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर के उन्हें जानता है। सर्वांगपूर्ण ज्योति के अन्दर अतिमानस परिपूर्णता ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान को एक रूप में देखती है। इस के फलस्वरूप हम समस्त जीवनों के साथ अपने-आपको एक जीवन के रूप में अनुभव करते हैं। हम अपने वास्तविक आत्मा के साथ, प्रकृति के साथ, भगवान् के साथ एक हो जाते हैं। भगवान् के साथ इस प्रकार एकत्व प्राप्त करना और उस चेतना में जीवन यापन करना ही क्रमविवर्तन की सर्वोच्च अवस्था है। उस समय मनुष्य संसार को अपने अंदर और अपने को संसार के अंदर, भगवान् को अपने अंदर और अपने को भगवान् के अन्दर अनुभव करता है। इसी का नाम दिव्य जीवन है।

प्रश्न—क्या सारी मनुष्यजाति दिव्य जीवन प्राप्त कर सकती है? अगर हां, तो किस उपाय से प्राप्त कर सकती है?

उत्तर—स्वयं भगवान् अपने-आपको मनुष्यता के अंदर अभिव्यक्त करते हैं और उसे दिव्य बनाते हैं। अगर सारी मनुष्यजाति उनकी शक्ति को उचित ढंग से ग्रहण करने के लिये तैयार हो जाय तो फिर सभी रूपान्तर को प्राप्त हो सकते हैं। जिस में ग्रहण करने की क्षमता है वह तो ग्रहण करेगा ही। जो मनुष्य रूपान्तरित हो जाता है वह देवत्व को चारों ओर विकीर्ण करता है और उस से उस के चारों ओर रहने वाले बहुत से मनुष्य भागवत शक्ति से ओतप्रोत हो जाते हैं। अतिमानस-तत्त्व को जो मनुष्य प्राप्त कर चुका है उसे ही अतिमानव कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न—'अतिमानव' शब्द से आपका तात्पर्य क्या है ? अतिमानवत्व को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

उत्तर—अतिमानव उसे कहते हैं जो मानवत्व को पार कर चुका है, जो मानवीय सीमाओं को लांघ कर भगवान् के साथ सादृश्य और एकत्व प्राप्त कर चुका है। यही जीवन का सर्वोच्च आदर्श है। आत्मज्ञान की स्पष्टता, अभीप्सा की घनता, मन की पवित्रता, अपनी सत्ता के सभी कार्यों में आध्यात्मिक चेतना का उपयोग, अपने-आपको भागवत शक्ति के हाथों में समर्पित करना इत्यादि बातों की सहायता से अतिमानवत्व या देवमानवत्व को प्राप्त किया जा सकता है। अहंकार से मुक्त हो जावो; अपने-आप को ग्रहणशील बनाये रखो; उस एक भगवान् के विषय में, जो यहां जो कुछ है वह सब बने हुए हैं, सचेतन होकर अपने व्यक्तित्व को विश्वव्यापक बनाओ; प्रकृति के तीनों गुणों को अतिक्रम कर सदा आत्मा के ज्ञान में निवास करो। आत्मा के अन्दर और विश्व के अंदर परमात्मा के साथ युक्त होओ। तब तुम शुद्धि, मुक्ति, पूर्णता तथा सत्ता का आनंद प्राप्त कर सकते हो और दिव्य जीवन यापन कर सकते हो। उस समय तुम्हारा सारा जीवन ही योग हो जायगा। यह दिव्य जीवन प्रदान करने वाला योग, यह पूर्णयोग व्यक्ति की सिद्धि में परिसमाप्त नहीं होता बल्कि सारी मनुष्य-जाति के समष्टि जीवन को दिव्य बनाना इसका उद्देश्य है। मनुष्य अतिमनुष्य बनेगा, पुरुष देव-पुरुष और नारी भागवत शक्ति की एक ज्योतिशिखा बनेगी, पृथ्वी स्वर्गीय आनंद का उपभोग करेगी। इसी आध्यात्मिक क्रमविकास की आज मनुष्य को आवश्यकता है। जब पूर्णयोगियों का एक संघ इस आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर लेगा तब मनुष्य के समष्टि जीवन के रूपान्तर का महान् कार्य भी सफल होगा। आइये हम सब मनुष्यता के अंदर भगवान् की अभिव्यक्ति के लिये भगवान् के अंदर एक संघबद्ध विश्वात्मक जीवन के लिये अभीप्सा करें।

कितने ही महापुरुष, नबी, पैगम्बर आये और चले गये। एकमात्र आनन्द के धाम विश्वातीत स्वर्ग को पाने की आशा से कितने ही आचार-विचार के नियम बनाये गये। कितनों ने ही हमारे अंदर और पृथ्वी पर सहस्र वर्ष तक के लिये स्वर्गराज्य स्थापित होने की घोषणा की, परंतु हम देखते हैं कि उनके बाद रह गये सीमित और कठोर धर्ममत, संप्रदाय, एक सम्प्रदाय में भी अनेक भेद-प्रभेद, आत्ममहत्त्वप्रदर्शन, पारस्परिक घृणा-द्वेष, कटे-छंटे देशाचार, स्वार्थ और संकीर्ण संस्कार जिन्होंने शान्ति और सामंजस्यको तहस-नहस कर दिया है और मनुष्य के अतिमानवत्व की ओर जाने वाले क्रमविकासको रोक दिया है। सत्य, प्रेम, एकता, पवित्रता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सामंजस्य—ये सब बड़े अच्छे गुण हैं; परंतु जब तक मानव-संघके वास्तविक जीवनमें ये प्रतिष्ठित नहीं होते तब तक ये केवल शब्द मात्र हैं और कुछ भी नहीं। सत्य सच्चे आत्माके अंदर उपलब्ध होना चाहिये; प्रेम को आत्माके अंदर और विश्वके अंदर सर्वप्रेममय भगवान् के साथ युक्त होना चाहिये; सामंजस्य अंतरात्मा के अंदर और विश्व-सत्ता के सौंदर्य के अंदर प्रतिष्ठित होना चाहिये, पवित्रता सर्वशुद्ध भगवान् की अभिव्यक्ति होनी चाहिये और हमारे चरित्र में प्रतिफलित होनी चाहिये; आन्तरिक प्रभुत्व होनेपर ही बाहरी प्रभुत्व प्रकट होता है। पूर्णयोगी किसी दूर स्वर्गकी ओर अंगुलि-निर्देश नहीं करता, उसका उद्देश्य है व्यावहारिक जीवन में यहां अपने आदर्श को परिपूर्ण करना, यहां स्वर्ग को उतार लाना, मनुष्यता के अन्दर भगवान् को अभिव्यक्त करना, मनुष्य के समष्टि-जीवन को भगवान् के साथ पूर्ण योगमय बनाना और इसे वह अपने जीवन और साधना के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करता है। स्वयं भागवत आनन्द जीवन-कलाको सुसंगठित करेगा और मनुष्यजातिको भगवान् के साथ युक्त हुए एक आध्यात्मिक संघ के अन्दर समन्वित करेगा। पूर्णयोगका यही आश्चर्यमय फल है। इस नवीन युगका संदेश है योग, भगवान् के साथ योगप्राप्त जीवन।

प्रश्न—अब अन्त में कृपा करके मुझे यह बतलाइये कि इस अद्भुत योग का परिणाम क्या होगा ?

उत्तर—स्वयं श्रीगुरुदेव की ललित वाणी सुनो—"योगके द्वारा हमारे अन्दर वरुण का जन्म होगा—आध्यात्मिक जीवन का एक बृहत् क्षेत्र, भगवान् की विराट् सत्ता और अनन्त सत्यका प्रादुर्भाव होगा; उस व्यापकत्वके अन्दर मित्रका उदय होगा—ज्योति और प्रेमके प्रभुका उदय होगा जो हमारे विचारों, अनुभवों और संकल्पों की क्रियाओं को अपने अन्दर लेकर उन्हें दिव्य सामंजस्य के अन्दर जोड़ देते हैं और हमारी गति को संचालित तथा हमारे कर्मोंको निर्धारित करते हैं; इस विशालता और सामंजस्यके द्वारा पुकारे जानेपर हमारे अन्दर अर्यमा प्रकट होंगे—भगवान्की सत्ता और सर्वनिर्णायिका प्रभावशाली इच्छा की ज्योतिर्मयी शक्ति आविर्भूत होगी तथा इन तीनोंके द्वारा भग उत्पन्न होंगे जो भगवान्की विशुद्ध आनंद-शक्ति तथा सर्वग्राही प्रसन्नता हैं और जो इस संघर्षमय भेदात्मक जीवनके दुःस्वप्न को दूर करते हैं तथा अर्यमाकी शक्ति, मित्रके प्रेम और प्रकाश तथा वरुणकी एकताके अन्दर समस्त वस्तुओंको अधिकृत करते हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहां पुरुष रूपमें देवता विचरण करते हैं और स्त्रियां शक्ति की ज्योतिशिखा हैं, जहां कर्म ही तप है और प्रत्येक वस्तु 'सब' है, जहां समर्पण और सचेतनता ही एकमात्र विधान है, जहां भूमि शान्तिका स्वर्ग है और जीवन आत्माके आनन्द का प्रवाह है, जहां मृत्यु और शोक मनके उपहास हैं और काल अमृतत्व की धारा है, जहां सत्य-ज्योति जीवनका सूर्य है और पूर्णता जीवनके कर्मोंका मुकुट है, उसी नवीन स्वर्ग की ओर हम उस भागवत शक्तिके पीछे-पीछे अग्रसर हों जो हमारा पथप्रदर्शन कर रही है। उस सर्वशक्तिमान् भागवत शक्ति की जय हो! जय हो!

God

Thou who pervadest all the worlds below,
Yet sitst above,
Master of all who work and rule and know,
Servant of Love!
Thou who disdainest not the worm to be
Nor even the clod,
Therefore we know by that humility
That thou art God.

—Sri Aurobindo

खुदा!

ऐ वो के जो मुहीत[१] है सब आलमीन[२] पर।
बैठा हुवा है गोके तु अर्शे-इ-बरीन[३] पर॥
पंडित का प्रजापत का अज़ीरओ[४] अजीत[५] का।
प्रभु है सब का पर है तू परबस प्रीत का॥
अदना सा कीड़ा बनने तुझे आर[६] है नहीं।
मिट्टी का ढेला बनके भी तू ख़ार[७] है नहीं॥
तू है खुदा खुदी से न तो इफ़्तिख़ार[८] से।
पहचाना हमने तुझको इसी इन्क़िसार[९] से॥

—'सुभान' हैदराबादी (दक्खन)

१—विस्तृत २—लोक लोकान्तर ३—ऊंचे आसमान ४—गुलाम ५—अजेय ६—लज्जा ७—तुच्छ ८—घमंड ९—विनय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरा जीवन

(एक कथा)

जीवन, वैसे तो जीवन सब का ही एक पहेली-सा है। हम क्यों इस जगत् में आये, हमें क्या करना चाहिये, हमारा किस में कल्याण है तथा हम क्या कर रहे हैं यह सब एक नहीं सुलझने वाली पहेली सी है जो कि सबके ही सामने पेश है। परन्तु मेरा तो तमाम जीवन ही पहेली था।

तुम चाहते हो कि मैं तुम्हें सुनाऊं। परन्तु क्या करोगे सुनकर वह सब एक बहुत पीछे छोड़ी हुई घटना की हलकी-सी झलक भर है, परन्तु अत्यन्त प्रकाशित। तुम्हारा आग्रह है मेरी जीवन-कथा के लिये परन्तु मैं समझता हूँ कि सब काम भगवान् अपनी वैचित्र्य-सृष्टि में मनुष्य द्वारा जगत् के कल्याण के लिये ही कराते हैं। उसके पीछे उनकी न देखी जा सकनेवाली परन्तु सम्पूर्ण सत्य और जीती-जागती आदेशात्मक शक्ति काम करती रहती है। मनुष्य समझता है कि यह मैं कर रहा हूँ और यह मैंने "खूब" किया, बहुत विचार के बाद किया, परन्तु वह तो उस मातृशक्ति द्वारा स्वयं प्रेरित यन्त्र-सा ही काम करता है, इसमें से यदि वह अपने "अहंतत्व" को "मैं करता हूं" इसको निकाल दे तो उसे साफ-साफ मालूम देगा कि असल में वह सब जो कि वह कर रहा है वह नहीं कर रहा है, उससे एक शक्ति जो कि स्वयं सब कुछ है करा रही है और वह परम प्रकाशित और तेजोमयी है।

हां तो मैं बहक गया—तुम चाहते हो कि मैं अपनी राम कहानी सुनाऊं—तो सुनो। एक समय था कि मैं कॉलेज में पढ़ा करता था और अपना वह समय पूरा करने के बाद मैं क्या करूंगा, क्या मेरे ठाठ होंगे वगैरह का खयाली पुलाव पकाया करता था।

उस रोज कालेज की आखिरी परीक्षा समाप्त करके मैं अपने एक मित्रके यहां गया। आज मैं अपने घर जाने वाला था। उस मित्र से मेरा बहुत स्नेह था। इसीलिये आज उसके यहां मेरा निमंत्रण था। मैं ठीक सात बजे शाम को उसके मकान पर पहुँचा। मेरे मित्र का नाम जगदीश था। उस समय उनके यहां एक महात्मा आए हुए थे। भोजन करने के पश्चात् महात्माजी के साथ कुछ वार्तालाप हो रहा था। अनमने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन से मैं और जगदीश भी वहां बैठ गये। कोई इरादा वहां बैठने का नहीं था। परन्तु न जाने क्यों हम वहां बैठे।

जगदीश के पिताजी उनके बहुत भक्त थे। उन्होंने कहा महाराज जी, जगदीश ने फाइनल परीक्षा दी है आप इसे कुछ उपदेश करें ताकि यह जीवन में सन्मार्ग पर रहे।

महात्माजी ने बड़े शान्त परन्तु ओजस्वी तथा शक्ति-भरे शब्दों में कहा:— "मनुष्य क्या हर प्राणी पैदा होता है और मर जाता है। इस बीचके समयमें वह न जाने क्या-क्या करता है, परन्तु वह सब जीवन उसका उसी समय कल्याणकारी है यदि वह भगवान् का कार्य करे, सत्य और परम ठोस सत्यरूपी भगवान् के चरणों को अपने मन में स्थापित करके वह इस जीवन-समुद्र में कूदे तो भगवान् सदा-सर्वदा पतवार हाथ में लेकर उसकी रक्षा करेंगे और यही कल्याणकारी और मंगलमय है।"

जगदीश शुरू से ही कम बोलने वाला और शान्त प्रकृति था। फिर उसके पिताजी पास बैठे ही हुए थे। वह चुपचाप सुन रहा था। मैंने कहा:—महाराज, माता-पिताने हमपर हजारों रुपये खर्च कर हमें पढ़ाया है और इस योग्य किया है कि हम उनकी सेवा करें। आज आप हमें भगवान् और सत्य का उपदेश दे रहे हैं। हमें धन कमाना है, मां-बाप की सेवा करनी है, जीवन का आनन्द भोगना है और सुखी रहना है। इन बातों का हमसे क्या सम्बन्ध? यह उपदेश चाचाजी (जगदीश के पिता) जैसे पुरुषों के लिये ठीक है, जो कि अपने जीवन के तमाम काम पूरे कर चुके हैं और अब निश्चिन्त हैं। या आप जैसे पुरुषों का है जो घर-बार विहीन हैं। क्या यह सब हमारी इतनी हाई एजुकेशन खाली भगवान् और सत्य के लिये है? मैंने देखा महात्मा बिल्कुल शान्त और हंसते हुए मेरी बातें सुनते रहे। उन्होंने कहा तुम भूलते हो, तुमने मुझे सुना नहीं, अपना तमाम जीवन भगवान् का दिया हुआ एक परम देन समझकर उन्हीं के अर्पण करके अपनापन का भाव छोड़कर अपने जीवनसंग्राम में जुट जाओ; फिर वह तुम्हारा कोई भी काम क्यों न हो, वह भगवान् का होगा, उससे तुम्हें साहस, बल, शक्ति, तेज व प्रकाश का कभी न समाप्त होने वाला अखण्ड भंडार मिलेगा जिसमें मस्त होकर तुम तमाम काम जो कि तुम कभी नहीं कर सकते थे बिना प्रयास कर डालोगे क्योंकि वह तुम नहीं, तुम्हारे द्वारा भगवान् कराएंगे। समझे तुम! और यह जीवन भी जो कि तुम अपना या अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मां-बाप का समझ रहे हो भगवान् जब तक चाहें तभी तक तो है। फिर इसपर तुम्हारा जोर कैसा, हां मां-बाप को भी भगवान् का ही मूर्तिमान् रूप समझकर अन्तर में बैठे हुए भगवान् से प्रकाश लेते हुए बढ़ते चले जाओ, भगवान् स्वयं अनुग्रह करेंगे। अधिक और ऊंची पढ़ाई (हाई एजुकेशन)—यह सब भुलावा है। अन्तर्ज्ञान जबतक मनुष्य को नहीं होता यह पढ़ाई सब बाहरी है।

मुझे मानो किसी ने सोते से झकझोर के उठा दिया हो। जगदीश की जबानी मालूम हुआ महाराज एग्जिक्युटिव इन्जीनियर थे।

मानो उस दिन से भीतर से कोई बार-बार कहा करता हो कि यह जीवन भगवान् का है और उन्हीं के लिये है। इस चीज ने जबरदस्ती मेरे रोम-रोम में जगह कर ली।

मैं अपने पिताजी का सबसे बड़ा लड़का था, शादी के लिये प्रायः जिकर चलता। परन्तु मुझे ऐसा मालूम देता मानो कोई कह रहा है कि मुझे कुछ और ही करना है यद्यपि मैं स्वयं नहीं जानता था कि वह सब क्या है।

मैंने पी० सी० एस० की परीक्षा पास की। मुझे जल्दी ही एक स्थान पर अपॉइंट कर दिया गया।

शादी का मैंने विरोध किया परन्तु मेरी सुनवाई नहीं हुई, वह दिन आ ही गया बड़ी धूमधाम से, क्योंकि मेरी शादी ही पिताजी के अपने जीवन का इस किस्म का पहला काम था। अतः बड़े दिल खोल के उत्साह के साथ बरात चली, परन्तु मेरे दिल में तो एक विचित्र युद्ध हो रहा था, मैं अपने जीवन को भगवान् के उस कार्य के लिये लगा देना चाहता था जो कि मेरे अन्दर से मुझे बार-बार कहा जा रहा था। मेल ट्रेन एक के बाद एक स्टेशन छोड़ता हुआ जा रहा था, रात के दो बजे थे—मैं एक स्टेशन पर उतर पड़ा परन्तु मेरे मन में धुकधुकी हो रही थी। अन्दर से एक आवाज आती थी कि पिताजी की क्या हालत होगी। क्या यही तुम्हारा पुत्रधर्म है ! गाड़ी चली गई। अब मुझे थोड़ी देर बाद फिर यही हुआ कि तूने ठीक किया—परन्तु फिर वही—मैं इसी द्वन्द्व में था कि मेरा हाथ किसी ने पकड़ कर मेरा नाम लेकर कहा, 'अरे तुम कहां, ओहो तुम तो नोशे बने हुए हो, मैं समझा, तुम ट्रेन से रह गये अरे चलो अच्छा हुआ कार से चलेंगे, बिना दूल्हे के बरात पहुँचेगी, मजा रहेगा। मैं भी तो शादी में शामिल होने आया था मगर क्या करूं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घोड़ा ही जो ठहरा ? अड़ियल टट्टू निकला, चलकर ही नहीं दिया, पैदल भागा, सब कुछ किया, गाड़ी छूट ही तो गई, बड़ा अच्छा हुआ, भगवान् सब ठीक करते हैं।' मैं चुपचाप साथ हो गया और गर्जे कि शादी हो गई। उसके बाद तो वे सब बातें पिताजी और अरुणा को भी मालूम हुईं और सब हंसे।

इसके बाद पिता जी की सेवा, मां की सेवा, गृहस्थधर्म आदि सब हुए परन्तु वह चीज जो कि अन्दर से अंकुरित होकर धीरे धीरे बढ़ती जा रही थी अपनी तरुणता पर पहुँच गई। रमेश, सुरेश दो प्राणी भी घर में बढ़ गए थे। अरुणा से मुझे अपने उस मार्ग में सहायता मिली, हम प्रायः दोनों ही जो भी आध्यात्मिक साहित्य मिलता उसे पढ़ते थे, हर चीज के पढ़ने के बाद उन महात्मा की बात याद आती थी। हम देखते थे कि हमारा वह सब ज्ञान कुछ भी नहीं के बराबर है।

हर बात समय पर होती है। एक शाम मेरी कोठी पर एक कार आई। मैंने देखा कि वही महापुरुष आये हैं। मैंने बड़े सत्कार से उनका आतिथ्य किया, वे मेरे पास दो रोज रहे।

मैंने जिज्ञासा के साथ अपने मन की बात उनसे कही, वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि मैं देखता था कि तुम में वह चीज मौजूद है इसी लिये मैंने वह सब कुछ कहा था। तुम्हें चिन्तित होने की जरूरत नहीं। भारतवर्ष आध्यात्मिक शक्ति वाले महापुरुषों से भरा पड़ा है परन्तु उन्हें कम लोग जानते हैं। हां, यदि तुम्हारा मन चाहे और इच्छा हो तो इस बार के श्रीअरविन्द-दर्शन के लिये प्रार्थनापत्र भेजो। यदि "मां" तुम्हारे कल्याण के लिये ठीक समझेंगी तो आज्ञा दे देंगी। वरना उनका साहित्य पढ़ो। महाराज चले गये।

श्रीअरविन्द का साहित्य मैंने पढ़ा। साहित्य पढ़ने से चित्त प्रसन्न हुआ। मुझे आज्ञा भी मिली। हम सब गये। दर्शन प्राप्त किये। मां मानो शक्ति, प्रेम, वात्सल्य, माधुर्य, सौहार्द और शान्ति की मूर्ति हैं। और श्रीअरविन्द तेज, प्रकाश और आनन्द के भण्डार।

अब हम परम प्रसन्न हैं। दुनियां के सब काम करते हुए भी नहीं करते। सारा जीवन ही एक पहेली था। और अब....अब और भी बड़ी पहेली, परन्तु कितनी सुन्दर, कितनी आनन्द-दायक।

—कश्चित्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेरा ज्ञान कितना सुन्दर और मधुर है, मां !

यह हमें क्या क्या नहीं देता ? आत्मप्रसाद, प्रकाश, स्वच्छता, सरलता तथा जीवन-सहजता, अनवरत अन्तःप्रेरणा तथा आत्म-स्वामिभाव, जीवनव्यापी स्निग्ध माधुर्य तथा विश्व-विस्तृत निजगृह-भाव; ये हैं माँ तेरे ज्ञान की दिव्य देनें ।

तेरे ज्ञान की शैली भी, ओ चमत्कारिणि मां, बड़ी विचित्र है ! हमें पता नहीं लगता और तेरा ज्ञान हमारे भीतर घर करता चला जाता है । हमारे हृदय के काले लोहे को चमकते सोने में बदल देता है ।

यह तेरा ज्ञान किस विचित्र शैली से उत्तरोत्तर हमारे संस्कारों की आन्तरिक सत्ता को अधिकाधिक सुडौल बनाता जाता है ! उसके चुभते कोनों को बराबर कर के एक सौन्दर्य को रच देता है । फिर यह तेरा ज्ञान कैसी अद्भुत मरहम की तरह हमारे पुराने दुःखों के जख्मों को भर देता है, उनके दाग तक भी नहीं रहने देता, ऐसे वह उनकी स्मृति को भी पराया बना देता है ।

पर तू यह अमूल्य जीवन-धन किस वस्तु के बदले में देती है, ऐ विशालहृदय माँ! ऐसा प्रतीत होता है—हम इसे लेने से ले लेते हैं, या यह मांगने से ही मिल जाता है । जिज्ञासा-मात्र ही बस आवश्यक है ।

फिर 'मांगने' से 'मिलना' अधिक होता है । पुरुषार्थ से प्राप्ति कहीं ज्यादह ।

परन्तु ओ रहस्यमयी मां ! ऐसे अवसर बार-बार आ ही जाते हैं जब कि वही ज्ञान जो स्वाभाविक और नैसर्गिक बन गया मालूम पड़ता है मुझे जवाब दे देता है । उस क्षण बरबस यह चीख मेरे हृदय से उठती है 'ओ मां, तेरा ज्ञान अभी मेरे में त्वचा तक ही प्रवेश कर पाया है' । संसारकी जरा गहरी रगड़ मेरी उन्हीं वृत्तियोंको जागृत कर देती है जो मैं समझता था अब लय हो चुकी हैं ।

भगवान् लीलामय है, उसे लुकछिप बड़ी पसन्द है । पर, मां ! मैं आशा करता हूं, वह हम गरीब मनुष्यों के साथ ऐसे दुःखजनक खेल नहीं खेलेगा ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेरा ज्ञान कितना सुन्दर और मधुर है, मां!

आश्चर्यमयी मां, तेरी यह विद्या कितनी कलापूर्ण है। धर्म के खांडे-की-धार जैसे तंग रास्ते को तू ने चौड़ा राजपथ बना दिया है। कम से कम हमें यह ऐसा ही प्रतीत होता है। यहां नियन्त्रण का कष्ट नहीं, त्याग का कठोर तप नहीं, अभाव की आशंका नहीं। इस के विपरीत, तेरे मार्ग में तृप्ति है, संतोष है, परिपूर्णता है।

क्या सन्देह, तेरी यह विद्या इतनी लुभाती है।

परन्तु ओ अगस्य मां! यह कितनी अजीब बात है कि तू यह अपनी दैवी विद्या न कभी हमें सिखाती पढ़ाती है और न हम ही लिखा-पढ़ी से इसे प्राप्त करने का यत्न करते हैं। पर फिर भी हर मास हम अपने आप को नये सृष्ट अनुभव करते हैं, अधिक सम्पन्न और परिपूर्ण पाते हैं।

तू मां! यह सब कुछ कब करती है? और वास्तव में करती कैसे है? क्या यह तेरा रहस्य मां! हम नहीं जान सकेंगे?

परन्तु, हे दिव्य मां! तेरे ढंग और तरीके जो भी हों। चाहे वे समझ में आवें या न आवें। तेरी यह जीवन-कला यह विद्या तेरी, बड़ी प्यारी है।

तू अब इस का पूरा प्याला भर दे। अब जीवन के सामान्य माधुर्य में जरासी कटुता भी अत्यन्त कटु लगती है। जीवन के सहज संतुलन में अब तनिक सा खटका भी बहुत खटकता है।

तेरी प्यारी विद्याका स्वाद उन्मत्त कर देने वाला है। हे दयालु मां! इसे और दे, इसे पूरे का पूरा दे।

—इन्द्रसेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आध्यात्मिक योद्धा

तुम तो चले हो युद्ध में जय प्राप्त करने को यहां ।
भगवान् के आह्वान पर निर्भय विचरने को यहां ॥
शिव-सत्य के हित प्राण का बलिदान देने को यहां ।
होने अमर करने समर औ देखने प्रभु को यहां ॥

हे वीर ! साधनमार्ग पर कसके कमर आगे बढ़ो ।
मन के खुले मैदान में—होकर खड़े—खुलकर लड़ो ॥

तुम शत्रु को देकर चुनौती युद्ध में आये यहां ।
कफनी लपेटे मौलि पर, हे वीर जूझो, तुम यहां ॥
दिल है न जिनका लौहसम—उनके लिये रण है कहां ?
सकते न ममता को जला जो—टिक न सकते वे यहां ॥ हे वीर !......

है चाह जीवन में अगर कुछ कर दिखाने की भला ।
निर्भीक हो रिपु से कहो संकल्प की ज्वाला जला ॥
आंधी चले, पत्थर पड़े, धरती फटे, बिजली गिरे ।
बरसे प्रलय की आग, गरजे काल, कलि हमला करे ॥ हे वीर !........

"निज लक्ष्य से तब भी कभी पग भर नहीं पीछे हटूँ:
"मैं मर मिटूँ निज टेक पर—रण में न पीछे पीठ दूं ॥
"होकर अटल हिमशैल सम जो वीर प्रण यों कर सकें—
"भगवान् क्या वैकुण्ठ में सुध भूल उनकी रह सकें ? हे वीर !......

[यह कविता श्री दिलीपकुमार जी ने २५ जौलाई १९४३ को रेडियो में गायी थी और रिकार्ड में भरी गयी थी । —सं० अ०]

—श्री नारायणप्रसाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा का अस्तित्व

मानवीय व्यक्तित्व रहस्यों का रहस्य है। यह कितना हमारे पास है, यह ही तो हम हैं, और फिर कितना दूर। हम नहीं जानते हम क्या हैं? 'आत्मानं विद्धि' इस वास्ते ही भारतीय संस्कृति का परम उद्देश्य रहा है। प्राचीन यूनान का भी यही आदर्श था। सुकरात के यूनान में हर मन्दिर की ड्योढ़ी पर यह दृढ़ अंकित रहता था 'अपने आपको जानो'। आत्मा अथवा अपने आपको जानना इतने महत्त्व का क्यों है? दर्शन का उत्तर है 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे', आत्माको जाननेसे मनुष्य ब्रह्मको जान लेता है, अपने आपको पहचानने से व्यक्ति सारे संसार और सत्ता-मात्र को जान जाता है। इस वास्ते पहले-पहले अपने आपको मनुष्य समझे, अपनी आत्मा को जाने। परन्तु आज प्रश्न है, क्या आत्मा है भी? या मन और उसके संकल्प-विकल्पमात्र ही मेरे अस्तित्व की अन्तिम सीमा हैं?

आज हम पश्चिमी विचारों से ही अधिकांशमें प्रभावित और प्रेरित हो रहे हैं, इस वास्ते हमें उन्हें जरा अच्छी प्रकार विचारपूर्वक समझने की आवश्यकता है। पिछले चार सौ वर्ष के विज्ञानयुग में योरुप का बौद्धिक विकास एक अद्भुत ढंग से हुआ है। इस विकास का सच्चा मूल्य भविष्य ही बतलावेगा; आज हम बहुत ज्यादह इसके प्रभाव के आधीन हैं। मानवीय व्यक्तित्वके स्वरूपके सम्बन्धमें योरुपके विचार विशेष अद्भुत रहे हैं और आज ये जिस स्थितिको पहुँचे हैं वह बहुत ही मनोरञ्जक है एवं एक प्रकार से बड़ी शिक्षाप्रद भी। विज्ञानवाद के प्रवर्त्तक फ्रांसिस बेकनने १६ वीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रकृति-अनुशीलन की वैज्ञानिक विधि का प्रतिपादन किया। उसने मध्यकालीन पादरियों और उनके श्रद्धावाद को भरपेट बुरा-भला कहा। 'बाइबल में सब सत्य मौजूद हैं और इसके बाहर और कुछ नहीं' पादरियों के इस दुःखजनक अन्धविश्वासवाद की उसने खूब ही निन्दा की। 'मनुष्य को अपनी बुद्धि में विश्वास होना चाहिये और उसके साधन से प्रकृति के नित नये सत्यों को खोज निकालने में उसे प्रयत्नशील रहना चाहिये', यह उसके रचनात्मक बुद्धिवाद का आधारभूत मन्तव्य था। परन्तु उस समय की आवश्यकता थी या प्रतिक्रिया का जोश था, विज्ञान ने यह मान अपने लिये आवश्यक ठहराई कि इन्द्रियानुभव से परे की कोई सत्ता भी उसे स्वीकार्य नहीं होगी। प्रत्यक्ष इन्द्रियानुभव ही ज्ञानका स्रोत है।

विज्ञान के दृढ़ स्वस्थ बुद्धिवादने बड़ा लाभ पहुंचाया, परन्तु इसने जो अपने ज्ञानक्षेत्र की सीमा निश्चित की थी वह वर्तमान समय में कई जगह पर आपत्ति कर रही है। इसीसे ही एक बड़ी रोचक अवस्था पैदा हो गई है।

हमारा प्रश्न यहां मानवीय व्यक्तित्व का है। पहले तो पश्चिममें यह प्रश्न उठा ही बहुत देरमें। शुरूमें वैज्ञानिक बुद्धि की सम्पूर्ण रुचि आकाशके नक्षत्र, तारा आदि पिण्ड तथा पृथ्वीतलके नदी, पहाड़, वनस्पति, पशु आदिमें लगी हुई थी। १९वीं शताब्दीमें मनोविज्ञानके उदयके साथ ही मानवीय व्यक्तित्व का प्रश्न उठा। तभी मनुष्य यह सोचने भी लगा कि मेरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने जीवन का तथ्य तथा सत्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में मनोवैज्ञानिकोंके उत्तर रोचक अध्ययन का विषय हैं। लांगे (Lange) ने पहले तो यह ही स्थिर किया कि मनोविज्ञानको आत्मासे कुछ प्रयोजन नहीं होगा। आत्मा अन्तिम सत्ताका विषय होने से वह विज्ञानके क्षेत्र में नहीं आ सकती। विज्ञान केवल इन्द्रियगोचर पदार्थोंको ही जान सकता है। इस वास्ते मनोविज्ञान को आत्मा-रहित होना होगा (Psychologie ohne Seele)। इस निश्चयको पीछे आने वाले मनोवैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। जे० एस० मिल (J. S. Mill) ने कहा मनुष्य अपनी मानसिक अवस्थाओं की श्रृङ्खला का ही नाम है। परन्तु उसके सामने आपत्ति यह थी कि वे आगे पीछे आने वाली अवस्थाएं अपने विषयमें एक सामूहिक, एकीकृत विचार—कि हम एक ही श्रृङ्खला हैं—कैसे बना लेती हैं ? उसने उत्तरमें केवल यही कहा कि ये अवस्थाएं ऐसी हैं जो कि अपने आपको श्रृङ्खला कर के जानती हैं। परन्तु अपनी कुछ पीछे लिखी हुई पुस्तक (Examination of Sir W. Hamilton's Philosophy) में इस उत्तरको वह असंतोषजनक अनुभव करता है और बड़े आग्रहपूर्वक यह प्रतिपादित करता है कि यह आवश्यक है कि इन अवस्थाओं को एक ही श्रृङ्खला जानने के लिये उन अवस्थाओंसे भिन्न, उन सबमें समान रहने वाला कोई सत्तांश होना चाहिये। इसे वह common and permanent element (समान, अपरिवर्तनशील सत्तांश) कहता है। अब यहां यह पूछने की आवश्यकता है कि इस सत्तांश का पूरा स्वरूप क्या है ? यहां तो उसके एक गुणकी अनिवार्य आवश्यकता को हीं अनुभव किया गया है। अथवा क्या यह आवश्यकता शुद्ध इन्द्रियज्ञानवाद की सीमा को नहीं प्रकट करती ?

मिलके बाद उस प्रसिद्ध अमरीकन मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स का मानवीय व्यक्तित्व-सम्बन्धी विचार देखने योग्य है। उसने बड़े सुन्दर ढंगसे पहले तो सारे अनुभवगम्य (empirical) 'स्व-भाव' का विश्लेषण किया, परन्तु अन्तमें उसके सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि हमारे इन सब 'विचारों का विचारक' कौन है ? आत्मा तो अन्तिम-सत्तात्मक होनेके कारण से विज्ञान की प्रारम्भिक मानसे वर्जित थी। इस वास्ते उसने यही स्वीकार करना अधिक सुगम समझा कि विचार ही स्वयं विचारक भी हैं (thoughts themselves are the thinkers)।

कैम्ब्रिजके गम्भीर मनोवैज्ञानिक जेम्स वार्ड ने इस मतमें घोर आपत्ति अनुभव की। उसने तीव्र युक्ति से यह कहा कि 'विचार' अथवा 'विचारक' अपने अपने धर्म और लक्षण में मूलतः भिन्न हैं। अतः विचारोंका कोई एक विचारक सर्वथा भिन्न होना आवश्यक है। इसे उसने विज्ञानकी प्रारम्भिक मानका बचाव करते हुए subject (ज्ञाता) कहना ज्यादह पसन्द किया, soul (आत्मा) कहना नहीं चाहा। परन्तु यह स्थिति फिर बड़ी रोचक है। जिस बातको मिलने पीछे जाकर अनुभव किया था वह वार्डके लिये सम्पूर्ण मनोविज्ञानका प्राथमिक सत्य है। उसका अनुभव-मात्रका ही विश्लेषण यह है कि अनुभवमें आवश्यक रूपसे विषय होना चाहिये और विषयी होना चाहिये। ज्ञानमें जहां ज्ञेय है वहां ज्ञाता भी चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु जैसे मिलमें वैसे यहां भी प्रश्न यह उठता है कि यह ज्ञाता आत्मा से क्या निश्चित ही भिन्न है ?

वर्तमान मनोवैज्ञानिकोंके मानवीय व्यक्तित्व-सम्बन्धी विचार बहुत विभिन्न हैं। व्यवहारवादी (Behaviourists) मनकी सत्तासे ही इनकारी हैं। परन्तु इसके विपरीत युंग (Jung) नामके मनोवैज्ञानिकने अपनी एक नवीन पुस्तक (The Integration of the Personality) में मानवीय व्यक्तित्व पर गम्भीर गवेषणापूर्ण विचार उपस्थित किये हैं। उन का जो निर्णयस्वरूप एक वाक्य है वह निम्न है—

"All the usual little remedies and medicaments of psychology fall short in this connection, just as they do with the man of genius or the creative human being. Derivation from ancestral heredity and from the milieu does not quite succeed; inventing fictions about childhood, which is so popular today, ends, to put it mildly,—in the inappropriate; the explanation from necessity—"he has no money, was ill" and so forth—remains caught in mere externalities. Something irrational, that cannot be rationalised, must always supervene, *a deus ex machina or asylum ignorantiae*—that well-known superscription standing for God. Here the problem seems to extend into an extra-human realm, and this, from the beginning, has been covered by some of the names of God." p. 299.

यहां पहले विद्वानों की अपेक्षा कहीं अधिक रूप से यह स्पष्ट अनुभव किया गया है कि इन्द्रियगोचर अनुभव की एक एक धारणा मानवीय व्यक्तित्व की गुत्थीको सुलझानेमें असमर्थ होती है। Heredity (जन्मजात प्रवृत्तियां) या environment (बाह्य प्रभाव) या अन्य कोई भी धारणा हमारे व्यक्तित्व को पूरा पूरा समझा नहीं सकती। यह युंगके लिये निश्चित परिणाम है। जरूर, वह कहता है, अन्तमें इन सबके आधारभूत कुछ ऐसी सत्ता माननी पड़ेगी जिसे हम जान नहीं पाते। इसीलिये उसे वह 'something irrational' (कुछ चीज जो बुद्धिग्राह्य नहीं) कहता है।

यह है वास्तव में पश्चिमी मनोविज्ञान की चरम सीमा। यह स्थिति अपूर्व सौंदर्य वाली है। यहां हम स्पष्ट देख सकते हैं मनोविज्ञान अथवा संपूर्ण विज्ञान की सबलता तथा फिर असमर्थता। विज्ञान इन्द्रियों और बुद्धि के साधनों से बड़े परिश्रमपूर्वक ज्ञान उपार्जन करता है, विश्लेषण पर विश्लेषण करता चला जाता है और बड़े सुन्दर भेदोंको प्राप्त करता है। परन्तु इन्द्रियाँ और बुद्धि केवल phenomena (दृश्य जगत्) तक ही पहुँच रखते हैं न, noumena (अदृश्य स्व-स्वरूप की सत्ता) तक तो इनकी गति नहीं। अतः दृश्य जगत्-मात्र के अध्ययनसे पूर्ण सत्ता का संगत विचार भला कैसे प्राप्त हो ? इसी कारण एक के बाद दूसरा विद्वान् मानवीय व्यक्तित्व में किसी अगम्य सत्ताका हाथ देखता है और उसे असहाय सा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होकर एक अथवा दूसरी प्रकारका बुद्धि से परेका अथवा बुद्धि-विरुद्ध सत्य बतलाता है। वास्तव में यह स्वीकृति भी वैज्ञानिक बुद्धिके साहस का मान करती है।

परन्तु मानवीय व्यक्तित्वका वह आन्तरिक सत्य जो विज्ञानके लिए ऐसी जटिलता पेश करता है योगानुभवके लिए प्रत्यक्ष परम सत्य है। योगानुभव जहां गहरे पर गहरा मानवीय व्यक्तित्व के शरीर, प्राण और मन के बाह्य कोशों को भेदता हुआ आगे बढ़ता है तो एक अवस्थामें चेतन आनन्दस्वरूप आत्मा को प्रत्यक्ष देखता है। उसे व्यक्ति स्वतः प्रकाशमान विभु परमात्मा का एक अंग और अंश अनुभव करता है। उस दशामें योगका साधक जहां अपने आप को जान पाता है वहां उसी समय जगत्के आधार ब्रह्मको भी जान जाता है। आत्मा और परमात्मा एक ही आत्म-तत्त्वके लघु और विभु स्वरूप ही तो ठहरे। मन जो मनोवैज्ञानिक के लिये अन्तिम सत्य है तब साधकको प्रत्यक्ष अनुभव से पता लगता है कि वह वास्तवमें जड़ है, यानी अपने आपमें चेतन नहीं। वह आत्मा के प्रकाशसे प्रकाशित होता है।

आज आत्मा है या नहीं इस पर स्वभावतः ही बहुत सन्देह होता है। यह शंका भी पश्चिमके विज्ञानवादकी पैदा की हुई है। उसी विज्ञानवादकी स्थिति को ही यहां विशेषरूप से उपस्थित कर के दर्शाने का यत्न किया गया है कि शुद्ध विज्ञान भी इन्द्रियगोचर सत्यों के परे की सत्ता का अनिवार्य संकेत देता है। विज्ञानसे उस सत्ताका संकेत मात्र ही मिल सकता है। उस की अन्वेषण-शैली उसके लिये सीमा बांधती है। विज्ञानवाद से प्रभावित आधुनिक जिज्ञासु व्यक्तिकेलिये वह संकेत ही काफी है। इतनेसे ही जिज्ञासु योगमार्गपर आशापूर्ण भाव में बढ़ सकता है। योगकी गम्भीर अनुसन्धान और अनुभव की शैली द्वारा धीर जिज्ञासु को, थोड़े अथवा अधिक समय में, वह आत्म-तत्त्वका परम सत्य—समानरूपसे व्यक्तिमें तथा समष्टि में—प्रत्यक्ष प्राप्त हो जाना अनिवार्य है।

—इन्द्रसेन

लेखकों का परिचय

श्री जगन्नाथप्रसाद जी—आप हिन्दीके सुपरिचित कवि हैं। विशेषतया आध्यात्मिक प्रेरणा से प्रेरित होते हैं और उसे ही अपनी रचनाओं में व्यक्त करते हैं। आपकी योगरुचि और साधना निश्चित ही आप की साहित्यिक रचनामें नया रंग खिलायेगी।

श्री मीर सुभान अली साहिब—आप हैदराबाद (दक्खन) की रियासतमें फौजमें कप्तान हैं। बड़े विद्वान् हैं। संस्कृतियों का अध्ययन आप की विशेष रुचि है। पूर्व और पश्चिमके दर्शन को खूब देखा है। कवि भी उच्च कोटि के हैं। श्रीअरविन्दके आध्यात्मिक दृष्टिकोण के बड़े प्रेमी हैं।

'कश्चित्'—आप वास्तव में गाजियाबाद के प्रसिद्ध वैद्य श्री पण्डित मोहन स्वामी जी हैं। 'मेरा जीवन' कहीं श्री पण्डित जी की सच्ची आत्म-कथा की भ्रांति पैदा न करे, इस कारण आपका नाम वहां नहीं दिया गया।

नोटः—इस वार के हमारे नये लेखक आप लोग ही हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

LIBRARY,
GURUKULA KANGRI

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य

श्रीअरविन्द और उनका योग	॥=)
योगप्रदीप	।॥)
इस जगत् की पहेली	१)
माता	।॥)
योग के आधार	२)
हमारा योग और उसके उद्देश्य	॥)
गीताप्रबन्ध (प्रथम भाग)	४॥)
जगन्नाथ का रथ	॥)
उत्तरपाड़ा अभिभाषण	।)
मातृवाणी	२।)
पांडिचेरी के परमहंस	।)

इसके अतिरिक्त श्रीअरविन्द की अङ्गरेजी, बंगला, गुजराती, तामिल, तेलगु आदि भाषाओं की सब पुस्तकें भी यहां से मिलती हैं।

श्रीअरविन्द निकेतन,

कनाट सर्कस, डाक पेटी ८९, नई देहली ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

१५-८-४४

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

सातवीं कला

अनागसो अदितये स्याम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री अरविन्द !

(१)

वह उज़लत-नशीनी[1] गो हायल[2] नहीं है, क़दायत[3] पै फिर भी तू मायल[4] नहीं है।
तू आलिम[5] है आरिफ़[6] है जाहिल नहीं है, सियासत[7] का ऐसी तू क़ायल[8] नहीं है॥
हक़ायक़[9] की गङ्गा, हिमालय-इरफ़ाँ,[10] खुदा के प्यारे शिरी औरोविन्दो !

(२)

तेरे ढंग ख़िदमत[11] के कुछ और होंगे, तेरे काम मिल्लत[12] के कुछ और होंगे।
ज़राये[13] मुशक्क़त[14] के कुछ और होंगे, तरीके मुहब्बत के कुछ और होंगे॥
हक़ायक़ की गङ्गा, हिमालय-इरफ़ाँ, खुदा के प्यारे शिरी औरोविन्दो !

(३)

तू राहिब[15] भी रहबर[16] भी है फ़लसफ़ी भी, खुदी में भी रहता है फिर बे खुदी भी।
तू बेगाना[17] दुनियां से और दुनयवी भी, शिनासाय-मिल्लत[18] है और अजनबी भी॥
हक़ायक़ की गङ्गा, हिमालय-इरफ़ाँ, खुदा के प्यारे शिरी औरोविन्दो !

(४)

सलातीं[19] के ताजों में कीड़े पड़े हैं, तेरे तख़्तेशाही में हीरे जड़े हैं।
बराबर निग़ाहों में छोटे बड़े हैं, के हाकिम-ओ-महकूम एकजा खड़े हैं॥
हक़ायक़ की गङ्गा, हिमालय-इरफ़ाँ, खुदा के प्यारे शिरी औरोविन्दो !

(५)

वो क़ुर्बे-खुदा[20] है, है वो राज़दारी, न वां फ़ासला है न है परदादारी।
नहीं तुझ को दुनिया की जब पासदारी,[21] तो शादी[22] हैं तुझ को न है आहोज़ारी[23]॥
हक़ायक़ की गङ्गा, हिमालय-इरफ़ाँ, खुदा के प्यारे शिरी औरोविन्दो !

---

(१) एकान्त-सेवन (२) रुकावट (३) नेतृत्व (४) इच्छुक (५) विद्वान् (६) ज्ञानी (७) राजनीति (८) मानने वाला (९) सचाई (१०) भागवत ज्ञान (११) सेवा (१२) समाज (१३) साधन (१४) काम धन्धे (१५) वैरागी त्यागी (१६) रास्ता दिखाने वाला (१७) पराया (१८) समाज से सम्बन्ध रखने वाला (१९) बादशाह (२०) भगवान् का सान्निध्य (२१) तरफ़कारी (२२) खुशी (२३) ग़म, दुःख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६)

वो हक़रस[१] बना, हक़से फ़ुरसत नहीं है, यहां वेदो-गीता की हुज्जत नहीं है।
वो सालिक[२] है बइबिल से वहशत[३] नहीं है, वो योगी है क़ुराँ की दहशत[४] नहीं है॥
हक़ायक़ की गङ्गा, हिमालय-इरफ़ाँ खुदा के प्यारे शिरी औरोविन्दो!

(७)

वो हस्ती है हस्ती नहीं महातमा की, परस्तिश[५] करे तेरे जो आतमा की।
इबादत[६] से कमतर नहीं है खुदा की, के हर लहज़ा[७] वुसलत[८] है परमात्मा की॥
हक़ायक़ की गङ्गा, हिमालय-इरफ़ाँ, खुदा के प्यारे शिरी औरोविन्दो!

(८)

नये फ़लसफ़े का हुवा तू जो बानी,[९] के इस फ़लसफ़े में नहीं कोई सानी[१०]।
समझ में अब आई है दुनियाँ-ए-फानी,[११] खुदा की खुदाई व सिर्रे-नहानी[१२]॥
हक़ायक़ की गङ्गा, हिमालय-इरफ़ाँ, खुदा के प्यारे शिरी औरोविन्दो!

(९)

तेरा योग योगों में है सब से आला, और मशरब[१३] तेरा है यह बिलकुल निराला।
गिरेगा भला कैसे [१४]कोह-ए-हिमाला, रहा है रहेगा तेरा बोलबाला॥
हक़ायक़ की गङ्गा, हिमालय-इरफ़ाँ, खुदा के प्यारे शिरी औरोविन्दो!

(१०)

तू अपने ही मसलक[१५] पै सबको चला दे, ये भटके हुओं को तू रस्ता बता दे।
ये ग़फ़लत[१६] के परदे को जलदी उठा दे, तू हिन्दोस्ताँ को दुबारा जगा दे॥
हक़ायक़ की गङ्गा, हिमालय-इरफ़ाँ, खुदा के प्यारे शिरी औरोविन्दो!

(११)

दकन से जो आया है 'सोभान' दर पर, निहत्ता[१७] न लौटेगा वो यां से डर कर।
कुछ आँसू बहाकर कभी आह भर कर, कुछ हासिल ही कर लेगा फ़रीयाद कर कर॥
हक़ायक़ की गङ्गा, हिमालय-इरफ़ाँ, खुदा के प्यारे शिरी औरोविन्दो!

—"सुभान" हैदराबादी

---

(१) जिसने सत्य को पा लिया है (२) जिज्ञासु (३) डर और नफ़रत (४) डर (५) पूजा (६) भक्ति (७) क्षण (८) मिलन (९) बुनियाद डालने वाला (१०) बराबर का (११) क्षणभंगुर संसार (१२) गुप्त रहस्य (१३) जीवन-धर्म (१४) पर्वत (१५) साधन-मार्ग (१६) अज्ञानता (१७) खाली हाथ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

सातवीं कला

१५ अगस्त १६४४ के श्रीअरविन्द-दर्शन के उपलक्ष में

डा० इन्द्रसेन द्वारा संकलित तथा सम्पादित

प्रकाशक
एस० एन० सण्डर्सन एण्ड कम्पनी
श्रीअरविन्द निकेतन, नई देहली।

एक पुस्तिका का मूल्य१।)
वर्षभर की चार पुस्तिकाओं का मूल्य४)

अदिति मुद्रणालय देहली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

मातृवचनामृत—

प्रार्थना व ध्यान ३

श्रीअरविन्द-वाणी—

१–वैदिक सूक्त-सुधा

(३) इन्द्र और विचार-शक्तियां ४

२–कर्मयोगी

(३) दोनों अवस्थाओं में १४

मेरी चेतना के दो आसन .... डा० इन्द्रसेन जी १६

गीता में 'पुरुषत्रय' .... "शास्त्री" २१

पूर्णयोग —

(१) योग का उद्देश्य .... श्री नलिनीकान्त जी २६

दीक्षित जीवन .... आचार्य अभयदेव जी ३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रार्थना व ध्यान

शान्ति, समस्त पृथ्वी पर शान्ति ....

किसी अचेतन निद्रा या किसी सन्तुष्ट (मूढ़) तामसिकता की शान्ति नहीं, किसी आत्म-विस्मृत अज्ञान तथा अंधकारपूर्ण, जड़वत् उदासीनता की शान्ति नहीं, बल्कि सर्वसामर्थ्यमयी शक्ति की शान्ति, पूर्ण अन्तर्मिलन की शान्ति, सम्पूर्ण जागृति की शान्ति; वह शान्ति जिसमें सब सीमायें और सब अन्धकार लय हो जाते हैं ....

× × ×

यह तड़पन और दुःख क्यों; यह तीव्र संघर्ष तथा क्लेशपूर्ण विद्रोह क्यों; यह व्यर्थ की उद्दण्डता क्यों; यह चेतन और तामसिक निद्रा क्यों? निर्भय होकर जगो, अपने आन्तरिक विरोधों को शान्त करो, झगड़ों को बन्द करो, अपनी आंखें और हृदय खोलो; देखो, (सामने) शक्ति विद्यमान है; वह दिव्य निर्मलता, ज्योति और सामर्थ्य से परिपूर्ण है; वह विद्यमान है असीम प्रेम के रूप में, सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में, सर्वमान्य सद्वस्तु के रूप में, अविभिन्न शान्ति के रूप में, अखण्ड आनन्द के रूप में, परम कल्याण के रूप में; वह स्वयंभू सत्ता है, अनन्त ज्ञान की असीम आनन्दधारा है .... और (वास्तव में) वह इससे भी अधिक कुछ है जो अभी अकथनीय है, पर जो अब भी विचार-जगत् के परे उच्चतर लोकों में काम कर रही है—पूर्ण रूपान्तर (करने वाली) शक्ति के रूप में तथा जड़-जगत् के अचेतन गहन-स्तरों में भी अनवरोध्य रोगनिवारिणी के रूप में........

× × ×

सुन, ओ जानने की इच्छा रखने वाले, सुन। देख, ओ देखने की इच्छा रखने वाले, विचार और जीवन लाभ कर।

शक्ति (तेरे सामने) विद्यमान है।

७ जुलाई १९१४

—मूल फ्रेंच से अनूदित

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द-वाणी—

वैदिक सूक्त-सुधा

(३)

इन्द्र और विचार-शक्तियां

ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त १७१

प्रति व एना नमसाहमेमि सूक्तेन भिक्षे सुमतिं तुराणाम् ।
रराणता मरुतो वेद्याभिर्नि हेडो धत्त वि मुचध्वमश्वान् ॥१॥

[वः प्रति] तुम्हारे प्रति [एना नमसा] इस नमन के साथ [अहम् एमि] मैं आता हूँ, [सूक्तेन] पूर्ण शब्द के द्वारा [तुराणाम्] उन से जो कि मार्गातिक्रमण में तीव्रगति वाले हैं [सुमतिं भिक्षे] मैं सत्य मनोवृत्ति की याचना करता हूँ। [मरुतः] हे मरुतो ! [वेद्याभिः रराणत] ज्ञान की वस्तुओं में आनन्द लो, [हेडः] अपने क्रोध को [निधत्त] एक तरफ रख दो, [अश्वान्] अपने घोड़ों को [विमुचध्वम्] खोल दो ॥१॥

एष वः स्तोमो मरुतो नमस्वान् हृदा तष्टो मनसा धायि देवाः ।
उपेमा यात मनसा जुषाणा यूयं हि ष्ठा नमस इद् वृधासः ॥२॥

[मरुतः] हे मरुतो ! [एष वः स्तोमः] देखो, यह तुम्हारा स्तोत्र है; [नमस्वान्] यह मेरे नमन से परिपूर्ण है, [हृदा तष्टः] यह हृदय द्वारा रचा गया था, [देवाः] हे देवो ! [मनसा धायि] यह मन द्वारा धारण किया गया था, [इमाः उपयात] इन मेरे वचनों के पास पहुंचो [मनसा जुषाणाः] और इन्हें मन द्वारा सेवित करो; [हि] क्योंकि [यूयम्] तुम [नमसः] नमन के† [इद्] निश्चयपूर्वक [वृधासः ष्ठाः] बढ़ाने वाले हो ॥ २ ॥

† सायण ने यहाँ सर्वत्र 'नमस्' का वही अपना प्रिय अर्थ 'अन्न' किया है; क्योंकि "प्रणाम के बढ़ाने वाले" यह अर्थ, स्पष्ट ही, नहीं हो सकता । इस सन्दर्भ से तथा अन्य कई सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि यह शब्द नमस्कार के भौतिक अर्थ के पीछे अपने साथ एक आध्यात्मिक अर्थ भी रखता है जो अर्थ कि यहां साफ तौर पर अपनी मूर्त्त प्रतिमा छोड़ कर सामने आ गया है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तुतासो नो मरुतो मृलयन्तूत स्तुतो मघवा शंभविष्ठः ।
ऊर्ध्वा नः सन्तु कोम्या वनान्यहानि विश्वा मरुतो जिगीषा ॥३॥

[स्तुतासः मरुतः] स्तुति किये हुए मरुत [नः मृलयन्तु] हमें सुखप्रद हों [उत स्तुतः मघवा] स्तुति किया हुआ ऐश्वर्य का अधिपति (इन्द्र) तो [शंभविष्ठः] पूर्णतया सुख का रचयिता हो गया है। [नः कोम्या वनानि] हमारे वांछनीय आनन्द‡ [ऊर्ध्वाः सन्तु] ऊपर की ओर उत्थित हो जायें, [मरुतः] हे मरुतो! [विश्वा अहानि] हमारे सब दिन [जिगीषा] विजयेच्छा के द्वारा [ऊर्ध्वाः सन्तु] ऊपर की ओर उत्थित हो जायें ॥ ३ ॥

अस्मादहं तविषादीषमाण इन्द्राद् भिया मरुतो रेजमानः ।
युष्मभ्यं हव्या निशितान्यासन् तान्यारे चकृमा मृलता नः ॥४॥

[अस्मात् तविषाद् ईषमाणः] इस महाशक्तिशाली द्वारा अधिकृत हुवे हुवे [अहम्] मैंने [इन्द्राद् भिया रेजमानः] इन्द्र के भय से कांपते हुए, [मरुतः] हे मरुतो! [युष्मभ्यं हव्या निशितानि आसन्] जो हवियां तुम्हारे लिये तीव्र बना कर रखी हुई थीं [तानि] उनको [आरे चकृम] दूर रख दिया है। [नः मृलत] हम पर कृपा करो ॥ ४ ॥

येन मानासश्चितयन्त उस्रा व्युष्टिषु शवसा शश्वतीनाम् ।
स नो मरुद्भिर्वृषभ श्रवो धा उग्र उग्रेभिः स्थविरः सहोदाः ॥५॥

[येन] जिसके द्वारा [मानासः] मन की गतियां [व्युष्टिषु] हमारे प्रभातकालों में [शश्वतीनां शवसा†] शाश्वतिक उषाओं की प्रकाशमयी शक्ति के द्वारा [चितयन्तः] सचेतन और [उस्राः§] प्रकाश से जगमगाती हुई हो जाती हैं

---

‡ 'वन' शब्द के दोनों अर्थ हैं "जंगल" और "सुखभोग" या विशेषण के रूपमें लें तो "सुखभोग के योग्य"। वेद में प्रायः यह द्विविध अर्थ को लिये हुए आता है — हमारी भौतिक सत्ता की "सुखदायी वृद्धियां", **रोमाणि पृथिव्याः ।**

† वेद में सामर्थ्य, बल, शक्ति के लिये बहुत से शब्द प्रयुक्त हुए हैं और उनमें से प्रत्येक अपने साथ एक विशेष सूक्ष्म अर्थभेद को रखता है 'शवस्' शब्द प्रायः शक्ति के साथ प्रकाश के अर्थ को भी देता है।

§ स्त्रीलिंग में 'उस्रा' यह शब्द 'गो' के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[स वृषभ‡] उस तूने हे गौओं के पति! [मरुद्भिः] मरुतों के साथ मिलकर [नः श्रवः धाः] हमारे अन्दर अन्तःप्रेरित ज्ञान को निहित कर दिया है, —[उग्रेभिः] उन बलशालियों के साथ मिलकर उस तूने जो कि [उग्रः] बलशाली [स्थविरः] स्थिर और [सहोदाः] बलप्रदाता है ॥ ५ ॥

त्वं पाहीन्द्र सहीयसो नॄन् भवा मरुद्भिरवयातहेडाः ।
सुप्रकेतेभिः सासहिर्दधानो विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥६॥

[इन्द्र] हे इन्द्र! [त्वम्] तू [सहीयसः] वृद्धिंगत बल वाली [नॄन्*] शक्तियों की [पाहि] रक्षा कर; [मरुद्भिः अवयातहेडाः भव] मरुतों के प्रति जो तेरा क्रोध है उसे दूर कर दे, [सासहिः] जो तू शक्ति में परिपूर्ण [सुप्रकेतेभिः] सत्य बोध से युक्त उन (मरुतों) के द्वारा [दधानः] धारण किया हुवा है। हम [वृजनम् इषं विद्याम] उस प्रबल प्रेरणा को प्राप्त कर लें [जीरदानुम्] जो कि वेगपूर्वक बाधाओं को छिन्न भिन्न कर देने वाली है ॥ ६ ॥

भाष्य

यह सूक्त इन्द्र और अगस्त्य के संवाद का उत्तरवर्ती सूक्त है और अगस्त्य की तरफ से कहा गया है। इस में अगस्त्य मरुतों को मना रहा, प्रसन्न कर रहा है,

---

के एक साथ दोनों अर्थ हैं, गाय और प्रकाश की किरण। 'उषा' भी गोमती है अर्थात् किरणों से परिवृत या सूर्य की गौओं से युक्त। मूल मन्त्र में 'उस्राः' के साथ मेल मिल कर एक अर्थ-गर्भित प्रयोग किया गया है 'उस्रा व्युष्टिषु'; यह वैदिक ऋषियों द्वारा प्रयुक्त उन सामान्य प्रयोगों में से एक है जो ऐसे विचार या सम्बन्ध को ध्वनित करते हैं जिसे ऋषि स्पष्ट तौर से खोल देना आवश्यक नहीं समझते।

‡ 'वृषभ' का अर्थ है बैल, पुरुष, अधिपति या वीर्यशाली। इन्द्र को सतत रूप से 'वृषभ' या 'वृषन्' कहा गया है। कहीं यह शब्द अकेला स्वयं प्रयुक्त हुआ होता है जैसे कि यहां; और कहीं इसके विधेय के तौर पर प्रयुक्त किसी दूसरे शब्द के साथ में, जो उसके साथ गौओं के विचार को ध्वनित करने के लिये आता है जैसे "वृषभः मतीनाम्" अर्थात् 'विचारों का अधिपति', जहां स्पष्ट ही बैल और गौओं का रूपक अभिप्रेत है।

* 'नृ' शब्द का अर्थ प्रतीत होता है आरम्भ में क्रियाशील, वेगवान् या दृढ़ यह था। हमारे सामने 'नृम्ण' शब्द है जिसका अर्थ बल है, और 'नृतमा नृणाम्' जिसका अर्थ है शक्तियों में सब से अधिक शक्तिशाली। बाद में इसका अर्थ 'पुरुष' या 'मनुष्य' हो गया और वेद में यह प्रायः उन देवों के लिये प्रयुक्त हुआ है जो कि पुरुष-शक्तियां हैं, जो प्रकृति की शक्तियों पर प्रभुत्व करती हैं; और जिनके मुकाबले में स्त्रीलिंगी शक्तियां हैं 'ग्ना' या 'गना'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 76324

क्योंकि उसने उनके यज्ञको शक्ततर देव (इन्द्र) के आदेश से बीच में रोक दिया था। अपेक्षाकृत कम प्रत्यक्ष रूप से विचार की दृष्टि से इस सूक्त का सम्बन्ध इसी (पहले) मण्डल के १६५ वें सूक्त के साथ है, यह १६५ वां सूक्त इन्द्र और मरुतों का संवादरूप है, जिसमें **स्वर्ग के अधिपति** (इन्द्र) की सर्वोच्चता घोषित की गई है और इन अपेक्षाकृत अल्प प्रकाशमान मरुतों को उसके अधीन शक्तियां स्वीकार किया गया है जो कि मनुष्यों को इन्द्र से सम्बन्धित उच्च सत्यों की तरफ प्रेरित करती हैं।

"इनके (मनुष्यों के) चित्र-विचित्र प्रकाश वाले विचारों को अपने प्राण का बल देते हुए इनके अन्दर मेरे (मुझ इन्द्र के) सत्यों को ज्ञान में प्रेरित करने वाले बन जाओ। जब कर्त्ता कर्म के लिये क्रियाशील हो जाय और विचारक की प्रज्ञा हमें उसके अन्दर रच दे तब, हे मरुतो! निश्चिततया तुम प्रकाशयुक्त द्रष्टा (विप्र) के प्रति गति करने लगो‡" — ये हैं उस संवाद के अन्तिम शब्द, उन अल्पतर देवों (मरुतों) को दिया गया इन्द्र का अन्तिम आदेश।

ये ऋचायें पर्याप्त स्पष्ट तौर पर मरुतों के आध्यात्मिक व्यापार को निश्चित कर देती हैं, मरुत तत्त्वतः विचार के देवता नहीं बल्कि शक्ति के देवता हैं, तो भी उन की शक्तियां सफल होती हैं मन के अन्दर। साधारण अशिक्षित (अदीक्षित) आर्य पुजारी के लिये ये मरुत वायु, आँधी और वर्षा की शक्तियाँ थीं; ये आँधी-तूफान के ही रूपक हैं जो उनके लिये प्रायः प्रयुक्त किये गये हैं और उन्हें 'रुद्र' अर्थात् उग्र, प्रचण्ड कहा गया है,—जो 'रुद्र' नाम मरुतों के साथ **शक्ति** के देवता **अग्नि** को भी दिया गया है। यद्यपि कहीं-कहीं इन्द्र को मरुतों में ज्येष्ठ वर्णित किया गया है,— **इन्द्रज्येष्ठो मरुद्गणः**,—तो भी पहले यही प्रतीत होगा कि ये अपेक्षया **वायु** के लोक से सम्बन्ध रखते हैं—**वायु** जो कि पवन देवता है, जो वैदिक सम्प्रदाय में **जीवन** का अधिपति है, प्राण नाम से वर्णित उस जीवन-श्वास या क्रियाशील बल का स्रोत और प्रेरक है जो कि मनुष्य के अन्दर वातिक और प्राणमय क्रियाओं से द्योतित होता है। पर यह उनके स्वरूप का केवल एक भाग है। भ्राजिष्णुता, उग्रता से किसी भी प्रकार कम नहीं, उनकी विशेषता है। उनसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु तेजोयुक्त है, वे स्वयं, उनके चमकीले शस्त्रास्त्र, उनके स्वर्णिल आभूषण, उनके देदीप्यमान रथ सब भ्राजमान हैं। न केवल वे वर्षा को, जलों को, आकाशीय विपुल ऐश्वर्य को नीचे भेजते हैं, और नवीन प्रगतियों तथा नवीन निर्माणों के वास्ते मार्ग बनाने के लिये दृढ़ से दृढ़ वस्तुओं को तोड़ गिराते हैं, बल्कि अन्य देवों, इन्द्र, मित्र,

‡ ....मन्मानि चित्रा अपिवात यन्त एषां भूतन वेदा म ऋतानाम् ॥ आ यद्दुवस्याद्दुवसे न कारुरस्माञ्चक्रे मान्यस्य मेधा। ओ षु वर्त्त मरुतो विप्रमच्छ....(१.१६५.१३,१४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वरुण की तरह जिनके साथ कि वे इन व्यापारों में सहभागी होते हैं, वे भी सत्य के सखा हैं, **प्रकाश** के रचयिता हैं। इसीलिये ऋषि गोतम राहूगण उनसे प्रार्थना करता है :—

यूयं तत्सत्यशवस आविष्कर्त महित्वना । विध्यता विद्युता रक्षः ॥
गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम् । ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ॥
ऋग् १. ८६. ९, १०

हे **सत्य** के तेजोमय बल से युक्त मरुतो ! अपनी शक्तिशालिता से तुम उसे अभिव्यक्त कर दो; अपने विद्युद्-वज्र से राक्षस को विद्ध कर दो। आवरण डालने वाले अंधकार को छिपा दो, प्रत्येक **भक्षक** को दूर हटा दो, उस **प्रकाश** को रच दो जिसे हम चाह रहे हैं।"

और एक दूसरे सूक्त में अगस्त्य उन्हें कहता है—

नित्यं न सूनुं मधु बिभ्रत उप क्रीडन्ति क्रीडा विदथेषु घृष्वयः । १.१६६.२

"वे अपने साथ [आनंद के] माधुर्य को लिये हुए हैं, जैसे कि अपने शाश्वत पुत्र को लिये हों, और अपनी खेल खेल रहे हैं, वे जो कि ज्ञान की क्रियाओं में तेजस्वी हैं।"

मरुत, इसलिये, शक्तियां हैं मनोवृत्ति की, ये वे शक्तियां हैं जो ज्ञान में सहायक होती हैं। स्थिरीभूत सत्य, प्रसृत प्रकाश उनमें नहीं है, उनके पास है गति, खोज, विद्युद्दीप्ति और जब **सत्य** प्राप्त हो जाता है तब उनके पृथक् पृथक् प्रकाशों का अनेकविध खेल।

हम देख चुके हैं कि अगस्त्य ने इन्द्र के साथ अपने संवाद में एक से अधिक बार मरुतों की चर्चा की है। उन्हें इन्द्र का भाई कहा है और यह कहा है कि इन्द्र को अगस्त्य पर जब कि वह पूर्णता के लिये संघर्ष कर रहा है, प्रहार नहीं करना चाहिये। उस पूर्णताप्राप्ति में मरुत उसके (इन्द्र के) उपकरण हैं, और क्योंकि ऐसा है इसलिये इन्द्र को उनका उपयोग करना चाहिये। और समर्पण तथा मैत्रीसन्धान की अन्त की उक्ति में अगस्त्य इन्द्र से प्रार्थना करता है कि तू फिर मरुतों के साथ संलाप कर और उनके साथ एकमत हो जा ताकि यज्ञ दिव्य सत्य की क्रिया और नियमक्रम में आगे उस तरफ़ चल सके जिस तरफ़ यह चलाया गया है। उस समय अगस्त्य के अन्दर जो संकट पैदा हुवा था जिसने कि उस के मन पर ऐसा जबर्दस्त प्रभाव छोड़ा उसका स्वरूप एक उग्र संघर्ष का था, जिसमें कि उच्चतर दिव्य शक्ति (इन्द्र) ने अगस्त्य तथा मरुतोंका सामना किया और उनकी रभसपूर्ण प्रगति का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोध किया। इस अवसर पर दिव्य प्रज्ञा (इन्द्र) जो कि विश्व पर शासन करती है, तथा अगस्त्य के मन की रभसपूर्ण अभीप्साशक्तियों (मरुतों) के बीच में परस्पर एक रोष तथा कलह चलता रहा। दोनों ही शक्तियां मानवसत्ता को अपने लक्ष्य पर पहुंचाना चाहती हैं। पर उसकी यात्रा, प्रगति जैसा कि क्षुद्रतर दिव्य शक्तियां (मरुत) पसंद करती हैं वैसे संचालित नहीं होनी चाहिये, बल्कि यह संचालित होनी चाहिये वैसे जैसे कि ऊपर की गुप्त दिव्य प्रज्ञा (जो कि अभिव्यक्तीकृत प्रज्ञा पर सदा अधिकार रखती है) ने दृढ़तया संकल्पित और निश्चित किया हुवा है। इस लिये मानवसत्ता (अगस्त्य) का मन बृहत्तर शक्तियों के लिये एक रणक्षेत्र बना रहा है और अभी तक वह अनुभूति के त्रास और भय से कांप रहा है।

इन्द्र को समर्पण किया जा चुका है; अगस्त्य अब (इस सूक्त में) मरुतों से विनती कर रहा है कि वे मैत्री-संधान की शर्तें स्वीकार कर लें ताकि उसकी आन्तरिक जीवन की पूर्ण समस्वरता फिर से स्थापित हो जाय। वह उस समर्पण के साथ जो कि वह महान् देव (इन्द्र) को कर चुका है मरुतों के पास आता है और उसे (नमन को) उनके तेजोयुक्त सैन्य तक विस्तृत करता है। मानसिक अवस्था की तथा इसकी शक्तियों की पूर्णता जिसे अगस्त्य चाह रहा है, उनकी निर्मलता, सरलता, सत्य-दर्शन, की शक्ति तब तक संभव नहीं है जब तक उच्चतर ज्ञान के प्रति गमन करने में विचार-शक्तियों (मरुतों) का तीव्र वेग न प्राप्त हो जाय। पर ज्ञान के प्रति वह गति जब गलत तरीके से चलाई गई; समुचित प्रकार से प्रकाशमय नहीं हुई, तब वह इन्द्र के जबर्दस्त विरोध द्वारा रुक गई है और कुछ समय के लिये अगस्त्य की मनोवृत्ति से पृथक् हो गई है। इस प्रकार बाधा पाकर मरुत अगस्त्य को छोड़ अन्य यज्ञकर्ताओं के पास चले गये हैं; अब अन्यत्र ही उनके देदीप्यमान रथ चमकते हैं, अन्य क्षेत्रों में ही उनके घोड़ों के वायुरूपी पैरों के सुम वज्रनिर्घोष करते हैं। ऋषि उनसे प्रार्थना कर रहा है कि अपने रोष को एक तरफ रख दो, एक बार फिर ज्ञान के अनुसरण में और इसकी क्रियाओं में आनन्द लो; अब और अधिक मुझे छोड़ कर परे मत जाओ, अपने घोड़ों को खोल दो, यज्ञ के आसन पर अवतीर्ण हो जाओ और वहां अपना स्थान ग्रहण करो, हवियों के अपने भाग को स्वीकार करो (देखो, मन्त्र १)।

वह फिर अपने अन्दर इन शोभाशाली शक्तियों (मरुतों) को सुस्थित, दृढ़ करना चाहता है, और यह एक स्तोत्र है जो कि वह उनके प्रति अर्पित कर रहा है, वैदिक ऋषियों का 'स्तोम' है। रहस्यवादियों की पद्धति में, जो कि भारतीय योग के सम्प्रदायों में आंशिकतया बची हुई है, शब्द एक शक्ति है, शब्द रचना किया करता है। क्योंकि सारी ही रचना एक अभिव्यञ्जन है, उच्चारण है, प्रत्येक वस्तु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले से ही असीम के गुह्य स्थान में विद्यमान है, **गुहा हितम्**, और वहां वह क्रियाशील चेतना द्वारा केवल व्यक्त रूप में लाई जानी है। वैदिक विचार के भी कुछ सम्प्रदाय लोकों को **शब्द की देवी** (वाग् देवी) द्वारा रचित हुआ मानते हैं और यह समझते हैं कि ध्वनि प्रथम आकाशीय कम्पन के रूप में रचना की पूर्ववर्ती हुवा करती है। स्वयं वेद में ही ऐसे सन्दर्भ मिलते हैं जो पवित्र मन्त्रों के कवितात्मक छन्दों—अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगती, गायत्री—को उन छन्दों व स्वरों का प्रतीकभूत कहते हैं जिनमें वस्तुओं की विश्वव्यापी गति ढाली गई है।

तो शब्दोच्चारण द्वारा हम रचना करते हैं और मनुष्यों के लिये तो यह भी कहा गया है कि वे मन्त्र द्वारा अपने अन्दर देवों को रचित करते हैं। फिर, उसे जिसे हमने अपनी चेतना के अन्दर **शब्द** द्वारा रचा है, हम वहां **शब्द** द्वारा सुस्थापित भी कर सकते हैं कि वह हमारी आत्मा का अंग बन जाय और न केवल हमारे आन्तरिक जीवन में बल्कि बाह्य भौतिक जगत् पर भी प्रभाव डालने वाला हो जाय। उच्चारण द्वारा हम रचते हैं, स्तोत्र द्वारा स्थापित करते हैं। उच्चारण की एक शक्ति के तौर पर शब्द को 'गीः' या 'वचस्' नाम दिया जाता है; स्तोत्र की शक्ति के तौर पर 'स्तोम'। दोनों ही रूपों में इसे 'मन्म' या 'मन्त्र' और 'ब्रह्म' यह नाम दिया गया है; 'मन्म' या 'मन्त्र' का अर्थ है मन के अन्दर विचार का व्यक्तीकरण और 'ब्रह्म' का अर्थ है हृदय या आत्मा का व्यक्तीकरण। (क्योंकि 'ब्रह्मन्' शब्द का प्रारम्भिक अर्थ यही रहा प्रतीत होता है; बाद में यह परमात्मा या विराट् सत्ता के लिये प्रयुक्त होने लगा)।

मन्त्र के निर्माण की पद्धति दूसरी ऋचा में वर्णित की गई है और इसकी फलसाधकता के लिये जो आवश्यक शर्तें हैं वे भी वहां बता दी गई हैं। अगस्त्य मरुतों को स्तोम अर्पित करता है, जो एक साथ स्तुति और समर्पण दोनों का स्तोत्र है। हृदय द्वारा रचा गया यह स्तोम, मन द्वारा संपुष्ट होकर मनोवृत्ति के अन्दर अपने समुचित स्थान को प्राप्त करता है। मन्त्र यद्यपि मन के अन्दर विचार को अभिव्यक्त करता है तथापि यह अपने तात्त्विक अंश में बुद्धि की रचना नहीं है। पवित्र तथा फलोत्पादक शब्द होने के लिये आवश्यक है कि मन्त्र अन्तःप्रेरणा के रूप में अतिमानस लोक से, जिसे वेद में **'ऋतम्'** अर्थात् सत्य नाम दिया गया है, आया हो और या तो हृदय द्वारा या प्रकाशमयी प्रज्ञा, **मनीषा** द्वारा बाह्य चेतना के अन्दर गृहीत हुआ हो। हृदय, वैदिक अध्यात्मविज्ञान में, भावावेशों के स्थान तक ही सीमित नहीं है; यह स्वतःप्रवृत्त मनोवृत्ति के, हमारे अन्दर अवचेतन के अधिक से अधिक समीप पहुंचे हुवे उस सारे विशाल प्रदेश को समाविष्ट किये हुए है, जिसमें से संवेदन, भावावेश, सहजज्ञान, आवेग उठते हैं और वे सब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्ज्ञान तथा अन्तःप्रेरणायें उठती हैं जो कि प्रज्ञा में ठीक रूप में पहुंचने से पहले इन उपकरणों में से गुज़र कर आती हैं। यह है वेद और वेदान्त का "हृदय," जिसके वाचक शब्द वेद में 'हृदय,' 'हृद' या 'ब्रह्मन्' हैं। उस हृदय के अन्दर, मनुष्य की जैसी वर्तमान अवस्था है उसमें, 'पुरुष' केन्द्रभूत होकर आसीन हुआ माना गया है। अवचेतन की विशालता के समीप उस हृदय में, सामान्य मनुष्य के अन्दर—उस मनुष्य के जो कि अभी तक उन्नत होकर उस उच्च लोक तक नहीं पहुंचा है जहां कि असीम के साथ सम्पर्क प्रकाशमय और घनिष्ठतायुक्त तथा साक्षात् हो जाता है—विराट् आत्मा की अन्तःप्रेरणायें अधिकतम आसानी के साथ अन्दर प्रविष्ट हो सकती हैं और अत्यधिक तीव्रता के साथ व्यक्तिगत आत्मा पर अधिकार पा सकती हैं। इसलिये यह हृदय की शक्ति द्वारा ही होता है कि मन्त्र रचित होता है। परन्तु इस मन्त्र को हृदय के बोधमें ही नहीं किन्तु साथ ही मन (प्रज्ञा) के विचार में भी ग्रहण करना तथा धारण करना होता है; क्योंकि वह विचार का सत्य जिसे शब्द का सत्य अभिव्यक्त करता है तब तक दृढ़तापूर्वक अधिगत नहीं किया जा सकता या तब तक सामान्यतः फलसाधक नहीं हो सकता जब तक कि प्रज्ञा इसे ग्रहण नहीं कर लेती बल्कि अंडे की तरह उसे से नहीं लेती। हृदय द्वारा विरचित होकर यह मन द्वारा सुस्थित किया जाता है।

पर एक और अनुमोदन भी अपेक्षित है। वैयक्तिक मन ने स्वीकृति दे दी है, विश्व की फलसाधक शक्तियों की भी स्वीकृति मिलनी चाहिये। मन द्वारा धारण किये गये स्तोत्र के शब्दों ने एक नवीन मानसिक स्थिति के लिये आधार को सुरक्षित कर दिया है जिसमें से भविष्य में आने वाली विचार-शक्तियों ने प्रकट होना है। मरुतों को आवश्यक तौर पर उन (स्तोत्र के शब्दों) के पास पहुंचना चाहिये तथा उनको अपना आधार बनाना चाहिये, इन विराट् शक्तियों का जो मन है उसे व्यक्तिगत मन की रचनाओं को स्वीकृति देनी चाहिये तथा उनके साथ अपने आप को जोड़ना चाहिये। केवल इसी तरह हमारी आन्तरिक या हमारी बाह्य क्रिया अपनी उच्च फलसाधकता को प्राप्त कर सकती है।

न ही मरुतों के पास कोई कारण है कि क्यों वे अपनी अनुमति देने से इन्कार करें या अपने विरोध को और लम्बे काल तक जारी रखने पर आग्रह करें। दिव्य शक्तियाँ जो स्वयमेव व्यक्तिगत आवेग की अपेक्षा एक उच्चतर नियम का पालन करती हैं, यह उनका कार्य होना चाहिये, जैसा कि यह उनका नैसर्गिक स्वभाव है, कि वे मर्त्य को बाध्य करें कि वह अमर के प्रति अपना समर्पण कर दे और सत्य की, उस बृहत् की आज्ञापालकता को अपने अंदर बढ़ाये जिसके प्रति उसकी मानवीय शक्तियाँ अभीप्सा कर रही हैं (देखो, मंत्र २)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्र स्तुत और स्वीकृत हो चुकने के बाद अब मर्त्य के साथ अपने संसर्ग में कष्टप्रद नहीं रहा है; दिव्य संस्पर्श अब पूर्णतया शान्ति और सुख का सृजन करने वाला हो गया है। मरुतों को भी, स्तुत और स्वीकृत हो जाने पर, अपनी हिंसा को एक तरफ़ रख देना चाहिये। अपने सौम्य रूपों को धारण करके, अपनी क्रिया में सुखप्रद होकर, आत्मा को कष्ट तथा बाधाओं के बीच में से न ले जाते हुए, उन्हें भी प्रबल के साथ साथ विशुद्ध रूप से उपकारशील सहायक बन जाना चाहिये।

इस पूर्ण समस्वरता के स्थापित हो चुकने पर, अगस्त्य का **योग** विजय के साथ अपने लिये निर्दिष्ट किये हुए नवीन तथा सरल मार्ग पर चल पड़ेगा। लक्ष्य सर्वदा यह है कि हम जहां हैं वहां से चढ़ कर एक उच्चतर स्तर पर पहुंच जांय, — उस स्तर पर जो कि विभक्त तथा अहम्भावपूर्ण संवेदन, भावावेश, विचार और क्रिया के सामान्य जीवन की अपेक्षा उच्चतर है। और यह उत्थान सर्वदा इसी प्रबल संकल्प से अनुसृत होना चाहिये कि उन सब पर जो विरोध करते हैं तथा मार्ग में रुकावट डालते हैं हमें विजय प्राप्त करनी है। पर यह होना चाहिये सर्वाङ्गीण उत्थान। सब सुख (वनानि) जिन्हें मनुष्य पाना चाहता है और मनुष्य की जागृत चेतना की — वेद की संक्षिप्त प्रतीकात्मक भाषा में कहें तो उसके **'दिनों'** की — सभी क्रियाशील शक्तियां उस उच्च स्तर तक उठ जानी चाहियें। 'वनानि' से अभिप्रेत हैं वे ग्रहणशील संवेदन जो कि सब बाह्य विषयों में आनन्द को प्राप्त करना चाहते हैं, जिस आनन्द के अन्वेषण के लिये ही उनकी सत्ता है। ये संवेदन भी बहिष्कृत नहीं ही रखे गये हैं। किसी का भी वर्जन नहीं करना है, सब को दिव्य चेतना के विशुद्ध धरातलों तक उठा ले जाना है (देखो, मन्त्र ३)।

पहले अगस्त्य ने मरुतों के लिये दूसरी अवस्थाओं में हवि तैयार की थी। उसके अन्दर जो कुछ भी था जिसे वह इन **विचार-शक्तियों** (मरुतों) के हाथों में रख देना चाहता था उस सब को उसने इसके लिये खोल दिया था कि मरुत उसमें अपनी गर्भित शक्ति का पूर्णतम उपयोग कर सकें; पर उसकी हवि में दोष के होने के कारण मध्य-मार्ग में ही उसके सामने एक बड़ा **शक्तिशाली देव** (इन्द्र) शत्रु के तौर पर आ पहुंचा था और केवल भय तथा महान् कष्ट के पश्चात् ही अगस्त्य की आंखें खुली थीं और उसके आत्मा ने समर्पण कर दिया था। अब तक भी उस अनुभूति के भावोद्वेगों से कांप रहा, वह बाध्य कर दिया गया था कि उन क्रियाओं का अब वह परित्याग कर दे जिन्हें उसने ऐसी प्रबलता के साथ तैयार किया था। पर अब वह फिर मरुतों को हवि देने लगा है, किन्तु अब की बार उसने उस शानदार **नाम** के साथ और भी अधिक प्रबल **'इन्द्र के देवत्व'** को जोड़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया है। तो मरुतों को चाहिये कि वे उस पहली हवि में भंग पड़ने के लिये रोष न करें, बल्कि इस नवीन और अपेक्षाकृत अधिक उचित तौर पर सुझाये गये कर्म को स्वीकार कर लें (देखो, मन्त्र ४)।

अगस्त्य अन्तिम दो ऋचाओं में मरुतों से हट कर इन्द्र के अभिमुख होता है। मरुत मानवीय मनोवृत्ति के प्रगतिशील प्रकाश के प्रतिनिधि हैं, जब तक कि मन की गतियां अपनी प्रथम धुंधली गतियों से, जो कि ठीक अभी अवचेतन के अन्धकार में से बाहर निकली हैं, उस प्रकाशमयी चेतना की प्रतिमा में रूपान्तरित नहीं हो जातीं जिस चेतना का 'इन्द्र' पुरुष है, प्रतिनिधित्व करने वाला है। धुंधलेपन से निकल वे मन की गतियाँ सचेतन हो जाती हैं, सन्ध्याकालीन जैसे अल्प प्रकाश से प्रकाशित, अर्ध-प्रकाशित या भ्रान्तिजनक प्रतिबिम्बों में परिणत हुई अवस्था से ऊपर उठ वे इन अपूर्णताओं को अतिक्रान्त कर जाती हैं और दिव्य ज्योति को धारण कर लेती हैं। यह इतना बड़ा विकास **काल** में क्रमशः सिद्ध होता है, मानवीय आत्मा के प्रभातों में, **उषाओं** के अविच्छिन्न आगमन के द्वारा सिद्ध होता है। क्योंकि **उषा** वेद में मनुष्य की भौतिक चेतना में दिव्य प्रकाश के नूतन आगमनों की प्रतीकभूत देवी है। वह अपनी बहिन **रात्रि** के साथ बारी बारी से आया करती है; परन्तु वह स्वयँ अन्धकारमयी भी प्रकाश की एक जननी है और सर्वदा **उषा** उसे ही प्रकट करने आया करती है जिसे इस काली भौंओं वाली **माता** (रात्रि) ने तैयार कर रखा होता है। तो भी यहां ऋषि सतत रूप से रहने वाली उषाओं का वर्णन करता प्रतीत होता है, इन प्रतीयमान विश्राम के और अन्धकार के व्यवधानों से विच्छिन्न उषाओं का नहीं। उन क्रमागत प्रकाशों के सतत आगमन से मिलने वाली दीप्यमान शक्ति के द्वारा मनुष्य की मनोवृत्ति तीव्रतासहित आरोहण करती हुई पूर्णतम प्रकाश को पा लेती है। पर हमेशा वह बल, जिसने इस रूपान्तर को सम्भव बनाया है और इसका अधिष्ठाता है, इन्द्रका पराक्रम है। यह (इन्द्र) वह परम प्रज्ञा है जो उषाओं के द्वारा, मरुतों के द्वारा, अपने आप को मनुष्य के अन्दर उँडेल रही है। इन्द्र है प्रकाशमयी गौओं का **वृषभ**, विचार-शक्तियों का **स्वामी**, प्रकाशमान उषाओं का **अधिपति**।

अब भी चाहिये कि इन्द्र मरुतों को प्रकाशप्राप्ति के लिये अपने उपकरण के तौर पर प्रयुक्त करे। उनके द्वारा वह द्रष्टा के अतिमानस ज्ञानको प्रतिष्ठित करे। उनकी (मरुतों की) शक्ति द्वारा मानवीय स्वभाव के अन्दर उसकी (इन्द्र की) शक्ति प्रतिष्ठित होगी और वह (इन्द्र) उस मानवस्वभाव को अपनी दिव्य स्थिरता, अपनी दिव्य शक्ति प्रदान कर सकेगा, ताकि वह (मानवस्वभाव) आघातों से लड़खड़ा न जाय या प्रबल क्रियाशीलता की बृहत्तर क्रीडा को जो कि हमारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्य क्षमता के मुकाबले में अत्यधिक महान् है, धारण करने में विफल न हो जाय (देखो, मन्त्र ५)।

मरुत इस प्रकार शक्ति में प्रबलीभूत होकर सदा उच्चतर शक्ति के पथप्रदर्शन और रक्षण की अपेक्षा करेंगे। वे हैं पृथक्-पृथक् विचारशक्तियों के पुरुष, इन्द्र है इकट्ठा सब विचारशक्तियों का एक पुरुष। उस (इन्द्र) में वे (मरुत) अपनी परिपूर्णता तथा अपनी समस्वरता को पाते हैं। तो अब इस समुदायी (इन्द्र) तथा इन अंगों (मरुतों) के बीच कलह और विरोध नहीं रहना चाहिये। मरुत इन्द्र को स्वीकार करके, उससे उन वस्तुओं के उचित बोध को पा लेंगे जिनका जानना अभीष्ट होगा। वे आंशिक प्रकाश की चमक द्वारा भ्रान्ति में नहीं पड़ेंगे या सीमित शक्ति से ग्रस्त होकर लक्ष्य से बहुत दूर नहीं जा पड़ेंगे। वे इस योग्य हो जायेंगे कि वे इन्द्र की क्रिया को धारण किये रख सकें, जब कि वह (इन्द्र) उन सबके विरोध में अपनी शक्ति लगाता है जो कि अब भी आत्मा और आत्मा की सम्पूर्णता के बीच में बाधक होकर खड़े हो सकते हैं।

इस प्रकार इन दिव्य **शक्तियों** की तथा इनकी अभीप्साओं की समस्वरता में मानवीयता उस प्रेरणा को पा सकेगी जो कि इस जगत् के सहस्रों विरोधों को तोड़-फोड़ डालने में पर्याप्त सबल होगी और वह मानवीयता, संघटित व्यक्तित्व वाले व्यक्ति में या जाति में, सत्वर उस लक्ष्य की तरफ प्रवृत्त हो जायगी जिस लक्ष्य की झांकी तो निरन्तर मिला करती है पर तो भी जो उस तक के लिये दूरस्थ है जिसे अपने सम्बन्ध में यह प्रतीत होने लगा है कि मैंने तो लक्ष्य को लगभग पा ही लिया है (देखो, मंत्र ६)।

कर्मयोगी

तृतीय अध्याय

दोनों अवस्थाओं में

मानव-समाज की दो गतियां होती हैं, ऊर्ध्वमुखी और अधोमुखी, और ये दोनों ही अदम्य हैं। क्षण भर के लिए कभी ऐसा प्रतीत हो सकता है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधोमुखी गति रुक गई है और ऊर्ध्वमुख उत्थान थोड़े समय के लिए उन हृदयों को प्रसन्नता दे सकता है जो ईश्वर और दैव से त्यक्त कर्म में आसक्त हैं। किसी धर्म, विचार या राष्ट्र के शानदार और वेगशाली अभ्युदय को प्रबल शक्ति कुछ समय के लिये रोक सकती है; और भयङ्कर तथा अपरिमित आयास से पहिया एक या दो इञ्च भर पीछे की ओर हट सकता है, परन्तु ईश्वर को धोखा नहीं दिया जा सकता और ईश्वर को जबर्दस्ती करके जीता नहीं जा सकता। जहां परमात्मा स्वयं सारथि है, वहां विजय निश्चित है और यदि वह पीछे हटता है, तो केवल इसलिए कि जो भूमि अब अधिक उस के लिए लाभदायक नहीं है उसे छोड़ दिया जाय और जिस प्रदेश पर विजय होनी पहले से निश्चित हो चुकी है वहां पर संघर्ष किया जाय। बहुधा ईश्वर अपने विरोधियों को बाधित करता है कि वे उसे विजित और अधिकृत भूमि से निकाल भगायें ताकि वे एक ऐसी स्थिति के लिए जिसका स्थिर रूप से कायम रहना कभी भी अभिप्रेत नहीं था, अपनी शक्ति को खत्म कर डालें और अपनी विजय से ही अपनी एक अधिक निर्णायक पराजय की तैयारी कर लें।

बारीक छानबीन करने वाले लोग ब्यौरे की बातों में संलिप्त हो कहते हैं "इस इस बात में हम असफल रहे हैं, उस उस में सफल हुए हैं;" और अगर पराजयों का पत्रक लम्बा तथा संदिग्ध सफलताओं से अधिक वज़नदार प्रतीत होता है, तो वे अनुत्साहित हो जाते हैं और अपने कार्य के नाश की आशंका करने लगते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपने आपको घटनाओं के रुख के बारे में धोखे में रखते हैं क्योंकि वे अपनी दृष्टि उस अपरिहार्य प्रवृत्ति की महान् धारा पर नहीं डालते जो लौटते गौण प्रवाहों पर और क्षुद्र धाराओं पर विजय पाती है। और जहां थोड़े समय के लिए पराजय होनी नियत होती है; वहां श्रद्धा का अभाव उन्हें उसी मुसीबत में डाल देता है जिसकी कि वे आशंका करते थे।

श्रद्धा ज्ञान से भिन्न है। श्रद्धा विषय को सामूहिक और सामान्य रूप से भांप लेती है, ज्ञान उसे साफ और अलग अलग जानता है। परन्तु प्रधानतः श्रद्धा और ज्ञान एक ही हैं और ऋषि की प्रज्ञा प्रेमी की प्रज्ञा को उचित ठहराती है तथा उसका समर्थन करती है। श्रद्धा ईश्वर के लिये लड़ती है जब कि ज्ञान अभी पूरी जानकारी के लिये प्रतीक्षा कर रहा होता है, और जब तक ज्ञान अप्राप्त रहता है तब तक श्रद्धा की आवश्यकता रहती ही है। क्योंकि अदम्य श्रद्धा और अन्तःस्फुरित प्रज्ञा के बिना कोई बड़ा उद्देश्य सफल नहीं हो सकता।

अतः हमें घटनाओं की महान् प्रवृत्ति को सावधानी से देखना चाहिये और उसके प्रकाश में उन सूक्ष्म घटनाओं का अर्थ लगाना चाहिये जो वर्तमान में घटित हो रही हैं। घटनाओं की मुख्य प्रवृत्ति ऊपर की ओर है या नीचे की ओर?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि नीचे की ओर है, तो भी हमें अवश्य प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि जो आदमी योग्य ध्येय को इसलिये छोड़ देता है कि इस में सफलता नहीं मिल रही, वह गर्हणीय है और वह वर्तमान तथा भविष्य में मनुष्यजाति को आघात पहुंचाता है। बड़े बड़े उद्देश्य जिनके लिये लोग अन्त तक साहसपूर्वक लड़ मरते हैं वे धीरता और कष्ट से पवित्र हो जाते हैं और उनका पुनरुज्जीवन तथा विजय अनिवार्य होते हैं। केवल वही काम जिनका समर्थन कायर लोग करते हैं और जिन्हें वे नीचता से बीच में छोड़ देते हैं, भविष्य की पुस्तकों से मिट जाते हैं। मध्य युग में फ्रांस और इटली में नागरिक स्वाधीनता का आन्दोलन असफल हुआ और उसने स्यूटन लोगों की स्वेच्छाचारिता को स्थान दिया परन्तु फ्रांसीसी राज्यक्रांति के समय यह सौ गुनी शक्ति से पुनरुज्जीवित हुआ और यह उन आत्माओं का, जो पहले सैंकड़ों वर्षों तक इसके लिये लड़े थे, पृथ्वी की ओर वेगपूर्वक दौड़ कर सहयोग देना ही था। और इस क्रांति ने ही किसी समय की विजयशालिनी सामन्त-पद्धति को टुकड़े टुकड़े कर दिया था। परन्तु यदि, जैसा कि हमें विश्वास है, प्रवृत्ति ऊपरको ओर है तो हमें पूर्ण श्रद्धा के साथ डटे रहना चाहिये यह निश्चय रखते हुए कि किन्हीं अंशों में हानि हो जाना तो केवल विजय के सच्चे मार्ग को तैयार करने और उसका निर्देश करने के लिये ही होता है।

डटे रहने का अभिप्राय यह नहीं है कि हम उन उपायों तथा विधियों पर डटे रहें जो निष्फल सिद्ध हुए हैं या ईश्वर ने जिनसे, चाहे वे कुछ समय के लिए फलदायी भी रहे हों, अपनी अनुमति हटा ली है। हमें स्मरण रखना होगा कि हम एक ऐसी जाति हैं जिसने वर्तमान राजनीति की विस्तीर्णतर गतियों में शिक्षण अभी तक नहीं पाया है। न केवल हमारे सिपाहियों को किन्तु हमारे सेनापतियों और हमारे व्यूहरचना-विशारदों को भी घटनाओं द्वारा सीखनेकी और अनुभव के ज्ञान की आवश्यकता है ताकि वे पूर्ण बन सकें। तेज, उग्रता, आत्मबलिदान, बौद्धिक बल, सूक्ष्मता, विचारोंकी सम्पत्ति, अप्रत्याशित घटनाओं का सामना करने के लिये साधनों की उर्वरता — ये हमें बहुतायत से प्राप्त हैं। किन्तु महान् संग्रामों का चिरकाल का अनुभव रखने वाले सिद्धहस्त का सा पूर्ण अनुभव, तंत्र राजनैतिक प्रतिभा जो महान् राज-कार्यों को और राष्ट्रों के भाग्यों को संभालने के दीर्घकालिक परिचय से उत्पन्न होती है, ये हममें अभी तक अपरिपक्व हैं और बाल्यावस्था में हैं। परन्तु परमेश्वर स्वयं हमारे शिक्षक और गुरु हैं, वह अपने विशिष्ट राष्ट्र को त्रुटि-रहित शिक्षण और पूर्ण सामर्थ्य देंगे। जरूरत केवल इस बात की है कि हम अपनी गलतियों को स्वीकार करने के लिये, अपने मार्ग को बदलने के लिये, सीखने के लिये तैयार रहें। केवल तभी हम सब बाधाओं को सफलतापूर्वक पार कर सकेंगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और स्थिर तथा प्रचण्ड गति से किन्तु बिना ठोकर खाये और बिना विचलित हुए अपने उद्देश्य की ओर बढ़ेंगे।

इसके अलावा, हममें कमजोरियाँ हैं जो अभी तक चल रही हैं और जो दूर नहीं की गई हैं। यह हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है कि हम निर्दय शल्यक्रिया द्वारा उन को अपने हृदयों से निकाल डालें। यदि बौद्धिक तैयारी की कमी है, तो आत्मिक तैयारी भी बहुत अधूरी है। नेताओं और अनुयायियों, दोनों को आवश्यकता है गम्भीरतर साधना की, हमारे आन्दोलन के दिव्य गुरु और दिव्य सेनापति के—भगवान् के—साथ अधिक साक्षात् सम्बन्ध की, आन्तरिक उत्थान की, विचार और कर्मके पीछे एक बृहत्तर तथा उच्चतर शक्ति की। एक के बाद एक अनुभव से हमें अब यह पता लग गया है कि अपरिपक्व, नैतिकताविहीन यूरोपीय उत्साह के बल पर हम विजयी नहीं होंगे। भारतीयो, यह भारत की आध्यात्मिकता है, भारत की साधना है, 'तपस्या', 'ज्ञान' और 'शक्ति' हैं जो कि हमें अवश्य स्वतन्त्र और महान् बनायेंगे। परन्तु पूर्व के ये महान् भाव अंग्रेजी के घटिया पर्यायों discipline, philosophy, strength से ठीक ठीक प्रकट नहीं होते। 'तपस्या' डिस्सिप्लिन (discipline) से अधिक कुछ और भी है; यह है आध्यात्मिक साधनों से उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाली दिव्यशक्ति को अपनी दैहिक सत्ता में चरितार्थ करना। 'ज्ञान' फ़िलासफ़ी (philosophy) से कहीं बड़ी चीज़ है; यह अंतःस्फुरित और साक्षात् ज्ञान है जो उस शक्ति से जिसे कि हमारे पूर्वपुरुषों ने 'दृष्टि' शब्द से पुकारा है (यह'दृष्टि' आध्यात्मिक देखने की शक्ति है) आता है। 'शक्ति' स्ट्रेन्थ (strength) से कहीं बड़ी चीज है; यह विश्वव्यापी (समष्टि) शक्ति है जो नक्षत्रों को घुमाती है, और फिर व्यक्ति में आ गई है। यह पूर्व ही है जो कि भारत के अभ्युदय में अवश्य विजयी होगा। योगी को ही राजनैतिक नेता के पीछे स्थित होना होगा और उसके अंदर व्यक्त होना होगा; रामदास को शिवा जी के साथ एक शरीर में जन्म लेना होगा; मेजिनी को केवर के साथ मिलना होगा। बुद्धि का आत्मा से शक्ति का पवित्रता से विच्छेद यूरोपीय क्रान्ति में सहायक हो सकते हैं किन्तु यूरोपीय शक्ति से हम विजयी नहीं होंगे।

गत शताब्दी के आन्दोलन इसलिए असफल रहे क्योंकि वे अत्यन्त विशुद्धतया बौद्धिक थे और उन के पीछे ज्ञानदीप्त हृदय नहीं था। राष्ट्रवाद ने इस न्यूनता को पूरा करने का प्रयत्न किया है; इसने हृदय की महत्-प्रेरणाओं को महत्तर और अधिक विवेकशील बौद्धिक चेष्टा में सम्मिश्रित किया है। परन्तु राष्ट्रवाद भी सदोष रहा है; यह भावना और अभिकांक्षा में भारतीय रहा है पर क्रिया और व्यवहार में यूरोपीय। इसने अपनी लघुता, स्पष्टता, यथार्थता और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि में आनन्द लेती हुई बुद्धि से सहायता प्राप्त की है, परन्तु इसे अन्तःस्फुरित प्रज्ञा का पर्याप्त आश्रय नहीं मिला है। यह भव्य मानसिक दृश्यों और आदर्शवादों में आसक्त रहा है, परन्तु गम्भीरतर सत्य को देखना और ईश्वर की इच्छा को जानना इसने नहीं सीखा है। जोश और उत्साह भरे आवेगों ने इसे संचालित किया है, परन्तु इस में कमी थी स्पष्ट इच्छा-शक्ति और पवित्र बल की जो किसी भी आवेगमय अनुभव से कहीं अधिक महान् और अधिक तीव्र होता है। या तो राष्ट्रवाद अपने आप को पवित्र करेगा, एक अधिक पवित्र सत्य को सीखेगा और दिव्यतर प्रेरणा को अपनायेगा या फिर इसे अपना पुराना शरीर सर्वथा छोड़ देना होगा और एक नया शरीर धारण करना होगा। घटनाओं का ज़ोर दूसरी अवस्था का संकेत दे रहा प्रतीत होता है। परन्तु किसी भी अवस्था में पराजय परिणाम नहीं हो सकता, अन्त में विजय ही अवश्यम्भावी है।

पिछले डेढ़ साल की सब घटनाओं में भगवान् गुरु की आवाज़ हमें पुकार पुकार कर कहती हुई सुनाई दे सकती है, "त्याग करो ताकि तुम प्राप्त कर सको; मेरी इच्छा के अनुसार चलो और अपने आप को जानो, अपने आप को पवित्र करो, अपनी मानसिक तरंगों का अनुसरण करना बन्द कर दो।" जिसके कान हैं वह सुन ले;—आत्मा से सम्बन्ध जोड़े बिना, अन्तर से प्रकाश पाये बिना, ज्ञान प्राप्त नहीं होगा, न उन क्रियात्मक कदमों का ही ज्ञान होगा जो सफलता तक पहुंचा सकते हैं। वह हरेक कदम जो निम्न ज्ञानके प्रकाशमें उठाया जायगा असफल होता रहेगा जब तक कि यह सत्य हमारे अन्दर घर न कर लेगा।

दक्षिणेश्वर में जो काम शुरू हुआ था वह पूरा होने से अभी कोसों दूर है, उसे समझा भी नहीं गया है। विवेकानन्द ने जो कुछ प्राप्त किया और जिसे अभिवर्द्धित करने का प्रयत्न किया वह अभी तक मूर्त्त रूप में चरितार्थ नहीं हुआ। विजय गोस्वामी ने भविष्य के जिस सत्य को अपने अन्दर निगूढ़ रखा वह अभी तक उसके शिष्यों के सामने पूरी तरह से प्रकट नहीं हुआ है। और अब अधिक खुले ईश्वरीय प्रकाश की तैयारी हो रही है, अधिक ठोस शक्ति प्रकट होने को है, परन्तु यह कहां होगा, कब होगा, इसे कोई नहीं जानता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरी चेतना के दो आसन

मेरी चेतना की यह चांदनी सी उज्ज्वल धारा कभी चौड़ी कभी तंग, कभी धीरे कभी तेज़, कभी गहरी कभी उथली, पता नहीं कैसी कैसी चौकड़ियां भरती रहती है। पर बहा यह निरन्तर ही करती है। कभी तन्द्रा में मद्धम पड़ जाती है, और दिन-स्वप्नों के रूप में विचरने लगती है। रात में लुप्त सी हो स्वप्न-लोकों की सैर करने लगती है। यह प्रकाशमय धारा संभवतः बन्द स्वप्नरहित निद्रा में भी नहीं होती, शायद लुप्त हो कर अवचेतना में बहने लगती है।

× × ×

इस मेरी चेतनाकी चौकड़ियां और उडारियां वास्तवमें अनेक हैं, बिलकुल अनगिनत। पता नहीं यह किन किन स्वरूपों को खोजती रहती है, किन किन की स्वयं रचना करती है। इसका एक पूरा अपना संसार है।

× × ×

परन्तु वह संसार, सारे का सारा, मेरी चेतना अपने से बाहर अनुभव करती है। उसे एक 'दूसरी' सत्ता करके जानती है। इस संसार के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दादि विषय इस की अनेक वृत्तियों को —भूख, प्यास, संग्रह, कामादि को —लुभाते रहते हैं। मेरी चेतना इन वृत्तियों को शान्त करने के लिये जागृत तथा स्वप्न में इन्हीं विषयों को खोजा करती है। इस वास्ते इसे सदा बाहर को देखना होता है। संसार-अभिमुख और प्रकृति-अभिमुख रहना होता है—वहीं तो इसके रूप रसादि विषय ठहरे न ?

× × ×

पर मेरी चेतना का यह आसन, बहिर्मुख आसन, संसार-अभिमुख आसन —मौके मौके पर मुझे घबरा देता है, तड़पा देता है, रुला देता है। वे वृत्तियां शान्त किये शान्त होती नहीं, संसार अधिकृत किये अधिकृत होता नहीं। प्रत्युत वृत्तियां और बिगड़ती हैं, कभी उदासीन, कभी खिन्न, कभी रोषपूर्ण, कभी भयभीत, और संसार सदा दूर का दूर, जितना पीछे भागो उतना और ज्यादह दूर।

× × ×

कभी कभी वृत्तियां सिमट कर अपने आप इकट्ठी हो जाती हैं। जैसे कछुवा अपने अंग सिकोड़े रेती पर अटंक सा बैठा हो। यह मेरी प्यारी चेतना का एक दूसरा ही आसन है। इसमें संतोष है, तृप्ति है, सुख है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब खिन्नता और निराशा से यह दशा पैदा होती है, तब भी इस में सुख होता है। परन्तु कभी कभी सहज ही यह अवस्था बन जाती है। उस समय यह प्यारी चेतना कितनी अधिक प्यारी लगने लगती है। तब यह अपने आप से प्रसन्न होती है, स्वयं आनन्द-स्वरूप हो जाती है।

यह उस समय ओछे भाव में बाहर की ओर नहीं ताका करती और न ही किसी तुच्छ रूप रस मात्र को ग्रहण करती हैं। यह है उस का अन्तर्मुख आसन, आत्माभिमुख आसन! तब यह पूरे अर्थों में स्व-स्थित होती है। अपने गम्भीर आसन में बैठ वस्तुओं के गहन अस्तित्व के साथ एकरस बनी होती है।

× × ×

कैसा अपूर्व है यह चेतना का अन्तर्मुख आसन। निश्चय, यही यथार्थ सत्ता का आसन हो सकता है। अन्तिम सत्ता भला कैसे पराधीन हो सकती है? वह तो आवश्यक रूप से ही परिपूर्ण और तृप्त ठहरी।

चेतना के बहिर्मुख आसन में पराधीनता है, भूख है, अतृप्ति है; ये इसके लिये अनिवार्य हैं। कौन कब धन मानादि से तृप्त हुआ है? वह भूख ही ऐसी है जो शान्त नहीं हो सकती। वास्तव में, संसार को अधिकृत करने की वह चेष्टा ही गलत है। पत्तों को पानी देकर पेड़ कब हरा-भरा रक्खा जा सकता है? चेतना के गहरे स्तरों में जाने से ही सत्ता का यथार्थ स्पर्श मिलता है। वह सत्ता बाहर-भीतर एक ही आत्मतत्त्व है। वह सारे दृश्य जगत् को अधिकृत करता है। उसे अधिकृत करने से ही संसार अधिकार में आता है। तभी प्राप्त होती है, वास्तव में, सच्चे स्वामी भाव की स्थिति। यही है प्यारी चेतना का वह अन्तर्मुख, आत्माभिमुख आसन।

× × ×

याद पड़ती है एक बार भोजन पाते की यह अवस्था। चित कितना प्रसन्न था, सारी चेतना में मानो संतोष और आनन्द का गहरा इंजेक्शन लग रहा हो। रोम रोममें शान्ति! आर पार शान्ति! भोजन अपने आपमें बल्कि साधारण से साधारण था। पर फिर भी बड़ा स्वादिष्ट लग रहा था। वह रस उस का तो था नहीं, क्योंकि वैसे तो वह उससे नहीं मिलता।

वह स्थिति, सहज; बिना परिश्रम और प्रयास के प्राप्त, कैसी आश्चर्य-जनक थी? किस सुन्दरता से यह प्रत्यक्ष हो रहा था कि बाह्य-पदार्थों में भी असली रस वह नहीं जो वे इन्द्रियों के संपर्क में आने से देते हैं? जब, वास्तव में, हमारा अन्दर का गहरा भाव पदार्थों के गहरे आन्तरिक भाव के साथ एकत्व प्राप्त करता है तभी वह अपूर्व मीठा रस मिलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर इस प्यारी चेतना का जन्म-जन्मान्तरों का, विकासक्रम के युग-युगान्तरों का, अभ्यास बहिर्मुख बन रहा है। परिस्थिति को जीतने का यही इस का तरीका रहा है। परन्तु अब इसे अधिक सुयोग्य और सफल तरीके की झांकी मिल गई है। इसे अब ठीक अर्थों में जगत् और प्रकृति को अधिकृत करने का उपाय सूझ पड़ा है। यह अपनी और जगत् के पदार्थों की अन्तर्निहित आत्मा को पा सकती है। सच्चा स्वराज्य और साम्राज्य स्थापित कर सकती है।

काश! मेरी यह प्यारी चेतना इस सरलसे पाठ को हृदयंगम कर ले। उत्तरोत्तर अन्तर्मुख-भाव में आकर, फिर सहज ही उसी आसन में बैठने लगे।

—इन्द्रसेन

गीता में 'पुरुषत्रय'

विश्व में साधारणतया हमें जड़ और चेतन ये दो तत्त्व अनुभूत होते हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, मृत्तिका आदि पदार्थ जड़ और मनुष्य, पशु, पक्षी चेतन दिखलाई देते हैं। परन्तु मनुष्य जब इनकी तह में पहुंच कर इनके यथार्थ स्वरूप का निर्णय करना चाहता है तो उसे भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव होते हैं। अनेक मनुष्यों ने अपने अपने अनुभव और अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अपनी अपनी मान्यता को अनेक प्रकार से प्रकट किया है। कोई मानते हैं कि यह अखिल विश्व जड़ है। ऐसा मत पाश्चात्त्य देशों में हेकेल का और भारत में चार्वाक का है। कुछ मानते हैं कि जड़ और चेतन दोनों भिन्न और सत्य हैं। यह मत सांख्य का है। वेदान्त का मत है कि एकमेवाद्वितीय चेतन सत्य है, और जड़ प्रतीत होने वाले पदार्थ या तो इसके विकार हैं या मिथ्या। इस प्रकार विश्व के स्वरूप और इसके मूल तत्त्वों के विषय में अनेक प्रकार के मत दिखलाई देते हैं। इन तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान (तत्त्वज्ञान) प्राप्त करना हमारे शास्त्रों में मानव-जीवन का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य बतलाया गया है। इनके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करना और इसकी प्राप्ति के साधनों का बतलाना हमारे दर्शनशास्त्रों का एकमात्र प्रयत्न रहा है। इस विषय में गीता का मत जानना हमारे लिये विशेष लाभदायक होगा, कारण गीता का मत बहुत उच्चकोटि के आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर है। इसे उपनिषदों का सार माना गया है। कुछ इसे तेरहवां उपनिषद् मानते हैं। यह बहुत उच्च कोटि का समन्वयात्मक दार्शनिक आध्यात्मिक ग्रन्थ है।

गीता में विश्व के मूल तत्त्वों का वर्णन सब से अधिक स्पष्ट रूप में १५वें अध्याय में दिखलाई देता है। वहां कहा गया है:—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १५-१६
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १५-१७

इस लोक में दो पुरुष हैं क्षर और अक्षर। सम्पूर्ण भूत क्षर हैं। अक्षर कूटस्थ को कहते हैं। इनसे उत्तम एक और पुरुष है जिसे परमात्मा कहा जाता है, जो लोकत्रय में प्रविष्ट होकर इन्हें धारण करता है। वह अविनाशी और ईश्वर है।

यहां पर गीता में सम्पूर्ण विश्व को और जो कुछ भी विश्व से अतीत हो सकता है उस सब को तीन पुरुषों के रूप में बतलाया गया है, क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम। क्षर शब्द का अर्थ है क्षीण या नष्ट होने वाला। परन्तु सत्कार्यवाद के अनुसार कोई भी विद्यमान पदार्थ नष्ट नहीं होता। जब कोई पदार्थ हमें स्थूल दृष्टि में नष्ट होता प्रतीत होता है तो यह यथार्थ में उस पदार्थ का अपने कारणों का रूप धारण करना है, उसकी सत्ता का अत्यन्त विनाश नहीं। घट यदि टूटता है तो मृत्तिका का रूप धारण कर लेता है। मृत्तिका यदि छिन्न भिन्न होती है तो पृथ्वी का या इसके भी कारण सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों का रूप धारण कर लेती है, सर्वथा असत् नहीं हो जाती। सांख्यदर्शन के इस सिद्धान्त को बहुत महत्त्व दिया गया है। आधुनिक भौतिक वैज्ञानिक भी इसे मूल रूप में स्वीकार करते हैं। अतः इस सिद्धान्तके अनुसार जब हम यह मान लेते हैं कि किसी भी पदार्थ का अत्यन्त विनाश नहीं होता तो क्षर शब्दका अर्थ करना चाहिये परिणामी, विकारी, सक्रिय या परिवर्त्तनशील। इसके धात्वर्थ संचलन (क्षर संचलने) को देखते हुए भी इसका यही अर्थ होता है। सांख्य के अनुसार ऐसे पदार्थ चौबीस हैं: प्रकृति, महान्, अहंकार, पञ्च तन्मात्रा, एकादशेन्द्रिय, पञ्च स्थूल महाभूत और उनके कार्य। गीता ने क्षर शब्द का अर्थ किया है सर्वभूत (क्षरः सर्वाणि भूतानि)। सर्वभूत यह शब्द गीतामें कहीं सजीव प्राणियों के लिये आया है और कहीं सजीव और निर्जीव दोनों के लिये। ईश्वर सर्वभूतों का सुहृद् है (सुहृदं सर्वभूतानां, ५-२९)। ईश्वर का भक्त सर्वभूतों से द्वेष नहीं करता (अद्वेष्टा सर्वभूतानां, १२-१३)। ऋषि अपने दोषों को क्षीण करके सर्वभूतों के हित में लगे रह कर (सर्वभूतहिते रताः, ५-२५) ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त करते हैं। इन वचनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यहां सर्वभूत शब्द सम्पूर्ण जीवों का वाचक है, कारण सुहृद्भाव, हित और द्वेष जीवों के साथ ही हो सकते हैं, पत्थर जैसी जड़ वस्तुओं के साथ नहीं हो सकते। दसवें अध्याय (१०-३९) में भगवान कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण भूतों का बीज हूँ, चर और अचर में कोई भी भूत मेरे बिना अपनी सत्ता नहीं रखता। इस वचन से विदित होता है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वभूत शब्द जीव और प्राकृतिक पदार्थ सभी का वाचक है, कारण ईश्वर को सभी का बीज बतलाया गया है। इनमें से किसी एक को ईश्वर से भिन्न का कार्य नहीं कह सकते। इस प्रकार गीता के अनुसार सम्पूर्ण प्राकृतिक पदार्थ और सम्पूर्ण जीव क्षर कहलाते हैं; कारण इन सभी में क्रिया, विकार या परिवर्त्तन होता है।

सांख्य में प्रकृति और पुरुष ये दो तत्त्व माने गये हैं। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन। सत्त्व, रज और तम ये तीन प्रकृति के गुण हैं। ये ही सब कुछ क्रिया करने वाले हैं (चलं च गुणवृत्तम्)। पुरुष यथार्थमें निष्क्रिय, असंग, उदासीन, साक्षी है। परन्तु अविवेक के कारण प्रकृति की क्रियाओं का अनुमोदन करता है, उनका प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है, उनमें आसक्त होकर सुख, दुःख, मोह, जन्म-मरण रूप विकारों का अनुभव करता है। इस प्रकार जब तक वह प्रकृतिस्थ है तभी तक उसमें विकारों की प्रतीति होती है और तभी तक उसे क्षर कहा जाता है। विवेक हो जाने पर वह अपने आप को प्रकृति और उसके सम्पूर्ण विकारों से पृथक् जानता है, उनका अनुमोदन करना बंद कर देता है और मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में इसे अक्षर कहा जाता है।

सांख्य में जीव अनेक हैं। मुक्त हो जाने पर भी इनका परस्पर का भेद और पुरुषों का प्रकृति से भेद बना ही रहता है। गीता सांख्य के पुरुषबहुत्व को और पुरुष प्रकृति के भेद को स्वीकार करती है। यदि गीता यहीं रुक जाय तो इसे उन सम्पूर्ण दार्शनिक त्रुटियों को जो इस भेद को मानने में आती हैं स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु गीता सांख्य की सीमा का अतिक्रमण करती है। गीता इस भेद को व्यावहारिक सत्य मानती है, अन्तिम सत्य नहीं मानती। वह मानती है कि प्रकृति और पुरुष दोनों एक चेतन के दो रूप हैं :—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन (१०-३९)

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् (७-१०)

सत्त्व, रज और तम गुणों वाली अपरा प्रकृति जड़ नहीं। यह उस एकमेवाद्वितीय चेतन की चित्-शक्ति का, जिसे परा प्रकृति कहते हैं, उद्भूत रूप है। अतः यथार्थ में यह चेतन है। यह चेतन इस कारण प्रतीत नहीं होती कि इसमें चेतना इस प्रकार तिरोभूत है जैसे काष्ठ में अग्नि। जिस परा प्रकृति का यह उद्भूत रूप है वह उस चेतन से अलग कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, कारण वह उस चेतन की शक्ति है और शक्ति और शक्तिमान् एक होते हैं। यह परा प्रकृति उस चेतन की प्रेरणा से असंख्य जीवों का रूप धारण करती है (परा प्रकृति जीवभूता)। चूंकि यह परा प्रकृति उस चेतन से भिन्न नहीं अतः जैसे यह कहा जा सकता है कि परा प्रकृति सत्त्वादि-गुणमयी अपरा प्रकृति (और इनके विकारों) का और जीवों का रूप धारण करती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है ऐसे यह भी कहा जा सकता है कि वह चेतन अपनी परा प्रकृति के द्वारा इन दोनों का रूप धारण करता है:—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ७-६

विश्व में जो हमें देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, वृद्ध, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, वायु, समुद्र, वनस्पति दिखलाई देते हैं वे सब उस एक चेतन† के सक्रिय अनन्त रूप हैं। इस प्रकार अनन्त प्रकार से क्रिया करते हुए रूप को क्षर कहा गया है। जो चेतन इस प्रकार सक्रिय रूप धारण करता है उसे वेदों में पुरुष (पुरुष एवेदं सर्वम्), उपनिषदों में 'ब्रह्म' (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) और गीता में 'वासुदेव' और पुरुषोत्तम कहा गया है। चेतन का कार्य होने के कारण गीता में इस क्षर को 'पुरुष' कहा गया है। अतः श्रीअरविन्द लिखते हैं, "क्षरपुरुष हमें सम्पूर्ण प्राकृतिक पदार्थ और सम्पूर्ण जीवों के रूप में दिखलाई देता है"‡।

परन्तु यह सक्रिय रूप जिसे क्षर पुरुष कहा गया है उस चेतन का आंशिक रूप है :—

"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्"। गीता १०-४२
"पादोऽस्य विश्वा भूतानि"। ऋ० १०-६०-३

इससे भिन्न उसका एक और रूप है जिसे अक्षर कहते हैं। अक्षर का अर्थ है कूटस्थ। सम्पूर्ण विश्व का आधार, सम्पूर्ण विकारों का आश्रय होने पर भी यह निर्विकार रहता है इस कारण इसे अक्षर या कूटस्थ कहते हैं। सर्व भूतों का आत्मा (सर्वभूतात्मा) होने से इसे आत्मा कहते हैं। यह नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन है। बाह्येन्द्रियों का विषय न हो सकने के कारण इसे अव्यक्त कहते हैं। यह अव्यक्त, सांख्यके सत्त्व, रज और तम गुण वाले अव्यक्त (मूल प्रकृति) से परे है (परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः)। हमारे साधारण मन और बुद्धि से इसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता, कारण ये जिन लौकिक रूप या गुणों की कल्पना कर सकते हैं वे इसमें नहीं, अतः इसे अचिन्त्य और निर्गुण कहते हैं, वाणी से इसके स्वरूप का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता इस कारण इसे अनिर्देश्य कहते हैं। उपनिषदों में इसे 'नेति नेति' कहा गया है। यही गीता का अक्षर है। सांख्य के अक्षर में और गीता के अक्षर में यह भेद है कि पहला वैयक्तिक, अनेक और प्रकृति से भिन्न है, गीता का अक्षर वैश्व, एक और प्रकृति और जीव दोनों का आत्मा है किसी से भिन्न नहीं।

† श्वेताश्वतरोपनिषद् ४-२, ३।
‡ Essays on the Gita. Series, 2, Edition 1942. P. 231-232

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही गीता के क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष हैं। वास्तव में ये एक चेतन के सक्रिय और निष्क्रिय दो रूप हैं। किन्तु ऐसा मानने में हमारी बुद्धि के सामने यह कठिनाई उपस्थित होती है कि एक ही पदार्थ सक्रिय और निष्क्रिय, चल और अचल, क्षर और अक्षर, सविकार और निर्विकार दोनों नहीं हो सकता। अतः या तो हमें सांख्य के समान इन दोनों को भिन्न मानना चाहिये, या फिर शांकर वेदान्त के अनुसार कूटस्थ अक्षर को सत्य और सम्पूर्ण सक्रिय विश्व (क्षर) को मिथ्या मानना चाहिये। इन दोनों को एकत्र मानना बुद्धिविरुद्ध है।

साधारणतया विचार करनेपर यह विरोध बहुत भीषण दिखलाई देता है और इस विरोधके ही कारण शांकर वेदान्तमें निष्क्रिय (अक्षर) को सत्य और क्षर (सक्रिय) को मिथ्या माना है। परन्तु यदि हम इस विरोध की तह में घुसकर कुछ अधिक गम्भीरतासे विचार करें तो पता चलता है कि ये एक दूसरेके परिपूरक हैं और दोनों का एकत्र रहना अनिवार्य है। हम देखते हैं कि जहां भी कोई परिवर्त्तन होता है उसका आधार कोई न कोई स्थिर तत्त्व अवश्य होता है। मृत्तिका में जब क्रिया होती है तो वह घट, घास, दूध, घृत, चीनी, पुष्प आदि अनेक वस्तुओं का रूप धारण कर लेती है, परन्तु मृत्तिकात्व सब में स्थिर रहता है। स्वर्ण अनेक प्रकार के अलंकारों का रूप धारण कर लेता है, परन्तु स्वर्णत्व सब में स्थिर रहता है। सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश ये पाँच तत्त्व स्थिर रहते हैं। इस ही प्रकार सांख्य के अनुसार सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत् सत्त्व, रज और तम इन गुणोंका विकार है और ये गुण सर्वदा सक्रिय रहने पर भी (चलं च गुणवृत्तम्) भिन्न भिन्न रूप धारण करके भी, स्वरूपतः निर्विकार रहते हैं। सत्त्व, रज तम नहीं होता, रज सत्त्व और तम नहीं होता, तम सत्त्व और रज नहीं होता। सत्त्व सदा सत्त्व रहता है, रज सदा रज रहता है, तम सर्वदा तम ही रहता है। अनन्त प्रकार से प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहने पर भी इनके परिमाण में लेशमात्र भी कमी नहीं होती। जितने अब से लाखों वर्ष पहले थे, उतने ही अब हैं और आगे भी रहेंगे। ये कभी भी नष्ट नहीं होंगे अतः ये अविनाशी स्थिर हैं। इन्हें यदि एक शब्द में कहना हो तो प्रकृति कहा जाता है। इस ही प्रकार जब हम सांख्य की सीमा का अतिक्रमण कर के जीव और प्रकृति के मूल में रहने वाले किसी एक तत्त्व की खोज करते हैं तो पता चलता है कि जैसे पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश से बने हुए सम्पूर्ण प्राकृतिक पदार्थों के मूल में सत्त्व, रज और तम तीन गुण स्थिर रहते हैं ऐसे ही प्रकृति और सम्पूर्ण जीवों के मूल में सत्ता, चेतना और आनन्द गुण स्थिर रहते हैं। ये गुण तीन होते हुए भी यथार्थ में वहां एक हैं। सत्ता चेतना है, चेतना आनन्द है। इन्हें यदि एक शब्द में कहना हो तो सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म कहते हैं। यही सम्पूर्ण चराचरात्मक विश्व का आधार है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसमें ये तीनों व्यक्त या अव्यक्त रूप में विद्यमान न हों। यदि कोई वस्तु हमारी स्थूल दृष्टि में जड़ प्रतीत होती है तो इसका कारण यह नहीं कि वह जड़ है अपितु उसमें चेतना तिरोभूत है जो कि हमारी स्थूल दृष्टि का विषय नहीं हो पाती। सूक्ष्म दृष्टि के प्राप्त होने पर या उस वस्तु में विशेष प्रकार का परिवर्त्तन होने पर उसमें चेतना देखी जा सकती है। मृत्पात्रों में जैसे मृत्तिका या मृत्तिकात्व स्थिर रहता है, स्वर्ण के अलंकारों में जैसे स्वर्ण या स्वर्णत्व स्थिर रहता है, इस ही प्रकार अनन्त प्रकार से क्रिया करते हुए विश्व के मूल में यह सच्चिदानन्द ब्रह्म निर्विकार रूप से विद्यमान रहता है। इस कारण इसे कूटस्थ अक्षर कहते हैं। यहां सक्रियता और निष्क्रियता में कुछ भी विरोध नहीं। अतः श्रीअरविन्द† लिखते हैं कि सक्रियता और निष्क्रियता में जो विरोध हम करते हैं वह हमारे मन का बनाया हुआ और काल्पनिक है। यथार्थ में आत्मा की निष्क्रियता और सक्रियता परस्पर परिपूरक सत्य हैं और इनका एक दूसरे से पृथक् करना सम्भव नहीं। उपनिषदों$ में भी बतलाया गया है कि आत्मा सक्रिय और निष्क्रिय दोनों है (तदेजति तन्नैजति)।

परन्तु जब हम यह देखते हैं कि यह सम्पूर्ण विश्व उस एक कूटस्थ अक्षर से निकला है तो हम यहां उसकी अक्षरता की सीमा का अतिक्रमण करके पुरुषोत्तम पर पहुंच जाते हैं। तब हम यह जानते हैं कि यह सच्चिदानन्द ब्रह्म अपनी सत्ता से इस प्रकार विश्व को आविर्भूत करता है जैसे मकड़ी* जाले को। इस से यह विश्व इस प्रकार निकलता है जैसे शरीरसे केश, अग्नि से चिनगारी‡, मृत्तिका§ से पात्र, स्वर्ण से अलंकार, बीज से वृक्ष तो हम इसे पुरुषोत्तम कहते हैं। यह अपने दिव्य ज्ञान के द्वारा अपनी सत्ता से इसे उत्पन्न करके इस से केवल बाहर ही नहीं रहता अपितु इस में इस प्रकार रहता है जैसे पृथ्वी में गन्ध, जल में रस, अग्नि में तेज, वायु में स्पर्श, आकाश में शब्द, सूर्य और चन्द्र में प्रभा, प्राणियों में प्राण¶। सम्पूर्ण सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भावों की सृष्टि करके उनमें स्थित रहता हुआ भी उनके वश में नहीं होता। अनन्त गुणों को अपने भीतर रखता हुआ निर्गुण रहता है और न निर्गुणता के बन्धन में है और न सगुणता के, इन दोनों से अतीत है। अनन्त प्रकार से क्रिया करता हुआ निष्क्रिय रहता है, न क्रियात्व के बन्धन में है न निष्क्रियत्व के, इन दोनों से अतीत है। अनन्त रूपों में विभक्त होकर भी अविभक्त रहता है, न विभाग के बन्धन में है और न अविभाग के, इन दोनों से अतीत है (अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्)। अनन्त आकार धारण करके भी निराकार रहता है और न साकारता के बंधन

---

† The Life Divine, Vol. II, Part I, p. 64.
$ ईशोपनिषद् * मुण्डक १-७ ‡ मुण्डक २-२ § छान्दोग्य ६-१२ ¶ गीता ७-८,९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में है और न निराकारता के; इन दोनों से अतीत है। यही जब मानव देह में आकर अपने अनन्त ज्ञान और बल को रखता हुआ क्रिया करता है तो अवतार कहलाता है। विश्व का शासन करने से इसे ईश्वर कहा जाता है। यह क्षर और अक्षर दोनों से उत्तम है। इन दोनों से उत्तम होने का कारण यह है कि ये दोनों इसके आंशिक रूप हैं और यह पूर्ण है। क्षर इसका क्रियात्मक आंशिक रूप है, कूटस्थ अक्षर इस का दूसरा निष्क्रिय आंशिक रूप है। यह दोनों का आधार और दोनों से अतीत है इस कारण इसे पुरुषोत्तम कहा जाता है। वैष्णव वेदान्त में जिसे सगुण ब्रह्म कहा जाता है वह भी उस पुरुषोत्तम का आंशिक रूप है। यही गीता का पुरुषोत्तम है।

पुरुषत्रय का यह सिद्धान्त उपनिषदों में भी बीज रूप में दिखलाई देता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में बतलाया गया है कि एक त्रिगुणमयी प्रकृति (अजा) है। एक पुरुष (अज) उसका भोग करता है, दूसरा (अज) भोग करके उसका परित्याग कर देता है। यहां पर सांख्य के क्षर और अक्षर का भेद दिखलाया गया है। जो जीव प्रकृति के भोग में फंसा है वह क्षर है और जो इस बंधन से मुक्त हो गया है वह अक्षर। एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं जो सनातनके सखा हैं। इनमें एक इस वृक्ष के स्वादु फलको खाता है, दूसरा फलको खाता नहीं अपितु अपने साथी को देखता है। इनमें पहला अनीश होने के कारण शोक करता है। परन्तु जब वह अपने दूसरे साथी को देखता है और यह जानता है कि यह ईश्वर है और यह सब इसकी महिमा है तो यह वीतशोक हो जाता है। इन श्लोकों में यह भाव दिखलाई देता है कि एक पुरुष प्रकृति के भोग में फँसा है, और दूसरा सदामुक्त, निष्क्रिय, उदासीन, द्रष्टा, साक्षी है। उसने ही इस विश्व का रूप धारण किया हुआ है। किसी जीव में वह मुक्त हो जाता है। यहां पर गीता के क्षर और वैश्व अक्षर का भाव विद्यमान है। पुरुषोत्तम का भाव सूक्ष्म रूप में है स्पष्ट नहीं। मुण्डकोपनिषद् में पुरुषोत्तम का भाव कुछ अधिक स्पष्ट रूप में दिखलाई देता है। वहां बतलाया गया है कि मकड़ी से जैसे जाला उत्पन्न होता है, पुरुष से जैसे केश और लोम उत्पन्न होते हैं, अग्नि से जैसे चिंगारियां निकलती हैं, इस ही प्रकार अक्षर से यह विश्व उत्पन्न हुआ है। पर अक्षर से परे एक दिव्य पुरुष है (दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः अक्षरात् परतः परः)।

अक्षर और पुरुषोत्तम का भेद गीता में अनेक स्थानों पर स्पष्ट रूप में दिखलाई देता है। यहां अक्षर को आत्मा, कूटस्थ, अव्यक्त, ब्रह्म शब्दों से कहा गया है और पुरुषोत्तम को ईश्वर, परमात्मा, परम पुरुष, दिव्य पुरुष नाम दिये गये हैं। यहां अहं शब्द सर्वत्र पुरुषोत्तम का ही निर्देश करता है। चूंकि यथार्थ में यह एक ही चेतन है इस कारण इन दोनों को कहीं एक भी माना गया है, परन्तु आंशिक भेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को मान कर अनेक स्थानों पर इनका भेद दिखलाया गया है और जहां कहीं भी इनमें भेदकी झलक आती है सर्वत्र अक्षर से पुरुषोत्तम को उत्तम, अक्षर की उपासना से पुरुषोत्तम की उपासना को उत्तम और अक्षर की उपासना के परिणाम से पुरुषोत्तम की उपासना के परिणाम को उत्तम और ऊंची भूमिका बतलाया गया है। चतुर्थ अध्याय (४-३५) में कहा गया है कि ज्ञान प्राप्त करके तुम समस्त भूतों को आत्मा में (आत्मनि) देखोगे और फिर मुझमें (मयि) देखोगे। यहां आत्मा शब्द अक्षर आत्मा का वाचक है और अहं शब्द पुरुषोत्तम का। छठे अध्याय (६-२९) में सर्वत्र समदर्शी योगीके लिये पहले आत्माका समस्त भूतोंमें और आत्मामें समस्त भूतों का दर्शन बतलाया गया है (सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि), और इसके अनन्तर सर्वत्र पुरुषोत्तम का और पुरुषोत्तम में सब का दर्शन बतलाया गया है (यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति)। यहां पर भी आत्मा शब्द अक्षर आत्मा का और अहं शब्द पुरुषोत्तम का वाची है। १२ वें अध्याय में अर्जुन पूछता है कि पुरुषोत्तम (त्वाम्) की और अव्यक्त अक्षर की उपासना करने वाले योगियों में उत्तम योगी कौनसे होते हैं। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य मुझ (पुरुषोत्तम) में अपने मनको स्थिर करके नित्य युक्त रहते हुए परा श्रद्धा के साथ मेरी (पुरुषोत्तम की) उपासना करते हैं वे उत्तम योगी होते हैं (युक्ततमाः)। १८ वें अध्याय (१८-५३, ५४) में कहा गया है कि अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह का परित्याग करके निर्भय और शान्त होकर सिद्ध मनुष्य ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। ब्रह्मभूत होकर प्रसन्नात्मा हुआ न शोक करता है और न किसी वस्तु की कामना। समस्त भूतों में सम होकर मेरी परा भक्ति को प्राप्त करता है। इस भक्ति से मेरे यथार्थ स्वरूप और परिमाण को जानता है और फिर मुझ में प्रविष्ट होता है। इन श्लोकों से पता चलता है कि गीता में ब्रह्म शब्द अक्षर ब्रह्म का वाची है (अक्षरं ब्रह्म परमम्) और ब्रह्मभाव की प्राप्ति अन्तिम अवस्था नहीं। अन्तिम अवस्था है पुरुषोत्तम में प्रवेश जो कि ब्रह्मभाव की प्राप्ति के अनन्तर भक्ति के द्वारा प्राप्त होता है। इस अवस्था को पुरुषोत्तम में निवास (निवसिष्यसि मयि) शब्द से भी कहा गया है। चौदहवें अध्याय (१४-२६, २७) में कहा गया है कि अनन्य भक्ति-रूप योग के द्वारा जो पुरुषोत्तम की उपासना करता है वह ब्रह्मभाव का अधिकारी होता है और ब्रह्म का आधार पुरुषोत्तम है (ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्)।

इस प्रकार से गीता में क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम तीन पुरुषों का वर्णन मिलता है। इनमें सर्वोच्च स्थान पुरुषोत्तम को दिया गया है और क्षर और अक्षर उसके दो रूप बतलाये गये हैं। वह इन दोनों का आधार है। वह अपनी परा प्रकृति के द्वारा सम्पूर्ण प्राकृतिक पदार्थों और जीवों का रूप धारण करता है। अतः यहां जड़ और चेतन में यथार्थ भेद नहीं, सभी चेतन हैं, सभी पुरुषोत्तम, वासुदेव हैं: "वासुदेवः सर्वमिति"।

—"शास्त्री"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१)

योग का उद्देश्य

मनुष्य के अन्दर जब भगवान्का स्पर्श होता है तब उसे ही योग कहते हैं। यहां पर हम 'भगवान्' शब्द का चाहे जो अर्थ क्यों न ग्रहण करें उससे विशेष कुछ आता-जाता नहीं। केवल इतना ही स्वीकार कर लेना पर्याप्त है कि मनुष्य से उन्नतर, बृहत्तर विश्वव्यापक अथवा तुरीय कोई एक जागृत सत्ता है। इस तरह भक्तके साथ भगवान्के, अहंके साथ ईश्वरके, जीवके साथ शिवके, आत्माके साथ परमात्मा के—यहां तक कि बौद्ध मतका अनुसरण कर संस्कार के साथ शून्यके—बस संयोग को हम योग कह सकते हैं। इसमें मूल बात यह संयोग, यह सम्बन्ध-स्थापन ही है। इसीसे योगसाधना का आरंभ होता है। परन्तु इस साधना की प्रणाली, गति, परिणति इत्यादि सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि मनुष्य अपने किस भागमें, किस क्षेत्रमें भगवान् के साथ युक्त हुआ है या होना चाहता है, उसके किस अंगमें भगवान् का स्पर्श हुआ है।

कारण मनुष्य कोई विशुद्ध, अमिश्र, अखण्ड एक वस्तु नहीं है। वह विभिन्न और विपरीत अनेक गुणोंकी समष्टि है, प्रकृतिके सभी स्तर उसके अन्दर गुंथे हुए हैं, सृष्टिकी सभी धारायें उसके अन्दर प्रवाहित हो रही हैं। हम यह स्पष्ट रूपसे देख सकते हैं कि प्रधानतः तीन स्तर एकके ऊपर एक उसके अन्दर विन्यस्त हैं। पहला स्तर है देह और देहको संजीवित रखनेवाली जीवनीशक्ति या प्राणशक्ति। दूसरा स्तर है मन, इसी ऊर्ध्वतर क्षेत्रमें बुद्धि, विचार, चिन्तन, भावुकता इत्यादि के खेल होते हैं। तीसरा और ऊर्ध्वतम क्षेत्र है अध्यात्मबोध, जिसका स्वरूप है विज्ञानमय, आनन्दमय—जो अमृतत्वका अधिष्ठान है। वर्तमान समय में मानव-प्रकृति अभी तक इस आत्माको ज्ञानपूर्वक नहीं पहचान सकी है, उसे अपने मनके खेल के भीतर ही आभास या संकेत के द्वारा इस आत्माका बोध होता है। परन्तु वही सृष्टिका चरम लक्ष्य है। देह और प्राण को लिये हुए जो भाव है वह मनुष्यका पशुभाव है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन-बुद्धिको लिये हुए जो भाव है वह मनुष्यका मनुष्यभाव है और तुरीय ज्ञान तथा आनन्द को लिये हुए जो भाव है वह मनुष्यका देवभाव, सिद्धभाव या भागवत भाव है। विवर्तन की गति पशुभाव से मनुष्यभावमें, और मनुष्यभावसे देवभावमें क्रमशः आरोहण करने के लिये आरंभ हुई है। मनुष्यके अन्दर जो शक्ति मनुष्य को पशुभाव और मनुष्यभावसे ऊपर उठाकर देवभावमें स्थापित करना चाहती है उसीका नाम योगशक्ति है और इस उद्देश्य-सिद्धिके लिये जिस मार्ग पर चलना होता है, जिस प्रकारसे जीवनको गढ़ना और चलाना होता है उसीका नाम योग-साधना है।

भारतवर्षमें जो भिन्न-भिन्न साधनमार्ग प्रचलित हैं, वे भी मनुष्य की इस त्रिधा भिन्न प्रकृतिके अनुसार विभिन्न स्तरोंमें व्यवस्थित हैं। पहला है हठयोग। हठयोगका क्षेत्र मनुष्यका सबसे नीचेका स्तर — उसका स्थूल शरीर है। शरीर और प्राणशक्ति को केन्द्र बनाकर उसके अन्दर ही भगवान् के स्पर्शका अनुभव करना हठयोगका उद्देश्य है। इसके बाद राजयोग मनुष्यके दूसरे स्तरके ऊपर स्थापित है। समस्त मनके द्वारा, मनकी किसी विशेष वृत्ति या खेल द्वारा नहीं, बल्कि मनकी जो मूल प्रकृति है उसी मानस सत्ता अथवा चित्तके द्वारा राजयोग मनुष्यको साधनमार्ग में नियन्त्रित और परिचालित करता है। राजयोग मनुष्यके सूक्ष्म शरीरमें केन्द्रीभूत हुआ है। फिर सबके अन्तमें मनुष्यकी आध्यात्मिक वृत्तिके ऊपर प्रतिष्ठित हैं मार्ग-त्रय —(१) ज्ञानयोग, (२) भक्तियोग और (३) कर्मयोग। ज्ञान, प्रेम और कर्म-प्रेरणा (इच्छाशक्ति—will) ये तीन मनके प्रकरण हैं। इन्हीं तीनोंमें से क्रमशः एक-एक के ऊपर निर्भर करके ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग उनकी सहायता से मनुष्यको भागवत सत्ता में परिणत करना चाहते हैं। मार्गत्रयीका केन्द्र न तो मनुष्यका स्थूल शरीर है न सूक्ष्म शरीर, उसका केन्द्र है आत्मा, जीव या पुरुष। ज्ञान, प्रेम अथवा शक्तिके द्वारा आत्माके साथ परमात्माका, जीवके साथ भगवान्का, पुरुषके साथ पुरुषोत्तमका साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करना ही त्रिमार्गका अध्यात्म-योग है।

इन भिन्न-भिन्न साधनमार्गों की सार्थकता क्या है, इनमें कमी क्या है, इनका गुण क्या है या दोष क्या है, इसका विचार करने के पूर्व सबसे पहले इस बात का स्पष्ट निर्देश करने की आवश्यकता है कि साधना का उद्देश्य क्या है, योग का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्ष्य क्या है। कारण एकमात्र उद्देश्य के द्वारा ही उपाय की सफलता या विफलता का विचार करना संभव है। किस साधनमार्ग की क्या उपयोगिता और क्या अनुपयोगिता है, इसका निर्णय तो इसी बात से करना चाहिये कि किस लक्ष्य को सामने रख कर हमने साधना आरंभ की है। योगसाधना के दो लक्ष्य हमारे सामने हैं — कैवल्यमुक्ति और जीवन्मुक्ति। मायावादियों की तरह यदि हम जगत्‌को केवल मरीचिका, दुःस्वप्नमात्र मानें, बौद्धों की तरह यदि मनुष्य को, सृष्टि को 'क्षणिक वेदनाओं की समष्टि' के रूप में स्वीकार करें तो फिर हम जगत् में रहने की इच्छा ही क्यों करेंगे? —किसी प्रकार इस दुःस्वप्न को भंग कर डालने में ही हमारा निःश्रेयस है; दीपशिखाकी भांति किसी प्रकार बुझ जाने में ही परम पुरुषार्थ है। जीवन को मिटा कर, जगत् के साथ सर्वथा सम्पर्कशून्य हो कर, उनके परे, 'किसी कुछ' अथवा 'कुछ नहीं' के अन्दर जाकर घुलमिल जाना ही कैवल्यमुक्ति है। यही यदि हमारी साधनाका लक्ष्य हो तो फिर इन सब भिन्न-भिन्न साधनमार्गों की परस्पर तुलना करने या इनके गुण-दोषोंका विचार करने, उनका समन्वय करनेकी चेष्टा करनेकी विशेष कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसी अवस्था में चाहे जिस मार्गको ही क्यों न पसन्द करें, बस एक बार पसन्द करके फिर सीधे उसी मार्ग पर बराबर चलते रहने से ही अभीष्ट-सिद्धि हो जायगी। ऊपर उठ जाना ही जब एकमात्र लक्ष्य है तब उपाय चाहे रस्सी हो, बांस की सीढ़ी हो या पत्थर की सीढ़ी हो, उस से क्या आता-जाता है? — किसी प्रकार पार होने से मतलब। हां, यह बात ठीक है कि भिन्न-भिन्न स्वभाव, भिन्न-भिन्न प्रकृति के अनुसार कोई मार्ग किसी के लिये सुगम और किसी के लिये दुर्गम होता है। परन्तु इतना विचार कर लेना तो किसी भी साधक के लिये बहुत कठिन नहीं है।

परन्तु जगत् का अर्थ यदि हमारे लिये कुछ और हो, जगत् मोह या दुःस्वप्न नहीं, बल्कि आनन्दमय हो, जगत् को ही यदि हम निःश्रेयस का आधार मानते हों, जीवन को अस्वीकार करके नहीं, वरन् इसका आलिंगन करके ही यदि हम मुक्त, सिद्ध होना चाहते हों तो फिर योगसाधना की एक पूर्ण रूप से नवीन मूर्ति हमारे नेत्रों के सामने प्रस्फुटित हो उठेगी। मनुष्यरूप मंदिर के देवता केवल मंदिर के शिखर पर ही अधिष्ठित हों, ऐसी बात नहीं है और न यही है कि यह मंदिर उस शिखर पर चढ़ने के लिये केवल एक सीढ़ी मात्र हो। इस मंदिर में जितनी कोठरियां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, सभी देवता के प्रतिष्ठान हैं, सभी देवता के निवासधाम हैं — सबको एक साथ परिष्कृत, परिमार्जित रखना होगा, सबके अन्दर एक साथ यज्ञकुण्ड प्रज्वलित रखना होगा। शरीर केवल शरीर के परे जाने के लिये ही नहीं है, मन केवल मन के परे जानेके लिये नहीं है, ज्ञान, प्रेम और कर्म केवल ज्ञान, प्रेम और कर्म के परे जानेके लिये ही नहीं हैं, व्यक्तित्व केवल व्यक्तित्वको विनष्ट करने के लिये ही नहीं है। देह, मन और अध्यात्मवृत्ति भगवान् को पाने के केवल मार्ग या उपायमात्र ही नहीं हैं। जब हम यह समझ सकेंगे कि केवल शरीरके पीछे ही भगवान् नहीं हैं, शरीर भी भगवान् है; केवल मन के परे ही भगवान् नहीं हैं, मन भी भगवान् है; केवल अध्यात्म-सत्ता के परे ही भगवान् नहीं हैं, अध्यात्म-सत्ता भी भगवान् है, तब एक साथ सब प्रकार के साधनमार्गों की आवश्यकता को हम हृदयंगम कर सकेंगे। शरीर, मन और आत्मा इन तीनों ही स्तरों में हम प्रतिष्ठित रहेंगे, मनुष्य की समग्र सत्ता के अंदर हम भगवान् को जगावेंगे, अपने किसी एक अंग मात्र से ही नहीं, बल्कि हमारे जितने अंग हैं उन सब के द्वारा हम भगवान् को आलिंगन करेंगे— यही यदि हमारे योग का लक्ष्य हो तो केवल कोई एक विशिष्ट मार्ग ही हमारे लिये पर्याप्त न होगा। तब हम चाहेंगे अखण्ड पूर्णयोग जिस के द्वारा हमारी सभी जीवन धाराओं में भगवान् लबालब भर जांय, हमारे संपूर्ण क्षेत्र को फल-फूलों और पेड़-पौदों से समृद्ध कर दें। इतना ही नहीं, हम केवल व्यक्तिगत सिद्धि नहीं चाहते, हम चाहते हैं विश्वमानव की सिद्धि। विश्वमानव जिस से शुद्ध, मुक्त, पूर्ण हो सके, उसी की प्रतिकृति हमारी व्यक्तिगत साधना होगी। हम मानवसंघ का निर्वाण नहीं चाहते, हम वह चीज़ चाहते हैं जिस से मानव-समाज अपने अशेष वैचित्र्य के साथ लहलहा उठे। उसकी वर्तमान सारी प्रेरणायें, सारे प्रयास, सारे कर्म रहेंगे, केवल वे प्रतिष्ठित होंगे कश्चित् महान् में — श्रीभगवान् में। यह जब हमारा उद्देश्य है तब हम केवल किसी एक विशेष साधनमंत्र को ही समग्र मनुष्यजाति की विभिन्नमुखी चेष्टा के ऊपर नहीं लाद सकते। इसी कारण हमें सब साधन-मार्गों का समन्वय करना होगा, ऐसा समन्वय कि वह केवल हमारी अपनी साधना के लिये ही नहीं, प्रत्युत अखिल जीव की, समग्र मानवजाति की समष्टिगत साधनामें काम आ सके।

यह पूर्णाङ्ग योग जब हमारा लक्ष्य है तब इस लक्ष्य को सामने रख कर उसी की सहायता से हमें यह स्थिर करना होगा कि किस योगमार्ग की कितनी सार्थकता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा किसमें कितनी त्रुटि है। परंतु इस से पूर्व इन विभिन्न मार्गों की कुछ व्याख्या करना, किस मार्ग का क्या विशेष फल है यह बतलाना आवश्यक है।

— नलिनीकान्त

दीक्षित जीवन

दीक्षा यह अति प्राचीन शब्द है। यह वैदिक समय से आ रहा है। पीछे इस का अर्थ 'व्रतग्रहणं दीक्षा' इस तरह किया गया है। अर्थात् दीक्षा का मतलब है व्रत का ग्रहण करना। यजुर्वेद में आया है :—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ य० १९।३०

तात्पर्य यह है 'व्रत से दीक्षा होती है और यह दीक्षा दक्षिणा और श्रद्धा द्वारा अन्त में सत्य को प्राप्त कराती है'। एवं वेद के अनुसार भी किसी सत्यको पा लेने के लिये व्रत ग्रहण कर लेना, व्रती हो जाना ही दीक्षा पाना है। गुरुकुल भी किसी सत्य के लिये खड़ा हुआ है और उसी को पाने के लिये यहां दीक्षा दी जाती है।

गुरुकुल में ब्रह्मचारी जिस सत्य को पाने के लिये, जिस लक्ष्य को पाने के लिये यहां दीक्षित जीवन व्यतीत कर रहे हैं वह है वैदिक धर्म को अपने जीवन में उतार लाना। गुरुकुल इसी कार्य के लिये है। गुरुकुल क्या वस्तु है? इस पर जब जब मैंने गम्भीर विचार किया है, तब तब पाया है कि गुरुकुल इन चार तत्त्वों का बना हुवा है— गुरु, कुल अर्थात् गुरुशिष्य-सम्बन्ध या कुलभावना, ब्रह्मचर्य, वैदिक धर्म। इन में से एक भी कम हो जाय तो गुरुकुल का गुरुकुलत्व जाता रहता है— इन चारों तत्त्वों को एक वाक्य में कहें तो गुरुकुल का ध्येय है गुरु के आधीन, उसके कुल में कुलभावनापूर्वक शिष्य रूप से रहते हुवे, ब्रह्मचर्य द्वारा वैदिक जीवन को सिद्ध करना। पर गुरुकुलीय ध्येय के इन चार तत्त्वों पर कुछ विस्तार से विचार करना उत्तम होगा।

लेखक ने गुरुकुल सूपा में दीक्षारम्भ संस्कार पर एक भाषण दिया था, उसी का यह मुख्य भाग उपयोगी होने से अदिति के पाठकों के लिये दिया जा रहा है। —सं० अदिति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरु—सब से पहली वस्तु है गुरु। गुरु के बिना गुरुकुल नहीं हो सकता। गुरुकुल जिसका होता है वह गुरु है। गुरु का अर्थ है महान्। प्राचीन समय में जो असाधारण व्यक्ति, किसी सत्य का साक्षात्कार कर उस की शक्ति से शक्तिशाली हो महान् होते थे, वे गुरु कहाते थे और उनके चारों ओर उनसे आकृष्ट हो, उन से वह सत्य ज्ञान पाने के लिये जब बहुत से शिष्य इकट्ठे हो जाते थे तभी स्वभावतः गुरु का कुल, 'गुरुकुल' बन जाता था, क्योंकि गुरु अपने शिष्यों को अपने कुल, परिवार की तरह रखते थे। सब शिष्य उनके पुत्र की तरह होते थे, बल्कि पुत्र की भी अपेक्षा अधिक निकट और अधिक पवित्र सम्बन्ध से जुड़े होते थे। ऐसा एक कुल, ऐसा एक नये प्रकार का परिवार, आध्यात्मिक परिवार जिसके इर्दगिर्द इकट्ठा हो जाता था वह गुरु था। गुरु ने कुछ बड़ी वस्तु पाई होती थी, उस के पास कोई आध्यात्मिक निधि होती थी, इसे उस से लेने, ग्रहण करने को शिष्य आते थे। कुछ देने योग्य बड़ी वस्तु रखना ही गुरु का गुरुपन है। सो पहले तो किसी गुरुकुल में कोई ऐसा गुरु होना चाहिये, तभी वह असली गुरुकुल बनेगा, तभी वहां दीक्षित जीवन का कुछ मतलब होगा। कम से कम यह बात तो स्पष्ट है ही कि किसी गुरुकुल के गुरु (आचार्य) या गुरुवर्ग जिस कोटि के होंगे उसी कोटि का वह गुरुकुल बनेगा। यह बात वैसे तो बहुत ठीक है कि अंत में गुरु परमेश्वर ही है, परम गुरु भगवान् ही है, हमें यह हमेशा स्मरण भी रखना चाहिये, इसी तरह यह भी ठीक है कि भगवान् की किसी अव्यक्त शक्ति को या अव्यक्त आदर्श को भी गुरु माना जा सकता है, पर इसका यह मतलब नहीं कि मनुष्य-गुरु का कुछ महत्त्व नहीं है। सच तो यह है कि सीधे परमेश्वर के शिष्य हो जाने वाले तो कोई विरले ही होते हैं, साधारणतया तो मनुष्यों के लिये ऐसे गुरु का ही सब महत्त्व है जो मनुष्य होता हुवा दिव्य हो, जिसने मनुष्य होते हुवे भगवान् को अपने अंदर थोड़ा या बहुत व्यक्त किया हो। ऐसे मनुष्य-गुरु से ही मनुष्य आसानी से निकटतया जुड़ सकता है। निःसन्देह हमारे देश में जो गुरुमहिमा गाई गई है वह मिथ्या नहीं है। 'नयी रोशनी' के प्रभाव में आकर उसे मिथ्या समझना बड़ी भारी ग़ल्ती करना होगा। भगवान् की ज्योति को अपने जीवनों में ज्वलन्त रूप से प्रकट करने वाले गुरुओं की सदा ज़रूरत रही है और सदा ज़रूरत रहेगी। जगत् को छोटे-बड़े और जगत्-गुरुओं तक की आवश्यकता होती है। अस्तु, गुरु के विषय में मैं अधिक नहीं कहना चाहता। मुझे तो शिष्यकोटि की बातें करना अधिक शोभा देता है। इस विषय में तो इतना ही कहना था कि गुरुकुल या दीक्षित जीवन के लिये सब से पहली और अपरिहार्य आवश्यकता है गुरु की।

कुल—दूसरी वस्तु है कुल, जो कि गुरु के शिष्यों द्वारा बनता है। गुरु और शिष्य परस्पर एक कुलभावना से रहते हैं। ये दोनों एक पवित्र सम्बन्ध से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुड़े होते हैं। गुरुशिष्य-सम्बन्ध के विषय में मैं क्या बोलूं? यह एक ऐसा सम्बन्ध है कि इसके आन्तरिक तौर पर याद आ जाने से ही मेरे नेत्रों में अश्रु आ जाते हैं। यह ऐसा ही सच्चे प्रेम का सम्बन्ध है, ऐसा ही पवित्र सम्बन्ध है। शायद यह दुनियां में जितने भी सम्बन्ध हैं, नाते हैं, उन से पवित्रतम है, निकटतम है, दिव्यतम है। इस में अन्य सब सत्य सम्बन्ध समा जाते हैं। यदि मैं कहूँ कि इस सम्बन्ध में सचमुच दो आत्माओं का मेल होता है, दो आत्माओं का स्पर्श होता है, गुरु की ज्योति से शिष्य का आत्म-प्रदीप जल उठता है, एक शक्ति का सञ्चार हो जाता है, शिष्य का सचमुच नया जन्म होता है, वह दिव्य जन्म पाता है, तो इस सब को सच मानो। इस का वर्णन कर सकना कठिन है। यह अनुभवगम्य ही है। जो सच्चे गुरु और सच्चे शिष्य होते हैं वे इसे परस्पर अनुभव करते हैं। मैं ब्रह्मचारियों से कहूँगा कि तुम इस पवित्रतम सम्बन्ध को प्राप्त करने का यत्न करो, और इसे स्वयं अनुभव करो।

इस सम्बन्ध को स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि शिष्य पूरी तरह से अपने को गुरु के प्रति समर्पण करे। समर्पण का मतलब केवल एक बार समर्पण-संकल्प करना नहीं है, केवल बाहरी शारीरिक समर्पण भी कुछ कामकी चीज़ नहीं है। यदि आत्मिक ध्येय प्राप्त करना है तो अन्दर तक का, प्राण मनके अन्तिम कोनों और छोरों तक का समर्पण करना होगा। हमारे अन्दर अन्तरतम वस्तु जो हृत्पुरुष है उस का स्वाभाविक धर्म ही समर्पण है। वह सदा भगवान् को समर्पित है। उस अन्तरतम से समर्पण करना होगा। तभी वह समर्पण भगवान् तक पहुंचेगा। आजकल लोग कहते हैं कि मिलिटरी डिसिप्लिन होनी चाहिये। एक सज्जन गुरुकुल कांगड़ी में कहा करते थे कि discipline तो मिलिटरी होनी चाहिये,मिलिटरी (अर्थात् विद्यार्थियों में अनुशासन सैनिकों जैसा होना चाहिये)। मैं इस बात पर हंसा करता था कि देखो आज शिष्यों को अनुशासन (डिसिप्लिन) सिखाने के लिये सैनिकों को आदर्श माना जाने लगा है, जब कि डिसिप्लिन शब्द का अर्थ ही असल में शिष्यभाव है। Disciple का अर्थ है शिष्य, उसी से discipline निकला है और इस का अर्थ शिष्यभाव व शिष्यता हो कर शिष्य के मुख्य गुणके तौरपर अनुशासन हो गया है। इसलिये असल में तो सैनिकों को कहना चाहिये कि उनका अनुशासन शिष्यों जैसा हो, न कि शिष्यों को यह कहना चाहिये कि उनका सैनिकों जैसा हो। पर बात यह कि आजकल लड़ाई चल रही है इसलिये हमारी आँखों में सैनिकों का discipline (अनुशासन) भरा हुवा है। पर हम भूल जाते हैं कि हमारे देश के शिष्यों का अनुशासन कितना कमाल का रहा है। 'कैसेबीयांका' की आज्ञापालन की बात तो हमें बताई जाती है। पर महाभारत में जो शिष्यों के वर्णन आये हैं, शिष्य अपने गुरु के कठोर अनुशासन में बड़े गौरव के साथ रहे हैं या अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुओं की आज्ञापालन में उन्होंने जितने जितने कष्ट सहे हैं उन आश्चर्यजनक बातों को हम भूल जाते हैं। धौम्य ऋषि के शिष्य उद्दालक, उपमन्यु, वेद आदि की कथायें पढ़ कर इस भाव को हम फिर ताजा कर सकते हैं। असल में इस बात में सैनिकों का शिष्यों के साथ मुकाबला ही नहीं हो सकता है, क्योंकि शिष्य का समर्पण बहुत ही आन्तरिक होता है। सेनापति अपने सिपाहियों पर अधिक से अधिक भौतिक ही नियन्त्रण रख सकता है, सिपाही उसे सैनिक कार्य के समय अधिक से अधिक अपने शरीर ही सौंप सकते हैं। पर शिष्य तो अपने प्राण, मन और जीव को भी गुरु को सौंप देता है। एवं गुरु का शिष्य के अन्तरतम भाग पर भी प्रेमपूर्ण अधिकार होता है। वह उस से जैसा चाहे करा सकता है। करा सकता क्या है, कराता है। क्योंकि गुरु और शिष्य तब अभिन्न हो जाते हैं। गुरु की इच्छा ही शिष्य की इच्छा हो जाती है, गुरु की मति ही शिष्य की मति हो जाती है। भेद नहीं रहता। वहां किसी बाह्य आज्ञा, कमांड या हुकुम की जरूरत नहीं होती। शिष्य अपने अन्दर से ही, अपने आप ही वही चाहता, सोचता और करता है जो कि गुरु चाहता है और उत्तरोत्तर उन्नति करता जाता है। वहां सब अनुशासन अन्दर से होता है, और प्रेमपूर्ण होता है, इसीलिये यह इतना प्रभावशाली और समर्थ होता है। यह गुरुशिष्य-सम्बन्ध की पूर्ण अवस्था आती है सच्चे समर्पण के द्वारा। इसलिये मैं विद्यार्थियों को कहता हूँ कि तुम समर्पण करो, पूरा और सच्चा समर्पण करो। जितना समर्पण कर सकोगे उतना ही तुम गुरु से पा सकोगे। मैं तो यहां तक कहूँगा कि तुम्हारा समर्पण यदि आदर्श होगा. तो तुम भगवान् की कृपा से वह भी पा लोगे जो कि तुम्हारे गुरु में भी नहीं होगा। बस यह याद रक्खो कि तुम्हें गुरु से जोड़ रखने वाली डोर बल्कि गुरु द्वारा भगवान् से जोड़ रखने वाली डोर भी समर्पण ही है। यही गुरुशिष्य-सम्बन्ध का रहस्य है।

ब्रह्मचर्य्य—पर, समर्पण का मतलब पड़े रहना, निष्क्रियता, तामसिकता नहीं है, न ही इस का मतलब कुप्रवृत्तियों को, निम्न गतियों को भी मान लेना, स्वीकृति देना है। तुम ठीक प्रकार से समर्पण तभी कर सकोगे जब ब्रह्मचारी होवोगे। ब्रह्मचर्य्य का साधारण अर्थ है अपने को नीचे ले जाने वाली विषय-वासनाओं, कुत्सित भावनाओं से अपने आप को बचाये रखना। ब्रह्मचारी वह है जो प्राण, मनके नीचे दर्जे के आवेगों और विचारों के कभी वशीभूत नहीं होता है। हमने समर्पण गुरु को करना है, भगवान् को करना है, दिव्य गुणों और ऊँची प्रवृत्तियों के प्रति करना है, न कि आसुरी गुणों के प्रति और नीची प्रवृत्तिओं के प्रति। सो अपनी शक्ति, वीर्य को नीचे नहीं गिराना किन्तु ऊपर ले जाना यही ब्रह्मचर्य है। यह शक्ति को बिखेरने की जगह शक्ति का संचय करना है। शारीरिक वीर्य ही नहीं किन्तु प्राणगत और मनोगत वीर्यको भी उत्तेजनावश नष्ट करने की अपेक्षा इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीर्यों का शान्तिपूर्वक सञ्चय करना है। इसलिये तुम्हें बाहर के उत्तेजनामय वायुमंडल से जुदा करके यहां गुरुकुल के शान्त वायुमंडल में रखा गया है जिस से कि तुम यहाँ शान्ति से भविष्य के शक्तिपूर्ण जीवन के लिये शक्तिसंचय कर सको।

कुछ समय हुवा, गुरुकुल कांगड़ी में युक्तप्रान्त के गवर्नर के सलाहकार श्री पन्नालाल जी पधारे। वे जब घूमघाम कर सारे गुरुकुल को देख रहे थे तो ब्रह्मचारियों के आश्रम में पहुंच कर जब उन्होंने वहां ब्रह्मचारियों की दिनचर्या के नियम लिखे हुवे पढ़े, जो ड्योढ़ी में ही बड़े कृष्णपट्ट पर लिखे हुवे थे तो उनके साथियों में से एक ने हंसी में कहा 'क्या यह इंडिया डिफेंस एक्ट में नहीं आता ? यह preparation in peace है'। उन्होंने वह बात कही तो हंसी में थी किन्तु वह बड़ी सच्चाई को ध्वनित करती थी....असली शक्ति शान्तिपूर्वक तैयारी के बाद प्रकट होती है। जितना ही बड़ा शान्ति का आधार होगा उसके ऊपर उतनी ही बड़ी शक्ति काम कर सकेगी। जितना बड़ा ब्रह्मचर्य्य होगा उतना ही विशाल शक्ति का भंडार वहां संचित होगा। यह कहने की जरूरत नहीं कि ब्रह्मचर्य्य को हमें इसके विस्तृत अर्थ में ही लेना चाहिये, संकुचित अर्थ में नहीं। तो हम देखेंगे कि हमारा ब्रह्मचर्य्य स्वाभाविक और आन्तरिक होगा, न कि कृत्रिमतया किया गया और केवल बाह्य नियमों पर आश्रित। वेद में वर्णित ब्रह्मचर्य्य बहुत ही विशाल वस्तु है। वहां ब्रह्मचर्य्य का अर्थ 'ब्रह्म' के लिये, भगवान् के लिये 'चर्या करना', जीवन बिताना है। तुम यदि भगवान् के लिये, केवल भगवान् को पाने के लिये, केवल भगवान् के अभिमुख, भगवान् के प्रति चलोगे, जीवन बिताओगे तब तुम में सब दिव्य शक्तियां संचित होती चली जायेंगी, तुम ऊर्ध्वगामी होवोगे और शक्ति के भंडार होवोगे। असली वैदिक ब्रह्मचर्य्य यही है जिसकी कि महिमा अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य्यसूक्त में गायी गई है।

वैदिक धर्म—गुरु के आधीन उसके कुलपुत्र बन कर ब्रह्मचर्य्यपूर्वक जिस उद्देश्यप्राप्ति के लिये तुम्हें रहना है वह है वैदिकधर्ममय जीवन। उसे आर्य जीवन भी कहा जाता है। वेद में उसे दिव्य जीवन भी कहा है। यह जीवन पाना बड़ा कठिन है। इसे पाने के लिये वस्तुतः युद्ध करना पड़ता है। मैंने जो अभी सैनिकपन और शिष्यपन की तुलना की है और शिष्यपन की अति उत्कृष्टता बताई है वह यथार्थ है। तुम गुरुकुल के विद्यार्थियों ने, ब्रह्मचारियों ने अपने को आर्य बनाना और जगत् को आर्य बनाना है। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' तुम्हारा आदर्श है। पर इसके लिये एक बड़ा भारी युद्ध करना होगा और उसमें विजय पानी होगी। वह युद्ध न तो भौतिक हथियारों से लड़ा जाता है और न वह भौतिक जय पाने के लिये होता है। वह तो धार्मिक या आध्यात्मिक हथियारों से लड़ा जाता है और उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से, वैदिक शब्दों में कहें, तो स्वः, दिव्यता, अमरत्व को जीता जाता है। तभी तुम असल में अपने ध्येय को प्राप्त करोगे, जगत् को आर्य बनाने लायक बनोगे। श्रद्धा और ब्रह्मचर्य्य तुम्हारे दिव्य हथियार होंगे।

तीन चार वर्ष हुवे चीनी विद्वान् श्रीयुत तानयुनशान (जो कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विश्वभारती शान्तिनिकेतन में चीनी विभाग के अध्यक्ष हैं) श्रीअरविन्द-आश्रम पांडीचेरी में दर्शनार्थ आये थे। एक रोज़ आश्रम के एक साधक ने उन से हंसी में कहा कि आप के चीन को तो जापान खतम किये जा रहा है; खतम कर डालेगा। तो श्री तानयुनशान ने कहा 'नहीं, चीन को जापान नहीं जीत सकता, चीन अजेय है'। पर फिर गम्भीर होकर वे बोले कि 'जापान तो चीनको कभी जीत ही नहीं सकता। हाँ, दो हज़ार वर्ष पहले बुद्ध भगवान् ने ज़रूर चीन को जीता था, या अब श्रीअरविंद जीतेंगे'। सो यह है विजय, जैसी विजय के सैनिक बनने के लिये तुम तैयार किये जा रहे हो, न कि जापान जैसी विजय के। यह है जिस के लिये गुरुकुल के बच्चों का गीत बना था —

'हम दयानन्द के वीर सैनिक बनेंगे'।

संसार भर को आर्य बनाने के लिये, संसार भर में धर्म का राज्य या ईश्वर का राज्य स्थापित करने के लिये तुम यहां एकान्त में साधना कर रहे हो। यह इतना बड़ा ध्येय है कि बहुत से लोग तो इसे असम्भव ही समझेंगे। यह बहुत ही कठिन है इसमें तो सन्देह ही नहीं। पर उत्कृष्ट आत्मायें तो कठिन काम के लिये ही जन्म लेती और दीक्षित होती हैं। और परमेश्वर की कृपा के सम्मुख तो कुछ भी कठिन नहीं, बल्कि कुछ भी असम्भव नहीं। तो तुम स्वभावतः पूछोगे कि इस दुःसाध्य कार्य को कैसे सिद्ध किया जाय या उस परमेश्वर की कृपा को कैसे प्राप्त किया जाय। बस, इसी सम्बन्ध में योगिराज श्रीअरविंद के एक वचन को सुना कर मैं अपना कथन समाप्त करूँगा। श्रीअरविंद ने 'माता' पुस्तक में एक बात कही है जो कि दिव्य जीवनके साधकों को सदा स्मरण रखने योग्य है। गुरुकुलका उद्देश्य भी अन्त में वही है जो कि श्रीअरविंद के योग का ध्येय है। श्रीअरविंद कहते हैं कि भगवान् की शक्ति हम में पूर्णतया काम करने लगे, भगवान् की कृपा व प्रसाद हमें मिले, इस के लिये तीन प्रकार का प्रयत्न हमने ही करना है। यह त्रिविध प्रयत्न है अभीप्सा, अस्वीकार या परित्याग, और तीसरा समर्पण। ये तीन कार्य यदि हम करते रहें तो बाकी सब भगवान् की शक्ति कर देगी। अभीप्सा है अपने ध्येय को प्राप्त करने की आत्मप्रेरित आन्तरिक सच्ची आकांक्षा या लगन। दूसरा प्रयत्न है कि जो कुछ भी हमारे ध्येय के विपरीत है, विरोधी है, बाधक है उसका सतत अस्वीकार करना, त्याग करना। तीसरा यत्न है समर्पण, उस ध्येय के प्रति पूरी तरह समर्पित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होना। तुम यदि उस वैदिक जीवन या दिव्य जीवन को पाने के लिये अपने अन्दर अभीप्सा सदा बनाये रखो, जो तुम्हारे मन, प्राण, शरीर में इसके विरोधी विचार, भाव या गतियाँ आती रहती हैं उन्हें सतत अस्वीकृत कर त्यागते जाओ और समर्पणभाव में निरन्तर रहो तो बाकी सब महान् अति दुष्कर कार्य भगवती माता की कृपा से बड़ी आसानी से हो जायगा। पर ये तीन काम, ये तीन प्रयत्न तुम्हें ही करने हैं; उन्हें तुम्हारे लिये कोई और नहीं करेगा, ये भी तुम्हारी जगह भगवान् ही कर देंगे यह मानना भयंकर मूर्खता है।

यह ऐसा ही है जैसा कि यदि तुमने यहां से पाँडीचेरी जाना हो तो तुम रेल में बैठ कर वहाँ आसानी से पहुंच सकते हो, पर तीन काम तुम्हें अपने आप करने होंगे। एक तो पांडीचेरी की गाड़ी जब जाती है तब स्टेशन पर पहुंच जाओ, यानी वहाँ जाने वाली गाड़ी को ही पकड़ो, यह हुई अभीप्सा। घर का त्याग करो तथा टिकट खरीदने में जो रुपये देने चाहियें उन्हें दे दो, यह हुआ त्याग। और फिर उस गाड़ी में ठीक तरह बैठ जाओ; अपने आप को उसे समर्पित कर दो। ये तीन कार्य तुम स्वयं कर लोगे तो बाकी का सब काम अपने आप हो जायगा। गाड़ी तुम्हें तीन दिन में ही ४० मील प्रति घंटे की रफ़तार से दौड़ती हुई पांडीचेरी पहुंचा देगी, जहां कि तुम यदि अपने आप पैदल चलते तो तीन महीने में भी पहुंचना कठिन होता। यह याद रखना चाहिये कि ये तीन प्रयत्न केवल प्रारम्भ में एक बार ही नहीं किन्तु लगातार करने हैं, जब तक कि तुम पांडीचेरी न पहुंच जाओ। तुम में लगातार यह अभीप्सा रहनी चाहिये कि तुम ने पाँडीचेरी पहुंचना है, नहीं तो रास्ते में बहुत से जंकशन आते हैं, तुम यदि कहीं दूसरी जगह जाने वाली गाड़ी में बैठ जाओगे या कहीं जब गाड़ी बदलनी हो तब यदि गाड़ी बदलने में गलती करोगे तो पांडीचेरी नहीं पहुंचोगे। इसी तरह तुम्हें रेलयात्रा की विरोधी बातों का त्याग भी लगातार करना होगा, रेलवे के अनियमों को छोड़ना होगा, जैसे यदि तुम कहीं पानी लेने उतरो पर सीटी बजने पर फिर चढ़ न जाओ, या यदि जब टिकट दिखाना है तब टिकट न दिखाओ या कुछ और अनियम करो तो तुम बीच में ही रह जाओगे या उतार दिये जाओगे। और फिर यदि तुम गाड़ी को समर्पित नहीं किये रहोगे, रेल में ठीक तरह बैठे नहीं रहोगे, उछल-कूद करोगे या मूर्खतावश दरवाजे खोल दोगे तो तुम चलती गाड़ी में से गिर पड़ोगे और तुम्हारी हड्डी-पसली का भी पता न चले ऐसे विनाश को प्राप्त हो जाओगे। सतत समर्पण न किये रखने का ऐसा भयंकर परिणाम भी हो सकता है। जितनी ही तेज़ सवारी का तुम आश्रय ले रहे हो उतने ही अधिक समर्पण किये रहने की आवश्यकता है। पर यह ठीक है कि पांडीचेरी जाने की अभीप्सा, अनियमों का त्याग और रेल पर ठीक तरह बैठे रहना केवल तीन प्रयत्न ही यदि तुम करो तो बाकी सब अपने आप हो जायगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहां जहां लाइनें बदलती हैं वहाँ काँटे अपने आप बदल दिये जायेंगे, जिससे तुम्हारी गाड़ी सदा ठीक दिशा में जाय। रास्ते में आने वाले सैंकड़ों स्टेशनों के, झंडी दिखाने वाले से लेकर स्टेशनमास्टर तक, सब के सब कर्मचारी तुम्हारी सेवा में तुम्हारे बिना जाने सब कार्य करते रहेंगे, कोयला झोंकने वाला और ड्राइवर और गार्ड दिन रात तुम्हारे लिये सब काम करते रहेंगे, तुम्हें अन्य कुछ भी फ़िकर नहीं करनी होगी। तुम रास्ते के दृश्यों को देखते हुवे बढ़ते चले जाओगे। इसी तरह भगवान् की असीम कृपा से, भगवती माता की अनन्त शक्ति से बाकी सब कुछ अपने आप होता जायगा, जिसको तुम कल्पना भी नहीं कर सकते, जिसे तुम समझ भी नहीं सकते, वह सब तुम्हारी अनुकूलता में लगातार होता जायगा, यदि तुम केवल अभीप्सा, त्याग और समर्पण ठीक तरह करते रहोगे। इसलिये इन तीन बातों को अच्छी तरह अपना लो।

गुरुकुल-जीवन के जो पहले तीन अंग हैं (चौथा जो ध्येय है उसे अंग रूप से न गिनना ठीक ही है) उनके द्वारा तुम श्रीअरविन्द के कहे इन तीनों प्रयत्नों का स्मरण रख सकते हो। गुरु तुम्हें तुम्हारी अभीप्सा का सतत स्मरण कराने वाला हो। तुम्हारा गुरु से सम्बन्ध अर्थात् तुम्हारी शिष्यता साक्षात्समर्पण-रूप हो। और ब्रह्मचर्य्य तुम्हें विरोधी शक्तियों का त्याग कराता जावे। इस तरह यदि तुम यह त्रिविध प्रयत्न जारी रखोगे तो भगवान् की कृपा से जिस दीक्षा का आज तुम आरम्भ कर रहे हो वह अवश्य सफलतापूर्वक पूर्ण होगी। तुम्हारी दीक्षा सत्य को प्राप्त कराने वाली होगी। परमेश्वर तुम पर कृपा करें।

—अभय

पाठकों से—

काग़ज़ की बचत की जो नयी सरकारी आज्ञा १२ जून से लागू हुई है उस के अनुसार हमें अदिति के काग़ज़ में ७० प्रतिशत कटौती करना आवश्यक हो गया है, इसलिये इस बार हम केवल ४० पृष्ठ की अदिति दे रहे हैं। आशा है पाठक इसे सहन करेंगे। हम यत्न करेंगे कि हमें आगे पूरे पृष्ठों की अदिति प्रकाशित करने की अनुमति मिल जाय।

व्यवस्थापक 'अदिति'

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य

श्रीअरविन्द और उनका योग	॥=)
योगप्रदीप	॥।)
इस जगत् की पहेली	१)
माता	॥।)
योग के आधार	२)
हमारा योग और उसके उद्देश्य	॥)
गीताप्रबन्ध (प्रथम भाग)	४॥)
जगन्नाथ का रथ	॥)
उत्तरपाड़ा अभिभाषण	।)
मातृवाणी	२)
पांडिचेरी के परमहंस	।)

इसके अतिरिक्त श्रीअरविन्द की अङ्गरेजी, बंगला, गुजराती, तामिल, तेलगु आदि भाषाओं की सब पुस्तकें भी यहां से मिल सकती हैं।

श्रीअरविन्द निकेतन
कनाट सर्कस, डाक पेटी ८५, नई देहली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

अदिति

[illegible]

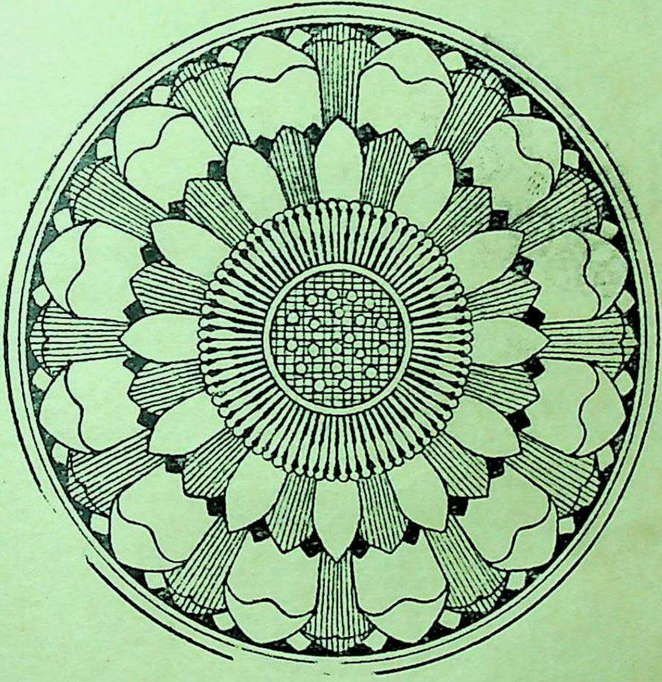

अनागसो अदितये स्याम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

अदिति

आठवीं कला

२४ नवम्बर १९४४ के श्रीअरविन्द-दर्शन के उपलक्ष में

डा० इन्द्रसेन द्वारा संकलित तथा सम्पादित

प्रकाशक
एस० एन० सण्डर्सन एण्ड कम्पनी
श्रीअरविन्द निकेतन, नई देहली।

एक पुस्तिका का मूल्य १।)
वर्षभर की चार पुस्तिकाओं का मूल्य ४)

अदिति मुद्रणालय देहली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

मातृवचनामृत—

प्रार्थना व ध्यान ३

श्रीअरविन्द-वाणी—

१. दुर्गास्तोत्र ५

२. वैदिक सूक्त-सुधा ....

(४) अग्नि, प्रकाशपूर्ण संकल्प ७

३. A Tree (हिन्दी अनुवाद सहित) १६

४. कर्मयोगी ....

(४) भारत की जागती हुई आत्मा २०

५. एक शिष्य के प्रति पत्र २७

६. Life and Death (उर्दू अनुवाद सहित) ३२

पूर्णयोग—

(२) हठ-योग .... नलिनीकान्त गुप्त ३३

श्रीअरविन्द का 'व्यक्ति-स्वरूप' .... डा० श्रीनिवास आयंगर ३७

प्रेममयी जननी (कविता) .... स्व० वेदव्रत ४३

मन .... मदनगोपाल गाडोदिया ४४

भागवत कृपा तथा वैयक्तिक प्रयत्न .... अम्बालाल पुराणी ६०

जिज्ञासुओं से भेंट .... डा० इन्द्रसेन ६१

लेखक-परिचय .... „ „ ८

——:◆:——

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मातृवचनामृत—

प्रार्थना व ध्यान

प्रभु ! किस तीव्रता के साथ मेरी यह अभीप्सा (चाह-भावना) तेरी ओर उठ रही है। तू अपने धर्म और मर्यादा का हमें पूरा ज्ञान दे, तेरी इच्छाका हमें प्रत्यक्ष भान रहे,-ताकि तेरे निश्चय हमारे निश्चय हों, जीवन केवल तेरी सेवामें अर्पित हो और तेरी प्रेरणाको यथासम्भव पूर्ण रूपसे प्रकट करे।

हे स्वामी ! दूर कर सब अन्धकार, सब अन्धता, और ऐसी कृपा कर कि हर कोई उस स्थिर निश्चयात्मक ज्ञान का आनन्द लाभ करे जो तेरे दैवी प्रकाश से मिलता है।

१७ फर्वरी, १९१४

(२)

हे प्रभु ! हम तुझे आदर और प्रसन्नता से प्रणाम करते हैं, नित्य नयी भेंट के रूप में अपने आप को अर्पित करते हैं, ताकि तेरी इच्छा पृथ्वी पर तथा विश्व में सब जगह चरितार्थ हो।

हमारा चिन्तन तो, प्रभु, तेरे प्रति अभिमुख हो जाने से निश्चल-नीरव हो गया है। परन्तु हमारा हृदय आह्लादित हो उठा है, तू हर वस्तु में खिल रहा है न। वास्तव में बालू का एक छोटे से छोटा कण भी आनन्द और आश्चर्य का अवसर हो सकता है।

प्रभु, हम तेरे सामने नत-मस्तक हैं। एक असीम प्रेम में हम तेरे से युक्त होते हैं, अनिर्वचनीय आत्म-आह्लाद से परिपूर्ण प्रेम में।

ओ प्रभु ! यह परम आनन्द तू सब को प्रदान कर।

—मूल फ्रेंच से अनूदित

१ जुलाई, १९१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हर एक प्राणी के लिये यह एक अमूल्य संपद् है; कि उस ने अपने-आप को जानना और अपने-आप पर प्रभुत्व प्राप्त करना सीख लिया है। अपने-आप को जानने का अर्थ है अपनी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के प्रेरकभावों को जानना; यह जानना कि अपने अंदर जो कुछ भी चेष्टा होती है वह कैसे और क्यों होती है। अपने-आपपर प्रभुत्व प्राप्त करनेका अर्थ है कि जिस व्यक्तिने जो कुछ करनेका निश्चय किया है, वह उसी को करे, केवल उसीको करे और कुछ भी नहीं। अन्य आवेगों, कामनाओं या तरंगों की कोई बात न सुने, न उनका अनुसरण करे।

किसी बालक को नैतिक नियम सिखाना अवश्य ही कोई आदर्श बात नहीं है, किन्तु इसके बिना काम चलना भी बहुत ही कठिन है। हां, जैसे-जैसे बालक बड़ा होता जाय वैसे-वैसे उसे इस बात की शिक्षा दी जा सकती है कि समस्त नैतिक और सामाजिक नियम कितने आपेक्षिक हैं, जिससे कि वह अपने ही अंदर किसी उच्चतर और सत्यतर नियम या धर्म को खोज कर प्राप्त कर सके। परन्तु इस विषय में बहुत ही सावधानी के साथ आगे बढ़ना चाहिये और उस सच्चे नियम या धर्म को खोज निकालना कितना कठिन है इस बात को उसे अच्छी तरह और पूरा जोर देकर बता देना चाहिये। जो लोग मानव-नियमों का त्याग करते और अपनी स्वतंत्रता की तथा 'अपने ही ढंग का जीवन' बिताने के निश्चय की घोषणा करते हैं उन में से अधिकांश व्यक्ति यह कार्य अत्यंत साधारण प्राणमय प्रवृत्तियों के अधीन होकर हो करते हैं और इनको, यदि अपनी आंखों से नहीं तो कम-से-कम दुनियां की आंखों से, छिपाने और इन का औचित्य साबित करने की कोशिश करते हैं। ये लोग नैतिकता को केवल इसीलिए ठुकराते हैं कि वह उनकी पशुवृत्ति की तृप्ति में बाधक बनती है।

किसी को भी नैतिक और सामाजिक नियमों के विषय पर फैसला करने बैठने का कोई अधिकार नहीं है, जब तक कि वह इनसे ऊपर उठकर किसी महत्तर नियम में प्रतिष्ठित न हो गया हो; इन नियमों को तब तक नहीं छोड़ा जा सकता जब तक कि इनके स्थान पर किसी श्रेष्ठतर नियम को स्थापित नहीं कर दिया गया हो, और ऐसा करना कुछ सहज नहीं है।

जो हो, किसी बालक को दी जाने वाली सबसे बढ़िया भेंट तो यही हो सकती है कि उसे अपने-आप को जानना और अपने-आपपर प्रभुत्व प्राप्त करना सिखा दिया जाय।

— 'मातृवाणी' से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द-वाणी—

दुर्गा-स्तोत्र

मातः दुर्गे! सिंहवाहनि सर्वशक्तिदायिनि मातः शिवप्रिये! तेरी शक्ति के अंश से उद्भूत हम भारत के युवकगण तेरे मंदिर में बैठे हुए तुझ से प्रार्थना करते हैं—सुन हे मातः तू भारत में आविर्भूत हो, प्रकाशमान हो।

मातः दुर्गे! युग-युग में मानव-शरीर धारण कर जन्म-जन्म में तेरा ही काम कर, हम तेरे आनंदधाम को लौट जाते हैं। इस बार भी जन्म लेकर हम तेरे ही कार्य के व्रती हैं—सुन हे मातः तू भारत में आविर्भूत हो, हमारी सहायक हो।

मातः दुर्गे! सिंहवाहनि, त्रिशूलधारिणि, वर्म-आवृत-सुंदर-शरीर-धारिणि जयदायिनि मातः! तेरी प्रतीक्षा में भारत तेरी उसी मङ्गलमयी मूर्त्ति को देखने के लिये उत्सुक है—सुन हे मातः तू भारत में आविर्भूत हो, प्रकाशमान हो।

मातः दुर्गे! बलदायिनि, प्रेमदायिनि, ज्ञानदायिनि, शक्ति-स्वरूपिणि भीमे, सौम्य-रौद्र-रूपिणि! जीवन-संग्राम और भारत-संग्राम में तेरे ही प्रेरित हम सब योद्धा हैं—दे मातः, प्राण और मन में असुर की शक्ति दे, असुर का उद्यम दे; दे मातः, हृदय और बुद्धि में देवता का चरित्र दे, देवता का ज्ञान दे।

मातः दुर्गे! जगत्श्रेष्ठ भारतजाति घोर तिमिर से आच्छन्न थी। तू, हे मातः, गगनप्रांत में धीरे-धीरे उदय हो रही है, तेरे स्वर्गीय शरीर की तिमिरविनाशी आभासे उषाका प्रकाश हुआ है। आलोक विस्तार कर, हे मातः, तिमिर विनाश कर।

मातः दुर्गे! श्यामला, सर्वसौंदर्य-अलंकृता, ज्ञान-प्रेम-शक्ति की आधार भारतभूमि, तेरी विभूति, इतने दिनों तक शक्तिसंभरण के लिये अपने-आपको छिपा रही थी। आगत युग में, आगत काल में, जगत् का भार कंधे पर लादकर भारतजननी उठ रही है—आ, हे मातः, प्रकट हो।

मातः दुर्गे! हम तेरी संतान, तेरे प्रसाद से, तेरे प्रभाव से, महत् कार्य के, महत् भाव के, उपयुक्त हो जांय। हे मातः, विनाश कर क्षुद्रता, विनाश कर स्वार्थ, विनाश कर भय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मातः दुर्गे ! कालीरूपिणि, नृमुंडमालिनि, दिगम्बरि, कृपाणपाणि देवि ! असुरविनाशिनि ! अपने क्रूर निनादसे अंतःस्थ रिपुओंका विनाश कर। इनमेंसे एक भी हमारे अंदर जीवित न रहे, जिससे कि हम विमल निर्मल हो जांय। यही प्रार्थना है, हे मातः, प्रकट हो।

मातः दुर्गे ! स्वार्थसे, भयसे, क्षुद्राशयतासे भारत म्रियमाण हो रहा है। हे मातः ! हमें महत् कर, महत्प्रयासी कर, उदारचेता कर, सत्यसंकल्पी कर। ऐसा कर जिससे कि हम अब और अल्पाभीप्सु, निश्चेष्ट, अलस तथा भयभीत न हों।

मातः दुर्गे ! योगशक्तिका विस्तार कर। तेरी प्रिय आर्यसंतान हम, हममें, लुप्त शिक्षा, चरित्र, मेधाशक्ति, श्रद्धाभक्ति, तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्यज्ञान का विकास कर, जगत् में वितरण कर। हे दुर्गतिनाशिनि जगदंबे ! मनुष्य की सहायताके लिये प्रकट हो।

मातः दुर्गे ! अंतःस्थ रिपुओंका संहार करके बाहरके बाधाविघ्नोंको निर्मूल कर। बलशाली, पराक्रमी, उन्नतचेता जाति, भारतके पवित्र काननों में, उर्वर खेतों में, गगनसहचर पर्वतों के तले, पूतसलिला नदियों के तीर पर एकता से, प्रेम से, सत्यशक्ति से, शिल्प से, साहित्य से, विक्रम से, ज्ञान से, श्रेष्ठ होकर निवास करे। मातृ-चरणों में यही प्रार्थना है, हे मातः, प्रकट हो।

मातः दुर्गे ! हमारे शरीरमें योगबल द्वारा प्रवेश कर। हम होंगे तेरे यंत्र, तेरी अशुभ-विनाशी तलवारराशि, तेरे अज्ञान-विनाशी प्रदीप। हे मातः, भारत के युवकों की इस आशा को पूर्ण कर। यंत्री बनकर यंत्र चला, अशुभ-हंत्री होकर तलवार घुमा, ज्ञानदीप्ति-प्रकाशिनी होकर हाथमें प्रदीप ले, प्रकाशमान हो।

मातः दुर्गे ! अबकी बार तुझे पानेपर, अब और तेरा विसर्जन नहीं करेंगे। श्रद्धा, भक्ति और प्रेमकी डोरसे तुझे बांध लेंगे। आ मातः ! हमारे मन, प्राण और शरीर में प्रकट हो।

वीरमार्गप्रदर्शिनि आ ! अब हम तेरा विसर्जन नहीं करेंगे। हमारा सारा जीवन ही अनवच्छिन्न दुर्गापूजा हो, हमारे समस्त कार्य अविरत, पवित्र प्रेममय, शक्तिमय, मातृसेवाव्रतसे युक्त हों। यही प्रार्थना है, हे मातः ! तू भारतमें आविर्भूत हो, प्रकाशमान हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैदिक सूक्त-सुधा

(४)

अग्नि, प्रकाशपूर्ण संकल्प

ऋग्वेद १. ७७

कथा दाशेमाग्नये कास्मै देवजुष्टोच्यते भामिने गीः ।
यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा होता यजिष्ठ इत् कृणोति देवान् ॥ १ ॥

[कथा अग्नये दाशेम] कैसे अग्नि को हम हवि देवें ? [का देवजुष्टा गीः] कौन सा देव-स्वीकृत शब्द [भामिने अस्मै] देदीप्यमान ज्वाला के अधिपति इस (अग्नि) के लिये [उच्यते] बोला जाता है ? [मर्त्येषु अमृतः] मर्त्यों में अमर [ऋतावा] सत्य से युक्त [यजिष्ठः होता] यज्ञ का साधकतम होता [यः] जो अग्नि [देवान् कृणोति इत्] देवों को विरचित कर देता है ॥ १ ॥

यो अध्वरेषु शंतम ऋतावा होता तमू नमोभिरा कृणुध्वम् ।
अग्निर्यद् वेर्मर्ताय देवान्त्स चा बोधाति मनसा यजाति ॥ २ ॥

[यः] जो अग्नि [अध्वरेषु होता] यज्ञों में होता है [शन्तमः] शान्ति से परिपूर्ण है [ऋतावा] सत्य से परिपूर्ण है [तम् उ] उसको तुम अवश्य [नमोभिः] अपने समर्पणों द्वारा [आकृणुध्वम्] अपने अन्दर रचो; [यद् अग्निः] जब अग्नि [मर्ताय] मर्त्य के लिये [देवान् वेः] देवों को अभिव्यक्त* करता है, तब [स बोधाति च] वह उनका बोध भी रखता है, और [मनसा यजाति] मन द्वारा उनका यजन करता है, उन्हें हवि प्रदान करता है ॥ २ ॥

स हि क्रतुः स मर्यः स साधुर्मित्रो न भूदद्भुतस्य रथीः ।
तं मेधेषु प्रथमं देवयन्तीर्विश उप ब्रुवते दस्ममारीः ॥ ३ ॥

[हि] क्योंकि [स क्रतुः] वह संकल्प है [स मर्यः] वह बलरूप है [स साधुः] वह पूर्णता को सिद्ध करने वाला है, वह [मित्रः न] मित्र की तरह [अद्भुतस्य रथीः भूत्] परम सत्ता का रथी हो जाता है । [तं प्रथमं] उस

*या "देवान् वेः = देवों के अन्दर प्रविष्ट होता है ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वप्रथम के प्रति [मेधेषु] समृद्धियुक्त यज्ञोंमें [देवयन्तीः विशः] देवत्वको चाहने वाली प्रजायें [उपब्रुवते] शब्द को उच्चरित करती हैं, — [दस्मम्] उस परिपूर्ण करने वाले के प्रति, [आरीः] वे प्रजायें जो कि आर्य हैं ॥ ३ ॥

स नो नृणां नृतमो रिशादा अग्निर्गिरोऽवसा वेतु धीतिम् ।
तना च ये मघवानः शविष्ठा वाजप्रसूता इषयन्त मन्म ॥ ४ ॥

[नृणां नृतमः] शक्तियों में सबलतम और [रिशादा] विनाशकों को हड़प जाने वाला [स अग्निः] वह अग्नि [अवसा] अपनी उपस्थिति के द्वारा [गिरः] शब्दोंको, और [धीतिम्] उनके विचार को [वेतु] अभिव्यक्त कर दे, † [ये च] और वे जो [तना] अपने विस्तार से [मघवानः] ऐश्वर्य के अधिपति, तथा [शविष्ठाः] सब से अधिक बलशाली हैं [वाजप्रसूताः (स्युः)] अपने ऐश्वर्य को बखेरने वाले हो जावें, और [मन्म इषयन्त] विचार को अपनी अन्तःप्रेरणा देवें ॥४॥

एवाग्निर्गोतमेभिर्ऋतावा विप्रेभिरस्तोष्ट जातवेदाः ।
स एषु द्युम्नं पीपयत् स वाजं स पुष्टिं याति जोषमा चिकित्वान् ॥५॥

[एवा] इस प्रकार [ऋतावा अग्निः] सत्य से युक्त अग्नि [गोतमेभिः] गोतमों–प्रकाश के स्वामियों ‡–द्वारा [अस्तोष्ट] स्तुत किया गया है, [जातवेदाः] वह लोकों को जानने वाला अग्नि [विप्रेभिः] विप्रों–निर्मलमनों–द्वारा (स्तुत किया गया है)। [स एषु] वह इन (गोतमों या विप्रों) के अन्दर [द्युम्नं पीपयत्] प्रकाश की शक्ति को पोषित करेगा, [स वाजम्] वह समृद्धि को (पोषित करेगा); [चिकित्वान् सः] बोधयुक्त वह (अपने बोधों द्वारा) [पुष्टिं] पुष्टि को, और [जोषम्] समस्वरता को [आयाति] प्राप्त करेगा ॥ ५ ॥

---

† या "गिरः धीतिं वेतु = शब्दों में तथा विचार में प्रविष्ट हो जावे ।"

‡ बाहिरी अर्थ लें तो 'गोतमेभिः' का अर्थ होगा इस सूक्त का द्रष्टा जो गोतम राहूगण ऋषि है उसके परिवार के व्यक्तियों द्वारा । परन्तु हम निरन्तर देखते हैं कि मन्त्रों में जहाँ ऋषियों के नाम प्रयुक्त किये गये हैं वहाँ साथ ही उनके अर्थ को बताने वाले गूढ़ संकेत भी रख दिये गये हैं। इस सन्दर्भ में 'गोतमेभि ऋतावा, विप्रेभिर्जातवेदाः' इस प्रकार शब्दोंको जोड़कर रखने से 'गोतम' कौन हैं इसकी एक असन्दिग्ध व्याख्या निकल आती है, अर्थात् गोतम विप्र ही हैं और कोई नहीं। जैसे कि इसी सूक्त की तीसरी ऋचा में 'तं प्रथमं देवयन्तीः दस्मम् आरीः' इस प्रकारकी शब्दयोजना से यह स्वयमेव व्याख्यात हो जाता है कि आर्य प्रजायें वे हैं जो कि 'देवयन्तीः' हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्य

गोतम राहूगण इस सूक्त का ऋषि है, सूक्त अग्नि की स्तुति में गाया गया है, अग्नि है दिव्य संकल्प जो कि विश्व में कार्य कर रहा है।

'अग्नि' वैदिक देवोंमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, सबसे अधिक व्यापक है। भौतिक जगत् में वह सामान्य भक्षक और उपभोक्ता है। साथ ही वह पवित्र-कर्ता भी है, जब वह भक्षण करता है और उपभोग करता है तब भी वह पवित्र करता है। यह वह आग है जो रचना करती है और पूर्णता लाती है; साथ ही यह वह अग्नि है जो सात्म्य करती है और वह प्राण की उष्णता है जो रूप बनाती है। यह जीवन की उष्णता है और वस्तुओं में रस को, अर्थात् उनकी तात्त्विक सत्ता के सार को और उनके आनन्द के सार को उत्पन्न करती है।

इसी तरह वह प्राण का भी **संकल्प है**, क्रियाशील **जीवन**-शक्ति है, और उस शक्ति के रूप में भी वह उन्हीं कार्यों को करती है। भक्षण और उपभोग करती हुई, पवित्रीकरण करती हुई, रचना करती हुई, सात्म्य करती हुई, रूप बनाती हुई वह सदा ऊपर की तरफ उठती है और अपनी शक्तियों को 'मरुतों', मनःशक्तियों, के रूप में परिणत कर देती है। हमारे मनोविकार और धुंधले भावावेग इस अग्नि के ज्वलन का धुआँ हैं। केवलमात्र इसी का अवलम्ब पाकर हमारी सब प्राणशक्तियाँ अपनी क्रिया करने में निश्चितता पाती हैं।

यदि वह (अग्नि) हमारी प्राणमय सत्ता का **संकल्प है** और क्रिया के द्वारा इसे पवित्र करता है, तो वह साथ ही मन का **संकल्प** भी है और अभीप्सा के द्वारा इसे निर्मल करता है। जब वह बुद्धि के अन्दर प्रविष्ट होता है तब वह अपने दिव्य जन्मस्थान और घर के समीप आ रहा होता है। वह विचारों को फलसाधक शक्ति की तरफ ले जाता है; वह क्रिया करती हुई शक्तियों को प्रकाश की तरफ ले जाता है।

उसका दिव्य जन्मस्थान और घर,—यद्यपि वह सर्वत्र ही जन्मा हुआ है और सभी वस्तुओं में निवास करता है,—सत्य है, असीमता है, वह बृहत् विराट् प्रज्ञा है जहां **ज्ञान** और **शक्ति** आकर एक हो जाते हैं। क्योंकि वहां समस्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकल्प वस्तुओं के सत्य के साथ समस्वर होकर रहता है और इसलिए फलसाधक होता है; समस्त विचार उस प्रज्ञा का अंशभूत होकर रहता है जो कि दिव्य नियम है, और इसलिए दिव्य क्रिया को पूर्णरूपेण नियमित करने वाला होता है। 'अग्नि' चरितार्थताको प्राप्त करके अपने स्वकीय घर में-सत्य में, ऋत में, बृहत् में-शक्तिमान् हो जाता है। वहीं पहुंचाने के लिये वह (अग्नि) मनुष्यजाति की अभीप्सा को, आर्यकी आत्मा को, विराट् यज्ञ के मूर्धा को ऊपरकी तरफ ले जा रहा है।

जब कि महान् यात्रा के पूर्ण होने की, मन से अतिमानस में संक्रान्ति की, बुद्धि के—जो कि अब तक मनोमय सत्ता की नेत्री बनी हुई थी—एक दिव्य प्रकाश में रूपान्तरित हो जानेकी, प्रथम संभावना होने लगी उस क्षणमें,—जबकि वैदिक योग के बीच में आने वाला ऐसा यह अति गंभीर और कठिन समय आया उस समय, ऋषि गोतम राहूगण, अपने अन्दर अन्तःप्रेरित शब्द को लाना चाह रहा है। वह शब्द उसे तथा अन्यों को उस शक्ति के अनुभव करने में सहायता देगा जो शक्ति अवश्यमेव उस संक्रान्ति को कर देगी और प्रकाशमान समृद्धि की उस अवस्थाको ला देगी जिससे कि वह रूपान्तर-कार्य प्रारंभ हो सकेगा।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो वैदिक यज्ञ एक प्रतीक है उस विराट् तथा व्यक्तिगत क्रियाका जो स्वतः-सचेतन, प्रकाशमान तथा अपने लक्ष्य से अभिज्ञ हो गयी है। विश्व की सारी प्रक्रिया अपने स्वरूप से ही एक यज्ञ है, वह स्वेच्छापूर्वक किया जाय या अनिच्छापूर्वक। आत्मोत्सर्ग करने से आत्मपूर्णता की प्राप्ति, त्याग करने से वृद्धि, यह एक विश्वव्यापक नियम है। जो आत्मोत्सर्ग करने से इन्कार करता है, तो भी वह विश्व की शक्तियों का ग्रास तो बनता ही है। "खाने वाला भोक्ता स्वयं भी खाया जाता है"* यह एक अर्थपूर्ण और भीषण उक्ति है, जिसमें उपनिषद् ने विश्व के इस रूप को संगृहीत कर दिया है, और एक दूसरे सन्दर्भ में मनुष्यों को देवोंके पशु † कहा गया है। जब इस नियम को पहचान लिया जाता है

* अहमन्नम्, अन्नमदन्तमद्मि। तै० ३-१०-६

† "प्राणं देवा अनुप्राणन्ति, मनुष्याः पशवश्च ये।" तै० २.३—अर्थात देव प्राणके आधारसे ही जीते हैं और वे मनुष्य भी प्राणसे ही जीवित हैं जोकि देवोंके पशु हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया जाता है तभी—केवल तभी—इस मृत्युके राज्य को पार किया जा सकता है तथा यज्ञ (त्याग) के कर्मों द्वारा **अमरता** संभव बनाई तथा प्राप्त की जा सकती है। इसकेलिये मानवीय जीवनकी सभी शक्तियां तथा संभाव्यतायें, यज्ञ के प्रतीक रूप में, विश्व के दिव्य **जीवन** के प्रति उत्सर्ग कर दी जाती हैं।

ज्ञान, बल और **आनन्द** ये दिव्य **जीवन** की तीन शक्तियां हैं; विचार और विचार-जनित रचनायें, संकल्प और संकल्प-जनित कार्य, प्रेम और प्रेम-जनित समस्वरतायें ये उनके अनुरूप तीन मानवीय क्रियायें हैं जिन्हें ऊपर उठाकर दिव्य स्तर तक पहुंचाया जाना है। सच और झूठ, प्रकाश और अन्धकार, वैचारिक उचितता और अनुचितता के द्वंद्व हैं **ज्ञान** की गड़बड़ें जो कि अहङ्काररचित विभाग से पैदा होती हैं; अहङ्कार-जनित प्रेम और घृणा, सुख और दुःख, हर्ष और पीड़ाके द्वंद्व **प्रेम** की गड़बड़ें हैं, **आनन्द** के विकार हैं; सबलता और निर्बलता, पाप और पुण्य, कर्मण्यता और अकर्मण्यता के द्वंद्व संकल्प की गड़बड़ें हैं जो कि दिव्य **बल** को बिखेरने वाली हैं। और ये सब गड़बड़ें इसलिये उठती हैं, और यहां तक कि हमारी क्रिया की आवश्यक अंग बन जाती हैं, क्योंकि दिव्य **जीवन** की ये त्रिविध शक्तियाँ (ज्ञान, बल, प्रेम), **अज्ञान** के कारण जो कि विभक्त करने वाला है, एक दूसरे से अलग हो जाती हैं—**ज्ञान** तो **बल** से, **प्रेम** दूसरे दोनों (**बल** और **ज्ञान**) से। यह **अज्ञान** है, प्रबल विश्वव्यापक **मिथ्यात्व** है, जिसे हटाया जाना है। तो **सत्य** के द्वारा ही वास्तविक समस्वरता का, अखण्ड सौख्य का, दिव्य **आनन्द** के अन्दर प्रेम की अन्तिम कृतार्थता या परिपूर्णता का मार्ग खुल सकता है। इसलिये जब मनुष्य के अन्दर का **संकल्प** दिव्य तथा सत्य से अभिव्याप्त, **अमृतो ऋतावा**, हो जाता है केवल तभी वह पूर्णता, जिसकी तरफ हम अग्रसर हो रहे हैं, मानव-जाति के अन्दर सिद्ध की जा सकती है।

तो 'अग्नि' वह देव है जिसे मर्त्य के अन्दर सचेतन होना है। उसे ही अन्तःप्रेरित शब्द ने अभिव्यक्त करना है, इस द्वार वाले प्रासाद (मन्दिर) में और इस यज्ञ की वेदी पर सुप्रतिष्ठित करना है।

"किस प्रकार अग्नि को हम हवि देवें ?" ऋषि पूछता है। देने के लिये यहां जो शब्द 'दाशेम' प्रयुक्त हुआ है उसका शाब्दिक अर्थ है 'बांटें'; इसका एक गूढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध विवेक अर्थ में आने वाली 'दश' धातु से भी है। वस्तुतः यज्ञ एक उपकल्पन या विभाजन है, मानवीय क्रियाओं और सुखोपभोगों को उन विभिन्न विराट् शक्तियों के लिये बांटना है, जिन के कि क्षेत्र में वे (मानवीय क्रियायें और सुखोपभोग) उनके अधिकार से ही आते हैं। इसीलिये वेदमन्त्रों में बार-बार देवों के भाग का उल्लेख आता है। यज्ञकर्ता के सामने समस्या यह होती है कि वह अपने कर्मों की उचित व्यवस्था कैसे करे, उनका उचित विभाग कैसे करे, क्योंकि यज्ञ हमेशा **नियम** तथा दिव्य विधान (ऋतु; बाद के साहित्य में जिसे 'विधि' नाम दिया गया है) के अनुसार ही होना चाहिये। उचित व्यवस्था करने का संकल्प होना ही, मर्त्य के अन्दर उच्च **नियम** तथा **सत्य** का शासन हो जाय इसके लिये सब से महत्त्वपूर्ण तैयारी है।

इस समस्या का हल निर्भर करता है उचित अनुभूति पर और उचित अनुभूति प्रवृत्त होती है सच्चे आलोक देने वाले **शब्द** से, उस अन्तःप्रेरित **विचार** की अभिव्यक्ति से जो (विचार) द्रष्टा के पास 'बृहत्' से आता है। इसलिये आगे ऋषि पूछता है, "कौन सा **शब्द** अग्नि के प्रति उच्चरित किया जाता है?" कौन सा स्तुत्यात्मक शब्द, कौन सा अनुभूत्यात्मक शब्द? दो शर्तें पूरी होनी आवश्यक हैं। पहली यह कि वह **शब्द** अन्य दिव्य **शक्तियों** से स्वीकृत होना चाहिये, अर्थात्, यह इस स्वरूप का होना चाहिये कि उस अनुभूति की संभाव्यता को खोल देता हो या उस अनुभूतिके प्रकाशको अपने अन्दर रखता हो जिसके द्वारा दिव्य **कार्यकर्त्ता** (अर्थात् **देव**) अपने-अपने व्यापारों को मानवीयता की बहिःस्थ चेतना के अन्दर अभिव्यक्त करने के लिये तथा वहां अपने उन व्यापारों में खुले तौरपर लगे रहने के लिये प्रेरित किये जा सकें। और दूसरी यह कि वह (**शब्द**) 'अग्नि' के, देदीप्यमान ज्वालाके इस **देवता** के, द्विविध स्वरूप को प्रकाशित करने वाला होना चाहिये। 'भाम' के दोनों अर्थ हैं; ज्ञान का प्रकाश और कर्मकी ज्वाला। 'अग्नि' एक **ज्योति** भी है और एक **शक्ति** भी।

शब्द आता है। **यो मर्तेषु अमृतो ऋतावा**। 'अग्नि' विशेष रूपसे मर्त्यों में अमर है। वह अग्नि ही है जिसके द्वारा **असीमता** के अन्य प्रकाशमान पुत्र **परमदेव** के आविर्भाव और आत्म-विस्तार (देववीति, देवताति) को—जोकि विराट् तथा मानवीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यज्ञ का उद्देश्य भी है और उसकी पद्धति भी है—सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। क्योंकि 'अग्नि' है वह दिव्य संकल्प जो सदा सब वस्तुओं में उपस्थित है, सदा विनाश कर रहा और रच रहा है, सदा निर्माण कर रहा और पूर्ण कर रहा है, विश्वकी जटिल प्रगति को सदा सहारा दे रहा है। यही है जो सब मृत्यु और परिवर्तन के बीच स्थिर बना रहता है। यह शाश्वतिक तौरपर और अविच्छेद्य रूपमें सत्य-युक्त है। प्रकृति के अन्तिम धुंधलेपन में, भौतिकताकी निम्नतम प्रज्ञाशून्यता में, यह संकल्प ही है जो छिपा हुआ ज्ञान है तथा जो इन सब अन्धकारपूर्ण गतियों को, यन्त्रचालित की तरह, दिव्य नियम के अनुसार चलने के लिये तथा उनकी प्रकृति का जो सत्य है उसका अनुवर्त्तन करने के लिये बाध्य करता है। यही है जो बीज के अनुसार वृक्ष को उगाता है और प्रत्येक कर्म को उचित फल से युक्त करता है। मनुष्य के अज्ञान के अन्धकार में,—जो भौतिक प्रकृति के अन्धकार की अपेक्षा कम है तो भी उससे अधिक बड़ा है,—यही दिव्य संकल्प है जो शासन करता है और पथप्रदर्शन करता है, उसकी अन्धता के अभिप्राय को तथा उसकी पथभ्रष्टता के उद्देश्य को जानता है और उसके अन्दर विराट् मिथ्यात्व की जो कुटिल क्रियायें हो रही हैं उनमें से विराट् सत्य की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति को विकसित करता जाता है। भास्वर देवों में अकेला वह ही है जो बड़ी चमकके साथ प्रज्वलित होता है और जो रात्रि के अन्धकारमें भी वैसे ही पूर्ण आलोक (दर्शनशक्ति) से युक्त रहता है, जैसे कि दिन की जगमगाहटों में। अन्य देव हैं 'उषर्बुधः', उषा के साथ जागने वाले।

इसलिये वह होता (हवि देने वाला ऋत्विज) है, यज्ञ के लिये सबलतम या सबसे अधिक योग्य है, वह जो कि सर्वशक्तिमान होता हुआ सर्वदा सत्य के नियम का अनुसरण करता है। हमें स्मरण रखना चाहिये कि 'हव्य' हमेशा 'कर्म' के अर्थ को देता है तथा मन या शरीर का प्रत्येक कर्म यह समझा गया है कि वह विराट् सत्ता और विराट् इच्छा के अन्दर अपने प्रचुर ऐश्वर्य में से उत्सर्ग करना है। अग्नि, दिव्य संकल्प, वह है जो हमारे कर्मों में हमारे मानवीय संकल्प के पीछे खड़ा रहता है। जब हम सचेतन होकर हवि देते हैं तब वह सामने आ जाता है: यह वह ऋत्विज है जो सम्मुख निहित किया हुआ (पुरो-हित) है, हवि को पथप्रदर्शित करता है और इसकी फलोत्पादकता का निर्णायक होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस स्वतःपरिचालित सत्य द्वारा, इस ज्ञान द्वारा जो कि विश्व में एक निर्भ्रान्त संकल्प के रूप में कार्य कर रहा है; वह मर्त्यों के अन्दर देवों को रच देता है। अग्नि मृत्यु से परिवेष्टित शरीर के अन्दर देवत्व की संभाव्यताओं को आविर्भूत कर देता है; 'अग्नि' उन (संभाव्यताओं) को समर्थ वास्तविक रूप तथा परिपूर्ति (सिद्धि) प्राप्त करा देता है। वह हमारे अन्दर अमर देवों के जाज्वल्यमान रूपों को रच देता है। (मन्त्र १)

इस कार्यको वह इस रूप में करता है कि यह एक विराट् शक्ति है जो विद्रोह करने वाली मानवीय सामग्री पर क्रिया करती है, तब भी जब कि हम अपने अज्ञान में ग्रस्त होकर ऊर्ध्वमुखी अन्तःप्रेरणा का प्रतिरोध करते जाते हैं और, अपने कर्मों को अहंकारपूर्ण जीवन के प्रति समर्पित करने के अभ्यस्त होने के कारण, अब तक भी दिव्य समर्पण को करने के लिये तैयार नहीं होते या अभी तक कर नहीं सकते। पर अग्नि स्वयं हमारे अन्दर विरचित हो जाय 'यह उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में हम अपने अहंभाव को दमन करना सीखते हैं और यह सीखते हैं कि प्रत्येक कार्य में इस अहंभाव को विराट् सत्ता के आगे झुकने के लिये बाध्य करें और कार्य की छोटी से छोटी क्रियाओं में सचेतन हो कर इसे दिव्य संकल्प के सिद्ध करनेमें लगावें। इस प्रकार दिव्य संकल्प मानवीय मनके अन्दर उपस्थित तथा सचेतन हो जाता है और इसे दिव्य ज्ञान से आलोकित कर देता है। इसी प्रकार वह अवस्था प्राप्त की जाती है जिस पर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य ने अपने परिश्रम द्वारा महान् देवों को रचा।

संस्कृत का जो शब्द यहां प्रयुक्त हुआ है वह है 'आ कृणुध्वम्'। 'कृणुध्वम्' से पहले जो 'आ' उपसर्ग भी लगा है वह इस विचार को देता है कि बाहर की किसी वस्तु को अपने पर खींच लाना है और अपनी स्वकीय चेतना के अन्दर लाकर इसे घड़ना है या विरचित करना है। 'आ-कृ' अपने विपरीत 'आ-भू' प्रयोग के अनुरूप है; 'आ-भू' प्रयुक्त होता है उस अवस्था को बताने के लिये जब कि देव अमरता के संस्पर्श के साथ मर्त्य के पास आते हैं और, देवता के दिव्य रूप के मानवता के रूप पर पड़ने से, वे उस (मर्त्य) के अन्दर "बनते हैं", आकृति पाते हैं। विराट् शक्तियां विश्व में क्रिया करती हैं और विद्यमान रहती हैं; मनुष्य उन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अपने पर लेता है, अपनी स्वकीय चेतना में उनकी एक प्रतिमा बनाता है और उस प्रतिमा को उस जीवन तथा शक्ति से समन्वित करता है, जो जीवन और शक्ति सर्वोच्च सत्ता ने अपने निज के दिव्य रूपों के अन्दर तथा विश्व-शक्तियों के अन्दर फूंके हैं[1]।

जब इस प्रकार जैसे घर में 'घर का मालिक[2]' रहता है उस रूप में 'अग्नि' मर्त्य के अन्दर उपस्थित तथा सचेतन हो जाता है तब वह अपनी दिव्यता के वास्तविक स्वरूप में प्रकट होता है। जब हम अन्धकाराच्छन्न होते हैं और सत्य व नियम से अभिद्रोह कर रहे होते हैं तब हमारी प्रगति एक अज्ञान से दूसरे अज्ञान में ठोकरें खाती हुई प्रतीत होती है और दुःख तथा विघ्न से भरपूर होती है। सत्य के प्रति सतत समर्पणों द्वारा: **नमोभिः**, हम अपने अन्दर दिव्य संकल्प की उस प्रतिमा को रचते हैं जो इसके विपरीत शान्ति से परिपूर्ण है, क्योंकि यह निश्चित रूप में सत्य व नियम से युक्त है। आत्मा की समरूपता[3] जो कि विश्वव्यापी प्रज्ञा के प्रति समर्पण द्वारा रचित हुई है, हमें एक निरतिशय शान्ति और निर्वृति प्रदान करती है। और क्योंकि वह प्रज्ञा सत्य के सरल मार्ग में रखे गये हमारे सब कदमों की पथप्रदर्शक होती है, इसलिये इसकी सहायता से हम सब स्खलनों (दुरितानि) से पार हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, जब अग्नि हमारी मानव-सत्ता के अन्दर सचेतन हो जाता है तो उसके साथ यह भी होता है कि हमारे अन्दर जो देवोंकी रचना हो रही है वह एक वास्तविक प्रकट वस्तु बन जाती है, परदे के पीछे हो रही वस्तु नहीं रहती। हमारे अन्दर का संकल्प वृद्धिंगत होते हुवे देवत्व के प्रति सचेतन हो जाता है, इसकी रचना की पद्धति के प्रति जागृत हो जाता है; इस रचना की दिशाओं को अनुभव करने लगता है। मानवीय कर्म बुद्धिपूर्वक संचालित होता हुआ और

१. हिन्दू प्रतिमापूजा का यही वास्तविक आशय और यही वास्तविक कल्पना है, जिसमें इस प्रकार महान् वैदिक प्रतीकों को भौतिक रूप दे दिया गया है।

२. गृहपति; और 'विश्पति' भी, अर्थात् प्राणियोंमें स्वामी या राजा।

३. गीताप्रोक्त 'समता'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्व-शक्तियों के प्रति अर्पित हुआ-हुआ तब कोई यन्त्रवत् परिचालित, अनिच्छा-पूर्वक दी गयी या अपूर्ण हवि नहीं रहता है; विचारशील और निरीक्षणशील मन भी तब भाग लेने लगता है और उस यज्ञिय संकल्पका उपकरण बन जाता है। (मन्त्र२)

अग्नि सचेतन **सत्ता** की शक्ति है, जिस शक्ति को हमने 'संकल्प' के नाम से कहा है, वह संकल्प जो मन तथा शरीर के व्यापारों के पीछे क्रिया करता है। अग्नि हमारे अन्दर रहने वाला वह सबल (**मर्यः**, मजबूत, पुरुष) **देव** है जो अपने बल को सब आक्रामक शक्तियों के विरोध में लगाता है, जो जड़ता को रोकता है, जो हृदय की और शक्ति की प्रत्येक त्रुटि को दूर करता है, जो पुरुषत्व की सब न्यूनताओं को निकाल बाहर करता है। अग्नि उसे वास्तविक रूप दे देता है, सिद्ध कर देता है जो उसके बिना एक असिद्ध अभीप्सा या निष्फल विचार बना रहता। वह **योग** का कर्त्ता (साधु) है; अपनी भट्ठी पर काम करता हुआ वह दिव्य शिल्पी हथौड़े की चोटें लगा लगाकर हमारी पूर्णता को रच देता है। यहां उसे कहा गया है कि वह **परम सत्ता** का रथी बनता है। वह **परम** और **अद्भुत** जो गति करता है और अपने आप को "अन्य की चेतना के अन्दर"* परिपूर्ण करता है (यहाँ वही शब्द 'अद्भुत' प्रयुक्त हुआ है, जो कि इन्द्र और अगस्त्य के संवाद में आ चुका है), क्रिया की लगामों को पकड़ने वाली रथी रूपी इस **शक्ति** (अग्नि) से ही अपनी उस गति को सञ्चालित करता है। मित्र भी, जो कि **प्रेम** तथा **प्रकाश** का देवता है, ऐसा ही एक रथी है। क्योंकि **प्रेम**, जब प्रकाशमय हो जाता है तो वह समस्वरता को पूर्ण (सिद्ध) कर देता है जो कि दिव्य क्रिया का लक्ष्य है। पर साथ में **संकल्प** तथा **प्रकाश** के इस देवता (अग्नि) की शक्ति भी अपेक्षित है। शक्ति और **प्रेम** जब मिल जाते हैं और ये दोनों **ज्ञान** की ज्योति से आलोकित होते हैं तब जगत् में **परम देव** को पूर्ण (सिद्ध) कर देते हैं।

संकल्प सर्वप्रथम आवश्यक वस्तु है, मुख्य वास्तविक रूप देने वाली शक्ति है। इसलिये जब मर्त्यजाति सचेतन होकर महान लक्ष्य की तरफ मुंह मोड़ती है और, अपनी समृद्धता-प्राप्त शक्तियों को **द्यौ के पुत्रों** के लिये समर्पित

---

* देखो, ऋग्वेद १. १७० जिसकी व्याख्या वैदिक सूक्तसुधा के प्रथम सूक्त में (अदिति, २१ फरवरी १९४४ के अंक में) प्रकाशित हो चुकी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करती हुई, अपने अन्दर दिव्यता को रचने का यत्न करती है तब प्रथम और मुख्य अग्नि ही है जिसके प्रति वह (मर्त्य-जाति) सिद्धिदायक विचारको उत्थापित करती है, सर्जनकारी शब्द को निर्मित करती है। क्योंकि वे हैं आर्य जो इस कर्म को करते हैं तथा इस प्रयत्न को स्वीकार करते हैं,—कर्म जो सब कर्मों में बृहत्तम है, प्रयत्न जो सब प्रयत्नों में महत्तम है,—और वह (अग्नि) है वह शक्ति जो दिव्य क्रिया का आलिंगन करती है और उस क्रिया द्वारा कार्य को परिपूर्ण करती है। वह क्या आर्य है जो दिव्य सङ्कल्प से, अग्नि से रहित है, उस अग्नि (संकल्प) से जो श्रम को तथा युद्ध को स्वीकार करता है, कार्य करता और जीतता है, कष्ट सहन करता और विजय प्राप्त करता है? (मंत्र ३)

क्योंकि यह संकल्प ही है जो उन सब शक्तियोंको उच्छिन्न कर डालता है जो प्रयत्न को विनष्ट करने में लगी होती हैं, यही है जो सब दिव्य शक्तियों में सबलतम है, जिसमें परम पुरुष ने अपने आप को प्रतिरूपित किया हुआ है, इसलिये उसे चाहिये कि वह इन मनुष्य रूपी पात्रों में अपनी उपस्थिति प्रदान करे। वहां यह मन को यज्ञ के उपकरण के तौर पर प्रयुक्त करेगा और अपनी उपस्थिति-मात्र से उन अन्तःप्रेरित सिद्धिदायक शब्दों को अभिव्यक्त कर देगा 'जो कि मानो ऐसे रथ हैं जो देवों के सञ्चार के लिये रचे गये हैं, और उस विचार को जो कि चिन्तन करता है आलोकित कर देने वाली वह समझ प्रदान करेगा जोकि दिव्य शक्तियों के रूपों को इसके लिये प्रवृत्त कर देगी कि वे हमारी जागृत चेतना के अन्दर अपनी बाह्य रेखा को बना लेवें।

उसके बाद वे अन्य शक्तिशाली देव जो उच्चतर जीवन के ऐश्वर्यों को अपने साथ लाते हैं,—इन्द्र और अश्विनौ, उषा और सूर्य, वरुण और मित्र और अर्यमा,—अपने आपके उस रचनात्मक विस्तार के साथ मनुष्य के अन्दर अपने तेजस्वितम बलों को धारण कर लेवें। वे अपने ऐश्वर्य को, हमारी सत्ता के गुह्य स्थानों से बरसा कर, हमारे अन्दर रच देवें इस प्रकार कि वे (ऐश्वर्य) हमारे दिन की तरह प्रकाशमान प्रदेशों में उपयोग में लाये जा सकें और उन को प्रेरणायें दिव्यीकारक विचार को ऊपर दिव्य मन में संचालित करती जावें जब तक कि वह (विचार) अपने आप को उच्च कान्तिओं में रूपान्तरित न कर देवे। (मन्त्र ४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पांचवें मंत्रके साथ सूक्त समाप्त होता है। इस प्रकार, अन्तःप्रेरित शब्दोंमें, दिव्य संकल्प, अग्नि, गोतमों के पवित्र गानों द्वारा स्तुत किया गया है। ऋषि अपने नामको और अपने वंश के नाम को एक प्रतीक शब्दके तौर पर प्रयुक्त कर रहा है; इस में "प्रकाशमान" के अर्थ में आने वाला वैदिक 'गो' शब्द विद्यमान है, और 'गोतम' का अर्थ है "पूर्णतः प्रकाशयुक्त"। जो प्रकाशपूर्ण प्रज्ञा के प्रचुर ऐश्वर्य को धारण कर लेते हैं (गोतम बन जाते हैं) उन्हीं के द्वारा दिव्य सत्य का स्वामी (अग्नि) समग्र रूप से प्राप्त किया जा सकता है तथा इस लोक में, जो कि एक अपेक्षाकृत क्षुद्र रश्मि का लोक है, स्तुत और सुस्थित किया जा सकता है,—गोतमेभिर्ऋतावा। और जिनके मन शुद्ध हैं, निर्मल और खुले हैं, जो 'विप्र' हैं, उन्हीं में महान् जन्मों का, जात लोकों का सत्य ज्ञान उदित हो सकता है, जो (जात) लोक इस भौतिक लोकके पीछे छिपे रहते हैं और जिनमें से यह (भौतिक लोक) अपने बलों को प्राप्त करता और धारण करता है,—विप्रेभिर्जातवेदाः।

अग्नि 'जातवेदस्' है, जात को अर्थात् जन्मों, जात (उत्पन्न) लोकोंको जानने वाला है। वह पूर्णरूप से पांच लोकों[1] को जानता है और अपनी चेतना में वह इस सीमित और पराश्रित भौतिक समस्वरता तक ही सीमित नहीं है। वह तीन सब से उच्चतम अवस्थाओं[2] में, रहस्यमयी गौ[3] के ऊधस् में, चार सींगों वाले बैल[4] के विपुल ऐश्वर्य में भी प्रवेश रखता है। उस विपुल ऐश्वर्य में से वह इन 'आर्य' अन्वेषकों के अन्दर प्रकाश को पोषण प्रदान करेगा, उनकी दिव्य शक्तियों की प्रचुरता को परिवर्धित करेगा। अपने प्रकाशमय बोधों की उस परिपूर्णता और प्रचुरता के द्वारा वह विचार से विचार को, शब्द से शब्द को, जोड़ता जायगा, जब तक कि मानवीय प्रज्ञा इतनी समृद्ध और समस्वर न हो जायगी कि वह सहार सके और दिव्य विचार बन जाय। (मंत्र ५)।

---

१. वे लोक जिन में क्रमशः भौतिक तत्त्व, प्राण-शक्ति, मन, सत्य और आनन्द सारभूत शक्तियां हैं। वे क्रमसे भूः, भुवः, स्वः, महस् और 'जन या मयस्' कहे जाते हैं।

२. दिव्य सत्ता, चैतन्य, आनन्द,—सच्चिदानन्द।

३. अदिति, असीम चेतना, लोकों की माता।

४. दिव्य पुरुष, सच्चिदानन्द; तीन उच्चतम अवस्थायें और चौथा सत्य ये उसके चार सींग हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

A Tree

A tree beside the sandy river-beach
Holds up its topmost boughs
Like fingers towards the skies they cannot reach,
Earth-bound, heaven-amorous.

This is the soul of man. Body and brain
Hungry for earth our heavenly flight detain.

—Sri Aurobindo

तरु

एक तरु रेतीले सर-तीर
बढ़ाये अपने लम्बे डाल,
अंगुलियों से ऊपर की ओर
चाहता छूना गगन विशाल।

किन्तु पायेंगे क्या वे स्वर्ग
प्रणय रस जिन का भू में मूल,
विश्व सुषमाओं पर हम मुग्ध
सकेंगे कैसे इन को भूल।

सखे! यह मानव-आत्मा दिव्य
गात और मानस जिनको, शोक!
लुभाती जगती-छवि, मेरे
रहे स्वर्गिक विचार को रोक॥

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मयोगी

चतुर्थ अध्याय

भारत की जागती हुई आत्मा

ऐसी राष्ट्रीय जागृति जो अपने आपको एक ही क्षेत्र में सीमित रखती है विशेष महत्त्व की तथा स्थायी नहीं हो सकती। जब आत्मा ही जागती है तभी, वास्तव में, राष्ट्र जीवित होता है। तब जीवन अपने आपको कर्म और व्यवहार के उन विविध रूपों में प्रकट करेगा जिन में कि मनुष्य अपने अन्तःस्थित विस्तारशील आत्मा की शक्ति और आनन्द को प्रकट करने का यत्न करता है। संसार का अस्तित्व आनन्द के लिये ही है, आत्मा हर्ष के लिये ही अपने आप को जीवन की महान् और गम्भीर क्रीड़ा में लगाता है; और भगवान् स्वयं भी जिस आनन्द को अनुभव करते हैं वह आत्म-अभिव्यक्ति का आनन्द है। यही कारण है कि कोई दो आदमी एक समान नहीं हैं, कोई दो राष्ट्र भी एक जैसे नहीं हैं। प्रत्येक राष्ट्र की ही मानवजातिकी सामान्य प्रकृतिके अतिरिक्त अपनी पृथक् प्रकृति होती है। और वह केवल सामान्य मानवीय आवेगों और चेष्टाओं की पूर्ति ही नहीं चाहता, बल्कि अपने पृथक् (निजी) स्वभाव और सामर्थ्यों की सन्तुष्टि और विकास की मांग करता है। अगर उसकी वह सन्तुष्टि और विकास न हो तो वह नष्ट हो जाता है। अतः किसी राष्ट्रीय आन्दोलन के बल को दो लक्षणों से जांचा जा सकता है। अगर वह आन्दोलन अनुकरणात्मक, विदेश से आया हुआ, तथा कृत्रिम है, तो उसे चाहे कैसी भी अस्थायी सफलता क्यों न मिल जाय, राष्ट्र आत्मवन्ध्यात्व और मृत्यु की ओर जा रहा है। इसी तरह प्राचीन यूरोप के राष्ट्र भी नष्ट हो गये जब उन्होंने रोमन सभ्यता, रोमन शान्ति और रोमन समृद्धि के लिये अपने व्यक्तित्व को दाम के नाते दे डाला। दूसरी तरफ, अगर जाति का विशिष्ट निजी व्यक्तित्व आन्दोलन के प्रत्येक भाग पर अपनी छाप लगाये हुए है और प्रत्येक नये कर्म और प्रेरणा को आत्म-अभिव्यक्ति के साधन के तौर पर ग्रहण करता है तो राष्ट्र जागता है, जीता है और बढ़ता है और राजनीतिक, सामाजिक या बौद्धिक बाह्य रूपों और संस्थाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी

में चाहे कुछ भी क्रान्तियां और परिवर्तन क्यों न हों, उसका जीवित रहना और महान् बनना निश्चित है।

भारतवर्ष में १६ वीं सदी अनुकरणपरायण, आत्मविस्मृति-पूर्ण और कृत्रिम थी। उस ने भारत में यूरोप को सफलतापूर्वक दोहराने को अपना लक्ष्य बनाया। गीताके इस गम्भीर वचन को भुला दिया कि— "अपनी सत्ता (स्वभाव) का धर्म चाहे वह खराब तरह से ही पालन किया जाय, तो भी अच्छी तरह से पालन किये हुए परधर्म से अधिक अच्छा है; अपने धर्म में मर जाना अच्छा है, दूसरे की प्रकृति (स्वभाव) के धर्म का अनुकरण करना खतरनाक है।" क्योंकि अपने धर्म में हुई मृत्यु नया जन्म लाती है और दूसरे के मार्ग में प्राप्त सफलता का अभिप्राय है केवल सफलतापूर्ण आत्मघात। यदि हम अपने आपको यूरोपीय बनाने में सफल हो जाते तो हम अपने आध्यात्मिक सामर्थ्य, या बौद्धिक बल, अपनी राष्ट्रीय क्षमता और अपने पुनरुज्जीवन की शक्तिको सदाके लिये खो बैठते। ऐसी दुःखद घटना इतिहास में अनेक बार घटित हो चुकी है, अब केवल उसमें सब से अधिक खराब और शोचनीय उदाहरण एक और बढ़ जाता। अगर देश का संपूर्ण काम-काज दूसरों की देखा-देखी तथा विदेशी ढंग से चलता होता तो यह परिणाम हमारे ऊपर आ सवार होता। परन्तु राष्ट्र का प्राण बंगाल और पंजाब के धार्मिक आन्दोलनों में, महाराष्ट्र की राजनीतिक अभिकांक्षाओं में तथा बंगाल की साहित्यिक प्रवृत्ति में अब तक भी गति कर रहा था। परन्तु यहां भी यह एक गुप्त प्रगति ही था, मानो भारत की विशिष्ट प्रकृति और जीवनशक्ति, विदेशी विचारों और विदेशी रूपों के बोझ के नीचे दबी हुई आत्मरक्षा के लिये कशमकश कर रही हों, और जब इन दो शक्तियों के संघर्ष में राष्ट्रीय धर्म का पलड़ा भारी हुआ तभी भारत का उद्धार निश्चित सत्य बना। हिन्दु धर्म के अनुदार अंश— जो यद्यपि तामसिक, निष्क्रिय, अज्ञानपूर्ण और अनुत्पादक था— के प्रतिरोध ने देश को बचा लिया। वह इस प्रकार कि उसने अधिक तेज तथा पूर्ण अङ्गभङ्ग को रोक दिया, जो कि जितना नाश हुआ उस से कहीं अधिक होता, तथा राष्ट्रीय आत्मा को उदित होने और अपने आप को पहिचानने के लिये अवसर तथा समय दे दिया। पहले पहल भारत की आत्मा धर्म में ही जागी और विजयिनी हुई। संकेत तो सदा ही दीखते थे, महा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही महान् पूर्वचिह्न प्रकट होते रहे, परन्तु युद्ध तो तभी जीता गया जब कि कलकत्ता के शिक्षितशिरोमणि युवकगण एक अनपढ़ हिन्दू तपस्वीके, एक आत्मप्रकाशसे प्रकाशित, आनन्दोन्मत्त और "गुह्यदर्शी" के, जिसे विदेशी विचार या शिक्षा के लवलेश ने भी स्पर्श नहीं किया था, चरणोंपर नतमस्तक हो गये। विवेकानन्दका प्रकट होना—उस विवेकानन्द का जो अपने गुरु की दृष्टि में ऐसा वीर आत्मा था जो संसार को अपने दोनों हाथों में लेकर बदल डाले—इस बात का प्रथम प्रत्यक्ष चिह्न था कि भारत केवल जीता रहने के लिये नहीं अपितु विजय पाने के लिये सचेत है। कुछ समय बाद जब जागृति पूर्ण हो गई तब राष्ट्रीय आन्दोलन का एक प्रवाह, अपनी कल्पना में, ताजे पूर्वब्रिटिश भूत का, सब बारीकियों सहित, पुनर्निर्माण करने की ओर झुका। यह वास्तव में सम्भव न था। जड़ता, फैलने और बदलने की असमर्थता को ही हमारा दर्शन तमसूके नाम से पुकारता है, और तमस् की अधिकता उच्छेद और नाश करने वाली होती है। आक्रमण आत्मरक्षा के लिये आवश्यक है, और जब कोई शक्ति विजय करना बन्द कर देती है, तो वह जीवित नहीं रहती—वह जो स्थितिशील रहता है और केवल आत्मरक्षा का सहारा लेता है, वह जो कि अपने 'कोट' या आधार की ओर पीछे लौटता तथा उस के अन्दर रहता है, जैसे कि अब बन्द हो गया 'सन्ध्या' पत्र चित्र-प्रत्यक्ष रूप में कहा करता था, निश्चित ही हारेगा, ह्रास को प्राप्त होगा तथा अन्त में संसार की जीवित वस्तुओं से निकाल दिया जायगा। हिन्दू धर्म सदा ही सुनम्य और आक्रमणकारी रहा है; इसने शत्रु के दल पर हमला किया है, उसके सेनास्थानों पर कब्जा किया है, उसके खजानों को लूट लिया है, उस के पास जोजो भी कीमती वस्तु थी उस उसको अपना बना लिया है और अन्त में या तो उसे पूरी तरहसे अपने अधिकारमें कर लिया या फिर देशमें अधिक समय तक उसके ठहरने को निष्प्रयोजन बना कर असम्भव कर दिया। जब कभी इसने अपने बचाव के लिये खड़ा रहना स्वीकार किया है, यह और भी तंग सीमाओं में सिमट गया और तभी क्षीणता के अस्थायी चिह्न भी प्रकट हो गये।

एक बार जब राष्ट्र की आत्मा धर्म में जागृत हो उठी, तो उसके लिये राष्ट्रीय जीवन की आध्यात्मिक तथा बौद्धिक सभी प्रवृत्तियों को प्रभावित करना तथा उन पर अपना अधिकार कर लेना केवल समय और अवसर की बात थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंगभंग के बाद यूरोपवासियों के खिलाफ जो भाव उमड़ा उसने अभीष्ट अवसर दे दिया। क्रोध, बदला लेने का भाव और विद्वेष अपने आप में प्रशंसनीय भाव नहीं हैं, परन्तु ईश्वर उन्हें अपने प्रयोजनों के लिये प्रयुक्त करता है और बुराई में से भलाई पैदा करता है। उन्होंने उदासीनता और मानसिक जड़ता को निकाल फेंका और उनके स्थान पर शक्ति तथा शक्तिशाली भाव को जन्म दिया; और राष्ट्र की आत्माने उस शक्ति तथा भावको पकड़ लिया तथा उनको भविष्यके काममें लगा दिया। यूरोपवासियों के विरुद्ध द्वेषपूर्ण क्रोध, तथा उनके व्यापार, व्यवसाय और वाणिज्य-सामग्री के प्रति बदले का भाव, उनसे संबन्धित प्रत्येक चीज के प्रति अरुचि—इस सब ने एक ऐसी प्रवृत्ति की प्रबल धारा पैदा कर दी जिसने आंगलीभूत (anglicised) निकट भूतकाल से मुंह मोड़ दिया, और जो भावना हमारे धार्मिक जीवन में अपने आप को पहले से ही घोषित कर चुकी थी वह इस खुले प्रवेशद्वार से राजनीति में प्रविष्ट हुई और उसने (आंगलीभूत भूतकाल की बजाय) राष्ट्रीय भूत के लिये एक भावात्मक शक्तिशाली उत्कण्ठा को तथा एक सचमुच राष्ट्रीय भविष्य के लिये और भी अधिक जबर्दस्त तथा क्रियाशील उत्कण्ठा को स्थान दिया। भारतीय भावना ने अब तक यथार्थ रूप में हमारी राजनीति के संपूर्ण क्षेत्र को नहीं जीता है, परन्तु भाव में यह वहां विजयी होकर विद्यमान है; शेष, समय की बात है; और वह प्रत्येक घटना जो अब राजनीति में घटित हो रही है, इस भावना की सच्ची और शक्तिशालिनी अभिव्यक्ति की तैयारी में सहायता दे रही है। अब भविष्य सुनिश्चित है। राष्ट्र की आत्मा की दो अत्यन्त प्रभावकारी और जोरदार अभिव्यक्तियों, धर्म और राजनीति, का जब राष्ट्रीयकरण हो गया, तो, शेष समय पाकर हो जायगा। हमारे धार्मिक और राजनीतिक जीवन की आवश्यकतायें अब जीती-जागती और वास्तविक शक्तियां हैं और यही आवश्यकतायें ही हमारे समाज का पुनर्निर्माण करेंगी, हमारे व्यावसायिक और व्यापारिक जीवन की पुनः सृष्टि करेंगी और उसे नये सांचे में ढालेंगी और उस नयी तथा विजयशालिनी कला, विजयशाली साहित्य, पदार्थविज्ञान और दर्शन की नींव रखेंगी जो यूरोपीय नहीं बल्कि भारतीय होगा।

यह प्रवृत्ति बंगाली कला और साहित्यमें पहलेसे ही काम कर रही है। राष्ट्रीय आत्मा की राजनीति में आत्म-अभिव्यक्ति की आवश्यकता सहसा ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंगाली साहित्य को उसके तात्त्विक और नित्य आत्मा की ओर लौटा लाई और उसी ने हमारे नये राष्ट्रीय गीतों में ही अपने आप को चरितार्थ किया। भावना-प्रधान काव्य और उस काव्यके अनुरूप भावना, सरल सीधे और सुतीव्र अभिव्यञ्जन की भावना, गहरे अतिप्रबल सरलतापूर्ण भाव की भावना, स्पष्ट और उदात्त उत्साह की भावना, माधुर्य और बल से मिश्रित प्रेम और भक्ति का प्रधान स्वर, आत्मप्रकाश-युक्त हृदय से शासित सामर्थ्यपूर्ण बुद्धि, अनुभव और आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का गूढ़ उदात्तीकरण जो स्पष्ट साकारता और क्रियात्मकता के साथ अपने को प्रकट करता है—यह बंगाल की आत्मा है। हमारे सब साहित्य को समग्रतया जीवित होने के लिये इसी आधार को लेकर चलना पड़ेगा और, चाहे यह किन्हीं भी परिवर्तनों में रस क्यों न लेता रहे, इसके संपर्क को नहीं खोना होगा। बंगाल में फिर से राष्ट्रीय भावना अपने आपको कला में तृप्त करनेकी चेष्टा कर रही है और मुगलों के पतन के बाद पहली वार राष्ट्रीय कला का एक नया सम्प्रदाय अपने आप को उन्नत कर रहा है,—वह संप्रदाय जिस का कि संस्थापक और गुरु अवनीन्द्रनाथ ठाकुर है। यह अब तक भी उस विदेशीय यद्यपि एशियाई प्रभाव से अभिभूत है जिससे कि इस के गुरु ने प्रारंभ किया था, और यह देखने में कुछ विदेशीय प्रतीत होता है; परन्तु इस अस्थायी प्रभुत्व से राष्ट्रीय आत्मा का मुक्त होना और उन्नत होना अभी से दीख रहा तथा समझ में आ रहा है। वहां भी बंगाल की ही भावना अपने को प्रकट कर रही है। जो रूपरहित और सीमारहित है उस को यत्किञ्चित् रूप और सीमा में व्यक्त करने का प्रयत्न भारतीय कला का प्रयत्न है। यूनानियों ने एक अधिक छोटे और अधिक सुगमतया प्राप्तव्य उद्देश्य को लक्ष्य बनाकर पूर्णतर सफलता प्राप्त की। भौतिक रूप के लिये उनकी सहज प्रेरणा हमारी अपेक्षा महान् थी, आन्तरात्मिक आकृति और रंगके लिये हमारी सहज प्रेरणा अधिक उत्कृष्ट थी। हमारी भावी कला को पदार्थ में निहित आत्मा को व्यक्त करने की समस्या हल करनी होगी, जो कि महान् भारतीय लक्ष्य है, और साथ ही पूर्ण, भावबोधक रूप और रङ्ग की विजयशालिनी संगति भी नये सिरे से प्राप्त करनी होगी। अन्य किसी भी भारतीय में रूप के लिये इतनी प्रबल सहज प्रेरणा नहीं है जितनी कि बंगाली में। सभी भारतीय जातियों के सहजात वेदान्तवाद के साथ ही, उस में कोमलता, छवि और बल के लिये अत्यन्त दृढ़ भावना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। और ये ही गुण हैं जिनकी ओर कि कला का नवीन संप्रदाय अपने प्रथम उपक्रम में ही सहज प्रेरणा से झुका है। पुरानी भारतीय कला के अत्यल्प अवशेषों में पूर्ण नमूना पा सकने में असमर्थ होने पर यह स्वाभाविक ही था कि यह (सम्प्रदाय) सहायता के लिए जापान की ओर मुख करे, क्योंकि वहां सूक्ष्मता और छवि विजयशालिनी हैं। परन्तु पदार्थ के अन्दर के गभीरतम आत्मा को व्यक्त करने का गुप्त रहस्य जापान को विदित नहीं है, वह उसका लक्ष्य ही नहीं है। फिर बंगाली भावना का अर्थ कोमलता, छवि और शक्ति के मेल से भी अधिक है; इस में भावनाकाव्यात्मक गूढ़ प्रेरणा है; इस में स्पष्टता और साकारता के प्रति गाढ़ अनुराग है और जैसे अपने साहित्य में, वैसे अपनी कला में हम इन प्रवृत्तियों को उभरता देखते हैं—सौन्दर्य के भाव को, नामरहित माधुर्य और आध्यात्मिकता को स्पष्ट रेखा और रूप में व्यापते हुए देखते हैं। यहां भी यह राष्ट्र की स्वतन्त्र आत्मा ही है जो अपने आप को विदेशीय सीमाबन्धनों और शृंखलाओं से उन्मुक्त करने का यत्न कर रही है।

हमारे जीवन का कोई भी विभाग इस महान्, तथा संस्कार और पुनर्निर्माण करने वाली शक्ति से बचा नहीं रह सकता। इस में तनिक भी संदेह नहीं है कि हमारे समाज को ऐसे पुनर्निर्माण में से गुजरना होगा जो कि क्रान्ति की हद तक पहुंच सकता है, परन्तु यह यूरोपीयकरण के लिये नहीं होगा जैसा कि सामान्य सुधारक अज्ञानपूर्वक आशा करता है। यह होगा समाज में राष्ट्रीय आत्मा की महत्तर और पूर्णतर उपलब्धि के लिये। व्यक्तिगत स्वार्थ और पारस्परिक क्षय करने वाला संघर्ष नहीं, बल्कि प्रेम तथा एकमात्र अभेद्य जीवन में व्यक्तियों को बांध देना, यही राष्ट्रीय प्रवृत्ति है। भूतकाल में इस प्रवृत्ति ने संयुक्त कुटुम्ब में रुधिर के बन्धन के द्वारा अपने आप को पूर्ण करने का यत्न किया, ग्रामपद्धति में आंशिक समष्टिसत्तावाद के बन्धन के द्वारा, जात-पांत में जन्म के तथा समाज-गत प्रतिष्ठा के भाव के बन्धन द्वारा। भविष्य में यह प्रवृत्ति सम्भवतः अधिक पूर्ण तथा आध्यात्मिक सम्बन्धको खोज निकाले। व्यापार में भी जबतक हम यूरोपीय भावना और यूरोपीय नमूने का अर्थात् वैयक्तिक प्रतियोगितापूर्ण स्वार्थ, सम्मिलित-पूंजी-कंपनी में केवल स्वार्थका बन्धन या सहकारी पूंजीवाद की वह निकृष्टतम और सबसे अधिक खतरनाक उन्नति, घोर, अष्टपाद-सदृश विकराल आकार वाले ट्रस्ट और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवसायसंघ (Trust and Syndicate) का अनुसरण करेंगे तब तक हम स्वस्थ व्यावसायिक जीवन का पुनर्निर्माण करने में कभी भी सफल नहीं होंगे। ये बन्धन कभी भी भारतीयों को जोड़ नहीं सकते। भारत ऐसे गम्भीरतर और महत्तर जीवन की ओर जा रहा है जिस की कि संसार ने कभी कल्पना भी नहीं की। परन्तु जब वह उन विविध प्रवृत्तियों में अपने आप को व्यक्त करने के रहस्य को पा लेगा तभी उसका व्यावसायिक और सामाजिक जीवन दृढ़ और व्यापक बन सकेगा।

अब तक राष्ट्रवाद अधिकतर अपने आप को यूरोप के सांचे में ढालने की प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह ही रहा है; परन्तु प्रत्येक छोटी छोटी बात के साथ जो कि भारतीय रह चुकी है चिमटने की जो प्रवृत्ति होती है उससे भी इसे सावधान रहना होगा। भूतकाल में हिन्दूधर्म की वैसी भावना नहीं रही है, इसमें कोई वजह नहीं कि भविष्य में वैसी क्यों हो। जीवनमात्र में तीन तत्त्व हैं, नियत और स्थिर आत्मा, विकसित होता हुआ पर तो भी शाश्वत अन्तरात्मा और भंगुर परिवर्तन-शील शरीर। आत्मा को हम बदल नहीं सकते, उसे केवल आच्छादित कर सकते या खो सकते हैं। अवश्य ही, अन्तरात्मा में बिना विचारे दखल नहीं देना चाहिये, न ही तो इसे इससे विजातीय आकार में जकड़ना चाहिये, और न ही इसे अपने स्वतन्त्र विस्तरण में बाधा पहुंचानी चाहिये; और शरीर को साधन के तौर पर ही प्रयुक्त करना चाहिये, इस का लालन-पालन करने में इस तरह अति नहीं करनी चाहिये कि मानो यह कोई अपने लिये ही बहुमूल्य वस्तु हो। हम परिवर्तन के पक्षपाती किसी अन्धे प्रेम पर अपने किसी प्राचीन रूप की बलि नहीं दे देंगे, और न हम किसी ऐसे रूप को कायम ही रखेंगे जिसे राष्ट्रीय भावना किसी दूसरे रूप से बदल देना चाहती है जो कि राष्ट्र की अमर आत्मा की और भी अधिक अच्छी तथा अधिक सच्ची अभिव्यक्ति हो सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक शिष्य के प्रति पत्र

निःसंदेह भगवान् को पाना ही आध्यात्मिक सत्य को तथा आध्यात्मिक जीवन की खोज का सर्वप्रथम उद्देश्य है; भगवान् ही एकमात्र अनिवार्य लक्ष्य है, शेष सब कुछ इसके बिना कुछ नहीं। भगवान् जब मिल जांय, तो फिर उनको अभिव्यक्त करना,—अर्थात्, सब से पहले अपनी सीमित चेतना का भागवत चेतना में रूपान्तर करना, अनन्त शान्ति, प्रकाश, प्रेम, शक्ति, आनन्द में निवास करना, अपनी तात्त्विक प्रकृति में वही बन जाना और, परिणामस्वरूप, अपनी सक्रिय प्रकृति में उस का पात्र, प्रणालिका, यन्त्र होना। एकता के तत्त्व को जड़-प्राकृतिक स्तर पर क्रियान्वित करना या मानवजाति के लिये काम करना सत्य का मानसिक मिथ्या परिवर्तन है—ये चीजें आध्यात्मिक अन्वेषण का प्रथम या सच्चा उद्देश्य नहीं हो सकतीं। हमें आत्मा को, भगवान् को अवश्य पाना है, केवल तभी हम जान सकते हैं कि वह कौन सा काम है जिसे आत्मा या भगवान् हमसे चाहते हैं। जब तक ऐसा न हो तब तक हमारा जीवन और कार्य भगवान् को पाने के लिये सहायक तथा साधनमात्र ही होना चाहिये। तब तक उस का कोई दूसरा प्रयोजन नहीं हो सकता। ज्यों-ज्यों हम आंतरिक चेतनामें बढ़ते जायंगे, या ज्यों-ज्यों भगवान् का आध्यात्मिक सत्य हममें बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों हमारा जीवन और कार्य निःसन्देह अधिकाधिक उस से प्रवाहित होने लगेगा, उस के साथ एक होता चला जायगा। परन्तु अपनी सीमित मानसिक धारणाओं द्वारा पहले से ही यह निश्चित करना कि वे (जीवन और कार्य) क्या होने चाहियें, अन्तःस्थित आध्यात्मिक सत्य की वृद्धि को रोकना है। ज्यों-ज्यों वह (सत्य) बढ़ेगा त्यों-त्यों हम भागवत प्रकाश और सत्य को, भागवत शक्ति और तपस् को, भागवत पवित्रता और शान्ति को अपने अन्दर काम करते हुए, हमारे कार्यों और हमारी चेतना के साथ बरतते हुए, उन का (कार्यों और चेतना का) प्रयोग, हमें भगवान् की प्रतिमाके अनुरूप ढालने के लिये, करते हुए, मलिनताओं को दूर करते हुए और उनके स्थान पर आत्मा के शुद्ध स्वर्ण को स्थापित करते हुए, अनुभव करेंगे। केवल तभी जब कि भागवत उपस्थिति हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सदा विद्यमान रहने लगे और चेतना रूपान्तरित हो जाय, हमें यह कहने का अधिकार हो सकता है कि हम भगवान् को जड़-प्राकृतिक स्तर पर अभिव्यक्त करने के लिये तैयार हैं। किसी मानसिक आदर्श या सिद्धान्त को मान लेने और उसें आन्तरिक क्रिया पर बलात् लागू करने में अपने आपको मानसिक उपलब्धि तक सीमित रखने का खतरा पैदा होता है, अथवा उस से भगवान् के साथ पूर्ण मिलन और एकता में (सम्पन्न होने वाले) हमारे वास्तविक विकास को और हमारे जीवन में भगवान् की इच्छाके स्वतन्त्र आभ्यन्तरिक प्रवाहको रोकने का खतरा पैदा होता है या किसी अधबीच की रचनाको मान लेने से उसे (मिलन और प्रवाहको) मिथ्या बनाने तक का खतरा पैदा होता है। यह एक दृष्टिकोण की भूल है जिस में आधुनिक मनुष्य सहज प्रवृत्त हो जाता है। यह अधिक अच्छा है कि हम शान्ति या प्रकाश या आनन्दके लिये, जो भगवानके साक्षात्कार के परिणाम-स्वरूप प्राप्त हो जाते हैं, भगवान्के पास पहुंचें, अपेक्षा इसके कि हम इन गौण बातोंको (मानसिक आदर्श व सिद्धान्तको) बीच में ले आवें जो कि हमें एकमात्र आवश्यकीय ध्येयसे विमुख करदें। स्थूल-भौतिक जीवनका भी उतनी अच्छी तरहसे दिव्यीकरण जितना कि आन्तरिक जीवन का—यह उस योजना का अंग है जिसे कि हम दिव्य योजना करके देखते हैं, परन्तु यह केवल आन्तरिक साक्षात्कार के बाहर प्रवाहित होने से, किसी ऐसी वस्तु से जो अन्दर से बाहर को विकसित होती है, पूरा किया जा सकता है, न कि मानसिक सिद्धान्त को क्रियान्वित करने से।

* * *

तुम ने पूछा है कि मानसिक प्रयत्न को सजीव आध्यात्मिक अनुभव में बदलने के लिये किस अभ्यासक्रम का अनुसरण किया जाय। पहली आवश्यकता है अपनी चेतनाको अपने अन्दर एकाग्र करने लगना। साधारण मानव मनकी क्रिया उपरितल पर होती है जो कि आत्मा को आवृत कर देती है। परन्तु ऊपरी चेतना के पीछे, अन्दर एक दूसरी छिपी हुई चेतना है जिस में हम वास्तविक अहं-तत्त्व से और प्रकृति के विस्तीर्णतर गम्भीरतर सत्य से सचेतन हो सकते हैं, जहां हम आत्मा का साक्षात्कार कर सकते और प्रकृति को मुक्त तथा रूपान्तरित कर सकते हैं। ऊपरी मन को अचंचल करना और अन्दर रहना शुरू करना इस एकाग्रता का उद्देश्य है। इस सच्ची चेतना के, जो उपरितल की चेतना से भिन्न है, दो मुख्य केन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, एक हृदय में (भौतिक हृदय में नहीं, परन्तु छाती के मध्य में हृच्चक्र में), और एक सिर में। हृदय में की गई एकाग्रता अन्दर की ओर खोल देती है और इस अन्तर्मुख उद्‌घाटनका अनुसरण करने और गहरा जानेसे मनुष्य आत्मा या हृत्पुरुष, व्यष्टिमें विद्यमान दिव्य तत्त्व, का अनुभव प्राप्त करता है। यह हृत्पुरुष अनावृत हो कर सामने आना, प्रकृति पर शासन करना, उसे और उस की सब गतियों को सत्य की ओर, भगवान की ओर मोड़ देना, और जो कुछ ऊपर है उस सब को नीचे प्रकृति के अन्दर आवाहन करना शुरू करता है। यह परम-उपस्थिति की चेतना को, उच्चतम के प्रति आत्मोत्सर्ग को पैदा करता है और हमारी प्रकृति में उस बृहत्तर शक्ति तथा चेतना के अवतरण को निमन्त्रित करता है जो हमारी उच्चतर स्तर से प्रतीक्षा कर रही है। भगवान के प्रति आत्मसमर्पण के लिए और इस अन्तर्मुख उद्‌घाटन और हृदय में उपस्थिति के लिये अभीप्सा करने के साथ हृदय-केन्द्र में एकाग्रता करना सर्वप्रथम उपाय है और अगर यह किया जा सके तो यह स्वाभाविक आरंभ होगा, क्योंकि इसके सफल हो जाने पर आध्यात्मिक मार्ग अत्यधिक सुगम और सुरक्षित हो जाता है, किसी दूसरे तरीके से शुरू करने पर ऐसा नहीं होता।

वह दूसरा तरीका है सिर में, मानसिक केन्द्र में, एकाग्रता। अगर यह ऊपरी मन (surface mind) की निश्चलनीरवताको संपादित कर दे तो यह अन्दर आन्तरिक, विस्तीर्णतर, गभीरतर मन को खोल देता है जो आध्यात्मिक अनुभव और आध्यात्मिक ज्ञान को ग्रहण करने के अधिक योग्य है। परन्तु एक बार यहां एकाग्र हो जाने पर साधक को निश्चलनीरव मानसिक चेतना को ऊपर की ओर, उस सब के प्रति जो कि मन से ऊंचा है, खोलना चाहिये। कुछ काल के बाद वह चेतना को ऊपर उठती हुई अनुभव करता है और अन्त में यह उस आवरण से परे उठ जाती है जिसने इसे इतने दीर्घ काल तक शरीर में बांधे रखा था। अन्त में वह सिर से ऊपरके केन्द्र को प्राप्त करती है जहां कि यह अनन्त में मुक्त हो जाती है। वहां यह विश्वव्यापी आत्मा, भागवत शान्ति, प्रकाश, शक्ति, ज्ञान, आनन्दके संस्पर्श में आना, उसमें प्रवेश करना और वही बन जाना, प्रकृतिमें इन तत्त्वोंके अवतरण को अनुभव करना आरंभ करती है। मनमें शान्ति पानेके लिये और, ऊर्ध्व दिशामें आत्मा और भगवान का साक्षात्कार करने के लिये अभीप्सा करते हुए सिर में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकाग्रता करना ध्यान का दूसरा तरीका है। तथापि, यह स्मरण रखना आवश्यक है कि चेतना को सिर में एकाग्र करना उपरिस्थित केन्द्रमें उसके पहुंचने की तैयारी मात्र है; अन्यथा कोई भी अपने मन और उस के अनुभवों में बन्द रह सकता है; या आध्यात्मिक परात्परतामें निवास करनेके लिये वहाँ तक पहुंचनेकी बजाय, अधिकसे अधिक, उपरिस्थित सत्य की छाया को ही पा कर रुक सकता है। कइयों के लिये मानसिक एकाग्रता अधिक सुगम होती है, दूसरों के लिये हृदय-केन्द्र में एकाग्रता; कुछ साधक दोनों को ही बदल बदल कर करने में समर्थ होते हैं—किन्तु अगर कोई कर सके तो हृदय-केन्द्र से प्रारम्भ करना अधिक वाञ्छनीय है।

अभ्यासक्रम का दूसरा पहलू प्रकृति की—मन की, जीवन-आत्मा या प्राण की, भौतिक सत्ता की—क्रियाओं से सम्बन्ध रखता है। यहां सिद्धान्त यह है कि प्रकृति को आन्तरिक उपलब्धि के साथ समस्वर किया जाय ताकि व्यक्ति दो विषम भागों में विभक्त न हो जाय। इस के लिये नाना प्रकारके अभ्यासक्रम या प्रक्रियायें सम्भव हैं। उनमें सें एक है सब क्रियाओं को भगवान् के अर्पण कर देना और आन्तरिक पथप्रदर्शन तथा उच्चतर शक्ति द्वारा अपनी प्रकृति के अधिकृत किये जाने के लिये आवाहन। अगर अन्तर्मुख आत्मोद्घाटन हो चुका है, अगर हृत्पुरुष आगे आ जाता है, तब तो कोई बड़ी कठिनाई नहीं रह जाती—उस के साथ ही चैत्य का विवेक प्राप्त हो जाता है, सतत आन्तरिक प्रेरणा प्राप्त हो जाती है और अन्त में आत्मानुशासन भी जो कि सब त्रुटियों को प्रकट कर उन्हें सहज भाव से धैर्यपूर्वक दूर कर देता है, सत्य मानसिक और प्राणिक गतियों को जन्म देता और भौतिक चेतना को भी फिर से ढालता है। दूसरा तरीका यह है कि हम मन, प्राण, शरीर की चेष्टाओं से जुदा होकर पीछे स्थित हो जांय, उनकी क्रियाओं को व्यष्टि में सामान्य प्रकृति की अभ्यस्त रचना-मात्र के रूप में समझें जो रचना कि हम पर अतीत की क्रियाओं के कारण लादी गई है। उसे अपनी वास्तविक सत्ता का एक भाग न समझें। जितना ही कोई इसमें सफल होता है, जुदा हो जाता है, मन और उसकी क्रियाओं को, प्राण और उसकी क्रियाओं को, शरीर और उस की क्रियाओं को इस प्रकार देखता है कि यह मैं नहीं हूँ, उतना ही वह हमारे भीतर विद्यमान उस आन्तर सत्ता (आन्तर मन, आन्तर प्राण, आन्तर शरीर) से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सचेतन हो जाता है जो कि निश्चलनीरव, स्थिर, बन्धनरहित, अनासक्त है और ऊपर स्थित वास्तविक आत्मा को प्रतिबिम्बित करती और उस की साक्षात् प्रतिनिधि हो सकती है। इस आन्तरिक निश्चल-नीरव सत्तासे उद्भूत होता है उस सब का निराकरण जो कि निराकरण के योग्य है, और केवल उसी का स्वीकरण होता है जो कि रखा जा सकता और रूपान्तरित किया जा सकता है। उसी सत्ता से उद्भूत होता है पूर्णता के लिये आन्तरतम संकल्प या भागवत शक्ति का आवाहन कि वह प्रत्येक पद पर प्रकृति के परिवर्तन के लिये जो कुछ आवश्यक है उसे करे। वही सत्ता मन, प्राण और शरीर को आन्तरतम चैत्य सत्ता और उसके पथप्रदर्शक प्रभाव और प्रेरणा के प्रति भी व्यक्तिको खोल सकती है। अनेक दृष्टान्तों में ये दोनों तरीके प्रकट होते और इकट्ठे काम करते और अन्त में घुलमिल कर एक हो जाते हैं। परन्तु कोई किसी एक से भी—उस एक से जिसका अनुसरण करना उसे अत्यन्त स्वाभाविक और सुगम लगता है—आरम्भ कर सकता है।

अन्त में, सब कठिनाइयों में जहाँ कि वैयक्तिक प्रयत्न रुक सा जाता है, गुरु की सहायता दखल दे कर साक्षात्कार के लिये या तत्क्षण के आवश्यक अगले कदम के लिये जो कुछ अपेक्षित है वह कर सकती है।

——:◆:——

वहां, हृदय की गभीर शान्ति में एक अग्नि जल रही है। यही है तुम्हारे अन्तर में रहने वाले भगवान् का दिव्य अंश—तुम्हारी सत्य सत्ता (हृत्पुरुष)। इस की ध्वनि को सुनो और इस के आदेश का पालन करो।

एकाग्रता के लिये दूसरे केन्द्र भी हैं, उदाहरणार्थ, एक केन्द्र मस्तिष्क के ऊपर है (सहस्रार), दूसरा भ्रूमध्यमें है (आज्ञा)। इनमें से हरेकका अपना प्रभाव है और ये सभी तुम्हें एक विशिष्ट लाभ पहुंचावेंगे। परन्तु हृत्पुरुष का स्थान हृदय है और हृदय से ही समस्त कैन्द्रिक प्रवृत्तियां निकलती हैं—यहीं से रूपांतर के लिये समस्त गतिशीलता और अनुरोध और आत्मदर्शन करने की शक्ति प्रसूत होती है।

——:*:——

—'मातृवाणी' से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Life and Death

Life, death,—death, life; the words have led for ages
Our thought and consciousness and firmly seemed
Two opposites; but now long-hidden pages
Are opened, liberating truths undreamed.
Life only is, or death is life disguised,—
Life a short death until by life we are surprised.

—Sri Aurobindo

हयातो मौत

मौतो हयात—हयात मौत
मुद्दतों लफ़्ज़ यही थे याद,
रहबरे दिल दिमाग़ थे
दिखते थे सख़्त मुत्तज़ाद[1]।
अर्से के बन्द वर्क़[2] खुले
कर दिये सारे राज़[3]-फ़ाश,
ख़्वाबो ख़याल तक न था
उनका जो करते हम तलाश।
जिन्दगी ही तो है फ़क़त
परदये मौत में हयात,
चौंके न जबतलक कि (हम)—
वाक़ई मौत है हयात॥

—'सुभान' हैदराबादी (दक्खन)

१—परस्परविरोधी २—पन्ने ३—भेद खोल दिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

हठ-योग

प्रकृति की प्रतिष्ठाभूमि है अन्नमय और प्राणमय कोष, जिसे सीधी-सादी भाषा में देह और प्राण कहते हैं। इसी को परिशुद्ध और वशीभूत करना हठयोग का लक्ष्य है। सामान्य जीवन में मनुष्य की देह और प्राण का गठन उसी सामान्य जीवन की आवश्यकता के अनुसार हुआ है। प्रकृति के विराट् भण्डार की केवल एक क्षुद्र, क्षीण धाराके ऊपर ही हमारे ये शरीर और प्राण आश्रित हैं। वंशानुक्रम की धारा और पारिपार्श्विक अवस्था की धारा—इन दोनों के द्वारा हमारे शरीर और प्राण की प्रकृति नियन्त्रित होती है। शरीर के केवल उसी-उसी अंग का उतनासा-ही संचालन हुआ करता है, प्राण में केवल उतनी ही मात्रा में शक्ति का कार्य होता है, जितना नित्य-नैमित्तिक कर्मजीवन के लिये आवश्यक और पर्याप्त होता है, उस से अधिक कुछ भी नहीं। प्रकृति ने साधारण मनुष्य के शरीर और प्राण में जिस धर्म, जिस सामंजस्य का विधान किया है, उसको अतिक्रम करके हठयोग एक और बृहत्तर धर्म, एक और पूर्णतर सामंजस्य स्थापित करना चाहता है। शरीर सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, जरा-व्याधि-मृत्यु का दास है, वह अपने चिर-अभ्यासगत कर्मों में बँधा हुआ है, प्राण में उतना ही वेग है जितने वेग के जोर से शरीर अपनी आयु के प्रायः सौ वर्ष पूरे कर सके। हठयोगी प्राण के अन्दर एक ऐसा झरना खोल देना चाहते हैं जिसकी सहायता से प्रकृति की सनातन अक्षय प्राण-शक्ति उसके अन्दर विपुल स्रोत में बहती हुई आ सके, शरीर के सब क्षुद्र बन्धन, सारे खण्डित संस्कार उस धारा में बह जाँय। हठयोगी शरीर और प्राण को केवल साधारण जीवन के ही उपयुक्त नहीं रखना चाहते। वे चाहते हैं कि शरीर स्वस्थ अवस्था में अनिश्चित काल तक विद्यमान रहे, प्रकृति की अनन्त जीवनी-शक्ति को धारण करने का सामर्थ्य उस में बना रहे।

इस उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये हठयोगी दो उपाय काममें लाते हैं—आसन और प्राणायाम। आसनके द्वारा शरीर को अचंचल, स्थिर होने की शिक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी जाती है। साधारण तौरपर शरीर बिल्कुल अस्थिर होता है, कुछ-न-कुछ किये बिना उससे रहा नहीं जाता। इसका कारण यह है कि प्रकृतिकी प्राणशक्ति के विराट् समुद्रसे जो स्रोत शरीरके अन्दर सर्वदा आया करता है, उसे सर्वथा धारण करनेमें शरीर असमर्थ होता है; इससे शरीरमें नाना प्रकार से अंग-संचालन होता रहता है और वह स्रोत शरीर से बाहर निकल जाता है, हमें नाना प्रकारके कर्मोंके द्वारा इस अतिरिक्त शक्ति का क्षय करना पड़ता है। शरीरको शान्त, निःस्पन्द करने का अर्थ है इस प्राणशक्तिको सर्वथा अपने अन्दर धारण करना। यदि हम इस प्रकार शरीरके अन्दर प्राणशक्ति को जमा कर सकें तो उससे शरीर सबल, स्वस्थ और सुन्दर हो जायगा। इसके बाद हठयोगी नाना प्रकारकी जटिल प्रक्रियाओं के द्वारा शरीरमेंसे सब मल दूर करते हैं और सब नाड़ियों को शुद्ध करते हैं। नाड़ी-शुद्धि का उद्देश्य श्वास-प्रश्वास की क्रिया को अबाध गति प्रदान करना है। इस श्वास-प्रश्वास को लेकर जो प्रक्रिया की जाती है उसी का नाम प्राणायाम है। प्राणायाम का अर्थ है प्राणशक्ति को, प्राणवायु को संयत करना, अपने वशमें करना। और श्वास-प्रश्वास ही प्राणशक्ति की प्रधान स्थूल क्रिया है। प्राणायाम के दो उद्देश्य हैं। पहला उद्देश्य है, आसन के द्वारा जो कायासिद्धि होती है उसको पूर्ण से पूर्णतर करना। प्राणायाम के फलस्वरूप शरीर में प्राणशक्ति मुक्त भाव से संचार कर सकती है और उस शक्ति का वेग भी बहुत अधिक बढ़ जाता है। साधारणतः शरीर जिन नियमों का दास होता है उन सब को वह शक्ति अतिक्रम कर जाती है। प्राणशक्ति को अपने वश में करके शरीर के द्वारा नाना प्रकार के अद्भुत कार्य किये जा सकते हैं—यह बात हठयोगशास्त्र में सदा से स्वतःसिद्ध मानी गई है। प्राणायाम से शरीर स्वास्थ्य, शक्ति और सौंदर्य से भर जाता है और हठयोगियोंका यह विश्वास है कि बहुत समय तक—और तो क्या, अनिर्दिष्ट कालतक—वे जीवन धारण किये रह सकते हैं। प्राणायाम का दूसरा फल यह है कि वह सुप्त कुण्डलिनी-शक्ति को जगाकर साधक के अन्दर ऐसी नाना प्रकार की नयी-नयी क्रियायें और वृत्तियां प्रकट कर देता है जो साधारण मनुष्य के लिए अलभ्य और अपरिचित हैं। इससे साधक के अन्दर सृष्टि के अदृश्य स्तर, अकल्पित जगत्, अद्भुत दृष्टि और अद्भुत शक्ति प्रकट हो जाती है। केवल इतना ही नहीं, मनुष्य की सब साधारण वृत्तियों का भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्फुरण होता है, वे भी विपुल शक्ति को धारण कर कार्यवती होती हैं। इन सब ऐश्वर्यों की सिद्धि के लिये हठयोगी और भी नाना प्रकार की गौण प्रक्रियाओं का अवलम्बन करते हैं।

हठयोगका क्या फल है; यह तो हम देख चुके। साधारण मनुष्य इन सबके प्रति सहज ही आकृष्ट होगा, इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं। परन्तु प्रश्न यह है कि आखिर इन सब बातोंकी सार्थकता क्या है ? मान लिया कि शरीर अक्षय हो गया, असाधारण शक्तिका आधार बन गया, पर क्या केवल इतनेसे ही मनुष्य संतुष्ट हो सकता है ? मैत्रेयीके सुप्रसिद्ध शब्दोंमें केवल धनसम्पत्ति एकत्र करनेसे क्या लाभ—येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् ? अर्थात् जिस चीज से मैं अमर न हो जाऊँ उस से मेरा क्या काम ?

हठयोग की यही सबसे बड़ी कमी है। वह भगवानको, अमृतको सहज ही भुला देता है। योगकी जो मुख्य बात है भगवान्में मुक्त, सिद्ध होना, उसका ध्यान हठयोगियोंको नहीं रह पाता, वे ऐश्वर्यके मोहमें पड़ जाते हैं। यही कारण है जो प्रायः सभी सच्चे योगियों में ऐश्वर्यकी ओरसे, 'सिद्धपने' की ओरसे एक प्रकार का संकोच अथवा भय देख पड़ता है। वे लोग कहा करते हैं कि ये सब तो भूत-प्रेतोंके खेल हैं या मार्गके प्रलोभन हैं, इन सबसे जितना दूर रहा जाय उतना ही अच्छा है। किसी साधकमें यदि इस प्रकारका कोई ऐश्वर्य आ जाय तो वे लोग उसे दूर फेंक देनेका ही उपदेश करते हैं। परन्तु यह भी एक अति ही है। हम तो ऐश्वर्य भी चाहते हैं, पर वह होगा भगवान का ऐश्वर्य। ऐसी बात तो नहीं है कि भगवत्-उपलब्धि और ऐश्वर्य साथ-साथ न रह सकते हों। हठयोगियोंकी यही भूल है कि वे शक्ति के स्वामी भगवान् को भूलकर कृपणकी तरह शक्तिको अपने लिये अपने अन्दर छिपाकर रखते हैं। हम जिस पूर्णयोगकी बात कहते हैं वह जगत् के लिये, मनुष्यजातिके लिये है। हमारे योगका फल विश्वके कल्याण के लिये, जगत-कर्ममें नियोजित होगा। अन्यान्य योगियोंकी तरह हम ऐश्वर्यका त्याग करना नहीं चाहते, पर हठयोगियोंकी तरह उसीको सर्वस्व भी नहीं मानना चाहते। इसके अतिरिक्त हमारे योगका लक्ष्य है पूर्ण रूपसे जगत् के साथ सब प्रकारके जागृत सम्बन्ध बनाये रखना। परन्तु हठयोगी जिन बड़ी-बड़ी महाजटिल प्रक्रियाओं में निमग्न रहते हैं वे उनकी सारी शक्ति और समय को ले लेती हैं—उन्हें बाध्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होकर संसारके साथ अपना सारा सम्पर्क विच्छिन्न कर डालना पड़ता है। और फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि हठयोगी कठोर कृच्छ्र साधना करके जो फल प्राप्त करते हैं वे केवल हठयोग के द्वारा ही प्राप्त होते हों, ऐसी बात नहीं है। राजयोग के द्वारा, तांत्रिक साधना के द्वारा उन सब फलों को हम बड़ी आसानीसे प्राप्त कर सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हठयोगसे बहुत लाभ हैं, परन्तु इनके लिये जो मूल्य देना पड़ता है, वह बिलकुल बेहिसाब है। उसी मूल्यमें हम उन सब लाभों के साथ-साथ और भी महत्तर वस्तुओं को पा सकते हैं।

—नलिनीकान्त

हठयोग एक शक्तिशाली, किन्तु कठिन और भारी पद्धति है जिसके कार्य का सारा सिद्धान्त शरीर और आत्मा के बीच विद्यमान घनिष्ठ संबन्ध पर आधार रखता है। शरीर कुञ्जी है, शरीर बन्धन का और मोक्ष का, पाशविक दुर्बलता का और दिव्य शक्ति का, मन और आत्मा के अन्धकारमय होने का और उन के प्रकाशमय होने का, दुःख और पराधीनता का और आत्म-विजय का; मृत्यु का और अमरता का—दोनों का रहस्य है।

* * *

सारांश यह कि राजयोग और हठयोग के तरीके समय समय पर (साधना की कतिपय अवस्थाओं में) पूर्णयोग के लिए उपयोगी हो सकते हैं, किन्तु अनिवार्य नहीं हैं। यह तो सच है कि योगविद्या की पूर्णताकी दृष्टि से उन के उद्देश्य और फल ग्राह्य होने चाहियें, परन्तु वे अन्य साधनों से भी संपादित किये जा सकते हैं। क्योंकि पूर्णयोग की विधियां मुख्यतया आध्यात्मिक होनी चाहियें, और भौतिक तरीकों या नियत मानसिक या मानस-भौतिक प्रक्रियाओं पर बड़े परिमाणमें आश्रित होना उच्चतर क्रिया का स्थान निम्नतर क्रिया को दे देना होगा।

— श्रीअरविन्दके 'योग-समन्वय (The Synthesis of Yoga)' से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द का 'व्यक्ति-स्वरूप'

अगर हम एक साधारण मनुष्य के विषय में भी विचार करना चाहें तो भी यह 'व्यक्ति-स्वरूप' शब्द हमें धोखा दिये बिना नहीं रहता अर्थात् इसे ठीक-ठीक समझना कठिन हो जाता है; और जब हम इस का व्यवहार श्रीअरविन्द के लिए करते हैं तब तो हमारे सामने एक ऐसी महान् समस्या आ उपस्थित होती है जिस के सामने हमारी आंखें ही चौंधिया जाती हैं। भला श्रीअरविन्द जैसे एक अद्वितीय आध्यात्मिक पुरुष के 'व्यक्तित्व' के विषय में कोई क्या जान सकता है? जब हम उन के स्थूल शरीर की ओर देखते हैं तब तो वह ठीक हमारे ही जैसे, एक साधारण मनुष्य जैसे ही दिखाई देते हैं; परन्तु उनके बाह्य रूप के पीछे जो सद्वस्तु वर्तमान है उसे जानने का जब हम प्रयास करते हैं तब हमें एकदम निराश ही होना पड़ता है।

कोई चाहे तो उनके छपे हुए जीवन-चरित्रों और संक्षिप्त परिचयों को पढ़ ले, कोई चाहे तो उनके चित्रके ऊपर दृष्टि एकाग्र कर आनन्दमग्न हो ले; कोई चाहे तो 'अहन् (Ahana)' आदि उन की कविताओं की रसपूर्ण छन्दधारा में अवगाहन कर ले, कोई चाहे तो उनके 'दिव्य जीवन' (The Life Divine) नामक विराट् ग्रन्थ का अध्ययन कर एक प्रकार के दुःसाध्य आनन्दातिरेक को पाने और उनकी बौद्धिक उड़ानें को भी बहुत कुछ नापने का साहस कर ले; कोई चाहे तो यह सब कुछ यथेष्ट रूप में कर ले; परन्तु फिर भी वह उनके 'व्यक्तित्व' के ज्योतिर्मय रहस्य का बिल्कुल ही पता नहीं पा सकेगा।

अच्छा, इस बात को ज्यों का त्यों स्वीकार करते हुए हम केवल इतना कह सकते हैं कि श्रीअरविन्द एक योगी हैं, एक ऋषि हैं जिन का वास्तविक जीवन "ऊपरी सतह पर नहीं रहा है जिसे मनुष्य देख सके;" उन की यौगिक शक्ति कभी इस दिशा में तो कभी उस दिशा में, कभी इस रूप में तो कभी उस रूप में, अपने-आप को अभिव्यक्त करती रही है और बराबर ही भगवान् की 'योगः कर्मसु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौशलम्' वाणी को अक्षरशः सत्य सिद्ध करती रही है; और इस तरह हमें श्रीअरविन्द के अनेक व्यक्तित्वों—कवि, अध्यापक, देशभक्त, दार्शनिक, आचार्य, सदासहाय मित्र—के साथ एक हद तक, अपूर्ण रूप में ही सही, घनिष्ठता स्थापित करने का सुयोग मिल जाता है।

परन्तु वास्तव में यदि देखा जाय तो ये सब व्यक्तित्व पूर्ण सत्य से बहुत ही कम हैं, क्योंकि श्रीअरविन्द इस संसाररूपी नाट्यशाला में जिन जिन रूपों में हमारे सामने आये हैं वह उन सब से कहीं अधिक हैं। भला एक महान् योगी की आध्यात्मिकता की, उन के महत्तम और श्रेष्ठतम व्यक्तित्व की गभीरता को हमारी तुच्छ बुद्धि का गज़ कैसे नाप सकता है? परन्तु जो हो, हम तो केवल अपने भ्रमात्मक और अपरिपक्व मानसिक जगतों में ही कार्य करने के लिये बाध्य हैं और इस कारण श्रीअरविन्द के प्रकाशित ग्रन्थों, उन के भाषणों और वाणियों, उनके सर्वविदित कार्यों और साधकों को लिखे हुए कुछ प्राप्य पत्रों के द्वारा हमें जो कुछ आंशिक परिचय प्राप्त हो सकेगा उसी से संतोष करना होगा और उसी के लिये कृतज्ञ होना होगा।

(२)

अगर हम अपनी दृष्टि को पीछे की ओर—अत्यन्त पीछे की ओर—३०, ४० या ५० वर्ष पीछे की ओर ले जाँय और उस सुदूर भूतकाल के श्रीयुत अरविन्द घोष के विभिन्न विशिष्ट स्वरूपों के ऊपर—उन स्वप्नद्रष्टा, आदर्शवादी, कवि; विद्वान्, समालोचक, अध्यापक; अक्लान्त लेखक, निर्भीक वक्ता और पुनः-जागरित राष्ट्रीयता के ज्वलन्त अग्रदूत के ऊपर अपनी उत्सुक आंखों को एकाग्र करने की चेष्टा करें तो संभवतः इस से हमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। साथ ही हम आसानी से उन के कुछ भाग्यशाली समकालीन पुरुषों के मतों का संग्रह कर उन के व्यक्तित्व की एक रूपरेखा तैयार करने की चेष्टा कर सकते हैं।

यह तो सभी लोग जानते हैं कि श्रीअरविन्द ने इंगलैण्ड में इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा पास की, मगर घुड़सवारी की परीक्षा में वह सम्मिलित नहीं हुए। मगर क्यों सम्मिलित नहीं हुए? क्या उन के भीतर कोई ऐसी चीज़ थी जो उसी समय जान-बूझ कर उन के भावी जीवन की धारा को एक विशेष दिशा में ले जाने का निश्चय कर चुकी थी?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ौदा के गायकवाड़ महाराज की नौकरी में पहले सेटलमेंट, फिर रेवेन्यु डिपार्टमेन्ट में, फिर कालेज में एक प्रोफेसर या वाइस-प्रिंसिपल के रूप में कार्य करते हुए श्रीअरविन्द ने एक तरह से अपना निजी जीवन ही यापन किया; वह प्रायः अपने व्यक्तिगत विचारों में ही डूबे रहे, अपने व्यक्तिगत स्वप्नों में ही मग्न रहे। उनका जीवन बड़ा ही सीधा-सादा था; उनके चारों ओर एक विलक्षण शान्ति विराजमान थी। मगर फिर भी उस शान्त अवस्था में भी उनके अन्दर आदर्शवाद की अग्नि सदा-सर्वदा कितनी प्रचण्ड रूप में प्रज्वलित हो रही थी! कितने ठीक समय पर उन्होंने अपने आध्यात्मिक स्वरूप को प्राप्त कर भारतमाता का दिव्य दर्शन प्राप्त किया। भारत को उन्होंने 'माँ' के रूप में देखा और यह दर्शन केवल कवि-कल्पना नहीं था, बल्कि उनके स्थायी विश्वास का—उन के वास्तविक जीवन का एक अंग था।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि बड़ौदा में श्रीअरविन्द अपने जीवनमार्ग में प्रायः अच्छे ढंग से ही अग्रसर हो रहे थे; उन का जीवन एक तरह से सुव्यवस्थित हो गया था; उनका विवाह भी हो गया था; वह सब के लिये दर्शनीय हो रहे थे, अपने छात्रों के आदर और प्रेम के भाजन बन रहे थे। परन्तु ठीक उसी समय वह एक महान् पागलपन के भी शिकार हो रहे थे। उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि भारत को वह एक भौगोलिक सत्ता के रूप में नहीं, बल्कि अपनी सच्ची मां के रूप में देखेंगे; वह अपनी कमाई का बहुत थोड़ा सा अंश अपने लिये रखेंगे और बाकी सब भगवान् को सौंप देंगे; और वह, चाहे जो हो, भगवान् का आमने-सामने दर्शन करेंगे।

(३)

और इस तरह श्रीअरविन्द ने बड़ौदा-कालेज की चारदीवारी से सुरक्षित एकान्त और निश्चिन्त जीवन को त्याग बंग-प्रान्तीय—फिर उस के बाद अखिल-भारतीय—राजनीति के खौलते क्षेत्र में प्रवेश किया। 'वन्दे मातरम्' में छपे हुए उनके लेखों ने बहुत शीघ्र ही देश के शिक्षित समाजका ध्यान आकर्षित कर लिया। वास्तव में वह एक नवीन वाणी थी और उसके अन्दर लोगों को भारतवर्षके प्राचीन ज्ञान की झलक स्पष्ट ही दिखाई पड़ती थी। इस तरह वह केवल एक छलांग में ही मानो 'कुछ युवकों के अध्यापक से सारे राष्ट्र के गुरु बन गये'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्हीं दिनों श्रीअरबिन्द गिरफ्तार कर लिये गये और उनकी यह गिरफ्तारी मानो किसी स्वर्गीय बिधान के अनुकूल ही हुई थी; क्योंकि इसके कारण लोग अनायास ही यह जान गये कि 'वन्दे मातरम्' के लेखों का वास्तविक लेखक कौन था। अब भला श्रीअरविन्द अपने-आप को कैसे छिपा सकते थे? अब तो वह हमारे सच्चे मुक्तिदाता थे! इस तरह फिर वह एक छलांग में ही साधारण देशभक्तों के दल से बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय आदि जैसे श्रद्धास्पद महारथियों के दल में जा पहुंचे।

जब 'वंदे मातरम्' का मामला चल रहा था तब "दी इंडियन पैट्रियट" नामक पत्रने अपने संपादकीय स्तम्भमें लिखा था—"मि० अरविन्द घोष यश चाहने वाले व्यक्ति नहीं हैं; वह उन लोगों में से भी नहीं हैं जो किसी तरह राजद्रोह का अभियुक्त बन कर प्रसिद्ध होना चाहते हैं। वह एक सुशिक्षित और सभ्य व्यक्ति हैं; उनका स्वभाव बड़ा ही मीठा है; वह सदा प्रसन्न रहने वाले, विनोदप्रिय और तुरत समयोचित सुन्दर उत्तर देने में पटु हैं। वह उन लोगों में से हैं जिन के साथ में रहना बड़े आनन्द की बात है और जिन के बाह्य स्वरूप के पीछे किसी महदुद्देश्य के प्रति गुप्त भक्ति की आग निरन्तर जलती और बढ़ती रहती है।" और 'मराठा' ने तो और भी संक्षिप्त रूप में यह घोषित किया था कि "श्रीअरविन्द घोष एक सुमधुर आत्मा हैं।"

उस समय के इन दोनों पत्रों की रूप्रतियां बड़ी ही अर्थपूर्ण हैं। वक्ता, व्यवस्थापक और सुलेखक श्रीअरविन्द 'एक मधुर आत्मा' थे; उन्हें जानने का अर्थ था उन्हें प्यार करना; उन्हें प्यार करने का अर्थ था उन का अनुगामी होना; नहीं, बल्कि एक प्रतिमा की तरह उन की पूजा करना। और अत्यन्त स्पष्ट रूप में एक भागवत शक्ति उनके भावी उद्देश्यों की रचना कर रही थी और अगर किसी के आंखें होतीं तो वह "एक महदुद्देश्य के प्रति गुप्त भक्ति की निरन्तर जलने और बढ़ने वाली आग" को आसानी से देख सकता था।

महदुद्देश्य? वह कौन सा महान् उद्देश्य था जो श्रीअरविन्द की विपुल शक्ति और तेज को क्रियाशील बना रहा था? क्या वह उद्देश्य था देश की राजनीतिक स्वाधीनता? क्या वह उद्देश्य था सनातन धर्म का पुनरुत्थान? क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह उद्देश्य था माँ की, 'भारत माता' की, 'महान् स्वतन्त्र माता' की हार्दिक पूजा और सेवा ?

न तो ठीक-ठीक उस उद्देश्य को ही, न उस के प्रति श्रीअरविन्द की भक्ति के बल को ही, न उस के प्रति श्रीअरविन्द के पूर्ण आत्मदान की बात को ही उन के समकालीन ठीक-ठीक समझ पाये थे। उस समय जिन लोगों के ऊपर उनकी विशाल बुद्धि और शक्तिशाली व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ा था वे सब लोग अधिक से अधिक इतना ही समझ पाये थे कि श्रीअरविन्द का मुख्य जीवन 'आन्तरिक' है जो उन के लिए बन्द पुस्तक की ही तरह है। चाहे श्रीअरविन्द पढ़ते लिखते हों, बातचीत या हंसी-मज़ाक करते हों, कुछ सोचते-विचारते हों या अपने दिव्य स्वप्नों में डूबे हुए हों, सब समय ही वह एक पहेली थे; देखने में अत्यन्त 'प्रिय' परन्तु बड़े ही 'गम्भीर' व्यक्तियों के वह एक नमूना थे। वास्तव में उनके अन्दर जो मनुष्य विद्यमान था वह एक मनुष्य से कहीं अधिक था; उन्होंने अपने अन्दर कवि, देशभक्त और ऋषि को आशातीत रूप में सम्मिलित किया था और अतिक्रम किया था, अतिक्रम किया था और रूपान्तरित किया था। वह एक थे पर साथ ही अनेक भी थे; उन्होंने अपने अन्दर 'अनेक' को धारण किया था; और इसी कारण उनके मित्रों तथा सहयोगियों ने उन्हें समझना असंभव समझ कर छोड़ दिया था।

(४)

श्रीअरविन्द दूसरी बार अलीपुर वाले मामले में गिरफ्तार किये गये और प्रायः एक वर्ष जेल में रखे गये। परन्तु यह जेल उनके लिये मुक्ति-मन्दिर सिद्ध हुआ। उन्होंने वहां 'वासुदेव' को देखा—'वासुदेव' को जेल के अन्दर और जेल के बाहर देखा, सर्वत्र देखा। अब वह उस अवस्था में जा पहुंचे जहां वह सचमुच में यह कह सकते थे कि "अब मैं इस हाड़-मांस से सीमित नहीं हूँ, इस प्रकृति और इस के कठोर नियमों का गुलाम नहीं हूँ; अब मैं इन्द्रियों के तंग जाल से बंधा हुआ नहीं हूँ। अब मेरा अन्तरात्मा सीमारहित हो कर अनन्त तक फैल रहा है। मेरा शरीर अब भगवान् का आनन्दमय सजीव यन्त्र बन गया है और मेरा आत्मा अमर ज्योति का विशाल सूर्य बन गया है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भागवत आनन्द में विभोर, भगवान् द्वारा अधिकृत और परिचालित श्रीअरविन्द अब नरम या उग्र राजनीतिक नहीं रहे। अब राजनीतिक जीवन, तथाकथित 'सेवा और त्याग' का जीवन उनके लिये नहीं था। अन्त में उन्होंने आन्तरिक पुकार अनुभव की और राजनीतिक क्षेत्र से अलग हो कर पांडिचेरी चले गये और अब वहीं लगभग ३४ वर्षों से निवास कर रहे हैं।

अब बहुत से लोगों के लिए तो वह एक कहानी की वस्तु हो गये हैं; उस से भी कहीं अधिक लोगों के लिए एक रहस्य बन गये हैं; और उन असंख्य भारतीयों के लिए एक स्मृति भर रह गये हैं जिन्होंने वास्तव में लगभग ३०-३५ वर्ष पहले उनके राष्ट्रीय संदेश को बहुत शीघ्र ग्रहण किया था। अब ज़रा हम श्रीअरविन्द को उस रूप में देखने का प्रयास करें जिस रूप में बाद में कुछ लोगों ने उन्हें देखा है। स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पांडिचेरी से लौटने पर कहा था: "मैंने यह अनुभव किया कि जैसे प्राचीन हिन्दु ऋषि की वाणी ने उनके मुख से मुझे उस 'समता' की बात कही जो मानवात्मा को सर्वरूप भगवान् के अन्दर प्रवेश करने की स्वतन्त्रता प्रदान करती है।" श्री दिलीपकुमार राय कहते हैं, "एक ज्योतिर्मय व्यक्तित्व देखा; परन्तु मुझे सब से अधिक उन की दोनों आंखों ने आकर्षित किया—दोनों आंखें मानो संसारसागर में दो पथप्रदर्शक दीपकों की भांति चमक रही थीं।" स्व० पाल रिशा ने श्रीअरविन्द के अन्दर सबसे बड़े "दिव्य मानव को—भावी नेता को, नायक को देखा था।" और कवि, अमलकिरण की दृष्टि में "श्रीअरविन्द के मुखमण्डल के ऊपर समस्त स्वर्ग का रहस्य उद्भासित हो रहा है।"

(५)

ऊपर के उद्धरण हमें स्पष्ट ही यह बतला रहे हैं कि श्रीअरविन्द का 'व्यक्तित्व' किसी ठाकुर, दिलीप, रिशा या अमल के ऊपर क्या प्रभाव डालता है। वह 'प्रभाव' अवश्य ही अपने स्वभाव में अतीन्द्रिय होगा, और केवल कविता की भाषा में ही उसे प्रकट करना सम्भव होगा। श्रीअरविन्द-आश्रम के साधकों को अगर हम कुछ देर ध्यानपूर्वक देखें तो हम समझ सकते हैं कि श्रीअरविन्द के 'व्यक्तित्व' का प्रभाव कितना सजीव और शक्तिमान् है! कुछ साधक उच्च कोटि के कवि हैं और प्रायः ही श्रीअरविन्द और श्री मां के पूर्णत्व का गान गाया करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। और बाकी दूसरे साधक भी मूलतः 'कवि' ही हैं, क्योंकि वे बड़ी गंभीरता और तीव्रता के साथ अनुभव करने की शक्ति रखते हैं और उनका प्रत्येक कार्य ही सच्ची कविता की तरह छन्दोमय और गम्भीर होता है।

श्रीअरविन्द का 'व्यक्तित्व' किसी पार्थिव श्रेणी के अन्दर आबद्ध होने से इन्कार करता है। वह एक योगी हैं, एक ऋषि हैं—वह एक साथ ही बहुत से ऋषि, हैं; पूर्ण ऋषि हैं। हम लोगों के बीच उनका केवल विद्यमान होना ही इस बात का विश्वास दिलाता है कि मनुष्यजाति अवश्य अपने दुःख-कष्टों से मुक्ति प्राप्त करेगी। और श्रीअरविन्द, दाता-शिरोमणि श्रीअरविन्द, हमें यह आश्वासन देते हैं कि आज जो आनन्द उन्हें प्राप्त हुआ है वह एक दिन हमें भी प्राप्त होगा। वह समय अब दूर नहीं जब सब प्रकार के दोष गुण में बदल जायेंगे और स्वयं मृत्यु अपने डंक को खो कर अमृत्यु—अमरत्व में रूपान्तरित हो जायगी! श्रीअरविन्द ही वह श्रेष्ठतम ऋषि हैं जिन्होंने हमें इस आसन्न मुक्ति का मन्त्र पढ़ाया है। ऐसे महापुरुष का व्यक्ति-स्वरूप भला कैसे बताया जाय?

—के. आर. श्रीनिवास आयंगर

प्रेममयी जननी

तेरी शक्ति बखाने कौन ? तेरा रूप निहारे कौन ?
पूर्ण ज्योतिरूप, हो सुखदा, विमल स्मित वदन, हो वरदा।
हे शुभ्र सरोज प्रसारित ओज, हृदय करता बस तेरी खोज ॥

स्वर्गीय प्रेम उतर आता तव सुखद स्पर्श के द्वारा।
हंसी हंसी में ही तैंने बांह पकड़ हमें उबारा।
करता प्रणाम निज मस्तक टेक जननी प्रेममयी तुम एक ॥

स्वर्ण-युग का होवे अभिषेक भव्य दर्शन पाऊं अब एक।
करता प्रणाम निज मस्तक टेक जननी प्रेममयी तुम एक।
हे शुभ्र सरोज प्रसारित ओज, हृदय करता बस तेरी खोज ॥

—स्व० वेदव्रत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन

मन का विकासक्रम में स्थान, उसके अनेक स्तर तथा उस को शान्त और रूपान्तरित करने के उपाय

मनुष्य की साधारण चेतना है मन। इस मन-तत्त्व के पर्याप्त विकास के कारण ही वह पशु से अलग एक जाति है और जितना ही जिसका मन विकसित है, उस के काबू में है; उतना ही वह मनुष्य है; क्योंकि अपने आरम्भिक रूप में तो मनतत्त्व पशु में भी है। इस मन का वर्णन विभिन्न मनीषियों ने विभिन्न प्रकार से किया है। शरीरविद्यावित् के अनुसार शरीर के विकास में एक अंग गठित हुआ है जिसे मस्तिष्क कहते हैं और वे कहते हैं कि यह मस्तिष्क ही मनुष्य की भावना, कल्पना, उसके विचार और चिन्तन का मूल तत्त्व है। दार्शनिक दृष्टि के अनुसार मन एक सूक्ष्म छठी इन्द्रिय है; मन ही दूसरी पाँच इन्द्रियों का उपयोग करता है; आंख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा तो यन्त्र मात्र हैं जिन के द्वारा मन तत्तत्स्पर्शों को ग्रहण करता है; उसी प्रकार मस्तिष्क तो केवल एक यन्त्र है जिसके द्वारा मन में भावना, कल्पना, विचार और चिन्तन की क्रिया होती है; परन्तु मन के लिए यह सर्वथा शक्य है कि वह इन यंत्रोंका उपयोग किये बिना ही सीधे वस्तुके साथ संस्पर्श करे, और उस वस्तुका हाल जान ले; दूरदृष्टि (clairvoyance), दूरश्रवण (clairaudience), दूरप्रत्यय (telepathy) आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, इन विद्याओं का अभ्यास कर आजकल लोग एक जगह पर बैठे हुए दूसरे जगह की चीजों को देख सकते, सुन सकते और एक दूसरे के विचार तथा भाव को ग्रहण कर सकते हैं; इन सब में यौगिक या आध्यात्मिक कोई बात नहीं है, यह तो केवल मन के अभ्यास के द्वारा ही होता है।

विकासक्रम में मन का स्थान

अन्तिम सत्ता की दृष्टि से मन के बारे में पूर्व तथा पश्चिम में अनेक प्रकार के विचार रहे हैं। बहुत लोग मन और चेतना में भेद न कर के मन को अन्तिम सत्ता बताते हैं। इस सम्बन्ध में श्रीअरविन्द का विचार दार्शनिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य में बड़ी विशेषता रखता है। उसी का निरूपण हम यहां करना चाहते हैं।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि इस सृष्टि की रचना सच्चिदानन्द के चित्स्वरूप के द्वारा, उनकी चिन्मय शक्ति के द्वारा हुई है और यहां की प्रत्येक वस्तु एक विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिये निर्मित है। जड़ तत्त्व की अचेतना और अन्धकार में सोये हुए आत्मा को जगाने के लिये विकासक्रम में पहले प्राण का आविर्भाव हुआ। फलतः एक संवेदन की सृष्टि तो हुई पर तब तक सचेतन व्यष्टि की स्थापना नहीं हो पाई; प्राण में 'बहु' है सही पर इस 'बहु' में एकत्व अवचेतन है। इसलिये एक ऐसे तत्त्व की आवश्यकता पड़ी जो इस अवचेतन एकत्व को दूर करके एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से अलग करके जना दे, ताकि इस सृष्टि का जो हेतु है, 'बहु' के अन्दर, व्यष्टियोंके अन्दर, पूर्ण सच्चिदानन्द की, पूर्ण एकत्व की प्रतिष्ठा, उसे क्रमशः साधित किया जा सके। इस काम को मन करता है, वह सचेतन व्यक्ति की स्थापना करता है और इसीलिये मन की सृष्टि हुई है। मन में जागरित होने पर ही व्यष्टि को अपने आप का और अपने जगत् का बोध होता है। मन विभाजन का करण है, अपने सार रूप में यह वह चेतना है जिस का काम है नापना-जोखना, सीमा बांधना, अविभाज्य समग्रता में से वस्तु के टुकडे-टुकड़े करना और फिर इन टुकड़ों को, एक-एक को अलग-अलग इस प्रकार धारण करना मानो प्रत्येक टुकड़ा एक पृथक् समग्रता हो। यह वह दर्पण है जिस में इस के बाहर के और इस से बड़े सत्य और तथ्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है। मन वर्तमान या भूत घटना को पल पल में अपने आगे ले आता है और उन की मूर्तियां गढ़ता रहता है। इस के अतिरिक्त इस में यह भी क्षमता है कि यह कल्पित स्वरूपों को वर्तमान और भूत के संस्कारों के मिश्रण से गढ़ा करे। परन्तु इस प्रकार गढ़े हुए इसके रूप प्रायः ठीक नहीं उतरते और जब वे तैयार होते हैं तब यह देख पाता है कि ये रूप विकृत और अपूर्ण हैं। तब यह देख पाता है कि इस ने जो कुछ सोचा था उस के स्थान पर किसी और ही चीज़ को गढ़ डाला है, इस ने शिव के स्थान पर वानर को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गढ़ डाला है और उसे उस काम में लगा दिया है जिसमें लगाने की इसकी इच्छा न थी। ऐसा क्यों होता है यह जानने के लिये हमें विश्व-सत्ता के लोकोंके क्रम को और फिर स्वयं मन की ही विभिन्न भूमिकाओं को अलग-अलग जानना होगा।

सत्ता के सात लोक

आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार विश्व ब्रह्माण्ड के दो भाग किये जा सकते हैं—परार्द्ध और अपरार्द्ध। परार्द्ध भागके लोक हैं (ऊपरसे) सत्-चित्-आनन्द, विज्ञान (अतिमानस); इस विज्ञान-लोक में ही सृष्टि का सारा नक्शा खींचा जाता है, इस भूलोक में जो कुछ भी घटता है वह विज्ञानमय लोक की इच्छा और निर्धारण के अनुसार होता है, यहां पूर्ण ज्ञान है, बहुत्व में पूर्ण एकत्व है, व्यष्टि को अपने सच्चिदानन्द स्वरूप की पूर्ण पहचान है; यहां सत्-चित्-आनन्द का अलग अलग खेल शुरू हो जाता है, पर इस खेलमें भेद वा विभाजन नहीं है, यहां का खेल त्रिविध नहीं है, बल्कि त्रैक है; यह विज्ञानमय चेतना ही जगतोंकी सृष्टि करती है। अपरार्द्ध भागके लोक हैं (नीचेसे) अन्न (जड़तत्त्व) प्राण और मन। ये सप्त लोक ही हैं भूः भुवः स्वः महः जनः तपः और सत्य लोक। सत् का विकृत रूप है ज़ड़ तत्त्व, चित् का प्राण, आनन्द का यहां रूप है चैत्यसत्ता जिस के दो आभास हैं। हमारे बाह्य व्यक्तित्व में यह वासनात्मा के रूप में प्रतिभासित है, यही है जो बाह्य वस्तुओं में रस लेता, उनका उपभोग करता और उन पर अधिकार जमाने की कोशिश करता है और अन्दर में यह है हृत्पुरुष, श्रीभगवान् का सनातन अंश, हमारी दिव्य सत्ता, जिस में आत्मा अपने नाना जन्मों के अनुभवों का संग्रह करता और जिस के द्वारा वह अपने पार्थिव विकास को आगे बढ़ाता है, पर जो आरम्भ में अधिकांशतः या पूर्णतः वासनात्मा से ढका रहता है। विज्ञान का विकृत रूप है मन। परन्तु इस मन की दौड़ लम्बी है : इस की कई भूमिकायें हैं, यह सारे अपरार्द्ध विश्व में व्याप्त है; नीचे यह दैहिक अवचेतना तक जाता है तो ऊपर यह विज्ञान की सरहद पर जो देवताओं का, आकार-निर्माताओं का लोक है, जिसे अधिमानस लोक कहा गया है, वहां तक जाता है। और यही है मन शब्द का व्यापक आध्यात्मिक अर्थ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन के स्तर तथा उन के धर्म

मन की भूमिकाओं के हम दो भाग कर सकते हैं—उच्चतर भूमिकायें और निम्नतर भूमिकायें। उच्चतर भूमिकायें हैं अधिमानस, अन्तःस्फुरणात्मक मानस, संबुद्ध मानस और उच्चतर मानस; निम्नतर भूमिकायें हैं बुद्धि, यौक्तिक मन और इन्द्रियाश्रित मन (निरा मन, प्राणगत मन और भौतिक मन को इन्द्रियाश्रित मन के ही अन्तर्गत समझना चाहिये)। अधिमानस से नीचे ज्यों ज्यों मन उतरता है त्यों त्यों वह अधिकाधिक स्थूल होता जाता है। अधिमानस अपने स्वभाव और कार्य में अज्ञान के खेल में विज्ञान-चैतन्य का प्रतिनिधि है अथवा हम यह कह सकते हैं कि यह वह परदा है जिसके अन्दर से विज्ञान अप्रत्यक्ष रूप से अज्ञान पर कार्य करता है क्योंकि परम ज्योति की घनता को अज्ञान न तो सहन कर सकता है न ग्रहण। यही उपनिषदों का वह स्वर्णमय ढकना है जिसके द्वारा परतर सत्य ढका हुआ है। यहीं से विद्या अर्थात् एकत्वमयी चेतना और अविद्या अर्थात् विभाजनात्मक और बहुत्वपरक चेतना की मिश्रित क्रिया आरंभ होती है। विज्ञान अपनी समस्त वास्तविकता को इस अविद्या शक्ति के हवाले कर देता और उस पर छोड़ देता है कि वह विश्वगति में उसे रूपान्वित करे। इस शक्ति को यहाँ यद्यपि सत्य का दर्शन प्राप्त है फिर भी इसे हम अज्ञान की जननी कह सकते हैं। विज्ञान-सत्य जो संपूर्ण और सामञ्जस्यमय है अधिमानस में आकर असंख्य अंशों में बँट जाता है, एक सत्य के असंख्य सत्य हो जाते हैं जो एक दूसरे के मुकाबले में अपनी-अपनी पूर्णता के साधन में प्रवृत्त होते हैं, अपनी-अपनी सृष्टि निर्माण करना चाहते हैं और विभिन्न पृथक्-पृथक् सत्यों और सत्यशक्तियों के संघात से बने हुए जगतों में अपनी हुकूमत कायम करना या अपना हिस्सा प्राप्त करना चाहते हैं। फिर भी यहां कोई अज्ञान या मिथ्या नहीं है, बहुत्व के अव्याहत खेल की पृष्ठभूमि में एकत्व की चेतना अक्षुण्ण रहती है। अधिमानस के नीचे अन्तः-स्फुरणात्मक मानस भूमिका है, यहां सच्चिदानन्द एक और परदे के अन्दर छिप जाता है। इस भूमिका में उतरने पर मन की रचनात्मक शक्ति नहीं रहती, पर अधिमानस के निकटतम होने के कारण इस भूमिका पर शुद्ध सत्य की, शुद्ध ज्ञान की झाँकी मिलती है। यहीं वह भूमिका है जहां वैदिक ऋषियों को श्रुति-ज्ञान होता था, यहां की चेतना उन की सहज चेतना होने के कारण ही वे ज्ञान के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतने अमूल्य भंडार का संचय कर के उसे भावी मानवजाति के हित के लिये छोड़ जाने में समर्थ हुए थे। अन्तःस्फुरणा के नीचे हैं संबुद्ध मानस और उच्चतर मानस भूमिकायें। ये अधिमानस की वे शक्तियां हैं जिनके द्वारा मानव-मन पर उस लोक की क्रियायें होती हैं। संबुद्ध मानस वह भूमिका है जहां विचार, चिन्तन, भावना का प्रकाशमय दर्शन होता है। फिर उच्चतर मन में उनके रूप की सृष्टि होती है। इस मन में अब सत्य और ज्ञान की झाँकी या झलक नहीं होती बल्कि वे हमारे पास विचार और भावना के रूप में आते हैं। अस्तु! इन दो भूमिकाओं में और नीचे उतरने पर सच्चिदानन्द अपने आप को दो और परदों के अन्दर छिपा लेता है। परन्तु हमें यह भी जान लेना चाहिये कि ये भूमिकायें जो सच्चिदानन्द को एक-एक परदे के अन्दर छिपाती हैं, साधनपथ में हमारे लिये एक-एक वे भूमिकायें हैं जो क्रमशः एक के बाद एक परदे को चीर कर हमारे आगे सच्चिदानन्द को अनावृत करती हैं। मन की इन उच्चतर भूमिकाओं की पहले से इतनी चर्चा यहां इसलिये की गई है कि यह जो विश्वरूपी सोपान है जो ऊपर शुद्ध सत् के ऊपर खड़ा है और नीचे जो जड़तत्त्व पर टिका है उस की विभिन्न सीढ़ियों का हमें एक बौद्धिक परिचय प्राप्त हो जाय, क्योंकि इस सोपान की एक-एक सीढ़ी पर चढ़ कर और वहां की चेतना को अपनी साधारण स्थिति बना कर ही हमें विज्ञान-चैतन्य तक—जो मन तत्त्व का जनक है और जिसे प्राप्त करना हमारा लक्ष्य है—पहुँचना है, कोई एक ही छलांग में नीचे से कूद कर तो ऊपर नहीं पहुंच सकता।

इस प्रकार मनके विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं, इसके मूल से लेकर इस के ऊपरी स्तर की भूमिकाओं, को अपनी पृष्ठभूमि बनाकर अब हम मन के उन निम्न स्तरों की चर्चा में प्रवृत्त होते हैं जिन से कि अभी हमारा सीधा संबन्ध है, क्योंकि इस से पहिले कि हम यह आशा करें कि इस के उच्चतर भागों को यहां तक कि इस के मूल विज्ञान तत्त्व को यहां उतार कर हम अपने जीवन का जीता-जागता तथ्य बना सकें, मन के इस भाग को जो चंचल और अव्यवस्थित है किसी उच्चतर आध्यात्मिक अनुशासन के अन्दर आ जाना होगा, इसे शान्त और विशुद्ध होकर अपने असली कार्य में लग जाना होगा — अर्थात् उच्चतर भूमिकाओं की चेतना को यहां तक कि विज्ञान-चेतना को भी एक के बाद एक करके मनुष्य के मन, प्राण, और शरीर तक पहुंचाना, उन्हें क्रमशः उच्चतर चेतनाओं में रूपान्तरित करना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब यह होगा, जिस में सदा ही एक लंबा समय लगता है; तभी योग की वह नींव तैयार होगी जिस पर दिव्य जीवन की सारी इमारत खड़ी की जा सकेगी। यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि साधारणतया मन शब्द का प्रयोग उस की इन निम्न भूमिकाओं का ही सूचक होता है, उन भूमिकाओं का जो मनुष्य के विवेक, संकल्प, भावना, कल्पना, मानसिक या बौद्धिक अन्वय और व्यतिरेक तथा इन्द्रियज्ञान से सम्बन्ध रखती हैं। (१) इस स्तरकी चोटी पर बुद्धि है। बुद्धि का धर्म है विवेक। यह वह शक्ति है जो बोध और संकल्प दोनों कार्यों को एक साथ करती है। मनुष्य की बुद्धि दो प्रकार की होती है विशुद्ध और मिश्रित। विशुद्ध बुद्धि एकाग्र, संतुलित, एक, समरस और केवल परमभाव में ही संलग्न रहती है, यही वह शक्ति है जो ऊपर से उतरते हुए परतर ज्ञान को ग्रहण कर सकती है (बुद्धिग्राह्यं अतीन्द्रियम)। दूसरी वह है जिस में कोई स्थिर संकल्प नहीं, कोई एक निश्चय नहीं, जिस में असंख्य विचार हैं; यह बुद्धि मन की चंचल तथा इधर उधर भटकने वाली क्रियाओं के अधीन रहती और बाह्य जीवन तथा बाह्य कर्मों तथा उनके फलों में बिखरी रहती है। बुद्धि या तो निम्नगामी और बहिर्मुख होकर प्रकृति के तीनों गुणों की लीला में इन्द्रियानुभवों और क्षुद्र इच्छाओं की क्रियाओं में लग जाती है या अन्तर्मुखी होकर प्रकृति के जंजाल से निकल कर आत्मा की स्थिरता और समता लाभ करती है। (२) निम्नगा बुद्धि का आश्रय कर मन जब तर्क करने लगता और बुद्धि द्वारा गृहीत ज्ञान को हमारे अधस्तन अंगों तक पहुंचाने के स्थान पर स्वयं तर्क-वितर्क करने और बुद्धि के विवेक के काम को खुद ही करने लगता है, जब वह खुद ही भले-बुरे की पहचान करने में लग जाता है, जो उसके लिये संभव नहीं क्योंकि यह मन इन्द्रियों के आश्रित रहता है और इसलिये इन्द्रियों की गवाहियों और भौतिक चेतनाके घेरे के बाहर की किसी वस्तु की धारणा करने में असमर्थ होता है, तब इस मन को तार्किक मन कहते हैं। तब हमारे लिए किसी उच्चतर अनुशासनको मान कर चलना कठिन हो जाता है। (३) अन्त में इन्द्रियाश्रित मन वह मन है जो प्राण और शरीर के व्यापारों में रस लेते लेते उनका और इन्द्रियों का इतना आदी हो गया है कि इसे इन्हींके व्यापारोंका चिन्तन करने से फुरसत नहीं मिलती। इस मनके लिये वही वस्तु सत्य है जो इन्द्रियों की पहुंच के अन्दर है, जिस को इन्द्रियां प्रत्यक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गवाही देती हैं और जो कुछ इन इन्द्रियों की पकड़ के बाहर होता है इसकी दृष्टि में वह सत्य ही नहीं है, उसे मानने से ही यह इन्कार करता है। ये मिश्रित बुद्धि, तार्किक मन और इन्द्रियाश्रित मन ही मनुष्य को ऊपर उठने से रोकते हैं। अवश्य ही, अब तक इन्होंने ही मनुष्य को वह मानसिक प्राणी बनाया है जो कि वह आज है, पर मनुष्य का विकास इस मन में आकर ही तो समाप्त नहीं होता। उसे मन-बुद्धि के उच्चतर क्षेत्रों में ऊपर उठना है और वहां की चेतना को अपनी साधारण अवस्था बना कर तब विश्व-सोपान में विज्ञान-चैतन्य की जो सीढ़ी है जो मन का मूल है उस में उठना है और वहां के जीवन को अपनी साधारण अवस्था बनाना हैं, दूसरे शब्दों में उसे अपनी अभी की शारीरिक, प्राणमय और मानसिक चेतना को विज्ञानमय चेतना में रूपान्तरित करना है, यों कहें कि तम, रज और सत्त्व रूपी अपनी निम्न प्रकृति के खेल को त्रिगुणातीत स्थिति में, परा प्रकृतिके धर्ममें, प्रतिष्ठित करना है। परन्तु यह मन, यह तार्किक और इन्द्रियाश्रित मन, हम ऊपर कह चुके हैं कि उन्हीं सत्यों में विश्वास करता है जो इन्द्रिय-ग्राह्य हैं। इसलिए इस प्रकार के किसी जीवन में यह विश्वास ही नहीं करता। उदाहरणके लिए अन्तः-स्फुरणा को यदि ऐसे किसी जीवन की झलक मिलती है कि यहां इस पृथिवी पर विज्ञान के अवतरण की तैयारी हो रही है और इसके फलस्वरूप एक ऐसे दिव्य जीवन का विकास होने वाला है जो जीवन सत्यमय होगा, आनन्दमय और सौन्दर्यमय होगा, जो जरामरणरहित होगा अर्थात् वह एक अमर जीवन होगा और बुद्धि उसे ग्रहण कर मन को कहती है कि तुम सहर्ष इस काम में लग जाओ तो यह तार्किक मन बीच में कूद पड़ता और इन्द्रियानुभवों के द्वारा प्राप्त अपने टिमटिमाते हुए ज्ञान के अंधेरे या धुंधले प्रकाश में इस सत्य की जांच-पड़ताल कर कहने लगता है कि यह सब बुद्धि की अलीक कल्पना है। यह उद्दाम राजसिक प्राणशक्ति दिव्य तेजोराशि में परिणत नहीं हो सकती, यह तमोगुणी क्षरणशील नश्वर शरीर परमात्मा का सम, अक्षय, अविनश्वर द्रव्य नहीं बन सकता, मैं खुद भी इस शरीर में रहते हुए परमात्मा का ज्योतिर्मय आत्म-प्रकाश नहीं बन सकता। और यदि इसको किसी प्रकार समझा बुझा कर राजी किया भी जाय तो भी प्राण इस काम में बाधा डालता है। अर्थात, जैसे ही यह मन प्राण की अभ्यस्त गतियों के साथ अपने को तदाकार कर और प्राण के धर्म के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने प्रयासों का सद्यःफल प्राप्त करने के लिए उत्सुक होता पर पाता यह है कि मंजिल को तय करना तो दूर की बात है, अभी तो पहले पड़ाव तक ही नहीं पहुंचे तब प्राण के सारे विकार, संशय और उदासी आदि चारों ओर से उमड़ आते हैं और इनके साथ तादात्म्यभूत मन कहने लगता है कि मैंने तो पहले ही कहा था कि यह सब यहां इस संसार में होने की बात नहीं है। ईश्वरको, अमृतत्व को, आनन्द को, स्वातन्त्र्य को प्राप्त करना है तो इस मन, प्राण और शरीर को छोड़ कर चले जाओ, इस अहम्भाव को छोड़ कर परमात्मभाव में लीन हो जाओ। इसलिये सबसे पहला काम जो हमें करना है वह यह है कि यह मन अचंचल हो, इस की चंचलता दूर हो, इसके हस्तक्षेप से हम मुक्त हों।

मन को शान्त करने के उपाय

परन्तु इससे पहले कि हम मनको अचंचल करने, उसमें स्थिरता, निश्चल-नीरवता और शान्तिकी प्रतिष्ठा करने के साधनों पर विचार करें हमें एक बात और हृदयंगम करनी है। हमारा लक्ष्य है दिव्य जीवन। दिव्य जीवन में, जीवनमुक्त या त्रिगुणातीत स्थिति में नीचेके अंगों का, अर्थात् शरीर, प्राण और मन का, इन्द्रियों का और उनके धर्मों का निग्रह हमारा अभिप्रेत नहीं है; बल्कि अभिप्रेत है इनका रूपान्तर, इनका धर्मान्तर, इनका पवित्रीकरण और दिव्यीकरण, यों कहें कि इनका सच्चिदानन्द भाव में प्रतिष्ठापन; और तब यह क्षयधर्मी मर शरीर होगा अविनाशी, अमर आधार; उद्देश्यहीन उद्दाम प्राण होगा भगवान् की संकल्पशक्ति का, उनके चित्-तपस् का अविराम कर्मस्रोत; और भेदभावी, अज्ञान-अन्धकार में टटोल-टटोल कर और लुढ़क-लुढ़क कर चलने वाला यह मन होगा दिव्य-ज्योति, दिव्य ज्ञान, का अप्रतिहत प्रवाह। उसी प्रकार तम होगा शम, रज होगा तपःस्वरूप अर्थात् शान्तिमय प्रचण्ड दिव्यशक्ति और सत्त्व होगा ज्योतिःस्वरूप विशुद्ध आत्मप्रकाश। सच्चिदानन्द चैतन्य एक साथ विश्वातीत और विश्वव्यापी है इसलिए उसके केवल विश्वातीत पद को ही प्राप्त करना हमारा मार्ग नहीं है, यह तो संन्यासी का मार्ग है; हम चाहते हैं उस के विश्वातीत और विश्वव्यापी दोनों पदों की उपलब्धि। यह समर्पण का, विश्वचेतन्य में अहंकार के लोप का मार्ग है और यही है हमारी साधना का लक्ष्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाँ, तो हम कह रहे थे कि मन को अचंचल करना अनिवार्य है, पर यह मन कैसे अचंचल होगा, किस साधना के द्वारा? मन की अचंचलता की जब बात उठती है तब बहुधा लोग यह कहते हुवे सुने जाते हैं कि 'क्या करें कोशिश तो बहुत करते हैं, पर जैसे ही मन को एकाग्र कर के ध्यान करने बैठते हैं वैसे ही नाना प्रकार के विचार मन में चक्कर लगाने लगते हैं, मन इधरसे उधर भटकने लगता है, जरा भी ध्यान व धारणा नहीं हो पाती'। इस प्रकार की बातें लोग दुःखी से होकर ही कहते हैं। इच्छा है उच्च आध्यात्मिक जीवन बिताने की; पर अपने ही मन को इतना जबर्दस्त बाधक पाकर हम घबरा उठते हैं। श्रीकृष्ण ने जब अर्जुन से कहा था कि यह चंचल और अस्थिर मन जिन-जिन विषयों की ओर धावित हो उन-उन विषयों से इसे हटा कर आत्मा के वश करना होगा और आत्मा में स्थित होकर सब भूतों में अपने आत्मा को और अपने आत्मा में सब भूतों को जानना होगा तब अर्जुन भी घबरा गया था। वास्तव में यह मन इतना चंचल है, शरीर और इन्द्रियों में इतना क्षोभ पैदा करने वाला है, इतना दुर्जय और अनमनीय है कि इसको वश में करना कठिन ही होता है, पर साधना के एक लंबे प्रयास के द्वारा इसको काबू में लाया जा सकता है। पर मन की अचंचलता से किसी प्रकार की रिक्तता अभिप्रेत नहीं है जैसा कि हम साधारणतया समझते हैं। इस अचंचलता से अभिप्रेत है मन का किसी उच्चतर शक्ति के आधीन हो जाना। श्रीअरविन्द कहते हैं कि "अचंचल मन से यह मतलब नहीं कि उसमें कोई विचार अथवा कोई मनोमय गतियाँ होंगी ही नहीं, बल्कि यह कि ये सब ऊपर ही ऊपर रहेंगी और तुम अन्दर की अपनी सत्य सत्ता को इन से अलग अनुभव करते रहोगे, मन के इन विचारों और गतियों को देखते रहोगे पर उनके प्रवाह में बह नहीं जाओगे, तुम में यह योग्यता होगी कि तुम उन का निरीक्षण और निर्णय करो तथा जो कुछ त्याग करने के योग्य हो वह सब त्याग करो, एवं जो कुछ सत्य चेतना और सत्य अनुभूति हो उस सब को स्वीकार कर धारण करो"। सो इस मन को अचंचल करने की एक साधना यह है कि साधक अपने आपको इससे और इसके विचारों और गतियों से अलग कर ले; क्योंकि मन प्रकृति का उपकरण है और हम तो पुरुष हैं, जो द्रष्टा है, अनुमन्ता है, भर्ता भोक्ता और महेश्वर है। विश्व ब्रह्माण्ड और कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं, बल्कि पुरुष और प्रकृति की पारस्परिक क्रीड़ा है और यह क्रीड़ा प्रत्येक स्तर पर उस स्तर की चेतना के धर्म के अनुसार होती है। परार्द्ध विश्व में यह क्रीड़ा विशुद्ध है, वहां सत्‌के साथ चिन्मय शक्ति की, परा प्रकृति की शुद्ध आनन्दमय क्रीड़ा है। अपरार्द्ध विश्व में जीव की निम्न प्रकृति के साथ क्रीड़ा है, यहां पुरुष प्रकृति के साथ तदाकार हो गया है, वह स्वयं प्रकृति बन गया है और इस प्रकार अपने स्वरूप को भूल गया है। यह क्रीड़ा द्वन्द्वमय है, यह आनन्दमय नहीं है। यह सुखदुःखमय है। यह क्रीड़ा आत्मा को केन्द्र बनाकर नहीं चलती; इस का केन्द्र है अहंकार और उस का प्रधान साथी है मन। ऊपर यह कहा जा चुका है कि किस प्रकार यह मन अपने सौंपे हुए काम को छोड़ कर प्राण और शरीर के व्यापारों में रस लेते-लेते उन्हीं का हो गया है और यही कारण है कि हमारा भौतिक जीवन इतना अस्तव्यस्त है, क्योंकि जो मन ऊपर के सत्य और प्रकाश को इन के पास तक पहुंचाने का साधन था वह तो यहीं आसन जमा कर डट गया है। इस रस से निवृत्त होकर वह ऊपर उठे तो हम ऊपर के सत्यों को ग्रहण करने में समर्थ हों। इसलिये इस को इस कार्य से निवृत्त करने का एक साधन यह है कि इस की इस क्रिया में हमारी अर्थात् पुरुष की जो अनुमति है उसे हम हटा लें, द्रष्टा रूप से इसकी गतियों को हम देखते रहें, पर स्वयं इसमें कोई भाग न लें। ऐसा कर सकने से मन की यह लहर धीरे-धीरे बन्द हो जायगी और वह शान्त और स्थिर हो जायगा। यह सांख्य का, ज्ञान का, मार्ग है।

मन को अचंचल करने का दूसरा साधन है प्रेम, भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम। यह भक्ति का, समर्पण का मार्ग है और अपेक्षया सहज-साध्य है। मन यदि भगवान् से प्रेम करने लगे तो आप से आप यह विषयों से हट कर भगवान् में लग जायगा। साधारण जीवन में इस बात को बराबर ही देखा जाता है कि यदि किसी व्यक्ति का किसी के प्रति प्रगाढ़ प्रेम होता है तो वह रात-दिन उसी की चिन्ता करता, उसी के सहवास में सुख अनुभव करता; अपने प्रेमी के लिये जो कुछ वह कर सकता या कर पाता, जितना सा जीवन उसकी सेवामें बिता पाता, उसी को वह सफल समझता है। यह सब कुछ करने में उसे अत्यन्त आनन्द अनुभव होता है। यदि किसी कारणवश उसका अपने प्रेमी से विछोह होता है तो उसे घड़ी घड़ी उसी की याद आती है, उसके मन के सामने उसी की मूर्त्ति नाचती रहती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार यदि हमारा भगवान् से विशुद्ध और प्रगाढ़ प्रेम हो, हृदय में उनके प्रति एक भावनामय उमंग हो तो हमारे मन की चिन्ता और भावना के एकमात्र विषय भगवान् ही होंगे। तब हम उस अवस्था के बहुत समीप होंगे जिसका विधान हमें श्रीकृष्ण के इन महावाक्यों में मिलता है 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु' अर्थात् 'मुझ में मन लगा, मेरा प्रेमी और भक्त हो, मेरा यजन-पूजन कर, मुझे नमस्कार कर। और यदि हम ऐसा करें तो भगवान् की यह प्रतिज्ञा है कि हम उनको पावेंगे, उन्हीं में निवास करेंगे। और जब हम एकमात्र भगवान् के हो जाते हैं तो फिर मन को एकाग्र करने के लिए किसी प्रकार के प्रयास की आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि भगवान् के साथ हमारा सच्चा और प्रगाढ़ प्रेम होते ही हमारा मन, मन ही क्यों हमारी सारी सत्ता आपसे आप भगवान् में एकाग्र हो जाती है। तब तो भगवान् का स्मरण बन्द हो जाना, हमारा साधारण चेतना में नीचे उतर आना कठिन हो जाता है। भगवान् में निवास ही हमारी सहज अवस्था हो जाती है। तब अहंकार का साथी यह निम्नतर मन एक नये मालिक के आधीन हो जाता है, क्योंकि अहँकार का लोप हो जाने पर यह मन बुद्धि में जाकर शान्त हो जाता है, और बुद्धि भी यथाक्रम आत्मा में जा कर शान्त हो जाती है। तब होती है भगवान् के साथ हमारी पूर्ण एकता। इस अवस्थाके सम्बन्धमें माताजीने कितना सुन्दर कहा है: "यदि क्षणभर के लिये भी भगवान् तुमसे अलग हो जांय तो तुम बस निर्जीव हो जाओगे और पछाड़ खा कर गिर पड़ोगे। कारण, अब भगवान् ही होते हैं तुम्हारे प्राण के प्राण, तुम्हारे समग्र जीवन, तुम्हारी एकमात्र और संपूर्ण शरण। अब यदि भगवान् तुम्हारे साथ न हों तो तुम्हारे पास कुछ रह ही नहीं जाता।"

मन को अचंचल करने का तीसरा साधन है कर्म, अर्थात् श्रद्धा और भक्ति के साथ मन को भगवान् के कार्य में लगा देना, इस कार्य में उसे इतना लवलीन कर देना कि अन्य किसी विषय में लगने की, देह, प्राण और इन्द्रियों के व्यापारों में समा जाने की उस को फुरसत ही न मिले। साधारणतया मनुष्य के कर्म का केन्द्र होता है अहंकार। उस के नित्य नैमित्तिक कर्म से लेकर, समाज-सेवा, देशसेवा, मानवजाति की सेवा यहां तक कि दान-धर्म, पूजा-पाठ भी, सभी कर्म अहंकार को ही केन्द्र बना कर होते हैं, फिर यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहंकार तामसिक हो, राजसिक हो या सात्त्विक। यद्यपि सात्त्विक कर्मों का अपना एक स्थान है और वह उन लोगों के लिये बहुत उपयोगी है जो अभी त्रिगुण के बन्धनसे सर्वथा मुक्त होने के लिए तैयार नहीं हैं, पर ये कर्म मनको उस आध्यात्मिक अचंचलता और शान्ति में नहीं ले जा सकते जो कि हमारा लक्ष्य है। हमारे समस्त कर्म होंगे भगवत्प्रीत्यर्थ, यज्ञरूप; हमें अपनी समस्त चेष्टाओं को भगवान् के प्रति उत्सर्ग करना होगा, केवल मानसिक क्रिया, विचार और भाव को ही नहीं, बल्कि अत्यन्त साधारण और बाह्य क्रियाओं को भी, जैसे कि जब हम भोजन करते हैं तब हमारा यह अनुभव होना चाहिये कि इस क्रिया में हमारे द्वारा भगवान् ही उपभोग कर रहे हैं। इसी प्रकार अन्य सभी कर्मों के बारे में समझना चाहिये। ये सब के सब कर्म भगवान्के लिए होंगे और 'भगवान के लिए कर्म करने का अर्थ है शरीर के साथ उनकी उपासना करना'। यदि इस प्रकार हम अपने मन को इस उपासना में लगा दे सकें तो अवश्य ही वह उस शान्ति को प्राप्त होगा जो योगमार्ग में अनिवार्य है।

ये हुए मन को अचंचल, शान्त और निश्चल-नीरव करने के उपाय। हमने देखा कि ज्ञानमार्ग के द्वारा पुरुष को प्रकृति भाग से (मन से) अलग कर, भक्तिमार्ग के द्वारा मन को भगवान् के प्रेम में लगाकर और कर्ममार्ग के द्वारा इसे भगवान् के कार्य में नियुक्त कर हम इस चंचल मन को अचंचल और शान्त कर सकते तथा इस में एक स्थायी स्थिरता, निश्चलता, नीरवता और शान्ति का अवतरण करा सकते हैं। हम अपनी प्रकृति और स्वभाव के अनुसार इन तीनों मार्गों का ही न्यूनाधिक अवलम्बन करते हैं।

प्रच्छन्न मन और आरोहण अवरोहण की क्रियायें

हम पहले मन की अनेक भूमिकाओं, उसके निम्नतर और उच्चतर स्वरूपों का जिक्र कर चुके हैं। परन्तु मन का एक गुप्त स्वरूप है जिसे प्रच्छन्न मन (subliminal mind) कहते हैं। इसका निवास है हमारी निम्नतर कर्मण्यताओं के पीछे अन्तः में। यही वह है जो अतिचेतना में ऊपर उठ सकता है। किन्तु हमारा मन जब तक अपनी निम्न क्रियाओं में लगा रहता है तब तक यह प्रच्छन्न मन हम से छिपा रहता है, पर जब हम अपने बाह्य मन को शान्त करने में समर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हैं तब हम अन्तः में प्रवेश करते और वहां पर वास करने वाले इस मन को प्राप्त करते हैं। फिर इस को साथ लेकर हम मन की उच्चतर भूमिकाओं में ऊपर उठते और वहां के प्रकाश, चैतन्य और सामर्थ्य के साथ वापस लौट कर उन्हें यहां प्रस्थापित करते हैं। यह आरोहण और अवरोहण मनुष्य के अपने ही प्रयास के द्वारा संभव नहीं, इसके पीछे सदा चिन्मय शक्ति का, भगवती माता का, छिपा हाथ होता है। परन्तु एक समय आता है जब काफी ऊपर उठ चुकने पर हम को इस बात का सचेतन ज्ञान होता है कि यह भगवती माता का प्रसाद ही है जिसकी बदौलत हम अज्ञान के कीच में फंसे हुए अपने मन को मुक्त करने में समर्थ हुए हैं। नहीं तो, जैसे पशु के लिए मानव मन की चोटियों पर पहुंचना असंभव है वैसे ही विज्ञान मानव मन की पहुंच से परे है। यहां हमें एक बात से और सावधान हो जाना चाहिये। यह प्रच्छन्न मन जैसे अतिचेतना तक ऊपर उठ सकता है वैसे ही यह अवचेतना और अचेतनामें नीचे भी उतर सकता है। परन्तु जब तक हम उच्चतर भूमिकाओं की चेतना को अपनी साधारण अवस्था न बना लें तब तक हमें नीचे के स्तरों में प्रवेश करना और वहां की अवस्थाओं को रूपान्तरित करने का प्रयास नहीं करना चाहिये।

अस्तु! इस प्रच्छन्न मन से युक्त हो कर जब हम ऊपर उठते हैं तो पहली भूमिका पर अर्थात् उच्चतर मानस भूमिका पर ही हम अब-तक के अज्ञान या ज्ञान-अज्ञान की मिश्रित अवस्था पर स्थापित चेतना का अतिक्रमण करना और उस चेतना में प्रवेश करना आरंभ करते हैं जो गूढ़ स्वयंभू ज्ञान पर स्थापित है। पहले वहां के प्रकाश और शक्ति के द्वारा प्रेरित और क्रियान्वित हो कर फिर उस चेतना के द्रव्य में सर्वथा रूपान्तरित होकर हम कतिपय नवीन वृत्तियों का उपयोग करने में समर्थ होते हैं। ऊपर की इन भूमिकाओं की शक्तियां जब हम में अवतरित होती हैं तब केवल हमारा चिन्तन और ज्ञान भाग ही अर्थात् हमारा मन भाग ही इन से प्रभावान्वित नहीं होता, बल्कि हमारी सत्ता और चेतनाका स्वयं द्रव्य ही, स्वयं वीर्य ही, उसकी सारी अवस्थायें और कर्मण्यतायें तक इन शक्तियों के स्पर्श में आती हैं, ये शक्तियां हमारे प्राण और शरीर में प्राप्त होती हैं। तब उनको एक नये सांचे में ढाल देना, उनका रूपान्तर करना संभव होता है। इसलिये प्रत्येक स्तर पर आरोहण करने का अर्थ यदि सत्ता का समग्र रूपान्तर नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो महत्तर जीवन की नवीन ज्योति और शक्ति में आंशिक रूपान्तर तो है ही। यह 'उच्चतर मानस भूमिका' मन का वह लोक है जहां ज्ञान-अज्ञान की मिश्रित क्रीड़ा के बदले आत्मा की विशाल निर्मलता प्राप्त होती है। यही है हमारी धारणात्मक मानसिक भावनाओं का आध्यात्मिक पितर। यहां तर्क, युक्ति आदि की क्रिया समाप्त हो जाती है, यहां का चिन्तन शाश्वत ज्ञान का आत्म-प्रकाश होता है। इस भूमिका में ज्ञान के प्रकाश के साथ-साथ सत्य-संकल्प और सत्य-कर्म की भावना का भी सूत्रपात होता है जो हमारी इच्छाओं, प्रेरणाओं, संवेदनों और कर्मों को सर्वथा एक नये सांचे में ढाल देता है। इस के बाद जब हम इस भूमिका से और ऊपर उठते हैं तब हम संबुद्ध मानस में प्रवेश करते हैं। यहां उच्चतर विचार या चिन्तन नहीं होता, बल्कि यहां प्राप्त होता है आध्यात्मिक प्रकाश। आत्मा से जन्मे हुए विचार या चिन्तन के स्थान पर यहां मिलता है सत्य का प्रकाश, उस की ज्योति, उस की शोभा। यहां पर आध्यात्मिक सत्य और शक्ति की क्रीड़ा हमारी चेतना में बिजली की तरह फैल जाती है और हमारे आधार के स्थिर, विशाल और स्थायी अनुभव में एक अपूर्व शान्ति का अवतरण होता है और एक महत्तर कर्मस्रोत, आंतर शक्ति का एक प्रकाशमान उत्साह हमारे जीवन में उतर आता है। संबुद्ध मानस की क्रिया चिन्तन के द्वारा नहीं, बल्कि सत्य के दर्शन के द्वारा होती है। जैसे उच्चतर मन हमारे अन्दर आध्यात्मिक चिन्तन और भावना को ले आता है, सत्य-संकल्प और सत्य-कर्म की भावना का सूत्रपात करता है वैसे ही संबुद्ध मानस सत्य-दर्शन और सत्य-प्रकाश के रूपों में एक महत्तर चेतना को हमारे अन्दर उतारता है। अब सच्चिदानन्द पर से एक और परदा उतर जाता है और हम उसके अधिक समीप हो जाते हैं। परन्तु उच्चतर मन और संबुद्ध मानस के ज्ञान की परिपूर्णता अन्तःस्फुरणात्मक मानस में होती है, जहाँ से कि इन दोनों भूमिकाओं को अपनी शक्ति प्राप्त होती है। अन्तःस्फुरणा चेतना की वह ज्योति है जो मूल तादात्म्य ज्ञान के बहुत ही समीप है। यहाँ पर उठ जाने पर हम मानव-ज्ञान के उस केन्द्र में पहुंच जाते हैं जिस के द्वारा और भी उच्चतर भूमिकाओं का ज्ञान मानव मन के लिये प्राप्य हो जाता है। अब हम सच्चिदानन्द के उज्ज्वल संदेशों को पाने और फिर उन्हें अपने अधस्तन अंगों तक बेरोकटोक पहुंचाने लगते हैं, क्योंकि अब न तो संशय रहता है न विरोध, न तर्क और न युक्ति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब तो मानव मन पूर्ण विश्वास और उत्साहके साथ देवकर्म में लगा होता है। अब मन-बुद्धि को विवेक, विचार, चिन्तन और निर्णय करने की आवश्यकता नहीं रहती। अब उस का एकमात्र काम होता है ऊपर से उतरते हुए सत्य-दर्शन, सत्य-प्रकाश को नोंधना, ग्रहण करना और नीचे के स्तरों में पहुंचा देना।

आरोहण क्रममें इसके बादका स्तर हमें अधिमानस में पहुंचा देता है। पर इस स्तर में हमारा आरोहण तभी हो सकता है जब हम व्यष्टिगत चेतना को फैला कर विश्व-चेतना के साथ एक कर लें, क्योंकि अधिमानस चेतना जब व्यष्टिभाव में कार्य कर रही होती है तब भी, वह रहती है, एक विश्वचेतना ही। इसलिये, इस स्तर की चेतना को प्राप्त करने के लिये केवल खड़ी रेखा का आरोहण ही पर्याप्त नहीं है। यहां हम पहुंच सकेंगे तभी, जब हमारी चेतना का आड़ी रेखा में फैलाव भी हो गया हो तथा ऊपरी तल पर रहने वाला हमारा सीमित मन एक विश्वव्यापी विशालता को पा गया हो। अधिमानस चेतना का हम में अवतरण होने पर हमारे अन्दर अभी जो अहंभाव की प्रधानता है वह नहीं रहती। अहंकार तब किसी उच्चतर भाव के आधीन हो जाता है, वह सत्ता की विशालता में खोया जाता है और अन्त में उसका सर्वथा लोप हो जाता है। हो सकता है कि अब भी पहले की कतिपय अहंकेन्द्रिक गतियां जारी रहें, पर वे विराट् विशालता में जीर्ण शीर्ण क्षीण लहरें मात्र रह जाती हैं। चिन्तन अब व्यष्टि शरीर में से पैदा नहीं होता, बल्कि ऊपर से उतरता है और बिराट् मन-तरंगों पर आकर छा जाता है। वस्तुओं के बारे की व्यष्टिगत दृष्टि अब ज्ञान का प्रकाश बन जाती है जिसका स्रोत विभाजित सत्ता में नहीं बल्कि बिश्व-ज्ञान में से प्रवाहित होता है। उसी प्रकार हमारे अनुभव, भावावेग, संवेदन भी अब उसी विराट् प्राचुर्य में से उद्भूत होते हैं तथा हमारे सूक्ष्म और स्थूल शरीर का स्पर्श करते हैं। और हमारा शरीर भी बिश्वव्यापकता के एक केन्द्र के रूप में उनका पर्याप्त और ठीक उत्तर देता है। इस स्तरमें ऊपर उठ जाने पर भी साधक को सावधान रहना होगा। क्योंकि यहां साधक को एक ऐसी ज्योति का स्पर्श मिलता है जिसे वह परम प्रकाश मान लेने की भूल कर सकता है। इस अधिमानस लोक को ही मूल स्रष्टा-चैतन्य मान लेने के कारण वेद और उपनिषद के उत्तरकालीन भारतीय दार्शनिक सृष्टि के मूल तत्त्व को नहीं पा सके। कुछ तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहां के प्रकाश से इतने चौंधिया गये कि इसी को उन्होंने चरम उपलब्धि मान लिया और वे यहीं आकर रुक गये। फिर कुछ यह मानने लगे कि यह भी मिथ्या या माया है और इसलिए उन्होंने तय किया कि इस का अतिक्रमण कर परब्रह्म की निश्चल अक्रिय नीरवता में समा जाना ही जीव की एकमात्र परिपूर्णता है। परन्तु हम पूर्णयोग के साधक वहां पहुंचने पर इस लोक को इस के सत्य स्वरूप में देखेंगे, यह जानेंगे कि अब हम विज्ञान की ड्योढ़ी पर पहुंचे हैं और इस लोक के ज्ञान और जीवन को अपनी सहज अवस्था बना कर तब इस ड्योढ़ी को लांघ कर उस परम विज्ञान-चैतन्य में प्रवेश करेंगे जिसकी हमने इतने दीर्घकाल से आशा लगा रखी थी।

विज्ञान की ड्योढ़ी के भीतर हमारा यह मानव मन नहीं घुस सकता; इसलिये इससे पहले कि इसका वहां प्रवेश हो सके इस को सर्वथा धर्मान्तरित और रूपान्तरित हो जाना होगा। क्योंकि इस लोक में पूर्ण एकत्व है, पूर्ण ज्ञान है, पूर्ण प्रकाश है। यहां की चेतना असीम है, अभेद है और अखण्ड है। इसलिये हमारे मन को भी अब नापने-जोखने, सीमा बांधने और खण्ड-खण्ड करने के काम को छोड़ कर, अहंकार से सर्वथा नाता तोड़ कर भगवान् के सत्-संकल्प, उनके चित्-तपस्, उनके आनन्द का अनर्गल स्रोतमार्ग बन जाना होगा। उसे भगवान् का यहां सच्चा प्रतिनिधि बनना होगा। कर्म तब भी रहेगा पर वह कर्म अज्ञानमें भटकते हुए मर्त्य मनुष्यका कर्म करना नहीं होगा, बल्कि भगवानके साथ युक्त होकर उनके संकल्प के साथ अपनी इच्छा को एक करके दिव्य मानव का, अतिमानव का कर्म होगा; लोकसंग्रह के लिये, ठीक वैसे ही जैसे भगवान् कर्म करते हैं। अब मानव मन सच्चिदानन्द के उस पुरुषोत्तम रूप के साथ एक होगा जो एक साथ विश्व के परे है, विश्व के स्वामी हैं और विश्व में समाये हुए हैं। एक बार यदि विज्ञान तत्त्व और उसकी विश्व-क्रिया स्थायी रूप से और अपने स्वधर्म के साथ निम्न विश्वार्द्ध में उतर आवे तो फिर मन-बुद्धि के शिखर के स्तरों से लेकर उसके अधस्तन अंग भी क्रमशः अपने-आपको विज्ञानतत्त्व के धर्म में प्रतिष्ठित कर पावेंगे। तभी होगी मन-यज्ञ की समाप्ति, पूर्णाहुति के द्वारा उसकी दिव्य ज्ञान-ज्योति में परणति।

—मदनगोपाल गाडोदिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भागवत कृपा तथा वैयक्तिक प्रयत्न

प्रश्न और उत्तर

विषय-निरूपण करने की शङ्का-समाधान अथवा प्रश्न-उत्तर की शैली तब ही से चली आ रही है जब कि पुरातन मनुष्य ने ज्ञान की खोज शुरू की थी और आज भी इस की उपयोगिता बराबर कायम है।

[यह पूछना आवश्यक नहीं कि प्रश्नकर्त्ता कौन है, क्योंकि यद्यपि किसी समय प्रश्न करने वाला कोई भी व्यक्ति-विशेष हो, तो भी अन्त में प्रश्नकर्त्ता वास्तव में मनुष्य में विद्यमान अप्रबुद्ध, नित्य जिज्ञासु ही है, अज्ञानपूर्ण मानव मन ही है। और उत्तर देने वाला सदा प्रबुद्ध गुरु ही है। प्रश्न प्रश्नकर्ता द्वारा, उस की मनोऽवस्था और उसकी आवश्यकता द्वारा, परिसीमित होते हैं, और उत्तर उसके तथा उस की स्थिति के सापेक्ष होते हैं, अर्थात् वे निरपेक्ष और चरम नहीं हो सकते।]

प्रश्न—कुछ लोग मानते हैं कि आध्यात्मिक साक्षात्कार पाने के लिये वैयक्तिक बल आवश्यक है। दूसरोंकी यह धारणा है कि केवल भागवत कृपा ही मनुष्य का उद्धार कर सकती है। संभवतः वैष्णव मत भागवत कृपा के विचार को लोक-प्रचलित करने के लिये विशेष जिम्मेवार है।

उत्तर—यह सच नहीं है। उपनिषद् जैसी प्राचीन पुस्तक में भी आया है:—नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः, यह आत्मा दुर्बल से प्राप्य नहीं है। और कठ में हमें यह वचन मिलता है, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् (२–२३)। अर्थात् यह आत्मा जिस को चुन लेता है, उसके सम्मुख ही यह अपना स्वरूप प्रकट करता है।

इस प्रकार, यहां हम दोनों की ही स्थापना पाते हैं, बल और कृपा। इस के अतिरिक्त सभी धर्म थोड़ा या बहुत भागवत कृपा के विचार को स्वीकार करते हैं।

प्र०— परन्तु क्या आध्यात्मिक बल की और भागवत कृपा की आवश्यकता का प्रतिपादन करना परस्पर-विरोधी नहीं प्रतीत होता?

उ०— आध्यात्मिक जीवन में ऐसे विरोध उठने ज़रूरी ही ठहरे, क्योंकि जो धर्म उस जीवन को निर्धारित करता है वह कठोर मानवीय मान-मर्यादाओं के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधीन नहीं है। इस का मतलब यह कि बल अधिकार या आध्यात्मिक योग्यता का एक पार्श्व है। साक्षात्कार प्राप्त करने के लिये बल का कुछ मूल्य तो है; परन्तु यह सब कुछ नहीं है।

प्र०— आध्यात्मिक बल के दृष्टिकोण से क्या कृपा दुर्बलता को स्वीकार करती प्रतीत नहीं होती? इस के अलावा यह (कृपा की बात) इतनी अन्यायपूर्ण भी दीखती है। यह आलसी के लिये बहुत ही सुखप्रद सिद्धान्त है। हमें चुपचाप बैठे रहना है, —कोई तपस्या नहीं, कोई श्रम नहीं, आत्म-संयमकी कोई आवश्यकता नहीं— भागवत कृपा के नीचे उतरने और चमत्कार करने की प्रतीक्षा भर करनी है।

उ०— यह बात ऐसी नहीं है। आध्यात्मिक जीवन और अनुभवों में उन बातों के विरोध का समाधान करने का कौशल है जो कि मन को परस्परविरुद्ध मालूम देती हैं। कृपा का अर्थ दुर्बलता को स्वीकार करना नहीं है क्योंकि यह बल का विरोध नहीं करती है और दुर्बलता आवश्यक तौर से कृपा को प्राप्त भी नहीं करती। कृपा में कोई अन्याय या पक्षपात भी समाविष्ट नहीं है, विशेषतया उस कृपा में जो कि आध्यात्मिक अनुभव का निश्चित तथ्य है।

प्र०— तो क्या फिर यह कहा जा सकता है कि भागवत कृपा बिना किसी शर्त के काम करती है?

उ०— भागवत कृपा अहैतुकी होती है, परन्तु मनुष्य के दृष्टिकोण से कुछ शर्तें हैं जिन्हें कि पूरा करना होता है और उन के पूरा होने पर कृपा कार्यान्वित होती है। अगर एक आदमी किसी द्रव्य को बिना शर्त के एक प्याले में डाल रहा हो और अगर दूसरा आदमी उसे लगातार बाहर बहाता जाय तो वह प्याला कैसे भरा जा सकता है?

प्र०—तो क्या, अगर मनुष्य ग्रहणशील नहीं है तो कृपा कार्य नहीं कर सकती?

उ०—उस अवस्था में यह उसे ग्रहणशील बनाने के लिये काम कर सकती है।

प्र०—तो क्या यह कहना ठीक होगा कि तपस्या और कृपा एक दूसरे की पूरक (सहयोगी अंग) हैं?

उ०— हां, यह व्यवहार के लिये सुवर्णीय मध्यमार्ग के रूप में ठीक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्र० — यह कहा जाता है कि भगवान् की या गुरु की कृपा शिष्य के लिये एक ही अर्थ रखती हैं।

उ० — हां, क्योंकि गुरु भगवान् का प्रतिनिधित्व करता है इसलिये यह कहा जाता है — गुरुकृपा हि केवलम्।

प्र० — मैंने सुन रखा है कि प्रसिद्ध बंगाली नाटककार गिरीशचन्द्र घोष का जीवन श्रीरामकृष्ण परमहंस की कृपा से महान् रूपान्तर को प्राप्त हुआ।

उ० — गुरु के संपर्क मात्र से भी, या आध्यात्मिक प्रभाव से किसी मनुष्य के जीवन में ऐसा परिवर्तन हो सकता है। एक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि गुरु द्वारा शिष्य का स्वीकार कर लिया जाना भी कृपा का कार्य है। परन्तु मेरा ख्याल है कि श्रीरामकृष्ण की मृत्यु के बाद गिरीशचन्द्र पछताया करते थे कि उन्होंने श्रीरामकृष्ण के संपर्क, पथप्रदर्शन और कृपा से पूरा पूरा आध्यात्मिक लाभ नहीं उठाया।

प्र० — ऐसा कैसे हो सकता है ?

उ० — गिरीश बाबू अपनी शांत घड़ियों में अपनी उन त्रुटियों को बड़ी सूक्ष्मता से अनुभव किया करते थे जो उनकी आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में रुकावट डाले खड़ी थीं। यह सच है कि श्रीरामकृष्ण अपनी कृपा उनपर बरसाया करते और उन्हें कहा करते थे " अपना सब भार मुझपर छोड़ दो।" परन्तु जब श्रीरामकृष्ण शरीर छोड़ गये उसके बाद गिरीश बाबू कहा करते थे "उन्होंने मुझे कहा था कि मैं अपना सब भार उन पर छोड़ दूं परन्तु मैं इसे छोड़ने में असमर्थ रहा!"

प्र० — इस से यह प्रश्न पैदा होता है कि चाहे कोई मनुष्य कुछ भी तपस्या न करे पर फिर भी वह आध्यात्मिक साक्षात्कार को प्राप्त कर सकता है, अगर उसके अन्दर अपने गुरु की रक्षक-कृपा में जीवित श्रद्धा है।

उ० — ऐसी श्रद्धा दुर्लभ और कठिन है। परन्तु अगर है तो वह अपना चमत्कार दिखायेगी ही।

प्र०—तो तपस्या का क्या स्थान है ?

उ०—तपस्या से तुम्हारा क्या मतलब है ? लोकप्रचलित विचार यह है कि शरीर को क्लेश पहुंचाना, उपवास करना, कीलों पर बैठना, सिर के बल खड़े होना, इत्यादि, तपस्या है। तपस्या मनुष्य से यह अपेक्षा करती है कि वह उन चीजों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को करे जिन्हें वह साधारणतया करना पसन्द नहीं करता।

प्र०—यही साधारण विचार मालूम होता है।

उ०—परन्तु यह ठीक नहीं है। तपस्या केवल शारीरिक ही नहीं होती। इस में उन चीजों का करना भी समाविष्ट हो सकता है जिन्हें मनुष्य पसन्द करता या चाहता है। तपस्या का अर्थ है किसी विशेष बिन्दु पर या किसी विशेष प्रयोजन के लिये चेतना की शक्ति को एकत्रित करना।

प्र०—क्या किसी चीज को पाने के लिये —इच्छा को तृप्त करने के लिये भी — किये गये सभी प्रयत्न तपस्या कहला सकते हैं ?

उ०—जिस उद्देश्य को प्राप्त करना है वह इच्छाओं की तृप्ति मात्र से अधिक महान् होना चाहिये। क्योंकि इच्छा-पूर्ति के प्रयत्न में यद्यपि तपस्या विद्यमान है परन्तु वह नीचे की ओर ले जाने वाली है। वह ऋणात्मक तपस्या है। ऐसी तपस्या मनुष्य को अज्ञान में प्रतिष्ठित करती है। अतएव वह प्रयत्न तपस्या के नाम के योग्य नहीं। असुर अपनी मर्यादातीत महत्त्वाकांक्षा या अपने अहं को संतुष्ट करने के लिये ऐसी तपस्या किया करते थे और आज भी करते हैं।

परन्तु आध्यात्मिक ध्येय के अतिरिक्त साधारण सफलताओं के लिये भी किसी न किसी प्रकार की तपस्या आवश्यक प्रतीत होती है। कला में, वैज्ञानिक अनुसंधान में अगर कोई विलक्षण काम करना चाहता है तो उसे तपस्या करनी अर्थात् अपनी चेतना की सब शक्तियों को उस प्रयोजन के लिये एकत्रित करना आवश्यक होता है।

प्र०—कुछ दृष्टान्तों में बहुत थोड़ा सा आध्यात्मिक प्रयत्न अद्भुत परिणाम पैदा करता दीखता है और किन्हीं दूसरों में प्रयत्न बिलकुल भी नहीं होता पर फल वैसा ही अद्भुत होता है। इस प्रकार परिणाम प्रयत्नों के समानुपाती नहीं होते, क्या यह कृपा के कारण हुआ कहा जा सकता है ?

उ०—कृपा के सम्बन्ध में प्रयत्न और परिणाम के बीच परिमाणात्मक अनुरूपता का प्रश्न उचित नहीं। कृपा के कार्य में किसी प्रकारकी गणनायें नहीं होतीं। सम्भवतः केवल गुणात्मक पहलूका मूल्य होता है। जब अभीप्सु का कोई केन्द्रीय भाग सच्चे हृदय से किसी परिणाम को चाहता है, हम कह सकते हैं, कि कृपा उस क्षण में काम करना संभव पाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभीप्सु के दृष्टिकोण से आवश्यक बात यह है कि उस के अन्दर कुछ चीज (कोई वृत्ति) किसी परिणाम की सच्चे हृदय से चाहना करती है।

प्र०—तो इस प्रकार, वैयक्तिक प्रयत्न कृपा की क्रिया में सहायक वस्तु है ?

उ०—यह इस पर निर्भर करता है कि हम कहां से देख रहे हैं। अभीप्सु के दृष्टिकोण से, व्यक्ति को अपना प्रयत्न अनवरत रूप से इस दृढ़ श्रद्धा के साथ जारी रखना चाहिये कि कृपा समुचित समय पर आने से चूकेगी नहीं।

परन्तु कृपा इसलिये काम नहीं करती या काम करने को बांधित नहीं हो जाती क्योंकि वैयक्तिक प्रयत्न मौजूद है। अन्यथा वह कृपा ही नहीं होगी।

प्र०—क्या सब प्रकार का वैयक्तिक प्रयत्न तनाव का और अरोचकता का भी अनुभव पैदा नहीं करता ?

उ०—हां, ऐसा होता है अगर प्रयत्न उग्र और अहम्भाव-पूर्ण हो। परन्तु सब प्रयत्नों का वह फल नहीं होता। अगर कोई आदमी क्रिकेट या गान को पसन्द करता है तो वह उस पर शक्ति लगाने को न केवल सरल अपितु रुचिकर पाता है।

प्र०—यह इसीलिए होता है क्योंकि मनुष्य उस में दिलचस्पी रखता है।

उ०—हां, इसीलिये, वह काम जिस में मनुष्य दिलचस्पी रखता है सामान्यतया तनाव का भाव नहीं पैदा करता—निःसन्देह जब तक कि मनुष्य शक्ति से अधिक काम नहीं करता। वह काम प्रसन्नता भी दे सकता है। गोपियों का श्रेष्ठ उदाहरण हमारे सामने है—उन ग्वालिनों का जिन्हें श्रीकृष्ण को स्मरण करने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता था क्योंकि वे उससे प्रेम करती थीं। उपनिषदों में कहा है कि ईश्वर ने तप से संसार को उत्पन्न किया। यह बात नहीं थी कि उसने संसार को पैदा करना कठिन या थकाने वाला समझा, परन्तु यह कि संसार उस विशेष प्रयोजन के लिये एकत्रीभूत उसकी शक्तियों से उत्पन्न किया गया।

प्र०—परन्तु मैं भागवत कृपा की कार्यशैली को कुछ अधिक स्पष्टता के साथ समझना चाहता हूँ। क्या यह कहा जा सकता है कि वह मनुष्य जो साधारणतया आध्यात्मिक साक्षात्कार के अयोग्य समझा जाता है, भागवत कृपा से वहां तक पहुंच सकता है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उ०—निश्चय ही, वह पहुंच सकता है। कहने का मतलब यह कि एक मनुष्य जो बुद्धि, बल, नैतिकता के मानवीय मानदण्डों के अनुसार अयोग्य है (जो विद्या से रहित है, संकल्प या चरित्र की प्रत्यक्ष शक्ति से रहित है) आध्यात्मिक साक्षात्कार को एकाएक प्राप्त कर सकता है।

प्र०—किसी योग्यता के बगैर कैसे कोई महान् आध्यात्मिक साक्षात्कार को पा सकता है ? यह समझना कठिन है !

उ०—हो सकता है कि कोई बाहरी गुण या योग्यता न हो, परन्तु भीतरी गुण या योग्यता हो सकती है जो ईश्वर को दीखती है, परन्तु मनुष्यों को नहीं। बाहरी आवरणों के बावजूद भी सत्ता की गहराई में कोई चीज तैयार हो सकती है—या तैयार हो रही हो सकती है—कौन जानता है ?

प्र०—मैं गोपियों के विषय में सोच रहा था। यह कहा जाता है कि उन्होंने श्रीकृष्ण की बांसुरी सुनी और मोहित हो गईं और भागवत कृपा ने उन का उद्धार किया। कम से कम उनमें बांसुरी सुननेका गुण था—वह योग्यता हो सकती है ?

उ०—या हम कह सकते हैं कि उनकी सत्ता के अन्दर का कोई भाग बांसुरी को सुनने को तैयार था उससे भी पूर्व जब कि बांसुरी शुरू हुई !

प्र०—तो कोई भी व्यक्ति कृपा पर भरोसा नहीं रख सकता है क्योंकि कृपा अपनी क्रिया करने में बहुत अनिश्चित प्रतीत होती है।

उ०—इसके विपरीत, किसी पुरुष को भी निराश होने की जरूरत नहीं, चाहे उसके प्रयत्न कैसे ही निष्फल क्यों न रहे हों; क्योंकि कृपा किसी समय भी आकर उस के प्रयत्नों को सफलता से विभूषित कर सकती है।

प्र०—क्या मनुष्य भागवत कृपा पर निर्भर रह सकता या उस पर विश्वास कर सकता है ?

उ०—हां, कोई भी मनुष्य, भगवान् में श्रद्धापूर्ण भाव में, निश्चित आशा रख सकता है, उस पर अवलम्बन और विश्वास कर सकता है। परन्तु कोई अधिकार या विशेषाधिकार के तौर पर कृपा का दावा नहीं कर सकता। तब तो वह कृपा ही नहीं होगी।

अगर कृपा अपात्रोचित या प्रत्यक्षतः अपात्रोचित फल लाती है तो इससे उसके अपने उचित समय पर आने में मनुष्य की श्रद्धा बँध सकती है। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीचमें मनुष्य को धैर्यपूर्वक कृपा के आगमन में श्रद्धा रखते हुए अपना प्रयत्न जारी रखना चाहिये।

प्र०—मैंने सुन रखा है कि जब कृपा आती है, साधनाकी सब कठिनाइयां एक ही मिनट में गायब हो जाती हैं, मानो जादू हो गया हो। यही स्वामी विवेकानन्द के साथ हुआ जिन की कठिनाइयां श्री रामकृष्ण की कृपा से विलुप्त हो गईं।

उ०—अगर तुम्हारा यह अभिप्राय है कि कृपा किसी केन्द्रीय बाधा या कठिनाई की ग्रन्थि को हटा सकती है जिस से कि साधना अधिक निश्चित और सुरक्षित हो जावे, तो यह सत्य है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि कृपा के कार्य से, नियम से ही, सब कठिनाइयां दूर हो जाती हैं।

उदाहरणार्थ, स्वामी विवेकानन्द के दृष्टान्त में सन्देहकी केन्द्रीय कठिनाई दूर हो गई थी परन्तु लम्बी साधना आवश्यक रही और मेरा विश्वास है कि वह अन्त तक ही जारी रही।

प्र०—केन्द्रीय कठिनाई का निवारण भी समझ में नहीं आता।

उ०—अगर अभीप्सावान् की सत्ता के अन्दर की कोई चीज—उसकी सत्ता का कोई भाग, भगवान् को तुरत और निर्णायक समर्पण कर देता है तो इस प्रकार प्रधानभूत कठिनाई हटाई जा सकती है—इस में समझ में न आने वाली बात कुछ भी नहीं।

प्र०—शायद कृपा उन पर आसानी से आती है जो बिल्ली के बच्चे के समान हैं, भगवान् पर पूरी तरह आश्रित हैं, क्योंकि वे अपनी जन्मजात प्रकृति से ही ऐसे शीघ्र और निर्णायक समर्पण के योग्य प्रतीत होते हैं। जो आत्म-विश्वासी होते हैं उन पर शायद कृपा नहीं आती।

उ०—नहीं। यह (बिल्ली के बच्चे नहीं) बन्दर के बच्चे जैसों को भी, उन को जो कि अधिक आत्मविश्वासी हैं, प्राप्त होती है। ऐसे आदमी भी कृपा को प्राप्त करते हैं—परन्तु यह उन के प्रयत्नों पर निर्भर करती है। हां इतनी बात जरूर है कि उन के दृष्टान्त में कृपा के निर्णायक स्पर्श के प्राप्त होने में बहुत समय लग सकता है।

प्र०—तो, क्या यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कृपा सब के लिये काम करती है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उ०—हां, सब भागवत कृपा को प्राप्त कर सकते हैं सिवाय उनके जो कि इच्छापूर्वक उसे दूर भगा देते हैं, जो अपने आप को पथ से पृथक् कर लेते हैं, या उन के जो कि भगवान् के विरुद्ध विद्रोह करते या विश्वासघात करते हैं। इन सब अवस्थाओं में मनुष्य अपने आपको अपने अन्तरतम आत्मा से—अपने हृत्पुरुष से पृथक् कर लेता है।

प्र०—अगर कृपा इतनी सामान्य है तो क्या हम यह नहीं कह सकते कि यह विश्वव्यापी भागवत करुणा है जो निष्पक्षतया कार्य करती है। इस बारेमें फिर खास कुछ नहीं है। दूसरे शब्दों में भगवान की कृपा विश्वव्याप्त है और मानव जीव को इसे केवल प्राप्त करना होता है।

उ०—नहीं, कृपा जिस का कि यहां वर्णन है विश्वव्यापी भागवत करुणा नहीं। वह तो बिल्कुल दूसरी चीज़ है। यह कृपा विशेष वस्तु है जो कि सीधे ही अथवा गुरु की या पवित्र पुरुषों की निमित्तता के द्वारा काम करती है।

जब यह कहा जाता है कि सब कृपा प्राप्त कर सकते हैं इस का अर्थ होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को कृपा प्राप्त करने का अपना अवसर व क्षमता प्राप्त है।

यह भागवत कृपा मानवीय धारणाओं के अनुसार काम नहीं करती, न ही करने को बाधित है। यह अवसरों पर काम करती है सामान्य मानदण्डों और नैतिक आचारों की उपेक्षा करते हुए, जैसे कि जगाई और मधाई, दो लुटेरों के दृष्टान्त में या लंपट बिल्वमङ्गल और दुराचारी आगस्टाइन के उदाहरण में जो कि सब ही कृपा के स्पर्श से बदल गये। यह एक समान ही पुण्यात्माओं पर आ सकती है। कृपा के कार्य के सम्बन्ध में कोई मानसिक नियम या सार्वभौम सिद्धान्त नहीं हैं। परन्तु फिर भी यह विवेक के बग़ैर काम करती नहीं प्रतीत होती। केवल वह विवेक मानसिक या मानवीय नहीं है।

प्र०—जिस तरीके से कृपा की व्याख्या की जाती है उससे मैं समझता हूँ कि वह उच्चतम सत्य का एकमात्र मार्ग है।

उ०—यह भी सच नहीं है। सत्य के सहस्रों मार्ग हैं और कृपा उन में से एक है। वास्तव में कृपा हम उस साधन को कहते हैं जिस में कि आत्मा या अनन्त सत्ता मानसिक कारणों से स्वतन्त्र, ऊपर से कार्य को निर्धारित करती है, अर्थात् अपनी गति का वह स्वयं निर्णय करती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्र०—उदाहरण के तौर पर, क्या हम कह सकते हैं कि भागवत कृपा का अर्थ यह है कि आत्मा अपने व्यक्त करने के समय और प्रकार को स्वयं चुनती है; या यह कि आन्तर सत्ता—आत्मा—आत्म-साक्षात्कार और आत्मज्ञान में स्वयं सहसा कुसुमित हो उठती है ?

उ०—ये तीनों के तीनों,—भागवत कृपा, समय और ढंगका चुनाव करती हुई आत्मा और प्रस्फुटित होती हुई आत्मा—लगभग एक ही अर्थ रखती हैं, ऐसा मेरा विश्वास है। —अम्बालाल पुराणी

एकमात्र भगवत्कृपा पर ही आश्रित रहना, और सभी परिस्थितियों में इस की सहायता का आवाहन करना, यह हमें सीखना होगा; तब यह निरन्तर चमत्कार करके दिखलायेगी।

आओ हम अपने संकल्प भगवत्कृपा के प्रति अर्पित कर देवें, भेंट चढ़ा देवें; यह कृपा ही है, जो सब कुछ पूरा करती है।

* * *

हमारा भगवान् में जितना भरोसा है, उसके ही अनुपात में भगवत्कृपा हमारे लिये काम कर सकती और सहायता पहुंचा सकती है।

* * *

भगवत्कृपा के सामने कौन पात्र है या कौन अपात्र ?
सब उसी एक अभिन्न माता के पुत्र हैं।
उस का प्रेम उन सब पर एक बराबर बरस रहा है।
परन्तु वह हर एकको उसकी प्रकृति और ग्रहणसामर्थ्यके अनुसार देती है।

* * *

आओ, हम अपने आप को, विना कुछ भी बचाए रखे भगवान् को सौंप दें, इससे ही हम सर्वोत्तम प्रकार से भगवत्कृपा को प्राप्त कर सकेंगे।

* * *

उस परम पुरुषने अपनी कृपाको इस जगत्में भेजा है, इसकी रक्षाके लिये।

* * *

चाहे कितनी लम्बी यात्रा हो और कितना महान् यात्री, अन्त में भगवान् की कृपा पर ही एकमात्र भरोसा सदा पाया गया है।

—'मातृवाणी' से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिज्ञासुओं से भेंट

अगस्त-दर्शन के बाद पांडिचेरी से चल कर मेरा प्रोग्राम कुछ घूमने-घामने का ही बन गया। सी. पी. में कटनी, सतना, पन्ना होता हुआ कानपुर, फिर रामगढ़ (ज़िला नैनीताल), अलमोड़ा और मीरतोला (अलमोड़ा ज़िला) होकर श्रीअरविन्द निकेतन देहली पहुंच गया। इस भ्रमण में अनेक आत्मजिज्ञासुओं से भेंट हुई। उन में से कइयों के जीवन की सरलता—बाह्य वेष-भूषा की नहीं, हृदय की सरलता और शुद्धता—तथा अभीप्सा को अनुभव करके अनुपम रस मिला। ऐसे व्यक्तियों का प्रेम कितना अद्भुत होता है यह आस्वादन करने से ही जाना जा सकता है। सामान्य रूप से जो हम कहीं आदर-सत्कार पाकर सुख अनुभव करते हैं वह इस प्रेम की कल्पना देने में भी समर्थ नहीं होता। कुछ ऐसे अच्छी कोटि के जिज्ञासुओं के अलावा सामान्य जिज्ञासुओं को मिल कर भी बड़ा आनन्द हुआ। आजकल का सांस्कृतिक प्रवाह व्यक्तिको सामान्य रूपसे खाने पीने, रहने सहने, और लोक-मानमर्यादा की आवश्यकताओं को अधिकाधिक पूरा करने में घेरे रखता है। व्यक्ति को समय ही नहीं मिलता, अथवा सामूहिक सामाजिक प्रेरणा (social suggestion) ही उसे आज्ञा नहीं देती कि वह इन आवश्यकताओं की चिन्ता छोड़ कभी स्वतन्त्र भाव में अपने आप से यह प्रश्न पूछे "आखिर, यह दौड़धूप मैं किस लिये कर रहा हूँ, इसका फल और प्रयोजन क्या ? मेरे जीवन का सच्चा उद्देश्य क्या यही है ?" सामान्य जिज्ञासु भी, निश्चय ही, यह अनुभव करता है कि साधारण जीवन अत्यन्त अपूर्ण है अथवा इसे पूर्ण बनाने के लिये 'कुछ और' चाहिये। इस 'कुछ और' की उसे खोज रहती है। इस 'कुछ और' को खोजने वाले बेशक अनेक प्रकार के होते हैं। दुःखी और पीड़ित होते हैं, संसार-भिगौड़े तथा देवभीरू होते हैं, कुतूहल और बौद्धिक गवेषणा वाले होते हैं, असाधारण शक्तियोंको प्राप्त करनेके लोभ वाले होते हैं, अथवा जिन्हें पूर्व-तैयारीके कारण तथा प्रभु-कृपा से हृदयमें भगवान् का स्पर्श कभी हुआ होता है, ऐसे भगवान् के शुद्ध भाव वाले भक्त और प्रेमी भी होते हैं। इन सब से मिल कर अपने अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढंग का स्वाद और रस मिलता है। इनमें खोज होती है, जीवन के लिये अभीप्सा होती है।

भगवान् के भक्तों और जिज्ञासुओं से मिल कर तो आनन्द होता ही है। सामान्य लोगों के सम्पर्क ने भी कई स्थानों पर एक नया अनुभव प्रदान किया। वह यह कि साधारण पढ़ा-लिखा आदमी जीवनके प्रश्नके प्रति वास्तव में उदासीन नहीं, जैसा कि हम आम तौरपर समझते हैं। बल्कि बात यह है कि परम्परागत धर्म जिस प्रकार जीवन के प्रश्न को उपस्थित करता है अथवा जो उस का हल देता है वह सामान्य पढ़े-लिखे आदर्म केलिये कुछ प्रेरक शक्ति नहीं रखते। 'चौरासी लाख योनि काट कर यह नरतन पाया है इस में कुछ धर्म-कमाई करनी चाहिये' आदि शब्दों का बल वर्तमान पढ़ा-लिखा अनुभव नहीं करता। उन्हीं शब्दों के सत्य को यदि आप वर्तमान मानसिकता अर्थात् दृष्टिकोण के सम्बन्ध से कहें तो व्यक्ति तुरन्त बातको समझता है और उस में कुछ प्रेरणा उत्पन्न होती है। आजका पढ़ा-लिखा आदमी आत्मा और परमात्मा के लिये कुछ भी भावना न रखता हो, उसे स्वर्ग और नरककी भी परवाह न हो, परन्तु वह अपने जीवन के सुख-दुःख को तो जरूर अनुभव करता है। वह यह भी बराबर जानता है कि आजकल की तृष्णापूर्ण दौड़-धूप में उसे शान्ति नहीं, कि उस का जीवन खाली खाली सा है। ऐसा खाली है कि बीस काम-धन्धे और अनेक विनोद के साधन भी उसे भरने में सफल नहीं होते। सहज आनन्द या अपने आप में प्रसन्नता के भाव को वह जानता ही नहीं। वह बाहर की व्यस्तताओं में ही सदा रस ढूंढा करता है। परन्तु यह सब कुछ करते हुए जहां कभी पांच मिनट के लिये बाहर की व्यस्तता-शृंखला टूट जाती है, स्टेशन पर गाड़ी के लिये प्रतीक्षा करनी पड़ जाती है, तो उसका जीवन उसके लिये भार हो जाता है। आप यदि इस अनुभवके सम्बन्धसे जीवन-प्रश्नपर चर्चा चलावें तो आजका पढ़ा-लिखा रुचिसे सुनता ही नहीं बल्कि आपकी सहायताको शीघ्र ढूंढने भी लगता है। आप उसे उसकी वर्तमान स्थितिके मूल कारण समझाइये अथवा उन के दूर करनेके उपाय बतलाइये वह सब सुनने और जानने में उसे उत्साह होता है।

यह सामान्य पढ़े-लिखे के बारे का अनुभव मुझे बड़ा सुन्दर लगा। अपने इस भ्रमण का इसे एक विशेष फल स्वीकार करने में मुझे प्रसन्नता है। इस स्थिति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का कारण क्या है ? कारण, वास्तव में, प्रत्यक्ष ही है। संस्कृति का वायुमण्डल और दृष्टिकोण समय के साथ बदलता रहता है। परम्परागत धर्म एक पहले समय की संस्कृति के दृष्टिकोण को आज परिवर्तित समय के लोगों के सामने रखता है। क्या आश्चर्य कि लोग उसे नहीं समझ पाते ? आज की परिस्थिति, शिक्षा आदि एक नयी मानसिकता को पैदा कर रही हैं। आप के लिये आवश्यक है कि आप इस मानसिकता की भाषाको बोलें, सत्य तो वही सनातन सत्य ही कहने होंगे।

यह तो कुछ सामान्य विचार केवल भूमिका रूप हैं। व्यक्तियों और स्थानों के विशेष अनुभव जरा लम्बी कथा हैं। कटनी पहुंचने से पहले तो रेलगाड़ी में ही दो एक संसर्ग बड़े अच्छे रहे थे। गाड़ी में कई बार बड़े सुन्दर संबन्ध हो जाते हैं। एक सज्जन लाहौरके समीप एक स्टेशन पर के गुडस क्लर्क थे। श्रीअरविन्दाश्रम से अगस्त-दर्शन के बाद लौट रहे थे। किस त्याग से वह पांडिचेरी पहुंच पाये होंगे यह अपने आप में उन की जिज्ञासा का ओजस्वी भाव था। पर इससे अधिक रुचि और आनन्द की बात श्रीमाता जी की ओर उनकी पहली बार की प्रतिक्रिया थी। माताजी के रहस्यमय आत्म-बल को उन्होंने किस प्रकार अनुभव किया था, यह वास्तव में आश्चर्य की बात थी। फिर उनके कुछ एक प्रश्न उन की सच्ची जिज्ञासा के पूर्ण द्योतक थे। उन्हें मैं अपने भ्रमण का संबन्ध कर के इस कारण बतलाता हूँ कि उन से आश्रम में विशेष जानकारी नहीं हुई थी और मद्रास में अचानक ही दीखे। फिर बहुत देर बाद इकट्ठे बैठने का सुयोग हुआ।

कटनी में एक वैज्ञानिक महोदय से भेंट हुई। वैज्ञानिक लोगों का सामान्य रूप से दृष्टिकोण यही होता है कि जगत् तथा मनुष्य-जीवन जड़ परमाणुओं का बना हुआ है; आत्मा परमात्मा ढकोसले मात्र हैं। इस वैज्ञानिक का भी बौद्धिक विश्वास यही था परन्तु उनमें विशेष बात यह थी कि वह अपने जीवनमें एक सच्चा भाव रखते थे। उन्होंने बातचीत के शुरूमें ही स्वीकार किया कि मैंने जीवन के विषय में कभी गम्भीरता से विचारा नहीं और योग को बिलकुल भी नहीं समझता। परन्तु मुझे इस विषय में रुचि जरूर है; मैं आध्यात्मिकता के अज्ञात जगत् को जानना चाहता हूँ। यह उन की मानसिक पृष्ठ-भूमिका थी; पर जिज्ञासा शुद्ध थी, इस वास्ते बातचीत बड़े आनन्द की रही और पीछे वह योग विषय की कुछ पुस्तकें पढ़ने में भी प्रवृत्त हुए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सतना भ्रमण का अगला पड़ाव था। वहां का एक सम्पर्क रोचक रहा। एक व्यक्ति सुरुचि और सद्भाव वाला। परन्तु जीवन के कटु अनुभवों से इतना हारा हुआ कि जीवन-मात्र उसके लिये दुःख और छल रूप हो गया है। सामान्य जीवन ऐसा है यह ही नहीं, बल्कि जीवन की संभावना भी यही है। सामान्य जीवन से अधिक कुछ और संभव है यह आशा ही टूट गई है। इस सम्बन्ध से परमात्मा कुछ है यह संभव भले ही हो परन्तु वह परमात्मा सद्भाव वाला नहीं, क्योंकि उसने जीवन ऐसा छल-कपट वाला बनाया है। फिर भी इसी छली परमात्माके छली संसार में कुछ भला करना ही अच्छा है। इस वास्ते वह अपने अवकाश के समय में कुछ गरीब बच्चों को पढ़ाना अपने लिये योग्य समझते हैं। यह मेरा सम्पर्क मैं जिज्ञासु से भेंट के रूप में यहां नहीं रख सकता हूँ। परन्तु इस में हम आज की विस्तृत मानसिकता का नमूना देख सकते हैं। सामान्य जीवन सुख दुःख की खिचड़ी है, यह सभी अनुभव करते हैं। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि आनन्दमय जीवन की संभावना तक भी वे कल्पना में नहीं ला सकते। योग, वास्तव में, शुरू ही वहां होता है जहां मनुष्य इस संभावना को थोड़ा या अधिक हार्दिक रूप से अनुभव करता हो।

पन्नाका अनुभव सारे भ्रमणमें हीरेकी तरह चमकता दीखता है। पन्नाका देशीय राज्य प्राकृतिक दृष्टिसे बड़ा ही सुन्दर है। मैदान, पहाड़, चौड़ी घाटियां, विस्तृत हरियाली और जलप्रपात मिल कर अपूर्व सौन्दर्य पैदा करते हैं। पन्ना शहर एक चौड़े मैदान में बसा हुआ है। पर विशेषता यह है कि वह मैदान गोलाकार हरी हरी पहाड़ियों से घिरा हुआ है। इतिहास में यह घेरा प्राकृतिक फसील का काम देता रहा है। पर पन्ना की देशव्यापी ख्याति वहाँ के हीरे हैं। भूमि में कुछ नीचे एक विशेष पत्थर और बजरी की तह में हीरे मिलते हैं। पत्थर कितना प्रकाशहीन, उसके साथ हीरे जैसा ज्योतिर्मय पदार्थ मिलता है। ऐसी भूमि में क्या आश्चर्य जो पत्थर मिट्टी से ढके-दबे पार्थिव हीरे खोजने वालों में से मन और इन्द्रियों की वासना से आच्छादित आत्मा-रूपी परम हीरे को खोजने वाले निकल आवें। वास्तव में परिस्थिति भी ऐसी ही है। श्रीअरविन्दसाधनालय— नाम कितना सुन्दर है— वहां के उन ८-१० व्यक्तियों का संगठन है जो आश्रम में हो आये हैं और जिन्होंने अपने जीवन में एक गम्भीर स्पर्श अनुभव किया है। सच्चे जिज्ञासु-भाव का वहां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खूब ही आनन्द मिला। यह भावना साधनालय के व्यक्तियों से बाहर भी पन्ना में देखने में आई जिसमें अपना ही अनुपम रस था। एक बात विशेष उल्लेखनीय है। वह यह कि साधनालय के प्रमुख व्यक्ति उन विभागों के कार्यकर्त्ता हैं जो योग अथवा योग जैसी चीजों से कोसों दूर समझे जाते हैं, यानी पुलिस और सी. आई. डी.। मैं समझता हूँ वे व्यक्ति अपने काम में योग-रुचि को अथवा योग-रुचि में काम को बाधक नहीं पाते। वास्तव में यह होना आवश्यक भी नहीं। और वैसे हर काम धन्धे में ही कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं या आ जाती हैं जिन्हें योग का जिज्ञासु संशोधित करना चाहेगा अथवा जिनके संबन्ध में वह अपनी वृत्ति को संशोधित करना चाहेगा।

रामगढ़, अलमोड़ा, मिरतोला आदि कुमाऊं के पहाड़ों में घूमते हुए एक अनुभव बड़ा असाधारण हुआ। वह यह कि दूर के गांव में कई बार ऐसे सामान्य व्यक्ति मिल जाते जो श्रीअरविन्द के बारे में काफी कुछ जानते हैं। यही अनुभव बार बार अन्य स्थानों पर भी सामने आया है। कई वृद्ध सज्जन तो श्रीअरविन्द की बंग-भंग के समय की अनेक स्मृतियां बड़ी भक्ति और प्यार से सम्हाले हुए हैं। एक सज्जन ने सुनाया —और बड़े सजीव गौरव के भाव में —कि जब श्रीअरविन्द का १६०८-६ में अभियोग चल रहा था उस समय जिरह में किसी सम्बन्ध में सरकारी वकील नारटन ने कहा कि अमुक पुस्तक अरविन्द घोष की ही लिखी हो सकती है क्योंकि ऐसी अंग्रेजी देश भर में और कोई नहीं लिख सकता। वही सज्जन श्रीअरविन्दके 'वन्दे मातरम्' पत्रको याद करके कहने लगे वह उसे २-३ बार पढ़ा करते थे और उस के लेखों में राजनीति, धर्म, दर्शन और योग एकरस मिले हुए होते थे।

जिन्होंने श्रीअरविन्द से योग विषय में लाभ उठाया है जब कभी उनसे भेंट हो जाती है तो मनुष्य अद्भुत ओजस्वी भाव को अनुभव करता है। अलमोड़े से कुछ मील परे एक गांव में एक संन्यासी महानुभाव से भेंट हुई। वह एकदम भक्त, जिज्ञासु और परोपकार वृत्ति वाले थे। वह अपने ही साधना-पथ में थे। परन्तु वे श्रीअरविन्द के ग्रन्थका बड़े उदार और जिज्ञासु भावसे अध्ययन करते थे। उनका श्रीअरविन्द के प्रति प्रेम और भक्ति भाव बड़ा मौलिक था। एक और भी संन्यासी जिज्ञासु से भेंट हुई। वास्तव में उनकी उपस्थिति में भेंट किसी और से हुई थी। वह हमारी बातचीत को सहज उदासीन भाव में सुनते रहते। संन्यासियों में जहां संन्यास-पद की भावना होती है वहां सहज ही जिज्ञासा में फर्क पड़ जायगा। वह जब स्वयं ही थोड़े अथवा बहुत अपने अपने क्षेत्र में गुरु भाव से पूजे जाते हों तो उन की बाह्य परिस्थिति भी बाधा करती है कि वह किसी अन्य गुरु की — वह कैसा भी क्यों न हो — कुछ बात सुनें। उक्त संन्यासी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ उदासीन थे कुछ विरक्त, और विशेष रूप से उन का यह विश्वास भी था कि आखिर मनुष्य को स्वयं ही करना धरना है, इसमें दूसरा कोई क्या कर सकता है। इन कारणों से उन्हें कोई इच्छा नहीं हो सकती थी कि वह श्रीअरविन्द जैसे योगीके सम्बन्ध की बात को भी उत्सुकता से सुनें। परन्तु थे वह जिज्ञासु और शीघ्र ही उदासीन श्रोता से वह रुचिपूर्ण श्रोता हो गये, फिर प्रश्नकर्त्ता और फिर सीधे श्रीअरविन्द और माताजी के जिज्ञासु और धीर पाठक बनते दीखने लगे।

इस सम्बन्ध में एक सिद्धान्त का जो बहुत बार सुनने में आया उल्लेख करने की इच्छा होती है। साधक और जिज्ञासु यह कहते सुने जाते हैं कि गुरु ने तो हमें मार्ग बतला दिया और यदि हम ही उसका पालन न करें तो हमारी उन्नति कैसे हो। मेरा यह कहना कि आध्यात्मिक गुरु केवल पण्डित की तरह मार्ग बतला ही नहीं देता बल्कि वह तो हाथ पकड़ कर उस पर चलाता चला जाता है सामान्यतया समझ में न आता। गुरु पढ़ाता लिखाता नहीं वह तो जगा देता हैं, यह विचार भी कम समझ में आता। वास्तव में, बीच के समय की हमारी अवनति के अनुरूप ही यह आध्यात्मिक जीवन की घटिया मान-मर्यादा है।

कुमाऊं के पर्वतों के सारे भ्रमण में शुद्ध आध्यात्मिक आनन्द की दृष्टि से मेरे लिये मिरतोला में श्री यशोदामाई जी का आश्रम रहा। वहां श्री माई जी के सम्पर्क का अद्भुत प्रकाश और बल तथा श्रीकृष्णप्रेम जी के भक्तिभाव और ज्ञान का रसास्वाद भुलाये नहीं भूल सकता। आनन्दप्रिय जी का सरल भाव तथा सारे आश्रम का सामान्य वायुमण्डल बड़ी प्यारी वस्तु रही। परन्तु संभवतः उन्हें सार्वजनिक रूप से कही हुई ये पंक्तियां प्रिय न हों, अधिक कुछ कहनेसे तो मुझे अपने आप को रोकना ही होगा।

बार बार ही ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं जिन्होंने श्रीअरविन्द से जीवन-संबन्धी मौलिक प्रकाश पाया है। इनका इतिहास जानना बड़ी प्रिय चीज होती है। मेरठ में एक व्यक्ति मिले। श्रीअरविन्द के नाम पर उन्हें प्रेम के घूंट आते। शायद विशेष अवसर यह था कि वह ऐसे व्यक्ति से मिल रहे थे जो पांडिचेरी आश्रम में हो आया है, जो उनके गुरु श्रीअरविन्द के दर्शन कर चुका है। अपने इतिहासके सम्बन्ध में उन्होंने बतलाया कि १५ साल से अधिक हुए उन्हें किसी तरह The Yoga and its Objects नामक पुस्तक हाथ लग गई। उस की विधि के अनुसार उन्होंने अभ्यास शुरू कर दिया। बहुत पीछे जब उन्हें Bases of Yoga मिला वह साधना में विशेष प्रतिष्ठित अनुभव करने लगे।

उन्होंने Bases को किस परिश्रमसे पढ़ रखा था! लाल नीले निशान लगा लगाकर!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह व्यक्ति अंग्रेज़ी का साधारण सा ज्ञान रखते हैं। परन्तु मैंने देखा कि वे विषय को समझते खूब हैं। मैंने पहले सहयोगी प्रोफेसरों तक के मुखसे सुन रखा था कि श्रीअरविन्द की पुस्तकें समझमें नहीं आतीं। इस भ्रमणमें अन्य एक दो स्थानों पर यही कठिनाई सामने आई और मैंने उन व्यक्तियों को स्वयं कुछ सहायता देनें का प्रस्ताव किया। Words of the Mother लेकर इकट्ठा पढ़ना शुरू किया। न समझ में आने की कठिनाई जाती रही। मैंने तो अनुभव किया कि ये योगकी पुस्तकें अपना वायुमण्डल रखती हैं और एक प्रकारके अनुभव की अपेक्षा करती हैं। जिन व्यक्तियों को वह अनुभव थोड़ा बहुत प्राप्त होता है वे सामान्य अङ्गरेज़ी जानते हुए भी पुस्तकों को समझते जाते हैं। परन्तु वह अनुभव न होने पर केवल बुद्धिकी कुशलता और अङ्गरेजी का ज्ञान योग की पुस्तकें पढ़ने में पर्याप्त सहायक नहीं होता।

एक व्यक्ति ऐसे हैं जो कुछ सालोंसे Bases of Yoga नित्यके स्वाध्यायकी पुस्तक के रूप में बरतते हैं। प्रातःकाल इस के २-३ पन्ने यथार्थ मनोभाव में पढ़ लेना उन्हें सारे दिन के लिये प्रसन्नता देने वाला होता है। उन्होंने एक बार कहा भी कि पिछले ३ वर्षों में जो उन्होंने इस पुस्तक से आत्मलाभ किया है वह उन्हें २० वर्ष के संध्या हवन में नहीं मिला था। यह सज्जन दर्शन के लिये कभी पांडिचेरी नहीं गये और न ही इसके लिये उनकी कुछ उत्सुकता है। वह इस पुस्तक को सम्हाल कर रखते हैं, घर हो या सफर उनका स्वाध्याय नहीं टूटता और वे अपने जीवन से प्रसन्न हैं। हां, साधना की विशेष कठिनाइयों में वे श्रीअरविन्द को पत्र लिख देते हैं और यह वह जान गये हैं कि लिखित उत्तर आना आवश्यक नहीं। इस श्रेणी और शैलीके जिज्ञासुओंसे मिल कर जो आनन्द होता है वह वर्णनमें आना संभव नहीं।

अलमोड़े में एक अङ्गरेज स्त्री-पुरुष के जिज्ञासुभाव की चर्चा पहलेसे सुन रखी थी। उनसे जाकर मिला। दोनों व्यक्ति बड़े गंभीर, सांस्कृतिक दृष्टिकोण वाले। महात्मा बुद्ध के बड़े भक्त। अब कुछ वर्षों से श्रीअरविन्द को जीवन का पथप्रदर्शक अनुभव करते हैं और उनके ग्रन्थोंसे ही सदा जीवनका प्रकाश ढूंडते हैं। बड़ा सुन्दर अनुभव था। श्रीअरविन्द की पुस्तकों में से उन की परम प्रिय वस्तु ईशोपनिषद् है। श्रीमान् महोदय ने कहा कि हम दोनों को श्रीअरविन्द का ईशोपनिषद् का पूरा अनुवाद याद है और कोई दिन ही बीतता होगा जब हम इसका पाठ न करते हों।

व्यक्तियों के सम्पर्क का उल्लेख करते करते हमने बहुत समय बिता दिया। कुछ सार्वजनिक ढंग के सम्पर्कों का भी जरा उल्लेख वृत्तान्त के लिए आवश्यक है। दो स्कूलों में पूरी स्कूल-जनता के सामने—छोटे बड़े बालकों और अध्यापक लोगों के सामने—व्याख्यान देने का अवसर हुआ। मेरे सामने प्रश्न था कि योग और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द के विषय पर इस बालक-जनता के समक्ष आ जाने वाली बात क्या कहूँ और कैसे कहूँ। विषय-निरूपण का स्वरूप देना यहां संभव नहीं। परन्तु अन्त में अनुभव बड़ा सुन्दर रहा। वह यह कि योग-विषयक चर्चा हर विकासश्रेणी के व्यक्ति तथा जनतासे की जा सकती है। श्रीअरविन्दका वाक्य All life is yoga—सारा जीवन ही योग है-यदि सत्य है तो यह भी सत्य है कि yoga is meant for all life अर्थात् योग सारे जीवनके मतलब की चीज है। जीवन-विकास की हर स्थिति और अवस्था के लिये उपयुक्त योगशिक्षा हो सकती है। एक बड़े कालिज की Professor's Academy के सामने बोलनेके अवसर ने और ही प्रकार की स्थिति पैदा कर दी थी। बौद्धिक कुशलता आज संदेहवाद से गहरा नाता जोड़े हुए है। आध्यात्मिक जीवन के सत्य ऐसी उपस्थिति के लिये आपत्ति ढा देते हैं। परन्तु वर्तमान बौद्धिक व्यक्ति विचार-स्वातन्त्र्य का प्रेमी है। यदि उससे कुछ मनवाने का यत्न न किया जाय—और ऐसा करना योगदृष्टिसे अशुद्ध भी है—तो वह और नहीं तो कुतूहल भावसे अध्यात्मवाद की बात सुनना जरूर चाहेगा। एक और १५-२० की गोष्ठी में ठीक इसी प्रकार की भूल से परिस्थिति कुछ अनुचित ढंग की हो गई। व्यक्ति कुछ इस ढंग से इकट्ठे हुए—उनमें २-३ इस भाव वाले थे—कुछ निमन्त्रण से उनका यह संस्कार बन गया मानो उन्हें किसी नई बात का कायल करने का यत्न अभिप्रेत था। तब जिज्ञासा का वायुमण्डल संभव न रहा था।

श्री अरविन्दाश्रम के संबन्ध में यथार्थ परिचिति जनता को अभी बहुत कम है। उस के सम्बन्ध में यद्यपि रुचि काफी देखने में आती है। अतः श्रीअरविन्दाश्रम से सम्बन्ध रखने वाला कोई भी व्यक्ति जब कुछ घूमता फिरता है तो उससे अनेक प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं। वे प्रश्न जनता की आश्रम को समझने में कठिनाइयां जतलाते हैं। यहां उन प्रश्नों का भी थोड़ा उल्लेख करना रोचक होगा। कइयों के तो आश्रम के सम्बन्ध में बहुत ही विचित्र विचार हैं। क्या आश्रम के मकान हैं, सुना है श्रीअरविन्द गुफा में बन्द रहते हैं, कि वे खाते पीते कुछ नहीं। ऐसे विचार शीघ्र ही शुद्ध हो जाते हैं। परन्तु एक कठिनाई जो सामान्य रूप से अनुभव की जाती है वह यह कि आश्रम में श्रीअरविन्द तो मिलते नहीं, दिखते तक भी नहीं तो फिर वहाँ रहने से किसी को क्या लाभ हो सकता है। वास्तव में मौन आत्मिक क्रिया का अनुभव हमारे वर्तमान जीवन में पुराने इतिहास की बात हो गई है। इस वास्ते इसे समझने में कठिनाई होती है। पढ़ना पढ़ाना आदि बौद्धिक चेष्टायें सहज समझ में आ जाती हैं। सिद्ध गुरु की मौन आत्म-सहायता भारत जैसे अध्यात्मपरायण देश में भी दूर की बात हो गई है। मन और बुद्धि का सहारा लेने वाले व्यक्तियों से अन्त में यह ही कहना होता है कि कोई चाहे तो यही मान ले कि आश्रमका वायुमण्डल ही ऐसा है कि एक नया आदमी वहाँ जीवन में एक नयी स्फूर्ति अनुभव करने लगता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु जहां आश्रम का मौनप्रधान व्यवहार सामान्य व्यक्ति के लिये ऐसी कठिनाई उपस्थित करता है वहाँ एक सज्जन जो दक्षिण की यात्राके प्रसंग में आश्रम में भी दो दिन रह आये थे पीछे आश्रम के संस्कार देते हुए कहने लगे कि उनका वहां का एक अनुभव सर्वथा अद्वितीय हुआ है। I saw there silence as a dynamic force—मैंने वहाँ मौन व्यवहार को क्रियाशील शक्ति के रूप में अनुभव किया। निश्चित ही उस सज्जन ने आश्रम-जीवन के एक परम मार्मिक सत्य को अनुभव किया था।

जब आश्रमसम्बन्धी स्थूल बातें खतम हो जाती हैं और योगशैली की बात चलती है तब एक और ही कठिनाई सामने आती है। लोग पूछते हैं श्रीअरविन्द के योग के अभ्यास का क्रम क्या है? उस समय पहली बात यह कहनी होती है कि श्रीअरविन्द का योग विशेषतः मनोवैज्ञानिक है और उसकी क्रियायें आभ्यन्तरिक हैं। फिर भगवान् तथा पूर्णता के लिये अभीप्सा तथा निम्न वृत्तियों के त्याग की क्रिया बतलानी होती है। इनके अतिरिक्त भागवती शक्ति के प्रति अपने आपको खोलने की वृत्ति की व्याख्या की जाती है। बिल्कुल मुख्य यही तीन क्रियायें हैं। वैसे इनके अलावा और भी बहुत हैं जो साधक धीरे धीरे अनुभव करता चला जाता है।

परन्तु सामान्य बहिर्मुख वृत्ति में लोग इन आभ्यन्तरिक क्रियाओं को पर्याप्त स्वरूपवान् अनुभव नहीं करते। फिर हठयोग और राजयोग के संस्कार में साधारण जन कुछ शारीरिक क्रियाओंकी आशा करते हैं। दो चार बार एक दो पुस्तकों को पढ़ लेने के बाद ही व्यक्ति श्रीअरविन्द के पूर्णयोग की विशेषताओं को कुछ अनुभव करने लगता है। फिर थोड़े अभ्यास के बाद इस साधना के महत्त्व और मर्म को समझने लगता है।

निश्चित ही सब प्रश्नकर्त्ता जिज्ञासु नहीं होते। ईर्ष्या, द्वेष, विरोध भाव वालों से भी भेंट होनी आवश्यक ठहरी। आप उन से मिलना अनावश्यक जरूर समझेंगे परन्तु वह अपनी इच्छापूर्ति के लिये आप को ढूंढ लेंगे। इस प्रकार के सज्जनों से ज्यादा कष्ट नहीं होता। उनका भाव लगभग प्रत्यक्ष ही होता है। और आप उन्हें शीघ्र ही पहचान जायेंगे। अधिक आपत्ति-जनक वे होते हैं जो ईर्ष्या, द्वेष और विरोध को प्रकट जिज्ञासा और नम्रता से छिपाए हुए होते हैं और वे स्वयं भी अपनी इस मानसिक विकृति से अनभिज्ञ होते हैं। मुझे एक व्यक्ति का अनुभव विशेष ध्यान में आ रहा है। वह सज्जन विशेष बौद्धिक। परन्तु मानो उन की अपने अन्दर की अशान्ति श्रीअरविन्द के शिष्यों की शान्ति अथवा अपेक्षाकृत स्थिर मति से अपमानितसी हुई हुई बदला चाहती है। इसका प्रकट रूप था आश्रमसंबन्धी बात बात में कठिनाई और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदेह अनुभव करना। इस वृत्ति को वे छिपाये हुए थे अथवा इस के धोखे में आये हुए कुछ जिज्ञासाभाव के camouflage (ऊपर के ढोंग) के कारण। मैं उन से आश्रम तथा श्रीअरविन्द के बारे में बात करने से कतराऊं। उस से कुछ लाभ न था। मैं देखता था जिज्ञासा ही न थी। परन्तु वे समझने के बहाने बात शुरू करते और कुछ आक्षेपादि करके संतोष अनुभव करते। वह व्यक्ति कभी कभी मैं अनुभव करता मानो मेरे से कह रहे हों, 'मुझे भी शान्ति दिलाओ, नहीं तो मैं श्रीअरविन्द व आश्रम की बुराई करूंगा'। परन्तु वह भूल रहे थे। आत्म-शान्ति धमकी से नहीं मिलती। 'प्रेम न बाड़ी ऊपजे प्रेम न हाट बिकाय, राजा परजा जा रुचे शीष देय लय जाय।' आत्मशान्ति और प्रेमरस शीष दिये बिना नहीं मिलते। इन का दाम शुद्ध जिज्ञासा ही है।

इस भ्रमण में इधर उधर घूमते फिरते अथवा भांति भांति के लोगों से मिलते जुलते एक मनोवैज्ञानिक सत्य को कुछ विशेष रूप से अनुभव किया। मैंने देखा कि यह काफी नहीं है कि आपने अपने लिये श्रीअरविन्द के विचारों को समझ रखा है अथवा आप अपने आप को साधनापथ पर स्थित पाते हैं। जहां दूसरों से सम्पर्क आता है और उन्हें कोई विचार समझाना होता है अथवा साधनासम्बन्धी ही कुछ कहना होता है वहां यह योग्यता होनी आवश्यक है कि मनुष्य दूसरे के मन और बुद्धि की स्थिति और दृष्टिकोण को तथा सामान्य स्वभाव के उस समय के स्वरूप को यथार्थ अनुभव कर सके। इस के बिना आप की बात बेमेल रहेगी। स्वभाव ही से स्वधर्म निश्चित होता है। कही गई बात समझने वाले व्यक्ति से हमेशा ही अपेक्षा रखेगी। यह देखना काफी नहीं कि मैं जो कह रहा हूँ वह ठीक है या नहीं बल्कि यह देखना आवश्यक है कि मैं जो कह रहा हूँ वह संभवतः यथार्थ रूप में समझा जा रहा है कि नहीं।

यह वृत्तान्त बहुत लम्बा हो गया है। आशातीत लम्बा हो गया है। परन्तु एक यात्री जिस रुचिसे घूमता फिरता है साधक ठीक उसी तरहसे नहीं घूमता फिरता। घूमना फिरना अथवा लोगों से मिलना या किसी आदर्श का प्रचार करना भी उसका लक्ष्य नहीं हो सकता। उस का, जैसे मैं समझता हूँ, अनिवार्य लक्ष्य साधना है, उत्तरोत्तर हर सम्पर्क द्वारा चित्तशुद्धि करते हुए आत्मप्रकाश प्राप्त करना, दिव्य जीवन के लिए तैयार होते जाना, उस के लिये अभीप्सा बढ़ाते जाना। पर यह स्वार्थ नहीं क्योंकि अपने अन्दर से अहंकार और अन्धकार को दूर करना साधन है दूसरों के अन्दर के अहंकार और अन्धकार दूर करने का और दूसरों का दूर कर अपने दूर करने का। निम्नप्रकृति मात्र का अन्धकार दूर करना ध्येय है। श्रीअरविन्द के ये वचन इस भाव को खूब बलपूर्वक रखते हैं। "पूर्णयोग के साधकको केवल अपने अन्दर की ही अहम्भावपूर्ण अव्यवस्था और मिथ्यात्व की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

०७९५७५

शक्तियों को नहीं जीतना है अपितु उन्हें संसारवर्ती उन्हीं शक्तियों के प्रतिनिधियों के तौरपर जीतना है। (देखो, 'The Synthesis of Yoga'—योगसमन्वय)।

श्रीअरविन्द के पूर्णयोग से तथा माता जी की क्रियात्मक कार्यशैली से मैं यह अनुभव कर ही चुका था कि वास्तव में किसी के काम उसकी साधना की आवश्यकता से ही निर्धारित किये जाते हैं। माता जी से नियुक्त किया हुआ मैं जानता था कि वह भ्रमण और उसके साथ का काम मेरी साधना का प्रिय पथ था। यह भावना थी जिसे मैं जागृत रखता हुआ सब सम्पर्कों में गुजरता जाता था। और जब जब कुछ विशेष परिस्थितियों में से इस भावना को लिये हुए पार निकलता तो माता जी को स्मरण कर हृदय गद्गद हो जाता। हृदय बार बार कहता 'कैसी सुन्दर साधना करवा रही हो माता जी।'

परन्तु वे घड़ियां भी कम नहीं होती थीं जब कि श्रीअरविन्द और माता जी की प्रेरणा से नाता तोड़ मैं अनुभव करता 'अरे कितना अच्छा काम हुआ है' अर्थात् 'मैंने कितना अच्छा काम किया है'। या 'बस, इतना करके फिर लौटना है'। इस प्रकार की अनेक अहंकार और मोह की प्रेरणायें मन को प्रभावित कर जातीं। साधक साधनापथ के इन गुप्त चोरों से परिचित होता ही है और उसे सदा ही इनकी ओर से सचेत रहना होता है। ये चोर बड़े बड़े भेस बदल के आते हैं। परन्तु साधक जानता है कि जब जब वह साधुवेष के पीछे चोर को पहचान कर उससे तटस्थ हो जाता है तो उसे किस आनन्द का पुरस्कार मिलता है। उस गम्भीर आनन्द की अभीप्सा में वह कभी बहुत समय तक इन चोरों के चंगुल में नहीं रहता। साधक जानता है कि काम में मजा तब है जब कि वह 'देखा करे और काम हुआ करे।' वह निर्लेप रहे, न बोझ चढ़ने से धक्का खाय और न उतरने से झटका, चिन्ता पास न फटके।

इस सारे वृत्तान्त का एक अन्तिम संस्कार यह है कि आध्यात्मिक जिज्ञासा के शुभ चिह्न बराबर दीख पड़ते हैं। शायद जड़वाद का पूरा अनुभव हो गया है या और कुछ कारण हैं। पर मानवात्मा सदा ही इस प्रकार के चक्करों में घूम घूम कर पुनः सत्ता के परम रहस्य सर्व-चेतना के लिये अधिकाधिक बल से अभीप्सा किया करती है। वह अभीप्सा अब शायद उषा के पूर्वरूप की तरह आलोकित हो रही है। प्रभु की कृपा से संभवतः अभीप्सा की उषा भी शीघ्र ही अपने जाज्वल्यमान स्वरूप में प्रकट हो जायगी। इसी शुभ परिवर्तन की आशा जिज्ञासु हमेशा किया करते हैं।

—इन्द्रसेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक-परिचय

डा. के. आर. श्रीनिवास आयंगर—

एक प्रतिभाशाली लेखक तथा आङ्गलभाषा-साहित्य के मार्मिक विद्वान् हैं। जिस सहज योग्यता से आपने श्रीअरविन्द के आध्यात्मिक रहस्य को अनुभव किया है वह बहुत आश्चर्यजनक है। निश्चय ही यह आपका विशेष सौभाग्य है।

श्री मदनगोपाल गाडोदिया—

'मन' पर विस्तृत गम्भीर दार्शनिक लेख आपका ही है। ठीक जब यह लेख प्रेस में था तभी पांडिचेरी से समाचार आया कि आपका शरीर समाप्त हो गया है। कुछ ही दिन पहले यह खबर पाकर प्रसन्नता हुई थी कि आपका ऑपरेशन सफलतापूर्वक मद्रास में हो गया था और आप की अब वापिस आश्रम में प्रतीक्षा की जा रही थी। इस समाचार के बाद दूसरे समाचार की आशङ्का तक भी न हो सकती थी।

श्री मदनगोपाल जी को हम यहां 'अदिति' के लेखक के रूप में ही नहीं बल्कि श्रीअरविन्द-ग्रन्थमाला के शुरू करने वाले तथा उसके अनथक लेखक के रूप में विशेष रूप से याद करते हैं। हिन्दीभाषा-भाषियों को श्रीअरविन्द के अमृत और अमर साहित्य का रस पान करवाने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त है।

पर जिन्होंने उन्हें आश्रम में रहते-सहते देखा है वे कहीं अधिक स्मरण करेंगे उनके प्रसन्न भाव को और सफेद बालों वाले वृद्धप्राय रूप-स्वरूप में उनकी युवक-सदृश शक्तिशाली कर्मण्यता को।

उनकी साधना की स्थिति के बाह्य संस्कार भी पूर्ण आश्वासन दिलाते हैं कि वे जीवन-विकास के नित्य-प्रवाह में देहावसान को एक साधारण स्थिति-परिवर्तन-मात्र ही अनुभव करेंगे। श्री मदनगोपाल जी साधक थे, उनकी साधना अमर है और उनकी सिद्धि अनिवार्य है। भगवान् की शरण में आये हुए सच्चे भक्तों के लिये मृत्यु कहां!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस वर्ष की चौथी अदिति आप के सम्मुख है। आशा है आपकी आध्यात्मिक जिज्ञासा में अदिति की पुस्तिकायें सहायक हो रही हैं।

× × ×

योगविद्या भारतवर्ष का परम धन है। इसी द्वारा ही प्राचीन ऋषियों ने जीवन और जगत् के रहस्य को जाना था। उस अनुपम योगविद्या को ही श्रीअरविन्द ने अपने सजीव और प्रकाशमय अनुभव से पुनरुज्जीवित किया है। इस नये पुनरुज्जीवित स्वरूप में ही उस योगविद्या को हम जिज्ञासुओं के सामने रखते रहे हैं। हमें जिज्ञासुओं के लाभ और बढ़ते उत्साह के समाचारों से नित्य नया आनन्द होता है। धीर जिज्ञासु, हमें विश्वास है, श्रीअरविन्द की योगपद्धति को यथार्थ रूपमें समझ कर इसके अनुसार अभ्यास करनेसे अन्य अनेकों की तरह जीवन का सच्चा आनन्द और प्रकाश लाभ करेंगे। श्रीअरविन्द का योग-विचार वास्तव में 'योग-समन्वय' है। इस में सब योग-पद्धतियों को अपना-अपना यथार्थ स्थान देने का प्रयत्न है। और अन्त में उस शैली का निरूपण है जिसे श्रीअरविन्द ने अपने गम्भीर अनुभव में तथा अनेकों साधकों के अनुभव में सिद्ध पाया है।

× × ×

आपसे निवेदन है कि आपका सन् १६४४ का चन्दा पूरा हो चुका है और अगली पुस्तिका प्राप्त करने के लिये आप को ४) रु० भेज देने चाहियें अथवा सूचना दे देनी चाहिये कि वी. पी. भेज दी जाय।

प्रबन्धक

अदिति कार्यालय

नई देहली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7032

Gurukul Kangri Library

Access on

Class on

Cat. on

Tag etc

Checked

Any Other

079474

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1939-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri